ओ३म्

महर्षि-मनु प्रोक्त (प्राचीन-धर्मशास्त्र)

विशुद्ध-मनुस्मृति

(महर्षि-दयानन्द-व्याख्यासंवलित हिन्दीभाष्य प्रक्षिप्तश्लोक रहित
किन्तु प्रक्षिप्त श्लोक-समीक्षा विभूषित)

व्याख्याता, समीक्षक एवं सम्पादक
आचार्य राजवीर शास्त्री
(संपादक दयानन्द-सन्देश)

प्रकाशक
आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
२ एफ, कमलानगर, दिल्ली-७

प्रकाशक
आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
२ एफ, कमलानगर, दिल्ली-७

●

पौष कृष्णा अमावस्या, सं० २०३८ वि०
२६ दिसम्बर, १९८१ ई०
दयानन्दाब्द : १५७
सृष्टि-संवत् : १,९६,०८,५३,०८२

●

विक्रय-केन्द्र
आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
२ एफ, कमला नगर, दिल्ली–७
शाखा—४५५, खारी बावली, दिल्ली-६
दूरभाष २२१३२७, २२९५४७, २३८३६०

●

मूल्य : बीस रुपये

प्रथम संस्करण,
२२००

●

मुद्रक
आर० के० प्रिण्टर्स
८० डी, कमलानगर,
दिल्ली-७
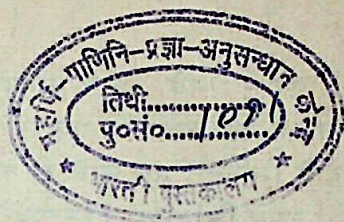
प्रकाशकीय

महर्षि-दयानन्द के ग्रन्थों का स्वाध्याय करते हुए महर्षि द्वारा अपने ग्रन्थों में उद्धृत मनुस्मृति के श्लोकों में ऐसी अमूल्य, अनुपम, महत्त्वपूर्ण तथा गम्भीर-भावों की उपलब्धि हुई, जिनके कारण मेरे हृदय-पटल पर ऐसा प्रभाव पड़ा और मुझ में उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई कि इस ग्रन्थ का स्वयं भी अध्ययन करना चाहिये। मैंने इस ग्रन्थ को गुरुमुख से पढकर फिर स्वयं स्वाध्याय भी किया। उत्तरोत्तर मेरी श्रद्धा इस ग्रन्थ के प्रति बढने लगी और दूसरे मनुष्यों को भी इस ग्रन्थ का लाभ मिल सके, इस लोककल्याण की भावना से इस ग्रन्थ को ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित करने की प्रबल इच्छा हुई। किन्तु एक प्रश्न-चिह्न भी सामने दिखायी दिया कि इस महान् तत्त्वद्रष्टा महर्षि मनु के धर्म-रत्नाकर रूपी श्रेष्ठ शास्त्र को परवर्त्ती, स्वार्थी, मत-मतान्तर के लोगों के द्वारा समय समय पर मिलाये प्रक्षिप्त श्लोकों ने इतना अधिक विकृत, कुरूप तथा भ्रान्तिग्रस्त कर दिया है कि जिससे इसके पाठकों के मन में इसके प्रति श्रद्धा के स्थान पर अश्रद्धा व घृणा भी बढेगी। और ट्रस्ट का उद्देश्य तो आर्ष-साहित्य का प्रचार करना है। महर्षि-दयानन्द ने भी यद्यपि इस ग्रन्थ के अमूल्य रत्नों का चयन तो किया है, किन्तु सजग भी किया है कि इसके प्रक्षिप्त श्लोक प्रमाण करने योग्य नहीं हैं। अतः मेरा तथा समस्त ट्रस्टियों का यह दृढ निश्चय हुआ कि इस उपयोगी आर्ष-ग्रन्थ का प्रकाशन अवश्य किया जाये, परन्तु प्रक्षिप्त श्लोकों की सप्रमाण तथा सहेतुक समीक्षा कराकर इसका विशुद्ध स्वरूप ही जन-सामान्य के समक्ष रखना चाहिये। एतदर्थ मनुस्मृति के उपलब्ध समस्त संस्करणों का संग्रह किया गया और यह भी भगीरथ प्रयास किया गया कि इसके प्राचीन हस्तलेख यदि मिल जायें, तो उनसे मिलान किया जाये। इस श्रम-साध्य कार्य पर पर्याप्त धनराशि का व्यय भी किया गया, किन्तु कोई सफलता नहीं मिली।

यद्यपि पूर्ववर्त्ती आर्यविद्वानों ने भी अपनी योग्यता के अनुसार इस ग्रन्थ के प्रक्षेप निकालने का यथाशक्ति यत्न किया है, जिसकी प्रशंसा ही करनी

चाहिये। परन्तु उनके अनुसन्धानपूर्ण कार्यों से पूर्णतः सन्तोष नहीं हो सका। इसका कारण यही रहा कि एक तो उनके प्रथम व्यक्तिगत प्रयास ही थे और फिर उन्होंने निश्चित मूल आधारों का निर्धारण न करके प्रक्षेपों पर सीमित कार्य किया। जिससे निश्चित मानदण्डों के सामने न होने से एकरूपता न रह सकी और पाठक पढता हुआ ऐसा अनुभव करता है कि जैसे प्रक्षेप निकालने वालों ने स्वेच्छाचारिता तो नहीं की है? एवं बहुत ही न्यून प्रक्षेप निकाल पाये। इसलिये प्रक्षेपों का निर्धारण भी हो और पक्षपात का आग्रह अथवा मनमानी करने वाला दोष भी न आ सके, इसके लिये कुछ निश्चित आधार बनाकर समस्त ग्रन्थ की निष्पक्ष परीक्षा की जाये, ऐसी मेरी धारणा बनी। महर्षि-मनु का कोई मौलिक श्लोक छूट न जाये और प्रक्षेप के श्लोकों का वहिष्कार इस प्रकार हो जाये कि जिससे समस्त ग्रन्थ में एकरूपता देखकर निष्पक्ष पाठक सचमुच ही इस ग्रन्थ की प्रशंसा किये बिना न रह सके। किन्तु यह कार्य इतना सरल नहीं था कि जो कोई भी इसे कर सके। अनेक विद्वानों से इस विषय में विचार-विमर्श किया गया। उन्होंने अनेक उत्तम सुझाव भी दिये, किन्तु इस कार्य में अनेक समस्यायें भी प्रस्तुत करीं। और सबसे अधिक बाधा यह थी कि विद्वान् को संस्कृत-ज्ञान के साथ साथ ऋषियों के बनाये ग्रन्थों पर पूर्ण आस्था, तथा वैदिक सत्यमान्यताओं का ज्ञान भी होना चाहिये। 'प्रयत्न करने पर कार्यसिद्धि अवश्य होती है' इस आस्था से सर्वप्रथम मैंने इस कार्य के लिये श्री पं० राजवीर शास्त्री को चुना था, उन्होंने इस पर कुछ कार्य तो किया, किन्तु ट्रस्ट के अन्य कार्यों में व्यस्त रहने से यह कार्य अपूर्ण ही पड़ा रहा। इसके पश्चात् श्री प्रो० सुरेन्द्रकुमार जी से अनुरोध किया, उन्होंने इस अनुरोध को स्वीकार किया और अनेक वर्षों तक इस ग्रन्थ पर सतत-परिश्रम करके बहुत योग्यता तथा लग्न से यह अनुसन्धानात्मक कार्य किया। प्रक्षेपों के निर्धारण के लिये मौलिक आधार निश्चित किये गये। उन मानदण्डों पर एकरूपता से कार्य करने में जो बाधायें आयीं, उनको समय समय पर श्री राजवीर शास्त्री के साथ विचार-विमर्श करके सुलझाया गया। जिससे यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ। इस कार्य के लिये मैं दोनों विद्वानों का धन्यवाद करता हूँ।

इस प्रक्षेपानुसन्धान युक्त सम्पूर्ण मनुस्मृति का प्रथम प्रकाशन किया गया है, जिसमें प्रक्षिप्तश्लोकों को छोटे टाईप में छापा गया था, और उन पर विस्तृत अनुशीलन नामक समीक्षा भी दी गयी थी। परन्तु इसमें मौलिक तथा प्रक्षिप्त श्लोकों का संग्रह होने से जनसामान्य का विशेष लाभ न देखकर इस 'विशुद्ध मनुस्मृति' का पृथक् से संस्करण बनाया गया है। जो गुरुकुलों में अथवा विद्यालयों में अबोध, अविकसितमति वाले छात्र हैं, अथवा जिन्हें सत्य-

धर्म को जानने की ही इच्छा है और जो भ्रान्तिग्रस्त श्लोकों में अपना अमूल्य समय-यापन नहीं करना चाहते हैं, ऐसे पाठक इस संस्करण से अवश्य लाभान्वित हो सकेंगे। इस 'विशुद्ध मनुस्मृति' में श्लोक की व्याख्या के साथ साथ प्रत्येक विषय की समाप्ति पर प्रक्षिप्त श्लोकों की सारगर्भित समीक्षा करके श्री पं० राजवीर शास्त्री ने इस संस्करण की उपादेयता को और भी बढ़ा दिया है, एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं।
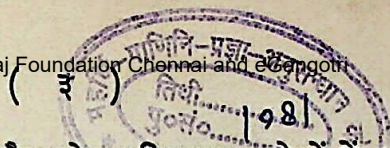
महर्षि मनु के इस पवित्र एवं महत्त्वपूर्ण शास्त्र का प्रक्षेपों के कारण अनेक स्थानों पर तिरस्कार तथा इसे अग्निसात् भी किया गया है। और एक वर्ग-विशेष तो ऐसा है जो इस पर पक्षपात व जातिवाद का स्पष्ट आरोप लगाकर इसे हेय-दृष्टि से देखता है। इस विषय में मेरा विचार यही है कि ऐसी धारणा उत्पन्न होने का कारण प्रक्षिप्त श्लोकों का समावेश, जन्म-जात वर्णों का प्रचलन और मनु की मौलिक मान्यताओं को न समझना है। परन्तु इस विशुद्ध-मनुस्मृति को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि यथार्थ में मनुस्मृति में इस प्रकार की मानवजाति में फूट डालने वाली, परस्पर घृणा पैदा करने वाली और पक्षपातपूर्ण बातों का सर्वथा अभाव है। यह पवित्र ग्रन्थ तो मानव को मानव से धर्म-स्नेह-सूत्र से सम्बद्ध करने वाला सार्वभौम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का तिरस्कार कराने वाले तो परवर्त्ती समय के प्रक्षेपों का मिश्रण करने वाले ही हैं। और जो किसी ग्रन्थ के मूललेखक की बातों को न समझकर, उसके विषय में स्वयं समझने की बुद्धि न रखकर और सुनी सुनायी बातों पर ही विश्वास करके इस ग्रन्थ के प्रति तिरस्कारपूर्ण भावना बनाये हुये हैं, वे भी स्वयं अल्पज्ञ, भ्रान्त, एवं जात-पांत के गहरे दलदल में फंसे होने से उन्मत्त की भांति पवित्र पुष्पमाला के तुल्य इस ग्रन्थ को अवहेलना करते हैं। इस विशुद्ध संस्करण को पढने से उनकी समस्त भ्रान्तियों का उन्मूलन हो जायेगा, ऐसा हमारा दृढविश्वास है।

और मैं इस कार्य को बहुत देर से हुआ भी समझ रहा हूँ। क्योंकि महर्षि-दयानन्द ने एक-शताब्दी पूर्व इस ग्रन्थ के प्रक्षेपों के विषय में स्पष्ट संकेत कर दिया था और प्रक्षेपों के निकालने का मार्ग—हेतु, युक्ति, वैदिक-ज्ञान, सृष्टि-क्रम शास्त्रीय-सिद्धान्तादि को अपने ग्रन्थों में स्पष्ट करके बहुत ही प्रशस्त कर दिया था। यदि यह प्रशंसनीय कार्य महर्षि के भक्त आर्यों के द्वारा पहले से सम्पन्न हो जाता, तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश के संविधान बनाने वाले डा० अम्बेडकर जैसे व्यक्तियों को भी इस ग्रन्थ के प्रति अपनी मिथ्याधारणा को अवश्य ही बदलना पड़ता। और इसके विरोधियों को निरुत्तर

होने से अपना मुँह बन्द करना पड़ता। अतः इस उपेक्षावृत्ति के लिये हम आर्य-वन्धु भी कम दोषी नहीं हैं।

अन्त में उस परमपिता परमात्मा का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ कि जिसकी महती अनुकम्पा एवं सत्प्रेरणा से यह शुभकार्य सम्पन्न हुआ। और उस महर्षि-दयानन्द के उपकारों के प्रति तो मैं सदा ही नतमस्तक तथा आभार मानता हूँ कि जिसने पांच हजार वर्षों के पश्चात् उस विलुप्त सत्य विज्ञान को फिर से प्रकाशित करके हमें सन्मार्ग दिखाया और एक परमहंस की भांति सत्यासत्य से मिश्रित साहित्य को नीर-क्षीर-विवेक करके दिया। और जिन योग्य विद्वानों ने मेरी प्रार्थना को स्वीकार करके महर्षि के बताये प्रक्षेपों के मुख्य-आधारों को समझकर इस ग्रन्थ के अस्त-व्यस्त हुये अमूल्य रत्नों को प्रसंगानुकूल करके माला की भांति संग्रथित किया है और मध्य में पडे परवर्ती समय के मिथ्या, कल्पित, पक्षपात तथा वेदविरुद्ध बातों से ओतप्रोत प्रक्षेप रूप अशुद्धि का शोधन करके उसकी सयुक्तिक, सप्रमाण तथा मनु की अन्तःसाक्षी देकर समीक्षा करके इस ग्रन्थ का उज्ज्वल रूप प्रकाशित किया है, उनका हृदय से धन्यवाद करता हूँ। और एक आत्मिक-सन्तोष एवं प्रसन्नता अनुभव कर रहा हूँ कि इस विशुद्ध संस्करण के पठन-पाठन से पाठक को इस ग्रन्थ के प्रति ही नहीं, प्रत्युत धर्म के प्रति भी उत्तरोत्तर आस्था वढेगी और धर्मानुष्ठान की प्रवृत्ति बढने से मानव लौकिक, पारलौकिक उभयविध उन्नति करने में समर्थ हो सकेगा।

और अन्त में सहृदय विद्वानों से भी मेरी विनम्र प्रार्थना है कि मनुस्मृति के इस पवित्र कार्य को हमने बहुत ही निष्पक्षभाव तथा पवित्रता से किया है, पुनरपि कहीं हमारी अल्पज्ञता के कारण त्रुटियाँ सम्भव हैं। अतः उन त्रुटियों को क्षमा न करके उनकी ओर हमारा ध्यान अवश्य दिलायें और अपने सत्परामर्श देकर हमें सदा की भांति अनुगृहीत करें। हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि उनके भेजे उचित सुझावों का हम हृदय से सम्मान करेंगे और अग्रिम-संस्करण में उनको क्रियान्वित करके परिष्कृत भी अवश्य करेंगे।

पौष कृष्णा अमावस्या, सं० २०३८ वि०
दिनांक २६-१२-८१
२ एफ, कमलानगर
दिल्ली-११०००७

ऋषि-चरणों का अनुचर
दीपचन्द आर्य
संस्थापक तथा प्रधान
आर्ष-साहित्य-प्रचार-ट्रस्ट
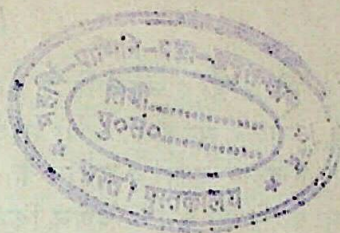
प्राक्कथन

पाठकों के हाथों में मनुस्मृति (विशुद्ध मनुस्मृति) का संस्करण समर्पित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। क्योंकि भारतीय संस्कृति तथा वैदिकवाङ्मय में मनुस्मृति का स्थान अत्युत्कृष्ट है और समस्त भारतीय सम्प्रदायों ने इसे प्रामाणिक माना है। परन्तु इसके उज्ज्वल एवं पवित्र ज्ञान-स्रोत को परवर्त्ती काल्पनिक मत-मतान्तरों के मलीन अज्ञान स्रोतों ने ऐसा कलुषित एवं दुर्गन्धमय कर दिया था, जिससे इस परमप्रामाणिक ग्रन्थ का उज्ज्वल स्वरूप धूलिसात् ही होने लगा और इसी मलीनता के मिश्रण को देखकर इस ग्रन्थ का अपयश ही नहीं, प्रत्युत इस अमूल्य ज्ञान-राशि के प्रति घृणा-भाव भी उत्पन्न होने लगा था। आर्ष-साहित्य-प्रचार-ट्रस्ट के अधिकारी ट्रस्ट के नाम के अनुरूप ही जैसे अन्य आर्ष साहित्य का प्रकाशन करने में सतत निरत हैं, वैसे ही मनुस्मृति जैसे आर्ष ग्रन्थ का अनुसन्धानात्मक प्रकाशन का जो उत्तम कार्य उन्होंने किया है, एतदर्थ वे कोटिशः धन्यवाद के योग्य हैं। यद्यपि ट्रस्ट ने पृथक् से समस्त मनुस्मृति का प्रकाशन अनुशीलन-समीक्षा सहित भी किया है, पुनरपि सामान्यबुद्धि के व्यक्ति, अबोध छात्रवर्ग तथा अवैदिक व काल्पनिक मिथ्या बातों में निरर्थक समय-यापन न करने के जिज्ञासुजनों के लिये 'विशुद्ध मनुस्मृति' का यह पृथक् प्रकाशन भी किया गया है। इससे पाठकवर्ग अज्ञान तथा मिथ्याज्ञान के दलदल से बचकर सत्य, निर्भ्रान्त एवं मानव के पुरुषार्थचतुष्टय के साधक पावन ज्ञान की ज्योति से अपने जीवन को जगमग कर सकेंगे।

मनुस्मृति का महत्त्व— समस्त वैदिक वाङ्मय का मूलाधार वेद है। और समस्त ऋषियों की यह सर्वसम्मत मान्यता है कि वेद का ज्ञान परमेश्वरोक्त होने से स्वतःप्रमाण एवं निर्भ्रान्त है। इस वेद-ज्ञान का ही अवलम्बन एवं साक्षात्कार करके आप्तपुरुष ऋषि-मुनियों ने साधना तथा तप की प्रचण्डाग्नि में तपकर शुद्धान्तःकरण से वेद के मौलिक सत्य-सिद्धान्तों को समझा और अनृषि-लोगों की हितकामना से उसी ज्ञान को ब्राह्मण, दर्शन, वेदाङ्ग, उपनिषद् तथा धर्मशास्त्रादि ग्रन्थों के रूप में सुग्रथित किया। महर्षि मनु का धर्मशास्त्र

मनुस्मृति भी उन्हीं उच्चकोटि के ग्रन्थों में से एक है। जिसमें चारों वर्णों, चारों आश्रमों, सोलह संस्कारों तथा सृष्टि-उत्पत्ति के अतिरिक्त राज्य की व्यवस्था राजा के कर्त्तव्य, अठारह प्रकार के विवादों एवं सैनिक प्रवन्ध आदि का बहुत सुन्दर सुव्यवस्थित ढंग से वर्णन किया गया है। मनु जी ने यह सब धर्मव्यवस्था वेद के आधार पर ही कही है। उनकी वेद-ज्ञान के प्रति कितनी अगाध दृढ़ आस्था थी, यह उनके इस ग्रन्थ को पढने से स्पष्ट होता है। मनु ने धर्म-जिज्ञासुओं को स्पष्ट निर्देश दिया है कि धर्म के विषय में वेद ही[1] परमप्रमाण है। और धर्म का मूलस्रोत[2] वेद है।

वेद से विरुद्ध तथा वेद की निन्दा करने वाले को मनु कदापि सहन नहीं कर सकते थे, इसीलिये उन्होंने 'नास्तिको वेद[3]निन्दकः' वेद की निन्दा करने वाले को 'नास्तिक' कहकर उसके लिये अत्यन्त तिरस्कारपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया है। और उन्होंने अपने इस धर्म-शास्त्र का नाम 'स्मृति' भी सार्थक ही रक्खा है। क्योंकि उन्होंने 'धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः'[4] कहकर स्मृति की परिभाषा[5] स्वयं की है।

मनु का यह धर्मशास्त्र यद्यपि बहुत प्राचीन है, पुनरपि निश्चित समय बताना बहुत कठिन कार्य है। महर्षि-दयानन्द ने मनु को सृष्टि के आदि में माना है—'यह मनुस्मृति जो सृष्टि की आदि में हुई है, उसका प्रमाण है।' (स०प्र०) यहाँ महर्षि का यही भाव प्रतीत होता है कि धार्मिक मर्यादाओं के सर्वप्रथम व्याख्याता मनु ही थे। मनु ने मानव की सर्वाङ्गीण-मर्यादाओं का जैसा सत्य एवं व्यवस्थित रूप से वर्णन किया है, वैसा विश्व के साहित्य में अप्राप्य ही है। मनु की समस्त मान्यतायें सत्य ही नहीं, प्रत्युत देश, काल तथा जाति के बन्धनों से रहित होने से सार्वभौम हैं। और मनु का शासन-विधान कैसा अपूर्व

---

१. धर्मं जिज्ञासमा० ॥ (मनु०२।१३)

२. वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ॥ (मनु० २।६)

३. (मनु०२।११)

४. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ॥ (मनु०)

५. मनुस्मृति में इस 'स्मृति' शब्द को देखकर पाठकों को ऐसी भ्रान्ति कदापि नहीं करनी चाहिये कि मनुस्मृति से पहले भी अन्य स्मृतियाँ थीं, तभी मनु ने ऐसा लिखा है। यह उनकी वैसे ही भ्रान्ति है जैसे वेदों में गंगादि शब्दों को देखकर लौकिक इतिहास की भ्रान्ति हो जाती है। यथार्थ में मनु ने स्पष्ट लिखा है कि वेदों के शब्दों से मनुष्यों ने लौकिक नाम रक्खे हैं। इसी प्रकार मनु ने भी 'स्मृति, की परिभाषा देकर इसके शब्दार्थ को स्पष्ट किया है।

तथा अद्वितीय है, उसकी समता नहीं की जा सकती। विश्व के समस्त देशों के विधान निर्माताओं ने उसी का आश्रय लेकर विभिन्न विधानों की रचना की है। मनु का विधान प्रचलित साम्राज्यवाद तथा लोकतान्त्रिक त्रुटिपूर्ण पद्धतियों से शून्य, पक्षपातरहित, सार्वभौम तथा रामराज्य जैसे सुखद शान्तिपूर्ण राज्य के स्वप्न को साकार करने वाला होने से सर्वोत्कृष्ट है। इसी का आश्रय करके सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर महाभारत पर्यन्त अरबों वर्षों तक आर्यलोग अखण्ड चक्रवर्त्ती शासन समस्त विश्व में करते रहे। इसका संकेत स्वयं मनु ने यह कहकर किया है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ (मनु० २।२०)

अर्थात् समस्त पृथिवी के मनुष्य इस देश में उत्पन्न विद्वान् ब्राह्मणों से अपने अपने चरित्र (धर्म) की शिक्षा ग्रहण करते रहें। और इसीलिये मनुस्मृति का कितना सम्मान तथा प्रमाण उस समय होता था, यह प्राचीन काल के ब्राह्मणग्रन्थों के इस प्रमाण से स्पष्ट होता है—'मनुर्वै यत्किञ्चावदत् तद् भैषजम्। (तैत्तिरीय०, काठक०, मैत्रायणी०, ताण्ड्य०) अर्थात् मनु ने जो कुछ भी कहा है, वह मानव-मात्र के लिये भैषज=समस्त दोषों को दूर करने के कारण अमोघ औषध है।

प्रक्षेप के कारण— (१) ऐसे वेदानुकूल तथा मानव-समाज में प्रामाणिक एवं प्रतिष्ठा प्राप्त धर्मशास्त्र की मान्यता को देखकर परवर्त्ती वाममार्गादि के स्वार्थी क्षुद्राशय लोगों ने अपनी मिथ्याबातों पर विश्वास कराने के लिये जहाँ ऋषि-मुनियों के नाम से विभिन्न ग्रन्थों की रचना की, वहाँ ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में भी प्रक्षेप करने में संकोच नहीं किया। मनुस्मृति से भिन्न अनेक ऐसी स्मृतियों की रचना भी की, जिनका नाम महाभारत तक के प्राचीन साहित्य में कहीं नहीं मिलता। सामान्य जनता का धीरे धीरे संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ रहना, एक वर्गविशेष का ही संस्कृत पठन-पाठन पर पूर्णाधिकार हो जाना और प्रकाशनादि की व्यवस्था न होने से परम्परा से हस्तलिखित ग्रन्थों का ही पठन-पाठन में व्यवहार होने से प्रक्षेपों का प्रक्षेप करने में विशेष बाधा नहीं हुई। उन्हें जहाँ भी अवसर मिला, वहीं पर प्रक्षिप्त श्लोकों का मिश्रण करने में वे प्रयत्नशील दिखायी देते हैं। कहीं पूर्ण श्लोक, कहीं अर्ध श्लोक और कहीं कहीं तो एक चरण का ही प्रक्षेप श्लोकों में दिखायी देता है। और यह प्रक्षेप बहुत ही चतुरता से किया गया है, जिसे सामान्य व्यक्ति तो क्या तत्कालीन विद्वान् भी समझ नहीं सके। और धार्मिक परम्पराओं से अनुप्राणित, अन्धभक्त,

और गुरुडम के कारण श्रद्धा करके भारतीय जनता ने ऐसी काल्पनिक बातों को भी नतमस्तक होकर स्वीकार कर लिया।

(२) मनुस्मृति में प्रक्षेपों के मूल में पूर्वोल्लिखित मुख्य कारण के अतिरिक्त अन्य कुछ प्रवृत्तियाँ भी देखने में आयी हैं। जब किसी ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियों में धीरे धीरे पाठ-भेद होने लगे, तो कुछ विद्वानों ने उन प्रतियों को मिलाकर पाठ-परिवर्धन के नाम पर संशोधन कर दिया, और कालान्तर में वे परिवर्धित पाठ भी मूल ग्रन्थ के भाग माने जाने लगे।

(३) क्योंकि इस मनुस्मृति-धर्मशास्त्र का मनुष्यों के दैनिक, नैमित्तिक धार्मिक कृत्यों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है। राजकीय न्यायालयों में भी दायभाग, दण्ड-प्रशासन, कर-निर्धारणादि के विषयों पर विवाद उत्पन्न होने पर इसी धर्मशास्त्र के आश्रय से ही निर्णय लिये जाते थे। ऐसे विवादों के निर्णय करने में बाधा उपस्थित होने पर कुछ स्वार्थी लोगों ने समय समय पर कुछ वैकल्पिक व्यवस्थाओं का भी विधान कर दिया, जिनको धीरे धीरे धर्मशास्त्र का भाग बना दिया गया। जैसे श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ने मनुस्मृति की भूमिका में कुछ घटनायें देकर इस कारण का स्पष्टीकरण किया है।

(४) और लोभ-पाश से बन्धा हुआ व्यापारी जब मिलावट की प्रवृत्ति से वशीभूत होता है तो वह समस्त अच्छाई-बुराई, धर्म-अधर्म, लाभ-हानि, व पाप-पुण्यादि को भूल जाता है, और मनुष्यों के आधारभूत खाद्यपदार्थों में भी ऐसे विषैले व अखाद्य पदार्थों का भी मिश्रण करने को उद्यत हो जाता है। इसी प्रकार जिन प्रक्षेपकों की प्रवृत्ति दूषित हो गयी, उन्होंने भी धर्म-अधर्म की चिन्ता न करके स्वार्थवश धर्मशास्त्र में प्रक्षेप कर डाला। वे लोग इस बात को नितान्त ही भूल गये कि इस प्रक्षेप का परिणाम क्या होगा? चाहे वह प्रक्षेप परस्पर विरोधी, प्रकरण-विरुद्ध, वेदविरुद्ध तथा मानवधर्म के विरुद्ध था, परन्तु उन स्वार्थान्ध व्यक्तियों ने इस बात पर बिल्कुल भी विचार नहीं किया। और इस प्रक्षेप में यदि वाममार्ग के प्रवर्तकों ने पशुयज्ञों, बहुविवाह, हिंसा, मद्य-मांस-भक्षण आदि के श्लोकों का मिश्रण किया, तो स्वार्थी उदरम्भरी लोगों ने मृतक-श्राद्ध, जातिगत सम्मान, किसी वर्गविशेष के प्रति पक्षपातपूर्ण हीनभावना, शिक्षा से वञ्चित रखनादि के मिश्रण में लेशमात्र भी संकोच नहीं किया। और 'चोर चोर मौसेरे भाई' कहावत के अनुसार सभी प्रकार के प्रक्षेपकों ने एक-दूसरे के प्रक्षेपों का कभी विरोध भी नहीं किया।

(५) मनुस्मृति में प्रक्षेप के मूल में एक यह प्रवृत्ति भी कारण बनी कि जिस समय विभिन्न स्मृतियों का निर्माण हो चुका और उनमें विभिन्न गुरु-

शिष्यों की परम्परा के सम्प्रदायों में अहम्मन्यता के भाव प्रबुद्ध हो गये। और वे अपनी अपनी स्मृति का माहात्म्य बढाने लगे। इसी माहात्म्य-संवर्धन के प्रसंग में मनुस्मृति के पक्षपातियों ने भी अपना सम्मान रखने के लिये मनु का सम्बन्ध ब्रह्मा[1] से जोड़ा। मनु की प्रशंसा में[2] अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किये गये, प्रशंसात्मक श्लोकों की रचना की गयी और मनु को, अलौकिक[3] व्यक्ति सिद्ध करने का भगीरथ प्रयास किया गया।

(६) कुछ प्रक्षेपकों ने मनुस्मृति को भृगु-संहिता अथवा भृगुप्रोक्त बनाने का भी विशेष प्रयत्न किया है। भृगु के पक्षपातियों ने तो स्थान-स्थान पर ऐसे (१। ५९ इत्यादि) श्लोकों का मिश्रण किया है, जिनसे यह धर्मशास्त्र भृगु-संहिता ही सिद्ध की जा सके। इस विषय में १। ६०, १२। १२६ इत्यादि श्लोक द्रष्टव्य हैं।

(७) मनुस्मृति वहुत प्राचीन धर्मशास्त्र है। उसके परवर्त्ती काल में मानव-समाज में अनेक ऐसी समस्यायें उत्पन्न होती रहीं, जिनका समाधान इस शास्त्र से नहीं मिलता देख अथवा उससे विरोध देखकर तत्कालीन परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए प्रक्षेपकर्त्ताओं ने उनको प्रामाणिक करने के लिये अनेक प्रक्षेप किये। जैसे मनुस्मृति के पूर्ण युवावस्था के समय विवाह के विधान के विरुद्ध (९। ९४ में) बारह वर्ष की कन्या के विवाह व्यवस्था देना, मनु के एक-पत्नीव्रत के विधान के विरुद्ध (५। १६७-१६८ में) बहु विवाह की व्यवस्था करना, और उनसे उत्पन्न पुत्रों के दायभाग का कथन करना, वर्णव्यवस्था को जातिमूलक मानने तथा वर्णसंकर दोष उत्पन्न होने पर (९। १५३) विभिन्न वर्णों से उत्पन्न वर्णसंकरपुत्रों का दायभाग कथन करना, इत्यादि इसी बात के पोषक प्रमाण हैं।

(८) यद्यपि प्रक्षेपकों ने मनु के मूल-श्लोकों को इस ग्रन्थ से कहीं निकाल दिया हो, ऐसी सम्भावना बहुत कम अथवा कोई प्रमाण न होने से निराधार ही है, पुनरपि विरोधमूलक प्रवृत्ति प्रक्षेपकों की अवश्य रही है। जैसे—मनु ने ९। ५९–६३ श्लोकों में नियोग का विधान किया है, परन्तु इसके आगे ९। ६४–६८ श्लोकों में नियोग का निन्दा पूर्वक निषेध भी किया है। इसी प्रकार ५। ५९–६३ श्लोकों में मांसभक्षण की निन्दा तथा निषेध किया है और ५। ५६ में मांसभक्षण करने अथवा मदिरापान करने का विधान कर दिया है।

---

१. जैसे १। ५८, ११। २४३ इत्यादि श्लोक।
२. जैसे १। १०६, १२। १२६ इत्यादि श्लोक।
३. जैसे १।३५-४५ श्लोक।

(६) मनुस्मृति के परिष्कार करने की प्रवृत्ति भी प्रक्षेप में कारण बनी है। क्योंकि मनुस्मृति में अध्यायों का विभाजन मौलिक नहीं है, बहुत ही परवर्त्ती है। क्योंकि मनु की प्रवचन-शैली से स्पष्ट है कि वे विषय के प्रारम्भ तथा अन्त में उसका निर्देश अवश्य करते हैं। अध्यायों में विभक्त करने वाले व्यक्ति ने अध्यायों के अन्त में समाप्ति सूचक श्लोकों से इस ग्रन्थ की एकरूपता बनाने का प्रयत्न किया है। इस विषय में २।२४६, ४।२६०, ८।४२० इत्यादि श्लोकों की शैली द्रष्टव्य है। इसी प्रकार १।१०७, १११–११८, श्लोकों में विषय-सूची का जो वर्णन किया गया है, वह भी अध्यायों के विभाजन करने वाले की ही सूझ है। यदि यह मौलिक होती तो ग्रन्थ के प्रारम्भ में होती, बीच में विषय-सूची की कोई संगति नहीं है। और यह प्राचीन शैली के विरुद्ध होने से बहुत ही परवर्त्ती है।

इस प्रकार प्रक्षिप्त श्लोकों के मूल में कोई न कोई प्रवृत्ति अवश्य रही है। जिसे उपर्युक्त कारणों के आश्रय से भली-भांति समझा जा सकता है।

प्रक्षेपों से हानि—

(१) जैसे—वेदों के मिथ्या-भाष्यों के कारण वेदों के प्रति अनास्था, घृणाभाव और वेदों को गडरियों के गीत कहा जाने लगा, वैसे ही मनुस्मृति जैसे उत्कृष्ट तथा प्रामाणिक ग्रन्थ के प्रति भी हीनभावना उत्पन्न होने लगी। क्योंकि मनुस्मृति का संविधान तो सार्वभौम, जाति, देश तथा काल के बन्धनों से रहित, अत्यन्त शुद्ध, पक्षपात रहित, तथा वेदानुकूल है और प्रक्षेपों में वेद-विरुद्ध, पक्षपातपूर्ण, अतिशयोक्तिपूर्ण, परस्परविरुद्ध, प्रसंगविरुद्धादि अनेक प्रकार के मलीनता के भाव ओत-प्रोत हैं। जिनके कारण न केवल इस ग्रन्थ की आलोचना अथवा दोषारोपण ही हुए, प्रत्युत एक वर्गविशेष ने तो इसकी प्रतियों को अग्नि में स्वाहा करने का भी साहस कर दिया। और मनु की उदार, जन-हितैषी, सत्य मान्यताओं को प्रक्षेपकों ने इतना संकीर्ण, तथा कुण्ठित बना दिया था, कि जिनके कारण न केवल इस ग्रन्थ के प्रति हेय-भावना ही उत्पन्न हुई, प्रत्युत इसे एक वर्गविशेष का ही माना जाने लगा।

(२) मनु के अनुसार वर्णों की व्यवस्था का आधार गुण, कर्म तथा स्वभाव हैं, परन्तु जन्मजात ब्राह्मणों की दूषित परम्परा के प्रचलित होने पर मनु के श्लोकों को भी जन्म-परक ही माना जाने लगा। जिसके कारण जन्म-जात ब्राह्मणों की श्रेष्ठता तथा दूसरे वर्ण के लोगों के प्रति घृणाभाव फैला, धर्मानुष्ठान से लोगों को वञ्चित रखा गया, विद्या पढ़ने व यज्ञोपवीत धारण करने

का अधिकार कुछ परिगणित व्यक्तियों के ही अधीन रह गया, मनु के अहिंसा-मूलक परमधर्म को भुलाकर सर्वोत्तमयज्ञ जैसे पवित्र कार्यों में भी हिंसा का आश्रय किया जाने लगा, सात्त्विक आहार के प्रशंसक मनु को राक्षस एवं तामसिक मांस-मदिरा का पोषक बना दिया, और भारतीय-संस्कृति के मूल आधार-रूप जन-हितैषी सत्य-मान्यताओं को अज्ञान, मिथ्याज्ञान तथा भ्रान्तियों के अन्धकार से बिल्कुल ही ढक दिया गया। स्त्रियों के प्रति अत्यन्त सम्मान की भावना रखने वाले मनु को स्त्री-विरोधी बना दिया। 'स्वयंवर-विवाह' विवाह के उत्तम समय युवावस्था, एकपत्नीव्रत, तथा आध्यात्मिक-भावों से ओत-प्रोत इस धर्म-शास्त्र को धर्मविरुद्ध दुःखमूलक बाल-विवाह[1], बहु-विवाहादि कुप्रथाओं के चंगुल में डाल दिया। और परवर्त्ती[2] समयों के देश तथा नामों के मिश्रण से इस ग्रन्थ को बहुत ही नवीनतम सिद्ध कर दिया है।

(३) मनु की जो मान्यतायें मौलिक इस ग्रन्थ में हैं, वे बहुत ही शिक्षाप्रद, हृद्य, सत्य, एवं निभ्रान्त हैं। मनुप्रोक्त धर्म का विधान हिंसा-रहित, पक्षपात रहित व सार्वभौम है। जिनके कारण आज भी इस ग्रन्थ का सम्मान अत्यधिक है। और प्रक्षिप्त श्लोकों के अभाव के समय में ता इसकी प्रामाणिकता तथा साहित्यिक मूल्यांकन सर्वोच्च था, परन्तु आज इस ग्रन्थ में स्वार्थ व पक्षपातमूलक दूषित प्रवृत्ति देखकर इसके प्रति घृणाभाव के बीज अंकुरित हो गये हैं। और मनु का व्यक्तित्व तथा प्रामाणिकता अस्त-व्यस्त ही दिखायी देने लगी है। जिसके कारण मानव-समाज में एक धर्मनिर्णय का मापदण्ड न होने से सूर्य के अभाव में घोर अन्धेरे वाली रात्रि जैसी दशा हो गई है। लोगों के मनों में सत्यधर्म की आस्था न होने से निशाचर राक्षसीवृत्ति वाले उलूकरूप मत-मतान्तरों के पक्षधर अपना-अपना स्वार्थ-साधन करने में लगे हैं और सुखमूलक धर्म के अनुष्ठान न करने से और दुःखमूलक अधर्म के छा जाने से सर्वत्र दुःख, अशान्ति, व्याकुलता के कारण त्राहि-त्राहि की करुण-क्रन्दन की शृगाल तुल्य ध्वनियाँ सुनायी दे रही हैं। और त्रिविध दुःखों से सन्तप्त तथा पथ-भ्रष्ट मानव निराशा-नदी में ही निमग्न दिखायी दे रहा है।

प्रक्षेपों के प्रथम-पारखी—उस अज्ञान, अधर्म, भ्रान्ति, दासता, तथा निराशा की घोर अन्धेरी रात में पाञ्च हजार वर्षों के पश्चात् एक ऋषि वेद-ज्ञान की प्रचण्ड-मशाल को हाथ में लिये इस धरातल पर अवतरित हुए। जो ब्रह्म-

---

१. जैसे—९। ९४ श्लोक।

२. जैसे—२। १९, ७। १९३ और १०। १०५, १०८, इत्यादि श्लोकों में देश-नामों और व्यक्तिविशेषों के नाम लिखे हैं।

चर्य, योगसाधना एवं परमेश्वर की सच्ची उपासना से शारीरिक, बौद्धिक तथा मानसिक शक्तियों से सम्पन्न था। उसने इस देश की बिगड़ती हुई सारी स्थिति को कुशल-चिकित्सक की भांति समझा और उसका उपचार भी ढूँढा। मत-मतान्तरों की प्रबल आँधी ने उसे भी खूब झकोरा और उसे अपना महाशत्रु समझकर उसे विचलित करने का भगीरथ प्रयत्न किया। परन्तु वह आदित्य-ब्रह्मचारी देव-दयानन्द एक अलौकिक शक्ति-सम्पन्न था, जिसने सबके प्रहारों को सहकर भी अपनी वेद-ज्योति को बुझने नहीं दिया। उसने इस देश की दुर्दशा का मूल कारण वेद-ज्ञान का अभाव होने से अपनी-अपनी ढपली बजाने वाले मत-मतान्तर वालों को भलीभाँति समझा और उनके उपचार करने में लग गया। उसने समस्त वैदिकवाङ्मय का मन्थन करके सत्यासत्य को परखा और वेद को निर्भ्रान्त एवं स्वतःप्रमाण घोषित किया। और वेद-ज्ञान की कसौटी पर समस्त साहित्य को परखा और निर्णय किया कि ऋषि-मुनियों के बनाये सत्य-शास्त्रों से भिन्न समस्त साहित्य अज्ञान एवं भ्रान्ति का मूलकारण है। जैसे—सूर्य के प्रकाश न होने पर सहस्रों दीपक अन्धकार को हटाने में समर्थ नहीं होते, वैसे ही वेद-भानु के सत्यज्ञान के अभाव में अज्ञानान्धकार को दूर नहीं किया जा सकता। उसने देश के समस्त विद्वानों, मठाधीशो तथा धार्मिक गुरुओं को विचार विमर्श के लिये आह्वान किया। और लुप्त हुए विज्ञान को स्वयं प्राप्त कर अन्यों को प्राप्त कराया, जिसे पवित्रान्तःकरण वाले सत्पुरुषों ने सत्य समझकर ग्रहण किया, परन्तु दुराग्रह-ग्रस्त दुर्जन स्वार्थी लोगों ने उन्मत्त की भाँति उसे भी ठीक नहीं समझा। परन्तु 'सत्य की सदा विजय होती है' इसलिये जैसे-जैसे देव-दयानन्द का विधर्मियों ने प्रतिरोध किया, वैसे-वैसे वह ज्ञान-ज्योति और अधिक जगमगाने लगी।

उस सच्चे पारखी ऋषि ने न केवल वेदों का ही पुनरुद्धार किया, प्रत्युत समस्त साहित्य को परखने की कसौटी भी वतायी, जिससे सत्यासत्य का निर्णय करना कठिन नहीं रहा। उसने अपने सत्य-सिद्धान्तों की पुष्टि वेद के प्रमाणों से की, साथ ही वेदानुकूल आर्ष-साहित्य के प्रमाण भी दिये। ऋषि ने प्रामाणिक ग्रन्थों में महर्षि-मनुप्रोक्त मनुस्मृति को भी प्रामाणिक माना और उसके प्रमाण अपने ग्रन्थों में (५१४ श्लोक) सबसे अधिक दियें हैं। साथ ही एक मार्ग-दर्शन भी किया कि अमूल्य श्लोकों की निधि मनुस्मृति ही समस्त स्मृतियों में प्रामाणिक है, परन्तु इसके प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर। इस विषय में ऋषि के निर्देश पढ़िये—

(१) 'अब मनु जी का धर्मशास्त्र कौन सी स्थिति में है, इसका विचार

करना चाहिये। जैसे—ग्वाले लोग दूध में पानी डालकर उस दूध को बढ़ाते हैं और मोल लेने वालों को फंसाते हैं, उसी प्रकार मानव-धर्मशास्त्र को अवस्था हुई है। उसमें बहुत से दुष्टक्षेपक श्लोक हैं, वे वस्तुतः भगवान् मनु के नहीं हैं।

(उपदेशमञ्जरी)

(२) 'मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक् सब स्मृति ग्रन्थ (अपठनीय हैं)'। (ऋ० भू० ग्रन्थप्रामाण्या०)

(३) काशी-शास्त्रार्थ में महर्षि ने कहा था—'मनुस्मृत्यादीन्यपि वेदमूलानि सन्ति, तस्मात्तेषामपि प्रामाण्यमस्ति न तु वेदविरुद्धानाम्'। अर्थात् मनुस्मृति आदि भी वेदमूलक हैं, इससे इनका भी प्रमाण है। क्योंकि जो-जो वेदविरुद्ध हैं, उनका प्रमाण नहीं होता।

(४) 'एक दिन स्वामी जी यह उपदेश दे रहे थे कि वर्णभेद गुण पर निर्भर है, न कि जन्म पर और अपने कथन की पुष्टि में मनुस्मृति के कुछ श्लोक पढ़ रहे थे। इसपर एक मनुष्य ने कहा कि मनुस्मृति में अन्य श्लोक इसके विरुद्ध भी हैं। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि वे प्रक्षिप्त हैं'।

(द० जी० दे० मु० पृ० ३५७)

(५) महर्षि ने मनुस्मृति के कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों का निर्देश भी किया है, जैसे—

(क) प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम्………… ॥ (मनु० ५। २७)

(स० प्र० एकादश०)

(ख) न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। (मनु० ५। ५६)

(स० प्र० एकादश समु०)

(ग) पुराणानि खिलानि च ॥ (मनु० ३।२३२) (स० प्र० पृ० ३२६)

(घ) 'ब्राह्मण लोगों में विद्या की कमी होती गई और अभिमान बढ़ता गया? ……………तब उन्होंने अनेक प्रकार के व्रत, उपवास, श्राद्ध और मूर्त्तिपूजन आदि वेदविरुद्ध कर्मों में लोगों को चलाना प्रारम्भ कर दिया……… इसलिये ऐसे-ऐसे श्लोक गढ़े गये—अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणं दैवतं महत्

(मनु० ९। ३१७)

सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं देवतं हि तत् ॥ (मनु० ९। ३१९)

(उपदेशमञ्जरी में)

इससे स्पष्ट है कि महर्षि ने मनुस्मृति के विकृतरूप की भी सम्यक् परख की थी। और उसके सुधार के लिये सर्वप्रथम प्रयास भी किया। इस प्रकार

की घोषणा अनिश्चित ज्ञान वाले व्यक्ति कदापि नहीं कर सकते। ऋषि का अन्त:करण योग-साधना से पवित्र तथा वेद-ज्ञान से प्रकाशित था, इसीलिये वे काञ्चन-कामिनी के आकर्षण से ऊपर उठकर सत्य-पक्ष को स्थापित किया। और महर्षि ने यह प्रक्षेप-निकालने का साहसिक कार्य स्वेच्छया ही नहीं किया, क्योंकि प्रक्षेप निकालने के मूलाधार प्राचीन ऋषियों के ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। जैसे—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥ (न्याय०)

यद्यपि इस सूत्र में एक भिन्न विषय की ही चर्चा है, पुनरपि जो हेतु वहाँ दिये हैं, वे अन्यत्र भी मार्ग-निर्देशन अवश्य करते हैं। इसलिये ये हेतु अर्थात् जो मिथ्या हो, जो परस्पर विरोधी हो और जिसमें पुनरुक्त बातें हों, वह बात प्रमाण करने योग्य नहीं होती।

इस प्रकार महर्षि ने मनुस्मृति के प्रक्षेपों की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट करके इस ग्रन्थ की उपयोगिता का निर्देश किया है। जैसे—जौहरी ही हीरों की परख कर सकता है, वैसे ऋषियों के लिखे गूढ़ तत्त्वों को ऋषि ही परख कर सकते हैं, सामान्य-जन नहीं। इसलिये ऋषि ने मनुस्मृति को भली-भाँति समझा और दोषों के प्रति सजग भी किया। ऋषि ने इस ग्रन्थ का जो परिमार्जित तथा उज्ज्वल स्वरूप सम्मुख रक्खा है, वह उनके ग्रन्थों में पठनीय है। जैसे—शाण पर लगने पर मणि शुद्ध होने से चमकने लगती है, वैसे ही प्रक्षेपों को दूर करने से यह धर्मशास्त्र भी अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त करने से विद्वानों के मानस-पटल पर श्रद्धा व सम्मान प्राप्त कर सकता है। और इसके जो आलोचक वर्ग हैं अथवा जो इस ग्रन्थ के प्रति घृणाभाव रखने लगे हैं, उन्हें भी प्रक्षेप-रहित मनुस्मृति को देखकर निरुत्तर ही नहीं, इसके प्रति उनकी सम्मान की भावना भी बढ़ेगी। और मानव के परमहितैषी धर्म के विषय में जो वर्त्तमान में असन्तोष व्याप्त हो रहा है वह भी 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मो वेद नेतरः' (मनु०) इस मनु के सत्य वचन से तथा 'धृतिक्षमादमोऽस्तेयम्०' इस धर्म के सत्य स्वरूप को जानने से दूर हो सकेगा, और अन्धविश्वासों का उन्मूलन हो जायेगा।...............और प्रक्षिप्त श्लोकों के निर्धारण में उपर्युक्त मिथ्या, पुनरुक्त, परस्पर विरोध, अयुक्तियुक्त आधारों के अतिरिक्त मनु ने भी धर्म-निर्णयार्थ एक मुख्याधार का आश्रय लिया था, उसको भी हमने अपनाया है। जैसे—'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'। (मनु० २।१३) 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (मनु० २।६) अर्थात् धर्म का मूलस्रोत वेद है और धर्मविषयक

जिज्ञासा रखने वालों के लिये वेद ही परमप्रमाण है। वेदों के प्रति इतनी प्रबल आस्था रखने वाला व्यक्ति वेद-विरुद्ध बातों को कैसे कह सकता है?

धर्म-शास्त्र से घृणा क्यों? वर्त्तमान काल में धर्म और धर्मशास्त्र के प्रति अरुचि अथवा घृणा का कारण क्या है? इसकी गवेषणा करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि धर्म का विरोधी अधर्म हो प्रमुख कारण है। जैसे—चन्द्रमा की प्रिय चाँदनी भी चोर को रुचिकर नहीं होती, अथवा उल्लू को सूर्य के प्रकाश में भी नहीं दिखायी देता, वैसे ही जिनका अन्त:करण जन्म-जन्मान्तरों की सञ्चित मलीनता से अंकित है, जो अधर्म के मूलकारण लोभ और कामवृत्ति में आसक्त हैं और जिनकी बुद्धि अन्धविश्वासों की अवच्छिन्न परम्परा से कुण्ठित हो चुकी है, ऐसे काञ्चन-कामिनी के किंकर, तथा अर्थ-काम में ही आसक्त व्यक्तियों को धर्मानुष्ठान कदापि प्रिय नहीं हुआ करता। जैसे—स्वयं मनु ने यह उपदेश दिया है—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ॥

अर्थात् धर्म का ज्ञान उन्हीं व्यक्तियों को होता है कि जो अर्थमूलक लोभ-प्रवृत्ति तथा कामवृत्ति में आसक्त नहीं हैं। आज का युग भौतिक चकाचौंध की ओर बढ़ता जा रहा है, और इसी प्रवृत्ति ने धर्मशास्त्र की महत्ता को न्यून कर रक्खा है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि धार्मिक वृत्ति का अभाव ही हो गया है। जिनके मन में धर्म के अंकुर हैं और परमेश्वर की सच्ची भक्ति है, वे अवश्य धर्मशास्त्र के प्रति रुचि रखेंगे, इसके मूल्यांकन को समझेंगे, और धर्मानुष्ठान कर लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति करने में समर्थ होंगे।

और धर्मशास्त्र के प्रति विमुखता का एक असाधारण कारण इसमें परवर्त्ती प्रक्षेप भी हैं। जिनके कारण मानव-समाज के विभिन्न वर्ग-विशेषों में इसके प्रति हीनभावना फैली हुई है। परवर्त्ती स्वार्थी व दुराग्रही व्यक्तियों के पक्षपातपूर्ण प्रक्षेपों को पढ़कर सचमुच इस धर्मशास्त्र की प्रतिष्ठा धूमिल हो गई है। जन्मगत जाति-पांति की मान्यता, किसी वर्गविशेष को धर्म से वञ्चित करना, तथा अयुक्तियुक्त मिथ्या बातों ने ही इस धर्मशास्त्र की सत्यता को छिपा दिया है। इस विशुद्ध संस्करण को पढ़ने से ऐसे व्यक्तियों की समस्त भ्रान्तियों का निराकरण हो जायेगा, ऐसा हमारा दृढ विश्वास है। और प्रक्षेप-रहित श्लोकों की परस्पर संगति तथा प्रकरणबद्ध विषयों को पढ़ने से एक अतुलनीय आनन्द की अनुभूति हो सकेगी। और इस धर्मशास्त्र की प्रामाणिकता तथा इसके प्रवक्ता महर्षि-मनु के प्रति भ्रान्तियों का निराकरण होने से उनके प्रति अटूट श्रद्धा एवं प्रतिष्ठा में उत्तरोत्तर वृद्धि ही होगी।

क्या मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं हैं?—कुछ व्यक्तियों का ऐसा भी विचार है

कि मनुस्मृति में प्रक्षेप की बात ठीक नहीं है, वह जैसी मिलती है, वैसी ही स्वीकार कर लेनी चाहिये। परन्तु यह धारणा निराधार होने से मान्य नहीं हो सकती। क्योंकि एक ही ग्रन्थ में प्रकरणविरुद्ध, परस्परविरुद्ध, पुनरुक्तादि बातों को देखकर भी प्रक्षेपों को न मानना दुस्साहसपूर्ण मिथ्याग्रह ही कहलायेगा। एक सामान्य व्यक्ति के लेख में भी ऐसे दोष नहीं होते, मनुसदृश आप्तपुरुष के प्रोक्त ग्रन्थ में फिर ऐसे दोष कैसे हो सकते हैं? मनु० १।३ श्लोक में मनु की जो प्रशंसा की गई है कि आप ईश्वरोक्त वेदों के ज्ञाता हो, और सृष्टिविज्ञान को भलीभांति जानते हो, उससे मनु की योग्यता स्पष्ट होती है कि मनु अपने समय के बहुत ही प्रख्यात तथा उच्चकोटि के विद्वान् थे। उनके प्रवचन में पूर्वापर विरोध जैसे दोष कदापि नहीं हो सकते।

और मनुस्मृति के सभी भाष्यकारों ने न्यूनाधिकरूप में प्रक्षेप अवश्य माने हैं। जैसे कुल्लूकभट्ट[1] ने १७० श्लोकों को प्रक्षिप्त स्वीकार किया है। दूसरे भाष्यकारों ने भी इसी का अनुकरण किया है। पाश्चात्य विद्वान् बूलर, जौली आदि ने भी मनुस्मृति में प्रक्षेपों को माना है। महर्षि-दयानन्द ने तो प्रक्षेपों का स्पष्ट उद्घोष ही कर दिया है।

इनके अतिरिक्त मनु की शैली युक्तियुक्त, वेदानुकूल, पक्षपातरहित एव गम्भीर है, किन्तु प्रक्षिप्त श्लोकों में अयुक्तियुक्त, वेदविरुद्ध, अतिशयोक्तिपूर्ण तथा पक्षपातपूर्णादि दोष हैं, जो एक आप्तपुरुष के प्रवचन में नहीं होने चाहिये। और मनुस्मृति में जहाँ जहाँ बहुत परवर्ती व्यक्तियों, जातियों एवं स्थानों के नाम आते हैं, वे सब श्लोक प्रक्षिप्त-कोटि में ही आते हैं। और जिनमें 'मनुरब्रवीत्' 'मनोरनुशासनम्' इत्यादि स्थलों में मनु का नाम पठित है, वे श्लोक भी मनु से भिन्न व्यक्ति ने ही बनाये हैं। और कुछ श्लोक 'सायं प्रातः०' मनु २।५२ के पश्चात् प्राचीन मेधातिथि आदि के भाष्यों में नहीं हैं, किन्तु उनसे परवर्ती संस्करणों में हैं, जो स्पष्ट ही प्रक्षिप्त हैं। इस प्रकार मनुस्मृति में परवर्ती लोगों ने प्रक्षेपों का मिश्रण किया है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

१.

प्रथमाध्याय में	११	सप्तमाध्याय में	१६
द्वितीयाध्याय में	११	अष्टमाध्याय में	३०
तृतीयाध्याय में	२१	नवमाध्याय में	६
चतुर्थाध्याय में	१६	दशमाध्याय में	२
पञ्चमाध्याय में	२२	एकादशाध्याय में	१४
षष्ठाध्याय में	६	द्वादशाध्याय में	१२
		योग=	१७०

मनुस्मृति में प्रक्षेप निकालने के आधार—मनुस्मृति में प्रक्षिप्त श्लोक हैं, यह स्वीकार कर लेने पर एक जटिल समस्या उत्पन्न होती है कि इसके प्रक्षेपों का निर्धारण किस प्रकार किया जाये ? अन्यथा स्वेच्छाचारिता के समावेश होने से इस ग्रन्थ का स्वरूप ही छिन्न-भिन्न हो जायेगा। जो सम्प्रदाय अथवा व्यक्ति जिस बात को नहीं मानता होगा, उसे ही प्रक्षिप्त कहकर बहिष्कृत कर देगा। इस स्वेच्छाचारिता के दोष से वचने तथा प्रक्षिप्त श्लोकों के छांटने में हमने कुछ आधार निश्चित किये हैं जिनके अनुसार समस्त शास्त्र की परीक्षा की गई है। यद्यपि हमारे से पूर्व आर्यजगत् के विद्वानों[1] ने इस ग्रन्थ के प्रक्षेप छांटने का बहुत उत्तम कार्य किया है, एतदर्थ वे सदा सम्माननीय हैं। परन्तु मूल-आधारों को निश्चित करके इस ग्रन्थ की परीक्षा किसी ने ऐसी नहीं की, जो हृदयंगम हो सके, और पक्षपात रहित होकर सत्य-निर्णय में परमसहायक सिद्ध हो सके। कुछ भाष्यकारों ने यदि आधार लिखे भी हैं, तो वे समस्त ग्रन्थ में चरितार्थ नहीं कर सके अथवा कुछ ने कुछ मौलिक श्लोक ही प्रक्षिप्त मान लिये हैं। इन दोषों से बचकर और निष्पक्ष होकर प्रक्षेपों का निर्धारण करने के लिये हमने निम्नलिखित आधार बनाये हैं। समस्त ग्रन्थ के पूर्वापर श्लोकों पर बहुत ही गम्भीरता से अनुशीलन करके २६८५ श्लोकों में से १५०२ श्लोकों को प्रक्षिप्त और ११८३ श्लोकों को मौलिक माना है—

(१) **विषय-विरुद्ध**—मनुस्मृति को आद्योपान्त पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनु ने इस ग्रन्थ का प्रवचन विषयानुसार किया है और इसलिये मनु विषय के प्रारम्भ तथा अन्त में विषय का निर्देश अवश्य करते हैं। परन्तु जो श्लोक बीच बीच में उन विषयों से सम्बद्ध न होकर किसी भिन्न विषय का ही प्रतिपादन कर रहे हैं, उन्हे प्रक्षिप्त कोटि में रखा गया है। जैसे द्वितीयाध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम के कर्त्तव्यों का वर्णन है, उसमें 'त्रिष्व-प्रमाद्यन्नेतेषु' (२। १३२) गृहस्थ का कर्त्तव्य बताना विषयविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

(२) **प्रसग-विरुद्ध**—इस ग्रन्थ में जहां मुख्य-विषय के अन्तर्गत विषय से सम्बद्ध प्रासंगिक बातों का कथन किया गया है, उस उपविषय को 'प्रसंग' शब्द से कहा गया है। और जो श्लोक उस प्रसंग से सम्बद्ध न होकर किसी भिन्न बात को ही बता रहे हैं, उन्हें प्रसंगविरुद्ध माना गया है। क्योंकि वे श्लोक

---

१. श्री तुलसीराम स्वामी, श्री स्वामी श्रद्धानन्द, श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार, श्री सत्यकाम सिद्धांतशास्त्री, श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय इत्यादि।

क्रमबद्ध वर्णन से संगत नहीं हैं। जैसे १। ६५ श्लोक में मानुष और दैव दिन-रातों का कथन सृष्टि-उत्पत्ति के मुख्य विषय में किया गया है। किन्तु १।६६ श्लोक में पितरों के दिन-रात का कथन पूर्वापर प्रसंग के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है। क्योंकि १। ६५ तथा १। ६७ श्लोकों में जो बात कही है, उसकी परस्पर संगति है, किन्तु १। ६६ वाँ श्लोक उस क्रम को भंग कर रहा है।

(३) **अन्तर्विरोध**—इस आधार को परस्परविरोध भी कह सकते हैं। मनु ने जो मान्यता एक स्थान पर लिखी है, जब उसी का अन्यत्र लिखी बातों से विरोध हो तो परस्पर विरोधी होने से दोनों बातें मनु की नहीं हो सकतीं। एक सामान्य व्यक्ति के प्रवचन में भी परस्परविरोध देखकर खटकता है, फिर मनु सदृश आप्तपुरुष भी ऐसी बात कह सकता है, यह बुद्धि-विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। और इन्हीं परस्पर विरोधी लेखों को देखकर ही अनेक व्यक्तियों ने तो यह स्पष्ट लिख दिया है कि मनुस्मृति किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है, किन्तु समय समय पर विभिन्न लेखकों के बनाये श्लोकों का संग्रह मात्र ही है। ऐसे विरोधों में कौनसी बात मनु-प्रोक्त मौलिक है, और कौनसी नहीं, यह निर्णय करना यद्यपि सरल नहीं है, पुनरपि हमने दो आधारों पर इस समस्या को सुलझाया है। जो बात इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर प्रासंगिक रूप से कही गई है, उससे विरुद्ध तथा वेद को मनु ने परम प्रमाण माना है, उससे विरुद्ध बात को प्रक्षिप्त कोटि में रखा गया है। जैसे—

(क) वर्जयेन्मधुमांसं च प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ (२। १७७)

(ख) नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।

.....................तस्मान्मांसं परिवर्जयेत् ॥ (५। ४८)

(ग) अनुमन्ता विशसिता............खादकश्चेति घातकाः ॥ (५। ५१)

इत्यादि अनेक स्थानों पर हिंसामूलक मांसभक्षण का स्पष्ट निषेध लिखा है और मांस को राक्षसों का भोजन माना है। परन्तु इस मान्यता के विरुद्ध ५। ११-४७ तथा ३। १२२-२८४ श्लोकों में विभिन्न मांसों के खाने का वर्णन है, जो मनु की मान्यता से विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है। और 'पशून् पाहि' (यजु०) पशूँस्त्रायेथाम्' (यजु०) इत्यादि वेद-मन्त्रों में पशु-पालन के आदेश से पशुहिंसा करने का स्पष्ट विरोध होने से वेदविरुद्ध भी है।

(४) **पुनरुक्तदोष**—प्राचीन[1] शास्त्रों में पुनरुक्त बात को भी अप्रामाणिक

१. 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघात-पुनरुक्तदोषेभ्यः' (न्याय० २। १। ५७)

माना है। इस आधार पर इस ग्रन्थ में भी जो बात पहले कही जा चुकी है और उसी बात को बिना किसी विशेष प्रसंग से फिर कथन करना मनुप्रोक्त नहीं माना जा सकता। जैसे

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ (८।३२४)

इसी बात को ९।२९३ श्लोक में पुनः कहा गया है। केवल प्रथम एक पद को छोड़कर शेष सभी पद वे ही हैं। और इसके कहने का कोई प्रसंग विशेष न होने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है। प्रक्षेप करने वालों ने एक अपनी नई मान्यता मिलाने के लिए ही पुनरुक्त दोष किया है।

(५) अवान्तर-विरोध—इस ग्रन्थ में जो परवर्ती-काल प्रक्षेप हैं, वे भी विभिन्न समयों में विभिन्न व्यक्तियों के किये हुए हैं। इसलिये उन प्रक्षेपों में भी जो परस्पर विरोधी बातें हैं उन्हें 'अवान्तर विरोध' के नाम से रखा गया है। जैसे मृतकश्राद्ध का समस्त वर्णन प्रक्षिप्त है, परन्तु उसमें भी परस्पर विरोधी बातों का कथन है। ३।१२२-२४८ श्लोक मृतकश्राद्ध के हैं। इनमें श्राद्ध में मांस-भक्षण का विधान किया है, किन्तु ३।१५२ में मांसविक्रेता ब्राह्मण को जिमाने का निषेध किया है और ३।५१ में श्राद्ध में ब्रह्मचारी को जिमाने का निषेध करके ३।१८६, १९२, २३४ श्लोकों में श्राद्ध में ब्रह्मचारी को जिमाने का विधान करना अवान्तर-विरोध होने से प्रक्षिप्त है। यहाँ प्रक्षेप करने वालों ने यह ध्यान भी नहीं रखा कि मांसभक्षण का विधान अथवा उसकी निन्दादि बातों में कोई संगति भी है, या नहीं ?

(६) शैलीगत-विरोध—इस ग्रन्थ में कुछ श्लोक ऐसे भी हैं, जो शैली-विरोध के कारण प्रक्षिप्त माने गये हैं। यद्यपि मनु की प्रवचनशैली कैसी थी, इस बात का निर्धारण करना सरल कार्य नहीं है, पुनरपि ऋषि-मुनियों की प्राचीन प्रवचन-शैली, आप्त-पुरुषों[1] के स्वभावादि की परीक्षा करने से आप्त-पुरुषों की शैली का निर्णय किया जा सकता है। आप्त-पुरुष कहीं भी अपना नामादि लेकर कथन नहीं करते। उनके प्रवचन में अतिशयोक्ति, पिष्ट-पेषण, पक्ष-पातादि दोष नहीं होते। और प्रवचन में भूतकालीन क्रियाओं का प्रयोग

---

१. 'प्राप्तः खलु साक्षात् कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। (न्या० वा० अ० १।१।७) अर्थात् आप्तपुरुष जिस विषय का यथार्थ ज्ञाता होता है, उसी का उपदेश वैसा ही करता है, उसके उपदेश में आत्मप्रतिष्ठा, अतिशयोक्ति, अयुक्तियुक्त, पक्षपातपूर्ण तथा सृष्टिक्रमविरुद्धादि दोषों का सर्वथा अभाव होता है।

तो सम्भव ही नहीं है कि मैंने ऐसे कहा था। परन्तु इस स्मृति में अत्यन्त सामान्य जनों के सदृश आत्मसम्मान दिखाने वाले श्लोक, जैसे धर्मो मनुना परिकीर्तितः (२।७) 'शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः' (१।११८) और पक्षपातपूर्ण श्लोक, जैसे न शूद्राय मतिं दद्यात्' (४।८०) 'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणाम्' (२।६६) 'तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन्' (२।१६) इत्यादि हैं, जो मनु की शैली के नहीं हो सकते। ये किसी ने मनु के नाम से बाद में मिलाये हैं।

(७) **वेद-विरुद्ध**—समस्त वैदिक वाङ्मय का मूल आधार वेद है और मनु ने भी वेद को धर्म-निर्णय में परम प्रमाण माना है। अतः वेदभक्त-मनु वेद-विरुद्ध बातों का प्रवचन कदापि नहीं कर सकता। मनु ने (१।३० में) वेदविरोधी अथवा निन्दक को नास्तिक कहकर उसकी अवहेलना की है। तथा 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (१।१२५) वेद को धर्म का मूल माना है। फिर इस धर्मशास्त्र में वेद-विरुद्ध प्रवचन की सम्भावना कैसे की जा सकती है? जैसे वेद में 'यथेमां वाचं कल्याणीं·········शूद्राय····· ···।' (यजु०) कहकर शूद्र को भी वेद पढ़ने का निर्देश किया है, फिर 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' (४।८० में) शूद्र को पढ़ने का निषेध करना कैसे मनुप्रोक्त हो सकता है? इसी प्रकार मद्य-मांसादि के भक्षणपरक श्लोक, स्त्रियों को वेद न पढ़ाने के श्लोक, इत्यादि अवैदिक बातें जिनमें हैं, वे श्लोक वेद-विरुद्ध माने गये हैं।

महर्षि-दयानन्द द्वारा उद्धृत श्लोक भी प्रक्षेपान्तर्गत क्यों? प्रक्षेपों के मूलाधार निश्चित करते समय हमारा यह मौलिक कर्त्तव्य बनता है कि हम सर्वथा सर्वत्र इनका पालन बिना किसी पक्षपात के करें। हमने समस्त प्रक्षिप्त श्लोकों पर बहुत ही गम्भीरता से तथा अनेक बार विचार किया कि कहीं हमसे प्रक्षेप निर्धारण में कोई जानबूझकर त्रुटि न रह जाये। महर्षि दयानन्द ही हमारे प्रक्षेप-निर्धारण करने में मूलप्रेरक तथा मार्गदर्शक बने हैं, जिनके वचनों को हम पहले उद्धृत कर चुके हैं। यदि उनके निर्देश हमें नहीं मिलते, तो हम प्रक्षेपों के निर्धारण में कदापि समर्थ नहीं होते। क्योंकि उन्होंने ही हमें परख करने, तर्क की कसौटी पर कसने, सृष्टि-क्रम को देखने, तथा वैदिक सत्यसिद्धान्तों को जानने, इत्यादि सन्मार्ग का पथिक बनाया है।

परन्तु हमारे प्रक्षिप्त-श्लोकों के चयन में कुछ श्लोक ऐसे भी आगये हैं, जो महर्षि—दयानन्द के ग्रन्थों में उद्धृत हैं। वे श्लोक निम्नलिखित हैं—

(१) आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ (१।१०)
(स० प्र० में उद्धृत)

(२) मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ।। (१।३५) (पूना प्रवचन)

(३) एते मनूँस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः ।
देवान् देव निकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ।। (१।३६) (पूना प्रवचन)

(४) वसून् वदन्ति तु पितृन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी ।। (३।२८४)
(पञ्चमहायज्ञ०)

(५) दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ।। (४।८४) (सं० वि०)

(६) गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्धयति ।। (५।६५)
(स० प्र० और पत्र विज्ञापन)

(७) उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ।। (८।१२५) (स० प्र०)

(८) अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान् वाहनानि च ।
आयव्ययौ च नियतावाकरान् कोशमेव च ।। (८।४१९) (स० प्र०)

(९) एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन् ।
व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ।। (८।४२०)
(स० प्र०)

(१०) यस्याः म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ।। (९।६९) (स० प्र०)

(११) मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ।। (१०।४५)
(स० प्र० और पूना०)

(१२) अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ।। (१०।५८)
(पूना प्रवचन)

इन श्लोकों पर विचार—यद्यपि इन श्लोकों में मनुस्मृति की किसी भी

मान्यता से विरोध नहीं है, पुनरपि प्रकरण-संगत न होने से प्रक्षिप्त कोटि में रखे गये हैं। महर्षि ने इनका उद्धरण अपने ग्रन्थों में करते हुए श्लोकों के पते (अध्याय तथा संख्या) नहीं लिखे। इस का कारण यही है कि महर्षि इस धर्म-शास्त्र के प्रक्षेपों को निकालने के साथ साथ यह भी चाहते थे कि कुछ श्लोक स्थानभ्रष्ट भी हैं, जिससे उनकी प्रकरण से संगति नहीं है। हमने भी इस कार्य को अभी छोड़ दिया है, क्योंकि श्लोकों को प्रकरण के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखने पर पाठकों को श्लोकों के देखने में अत्यधित असुविधा होती है और किसी श्लोक के यथास्थान न मिलने पर यही समझकर कि यह श्लोक तो इन्होंने निकाल ही दिया है, सन्देह में रह सकता है। और अभी इस विषय पर गम्भीर अनुसन्धान की भी आवश्यकता है। और इन श्लोकों का प्रेक्षपान्तर्गत आने का एक कारण यह भी है कि इन श्लोकों में जो पहले श्लोक हैं, वे प्रक्षिप्त हैं, और उनके मध्य आने से इन श्लोकों का कोई प्रकरण नहीं बन सका। और इनमें से प्रत्येक श्लोक के विषय में पृथक् पृथक् विचार इस प्रकार समझना चाहिये—

(१) इस श्लोक से पूर्ववर्ती श्लोक प्रक्षिप्त हैं। सृष्टि-क्रम के अनुसार सृष्टि-रचना सूक्ष्म से स्थूलरूप बनी। और उसी क्रम से १४—१८ श्लोकों में सूक्ष्म तत्त्वों की उत्पत्ति कही है, परन्तु उससे पहले ही अप्-तत्त्व की उत्पत्ति, उससे अण्डे की, अण्डे से ब्रह्मा की, और अण्डे के दो भागों से द्युलोक-पृथिवी-लोकादि की उत्पत्ति, इत्यादि बातें सृष्टि-प्रक्रिया से संगत नहीं हैं। उसी प्रसंग में इस श्लोक में 'नारायण' शब्द की व्युत्पत्ति बताने से स्पष्ट है कि यह श्लोक उस ब्रह्म को ही नारायण मान रहा है, जिसकी उत्पत्ति अण्डे से हुई है। और अण्डे सें प्रजापति ब्रह्मा की उत्पत्ति मानना पौराणिक कल्पना मात्र ही है।

(२, ३) जब सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन १४—२२ श्लोकों में समाप्त हो गया है और उसके पश्चात् २६—३० श्लोकों में उत्पन्न प्रजाओं के कर्मों की व्यवस्था का वर्णन किया जा चुका, फिर प्रसंग की समाप्ति होने पर ३२—४१ श्लोकों में पुनः सृष्टि-रचना का कथन करना प्रसंगविरुद्ध है और ब्रह्मा के आधे शरीर से पुरुष की तथा आधे से स्त्री की उत्पत्ति, ऋषियों से सात मनुओं की उत्पत्ति, चराचर जगत् की उत्पत्ति इत्यादि बातों से सम्बद्ध होने से ये श्लोक अप्रासंगिक हैं।

(४) इस श्लोक से पूर्व ३।१२२—२८३ तक श्लोक मृतकश्राद्ध के हैं। अतः उनके बाद यह श्लोक उस प्रसंग से सम्बद्ध है, और ३।११६—११८ श्लोकों की संगति ३।२८५ के साथ है। क्योंकि इनमें गृहस्थी के लिये अतिथि को खिलाकर

खाने का विधान है। ३। २८५ में यज्ञशेष और भुक्तशेष अन्न का लक्षण कहा गया है। अतः उस प्रसंग को यह श्लोक भंग कर रहा है।

(५) यह श्लोक ४। ८४ से सम्बद्ध है। उसमें अक्षत्रिय से उत्पन्न राजा, कसाई, तेली, कलार और भेष बदलकर जीविका करने वाला, इन सबसे दान न लेने का विधान है। और इस (४। ८५) श्लोक में उनकी तुलनात्मक शैली से निन्दा की है। क्योंकि मनु की मान्यता में वर्णव्यवस्था का आधार कर्म है, जन्म नहीं और इनमें जन्म के आधार पर मान्यता दिखायी है, अतः यह श्लोक भी उसी क्रम में आने से प्रक्षिप्त है।

(६) मनु ने ५। ५७ श्लोक में प्रेत-शुद्धि तथा द्रव्यशुद्धि का प्रारम्भ किया है और १०५–१०७ श्लोकों में शुद्धिकारक पदार्थों का कथन करके १०९ श्लोक में शरीर-शुद्धि की बात कही है। अतः ५७ के बाद १०५–१०७ श्लोकों की संगति उचित है। इनके मध्य ५८ से १०४ तक श्लोक उस क्रम को भंग करते हैं और इनमें सपिण्ड-असपिण्ड, मृतकशुद्धि, सूतकशुद्धि इत्यादि मनु की मान्यता से विरुद्ध बातों का कथन है। इन प्रसंगविरुद्ध श्लोकों के अन्तर्गत आने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है। लेकिन महर्षि का उद्देश्य इस श्लोक के प्रमाण देने का केवल प्रेत और प्रेतहार है। उससे कोई दोष नहीं आता।

(७) यह श्लोक पूर्वापर प्रकरण को भंग कर रहा है। पूर्व के ८। १२२ श्लोक तथा परवर्त्ती ८। १२६–१३१ श्लोकों में आर्थिक दण्डों का विधान है। इनके बीच में शारीरिक दण्ड के लिये शरीर के विभिन्न स्थानों की गणना कराना प्रसंग को भंग करने से प्रक्षिप्त है।

(८–९) मनु ने ८। ३ में अठारह प्रकार के मुकदमों का वर्णन किया है और उनकी समाप्ति ९। २५० श्लोक में होती है। आठवें अध्याय में तो १५ मुकद्दमों की ही समाप्ति हुई है। अतः बीच में ही सभी व्यवहारों (मुकद्दमों) की समाप्ति तथा उनके फल का कथन करना प्रकरण को भंग करता है। और जब इन व्यवहारों की समाप्ति का सूचक ९। २५० वाँ श्लोक यथास्थान उपलब्ध है, तो बीच में ये श्लोक निरर्थक ही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यायों का विभाग करने वाले किसी व्यक्ति ने इन श्लोकों की रचना अष्टमाध्याय के उपसंहार के लिये की है।

मनुस्मृति का अध्याय-विभाजन दोषपूर्ण है—मनुस्मृति के आद्योपान्त पारायण एवं अनुशीलन करने से यह बात भी स्पष्ट हुई है कि इस ग्रन्थ का अध्यायों का विभाजन मौलिक नहीं है। किसी परवर्त्ती मनुष्य ने अपने ढंग से

ही अध्यायों का विभाग किया है, जो दोषपूर्ण है। यद्यपि आज तक जितने भी संस्करण उपलब्ध हैं, उनमें अध्यायों का ही क्रम है, परन्तु यह परिवर्त्तन बहुत पुराना होने से और पठन-पाठन की वैसी ही परम्परा प्रचलित होने से अध्यायों के विभाजन सम्बन्धी दोष पर किसी भी विद्वान् का ध्यान नहीं गया। मनु ने इस ग्रन्थ का प्रवचन ऐसी शैली से किया है, उसमें अध्यायों का विभाग सम्भव भी नहीं है। मनु प्रत्येक विषय का प्रारम्भ तथा अन्त में दोनों स्थानों पर निर्देश करते हैं। और उन विषय-संकेतक श्लोकों में अधिकतर ऐसा कथन किया गया है, जिनमें पूर्वविषय का उपसंहार और अगले विषय का निर्देश किया गया है। और उन विषयनिर्देशक श्लोकों को अध्यायानुसार विभाग कैसे किया जाये? श्लोक के एक चरण को पूर्व-अध्याय में रखें और दूसरे को दूसरे अध्याय में, ऐसा करना भी उचित प्रतीत नहीं होता। और किसी श्लोक (६। ६७) में तो तीन पादों में पूर्वविषय का और एक पाद में अगले विषय का निर्देश है, उस एक पाद को अगले अध्याय में रखकर तीन पादों को पिछले अध्याय में रखने से समस्त श्लोक ही अस्त-व्यस्त हो जाता है। अतः मनु के क्रम में अध्याय-विभाजन करना उपयुक्त नहीं है।

अध्याय-विभाजन से दोषोत्पत्ति—(१) प्रथमाध्याय में सृष्टि-उत्पत्ति तथा धर्मोत्पत्ति दो विषयों का वर्णन है। परन्तु धर्मविषयक पच्चीस श्लोक द्वितीयाध्याय में रखे गये हैं, जिससे एक ही विषय दो अध्यायों में आ गया है। जबकि दूसरे अध्याय का विषय संस्कार एवं ब्रह्मचर्याश्रम है। यदि द्वितीयाध्याय के २५ श्लोकों को प्रथमाध्याय में ही रख दिया जाये तो प्रथम-अध्याय पूर्ण हो सकता है, अन्यथा अधूरा ही है। हमने अपने इस प्रकाशन में इस त्रुटि को ठीक करके पुरानी और नई दोनों संख्यायें पाठकों की सुविधा के लिये दे दी हैं। और द्वितीयाध्याय का प्रारम्भ २। २६ से किया है। उपलब्ध संस्करणों में ११६ श्लोक पर प्रथमाध्याय की समाप्ति करना असंगत ही है।

(२) इसी प्रकार अष्टमाध्याय तथा नवमाध्याय के विभाजन में भी त्रुटि दिखायी देती है। अष्टमाध्याय का विषय १८ प्रकार के मुकद्दमों का वर्णन करना है। परन्तु उसकी समाप्ति १५ मुकद्दमों की समाप्ति पर की गई है और शेष श्लोक नवमाध्याय में हैं। जब ६। २५० श्लोक में इस विषय को समाप्ति का स्पष्ट संकेत विद्यमान है, तो बीच में अध्याय समाप्त करना और विषय-उपसंहार सूचक श्लोक का परिवर्धन करना कैसे संगत हो सकता है? यद्यपि श्लोक-संख्या पर्याप्त अधिक होने से हमने इस संस्करण में परिवर्त्तन नहीं किया है, पुनरपि यह दोष पाठक को खटकता है और मनु की शैली से विरुद्ध होने से असंगत ही है।

(३) इसी प्रकार नवम-दशमाध्यायों के विभाजन में भी दोष है। दशमाध्याय की समाप्ति चातुर्वर्ण्य-धर्म की समाप्ति से की है। और उसमें वैश्य-शूद्र के धर्मों का कथन ९। ३२६ से प्रारम्भ है और समाप्ति दशमाध्याय में की है। यदि इस विषय को एक ही अध्याय में किया जाता, तो इसकी संगति थी। परन्तु एक विषय को दो अध्यायों में बांटना और उनके प्रसंग से स्वाभीष्ट श्लोकों का प्रक्षेप करना अनिष्टकारक ही है।

अध्यायों के अनुसार प्रक्षिप्त श्लोकों का विवरण

अध्याय		उपलब्ध कुल श्लोक-संख्या	प्रक्षिप्त-श्लोक	मौलिक-श्लोक
प्रथम	(इस संस्करण के अनुसार)	१४४	६५	७९
द्वितीय	,,	२२४	६२	१६२
तृतीय	,,	२८६	२०६	८०
चतुर्थ	,,	२६०	१७२	८८
पञ्चम	,,	१६९	१२८	४१
षष्ठ	,,	९७	३४	६३
सप्तम	,,	२२६	६०	१६६
अष्टम	,,	४२०	१९२	२२८
नवम	,,	३२५	१६५	१६०
दशम	,,	१४२	१२८	१४
एकादश	,,	२६६	२३६	३०
द्वादश	,,	१२६	५४	७२
योग		२६८५	१५०२	११८३

इस संस्करण की विशेषतायें—

१. महर्षि-दयानन्द का भाष्य—महर्षि ने अपने ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी मनुस्मृति के श्लोक देकर उनकी व्याख्या की है, वही व्याख्या यथास्थान इस ग्रन्थ में रखी गयी है। महर्षि ने ५१४ श्लोकों की व्याख्या अथवा भावार्थ रूप में अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है। महर्षि की व्याख्या में जो अर्थगांभीर्य तथा यथार्थता[1] होती है, वह अनृषि लोगों की व्याख्या में कदापि नहीं हो सकती। अतः पाठक महर्षि के अर्थों का अध्ययन यथास्थान कर सकेंगे। शेष श्लोकों की व्याखया हमारी जाननी चाहिये।

१. इस विषय का स्पष्टीकरण पृथक् से भी देखा जा सकता है।

२. इस संस्करण में प्रक्षिप्त श्लोकों के पृथक् करने से श्लोकों में विषय का अटूट-क्रम बन गया है, उसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। और परवर्त्ती प्रक्षेपों से जो क्रम-भंग हो रहा था, उस दोष से यह प्रसंग मुक्त हो जायेगा।

३. श्लोकों की व्याख्या श्लोक के पदों को कोष्ठक में रखकर अन्वय पूर्वक की गयी है, अतः सामान्य संस्कृत का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति भी श्लोक के अर्थ को हृदयंगम करने में समर्थ हो सकते हैं।

४. स्वाध्यायशील तथा गवेषणा करने वालों की सुविधा के लिये अकारादिक्रम से श्लोक-सूची और विषय-सूची भी पृथक् से दी गई है।

५. जो अबोध छात्र तथा निष्पक्ष व्यक्ति इस ग्रन्थ को पढ़ते थे, तो प्रक्षेपों में वर्णित विषयों को भी पढ़ते थे, जिससे अवैदिक विचारधारा का प्रभाव पडे विना नहीं रहता था। कितना भी कोई प्रयास करे फिर भी अशुद्ध स्थान या बुरे विचारों में जाकर वह अपने को अछूता नहीं रख सकता। ऐसे मस्तिष्क-दूषक तथा पाप-प्रभावोत्पादक प्रक्षेपों के पृथक् करने से इस अशुद्धि से पाठक मुक्त रह सकते हैं। और जो समस्त ग्रन्थ को ही पढ़ने की इच्छा रखते हों, उन्हें हमारा दूसरा संस्करण पढ़ना चाहिये।

६. यद्यपि इस विशुद्ध मनुस्मृति में प्रक्षिप्त श्लोक नहीं रखे गये हैं, पुनरपि विषय-समाप्ति पर उनकी श्लोक-संख्या लिखकर दी गई समीक्षा पाठक देख सकते हैं कि हमने किन कारणों से उन्हें प्रक्षिप्त माना है। जिससे पाठक भी उनके दोषों को संक्षेप में समझ सकते हैं।

७. और जिन अध्यायों की श्लोक-संख्याओं में हमने परिवर्त्तन प्रकरण के अनुसार किया है, वहाँ दो-दो संख्यायें दी गयी हैं। एक प्रचलित संस्करणों के अनुसार और दूसरी मौलिक, जिससे पाठकों को देखने में किसी प्रकार की असुविधा नहीं होगी। और प्रथमाध्याय में १२० श्लोक से लेकर द्वितीयाध्याय की समाप्ति पर्यन्त तीन-तीन संख्यायें दी गयी हैं। उनमें प्रथम इस संस्करण के अनुसार, द्वितीय प्रचलित संस्करणों के अनुसार और तृतीय विशुद्ध (मौलिक) श्लोकों की संख्या जाननी चाहिये।

८. महर्षि-दयानन्द द्वारा व्याख्यात श्लोकों में संस्कृत के पद अर्थ में नहीं थे। पाठकों की सुविधा के लिये उनके अर्थों में संस्कृतपद हमने लिखे हैं। और जहाँ कहीं किसी पद का अर्थ परित्यक्त समझा है, वहाँ चिह्न देकर पृथक् से लिखा गया है।

आभार-प्रदर्शन—जिस परम-पिता परमेश्वर की असीम अनुकम्पा तथा सत्प्रेरणा से यह ग्रन्थ-प्रकाशन का पवित्र कार्य निर्बाधरूप से सम्पन्न हुआ, हम उसका कोटिशः धन्यवाद करते हैं। तत्पश्चात् प्राचीन ऋषि-मुनियों का, जिन्होंने सर्वकल्याण की भावना से इस पवित्र-ज्ञान की ज्योति परेश के सान्निध्य से पवित्रान्तःकरण से प्रज्वलित की, उनका गुणानुवाद स्वतः ही हृदय से प्रस्फुटित हो रहा है। और जिस ऋषि-दयानन्द ने, उस ज्ञान को चिरकालीन अज्ञान तथा भ्रान्तियों के आवरण को दूर करके पुनः प्रकाशमान किया और अज्ञान-ग्रस्त संसार को सन्मार्ग दिखाया, उनके प्रति सदा श्रद्धा से नतमस्तक हुए विना कैसे हम रह सकते हैं ? और जिन आर्य-विद्वानों ने अपने सतत प्रयत्न से ऋषिवर की सत्प्रेरणा से उनकी मान्यताओं के अनुसार मनुस्मृति की प्रथम व्याख्यायें लिखी हैं, उनके प्रति हम हृदय से आभार प्रकट करते हैं। और इस ग्रन्थ के पवित्र संस्करण के प्रकाशन का मूल-मन्त्र जिस हृदय में प्रथम अंकुरित हुआ, जिन्होंने न केवल इस ग्रन्थ के प्रकाशन के समस्त व्यय की व्यवस्था की, अपितु इस कार्य में योग्य विद्वानों को नियुक्त किया और समय-समय पर अपने सत्परामर्शों से इस प्रक्षेप-निर्धारण के श्रमसाध्य कार्य को अनुप्राणित भी किया, उन ट्रस्ट के संस्थापक एवं प्रधान श्री ला० दीपचन्द जी आर्य का हम हृदय से धन्यवाद करते हैं, परमेश्वर ऐसे आर्यपुरुषों को सदा ही स्वास्थ्य तथा दीर्घजीवन प्रदान करें। इसके साथ ही गुरुकुल झज्जर के योग्य स्नातक, जिनके सुशील-तादि स्वभावों से मैं विद्यार्थीकाल से ही सुपरिचित हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रक्षेप-निर्धारण में अत्यधिक श्रम किया है, और प्रक्षेप छाँटने के प्रमुख आधारों का चयन करके इस जटिल कार्य को सरल बनाया है, उन प्रो० सुरेन्द्रकुमार जी का मैं अत्यन्त आभारी हूँ। परमेश्वर उन्हें भविष्य में भी इसी प्रकार के कार्यों में सत्प्रेरणा देते रहें। इसके अतिरिक्त इसके प्रकाशन कार्य में परम-सहयोगी श्री कर्मवीर जी शर्मा, श्री रामहौसला जो मिश्र और उनके समस्त सहयोगी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने श्रद्धा से सतत प्रयास करके इसका शुद्ध प्रकाशन किया है। इसके साथ ही मुझे पारिवारिक कार्यों से सर्वथा निश्चिन्त रखकर इस कार्य में जिस जीवनसङ्गिनी धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पलता ने परम-सहयोग दिया है, उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ।

साथ ही इस ग्रन्थ के पाठकों तथा विद्वज्जनों से भी विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि हमने बहुत ही पवित्रभाव से तथा जन-हित-कामना से इस धर्मशास्त्र के प्रक्षेपों का पृथक्करण करके 'विशुद्ध-संस्करण' का प्रकाशन किया है। पुनरपि हम अल्पज्ञ तथा अल्पसामर्थ्य वाले ही हैं, हमसे त्रुटि का होना सम्भव है। यदि स्वाध्यायशील, विद्वद्गण तथा अनुसन्धानरत व्यक्ति इसमें कहीं भी किसी प्रकार

की त्रुटि अनुभव करें, तो वे निःसंकोचभाव से हमें लिखें और उसका कारण भी अवश्य स्पष्ट करें। जिससे उस त्रुटि का संशोधन अगले संस्करण में किया जा सके। आशा है गुणग्राही पाठकगण हमारे दोषों को क्षमा करते हुए सद्गुणों का ही प्रकाशन एवं संवर्धन सदा किया करेंगे। क्योंकि इस विषय में सज्जनों के स्वभाव के विषय में बहुत ही सुन्दर कहा गया है—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

दिनाँक—२३-१२-१९८१ ई०
पौष कृष्णा द्वादशी, सं० २०३८ वि०
भूपेन्द्रपुरी, मोदीनगर (गाजियाबाद)

विनीत—
राजवीर शास्त्री
(सं० दयानन्द-सन्देश)

महर्षि-दयानन्द-कृत अर्थों की विशेषता—

हमने इस मनुस्मृति के भाष्य में, जिन श्लोकों के महर्षि-दयानन्द कृत अर्थ उनके ग्रन्थों में मिले, उनको यथास्थान रखा है। इसका कारण स्पष्ट है—अर्थों के साक्षात्कार करने वाले ऋषियों की व्याख्या तथा अनृषि लोगों की व्याख्या में बहुत अन्तर होता है। अर्थ-निर्धारण के लिये व्याकरण-प्रक्रिया के बोध के साथ साथ प्रकरण का भी विशेष ध्यान रखना पड़ता है। और अर्थ को भी अभिधावृत्ति, व्यञ्जनावृत्ति, तथा लक्षणावृत्ति के बिना पूर्णतः नहीं जाना जा सकता। महर्षिकृत अर्थों की प्रमुख विशेषता यह है कि वे अर्थ वैदिक सिद्धांतों तथा मनु के प्रकरणानुकूल होते हैं। उन अर्थों में कहीं भी परस्पर विरोध, असंगति तथा कल्पना जैसे दोष नहीं होते। महर्षि-कृत अर्थों की कुछ विशेषतायें निम्नलिखित हैं। पाठकों के परिचय के लिये संक्षेप में यहाँ दिखाया जाता है—

(१) ८।१४० श्लोक में ऋण-सम्बन्धी मुकद्दमे के प्रसंग में 'वसिष्ठविहितां वृद्धिम्' पद हैं। जिनकी व्याख्या प्रायः भाष्यकार 'वसिष्ठ नामक व्यक्ति-विशेष द्वारा निर्धारित व्याज लेने की व्यवस्था' करते हैं। परन्तु ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि में इस की व्याख्या 'अर्थशास्त्र के ज्ञाता विद्वान् द्वारा निर्धारित' किया है। और यह अर्थ व्याकरण-सम्मत है—वसु शब्द धनादि का वाचक है, उससे आतिशयिक अर्थ में इष्ठन् प्रत्यय लगाने से 'वसिष्ठ' शब्द बनता है। महर्षि ने (ऋ० ७।३३।४) वेदभाष्य में धनसम्बन्धी कार्यों में अतिशय ज्ञाता ही अर्थ किया है। वसिष्ठ नामक व्यक्ति अर्थ करने पर अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं और परवर्ती वसिष्ठ का मनु कैसे उल्लेख कर सकते थे?

(२) ३।८ श्लोक में विवाह के लिये त्याज्य कन्याओं के प्रसंग में 'अधिकाङ्गीम्' पद पठित है, जिसकी व्याख्या में महर्षि ने दो अर्थ लिखे हैं—अधिक अंग वाली, जैसे छंगुली आदि, और दूसरा अर्थ पुरुष से लम्बी चौड़ी। इस पर पौराणिक लोगों ने अनेक बार आक्षेप भी किये हैं। परन्तु महर्षि की व्याख्या व्याकरण-सम्मत है, इस विषय में हमारी इस श्लोक पर पाद-टिप्पणी द्रष्टव्य है।

(३) बलिवैश्वदेव यज्ञ के प्रसंग में 'धन्वन्तरये' (३।८५) 'भद्रकाल्यै' (३।८६), धन्वन्तरि तथा भद्रकाली आदि पद पठित हैं। जिनकी व्याख्या 'धन्वन्तरि' नामक व्यक्तिविशेष-परक तथा भद्रकाली नामक देवी किया जाता था। परन्तु महर्षि ने इनकी जो व्याख्या प्रकरण तथा व्याकरण दोनों के अनुकूल की है, वह श्लोकार्थ में द्रष्टव्य है।

(४) ७।४, ७।७ श्लोकों में राजा को इन्द्रादि नामों से कहा गया है। ८। ३४४ श्लोक में राजा के लिये 'ऐन्द्रं स्थानम्' इन्द्र के स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाला, और ८। ३८६ में राजा को 'शक्रलोकभाक्' कहा है। जिनकी व्याख्या 'इन्द्र से शासित स्वर्गलोग में जाने वाला' की जाती थी। परन्तु यह व्याख्या जहां असंगत थी, वहां इस ग्रन्थ की अन्त:साक्षी से भी विरुद्ध थी, क्योंकि मनु ने स्वयं 'इन्द्र, वरुणादि शब्दों को व्याख्या ९। ३०३ से ९। ३११ श्लोकों में की है। महर्षि ने मनु के अनुकूल ही सर्वत्र व्याख्या की है।

(५) ४। ३० श्लोक में पाखण्डी, वैडालव्रतिक आदि शब्दों की महर्षिकृत व्याख्या प्रसंगानुकूल तथा यथार्थ है—मनु ने भी ४। १९५-१९६ श्लोकों में इनमें से कुछ शब्दों की स्वयं व्याख्या की हैं, जिससे महर्षि के अर्थों की पुष्टि होती है।

(६) पौराणिकों ने स्वर्ग-नरक की कल्पना किसी स्थान-विशेष में की है और उस मान्यता के भाष्यकारों ने जहाँ भी इन शब्दों का पाठ देखा, वहीं वैसी ही कल्पित व्याख्या की है। परन्तु महर्षिकृत व्याख्या में बहुत ही यथार्थता और प्रसंग से संगति है। जैसे ३। ७९ में 'स्वर्गम् अक्षयम्' पदों का पाठ है, जिसका अर्थ महर्षि ने मोक्ष-सुख किया है। 'दाराधीनस्तथा स्वर्ग:' (९।२८) अर्थात् स्वर्ग-सुख स्त्री के अधीन है। 'स्वर्गाच्च परिहीयते' (९।२५४) जो राजा तस्करों को दण्डित नहीं करता वह स्वर्ग=राज्यसुख से क्षीण हो जाता है। और अस्वर्ग्यं चातिभोजनम्' (२।५७) अधिकभोजन करना अस्वर्ग्य=सुखनाशक है। इत्यादि श्लोकों से स्पष्ट है कि मनु भी 'स्वर्ग' शब्द का अर्थ 'सुख' परक ही चाहते हैं, स्थान-विशेष नहीं। इसी प्रकार पुत्र के निर्वचन में (९।१३८) 'नरक' शब्द का अर्थ भी दु:ख-विशेष ही करना संगत होता है। नरकादि स्थान-विशेषों में दु:खादि से रक्षा करने की बात मिथ्या कल्पना ही है।

(७) महर्षि से पूर्व पितृयज्ञ का अभिप्राय मृतकश्राद्ध और नृयज्ञ का अभिप्राय मनुष्य के शरीर से यज्ञ करना इत्यादि मिथ्या व्याख्यायें ही की जाती थीं। परन्तु महर्षि ने मनु की अन्त:साक्षी देकर सत्यार्थ को स्पष्ट किया है। अर्थात् (३।७० के अनुसार) अतिथिसत्कार को नृयज्ञ कहते हैं और जीवित माता-

पितादि की श्रद्धा से सेवा करके तृप्त करने का नाम पितृयज्ञ कहलाता है। 'पितृन् श्राद्धैश्च' (३।८१ में) इसे मनु ने और भी स्पष्ट कर दिया है कि श्रद्धा से की गई सेवा से पितरों की तृप्ति होती है। और 'पितर' शब्द का प्रयोग मृतक अर्थ में मनुस्मृति में कहीं भी नहीं है। जैसे १२।४६ में सात्त्विक कर्मों के कारण ऋषि, देव, पितरादि होना लिखा है। और ३।८० में कहा है कि ऋषि, पितर, देवादि गृहस्थियों से सहायता की आशा करते हैं। यह आशादि करना मृतकों में कदापि सम्भव नहीं है।

(८) मनु ने २।१०९ से २।११५ तक श्लोकों में किसे पढ़ाना चाहिये और किसे नहीं, उनकी योग्यतायें लिखी हैं। किन्तु उनमें कहीं भी ऐसा नहीं लिखा कि जन्म के आधार पर पठन-पाठन होता है या नहीं होता। इसलिये गुरु विद्यार्थी की योग्यता की तो परख करे यह मनु ने कहा है परन्तु यह शूद्र-कुल में उत्पन्न हुआ है अथवा स्त्री-जाति की है, अतः नहीं पढ़ाना चाहिये, ऐसा मानना मनु से विरुद्ध है। इस विषय में महर्षि की व्याख्या पठनीय है।

(९) कुछ पौराणिक भाष्यकारों के 'बलि' शब्द के मिथ्या अर्थ 'मारकर भेंट करना' को देखकर बड़ी भ्रान्ति हुई थी। परन्तु मनु ने कहीं भी ऐसा अर्थ नहीं माना है। महर्षि ने इस शब्द की व्याख्या मनु के अनुकूल की है। जैसे—३।९१ में 'बलिशेषं' का अर्थ 'बचा हुआ अन्नादि' अर्थ किया गया है। 'बलिमाकाश उत्क्षिपेत् (३।९०) 'न बलिं हरेत्' (३।१०८) इत्यादि में भी इसी अर्थ की संगति होती है। 'यद् भक्ष्यं स्यात्ततो दद्यात् बलिं भिक्षां च शक्तितः' (६।७) श्लोक में अन्नादि से ही बलिवैश्वयज्ञ करने का विधान किया गया है। और 'बलिं गृह्णाति पार्थिवः' (९।२५४) श्लोक में बलि शब्द का अर्थ 'कर=टैक्स' अर्थ में भी हुआ है।

(१०) पौराणिक लोग 'प्रेत' शब्द से मृतक का अर्थ लेते रहे हैं। किन्तु यह अर्थ मनु के आशय से विरुद्ध है। मनु ने जो प्रेत-शुद्धि का प्रवचन किया है, उसमें मृतक के बाद की जाने वाली घरादि की शुद्धि से ही अभिप्राय लिया है। और जलादि से उसकी शुद्धि मानी है (५।१०९)। 'आचार्ये तु खलु प्रेते' (२।२४७ में) 'प्रेत' अर्थ 'मरने पर' ही है, प्रेतयोनि नहीं। इसी प्रकार 'दानप्रतिभुवि प्रेते' ८।१६० में 'जमानती के मरने पर' ऐसा अर्थ ही संगत है।

(११) गंगादि नदियों में स्नान करने से पौराणिक लोग बड़ा महत्त्व मानते हैं। और उससे स्वर्गादि की प्राप्ति मानकर मृतक की अस्थि आदि को इन नदियों में डालते हैं। परन्तु यह केवल अन्धविश्वास मात्र ही है। महर्षि

दयानन्द ने मनु के आशय के अनुकूल ५।१०६ श्लोक की व्याख्या की है, जो वहाँ ही द्रष्टव्य है।

(१२) किसी के हाथ के छूने से अभक्ष्य मानना, अथवा सिखरी, निखरी पक्वान्न को भक्ष्य, और रोटी आदि को अभक्ष्य मानना आदि मनु की मान्यता से विरुद्ध है। मनु ने पञ्चमाध्याय में भक्ष्याभक्ष्य का एक पृथक् प्रकरण ही बनाया है। जिस से स्पष्ट है कि वे गुणों के आधार पर, स्वास्थ्य के लिये हित-कर तथा अहिंसादि से प्राप्त होनेवाले पदार्थों को ही भक्ष्य मानते हैं। इस विषय में भी महर्षि की व्याख्या पठनीय है।

(१३) पौराणिक बन्धु संन्यासी लोगों के मृतक-शरीरों का दाह-संस्कार नहीं करते। और वे 'अनग्निरनिकेतः स्यात्' (६।४३) इत्यादि स्थलों में असंगत व्याख्या ही करते हैं। महर्षि ने 'आहवनीयादि अग्नियों से रहित' अर्थ करके इस शब्द को स्पष्ट किया है। क्योंकि संन्यासी परिव्राजक होता है, अतः उसे यज्ञादि से छूट दी गई है। परन्तु दाह-संस्कार न करना इसका अभिप्राय कदापि नहीं है।

(१४) पौराणिक लोगों ने महर्षि-दयानन्द के साथ शास्त्रार्थ के समय में भी मूर्ति-पूजा के समर्थन में मनु का 'प्रतिमानां च भेदकः (६।२८५) प्रमाण प्रस्तुत किया था। परन्तु उनका वह प्रमाण बिल्कुल असंगत ही था। क्योंकि मनु जी ने यहाँ तोलने के साधन छटांक, सेर, मनादि का ग्रहण 'प्रतिमा' शब्द से किया है। राजा की व्यवस्था से उनकी परीक्षा समय समय पर होनी चाहिये और जो उस व्यवस्था का उल्लंघन करें, राजा उन्हें दण्ड देवे। यहाँ महर्षि की सुसंगत व्याख्या पठनीय है।

(१५) आजकल ब्राह्मणादि शब्दों का प्रचलन जन्ममूलक होने लगा है, जिससे वर्णव्यवस्था छिन्न-भिन्न ही हो रही है। परन्तु इन शब्दों का प्रयोग मनु ने कर्मानुसार ही किया है, जन्ममूलक नहीं। महर्षि ने इस यथार्थता को समझा ही नहीं, प्रत्युत वैसी ही व्याख्या लिखी है। मनु ने (१२।१०६ में) वेद पढ़ने वाले को ही ब्राह्मण माना है। (६।३३५ में) शूद्र उत्कृष्ट वर्ण में जा सकता है और १०।६५ श्लोक में तो बहुत ही स्पष्ट किया है कि जन्म से कोई वर्ण निर्धारित नहीं होता। शूद्र ब्राह्मण हो सकता है और ब्राह्मण निकृष्ट कर्मों से शूद्र हो सकता है। २।१०३ में सन्ध्यादि न करने से शूद्र हो जाता है, २।१५५ में ब्राह्मादि की श्रेष्ठता का आधार ज्ञानादि गुण माने हैं जन्म नहीं। २।१६८ में वेद पढ़ना छोड़ने वाला द्विज शूद्र हो जाता है, २।१४८ में वर्णों का निर्धारण विद्या-समाप्ति पर गुरु करता है, जन्म से नहीं होता। और २।२८ में ब्राह्मण

किन कर्मों से बनता है, यह बहुत ही स्पष्ट किया है। महर्षि ने इन समस्त श्लोकों की व्याख्या बहुत ही यथार्थ तथा मनु के अनुकूल की है। मनु ने १२।११४ में जन्म के आश्रय से जीवित रहने वालों की सभा का भी निषेध किया है।

(१६) आजकल पापों से मुक्ति की मिथ्या मान्यता प्राय: सभी सम्प्रदायों में बहुत तेजी से चल रही है। परन्तु मनु की इस विषय में स्पष्ट मान्यता है कि कर्मों का फल (१२।११६) परमात्मा के अधीन है, और वह अवश्य मिलता है। मनु ने पापों से छूटने का आशय यही लिया है कि 'नैव कुर्यात् पुनरिति०' (११।२३०) अर्थात् पश्चात्ताप अथवा गायत्री आदि का जप इसलिये करना चाहिये कि पाप करने की जो वृत्ति (वासना) बन गई है, उसका परिमार्जन हो सके। परन्तु जैसा किया है, उसका फल तो अवश्य ही मिलेगा, क्योंकि परमेश्वर की न्याय-व्यवस्था अटल होती है। इस विषय में मनु के ११।२२७-२४६ तक श्लोकों के अर्थ द्रष्टव्य हैं। महर्षि ने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र मनु की इस मान्यता का उल्लेख किया है।

(१७) महर्षि की व्याख्या में एक विशेषता यह भी है कि वे प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आश्रय से भी व्याख्या करते हैं। जैसे उन्होंने काशी-शास्त्रार्थ के समय विपक्ष के विद्वानों से धर्म के लक्षण पूछे थे, तो धर्म के लक्षण तो उन्होंने बताये, परन्तु इसके बाद अधर्म के लक्षण भी पूछे, तब किसी विद्वान् ने उत्तर नहीं दिया। इसका कारण स्पष्ट है कि पौराणिक विद्वान् शाब्दिक ही थे, प्रमाणों के आश्रय से अर्थ करना नहीं जानते थे। उदाहरण स्वरूप 'देवदत्तः पीनो दिवा न भुंक्ते' देवदत्त मोटा है, दिन में नहीं खाता। इस वाक्य में अर्थापत्ति-प्रमाण से यह भी अर्थ निकलता है कि बिना खाये कोई मोटा नहीं हो सकता, अत: देवदत्त रात में अवश्य खाता है। इसी प्रकार महर्षि ने शास्त्रार्थ के समय धर्म के लक्षण वाले श्लोक से ही अधर्म के लक्षण भी बताये थे। ठीक वैसे ही महर्षि की अर्थ-शैली मनु के श्लोकार्थों में भी देखी जा सकती है। जिस अर्थ को देखकर पाठकों को अनेक बार ऐसा सन्देह भी हो जाता है कि महर्षि के अर्थ शुद्ध या व्याकरण-सम्मत नहीं हैं। परन्तु महर्षि की व्याख्या-शैली शास्त्रीय होने से सामान्य विद्वानों से उत्कृष्ट होती है। यथार्थ में महर्षि ने वेद के पश्चात् मनुस्मृति को परम प्रमाण माना है और धर्म का सत्य स्वरूप ६।९२ दशलक्षणों वाले (१२।९७) श्लोक के अनुसार वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, सच्चे व्रत क्या है ? ४।१४ इत्यादि श्लोकों के अनुकूल, तप का सत्यस्वरूप (२।१६४, १६७ में) वेद का पढ़ना, (६।७० में) प्राणायाम का करनादि ही तप माना है।

शरीर को व्यर्थ कष्ट देना तप नहीं होता। और यज्ञों का यथार्थस्वरूप आदि सत्यमान्यताओं का प्रतिपादन मनु के प्रमाणों से किया है। अतः महर्षिकृत इन प्रसंगों की व्याख्या बहुत ही अपूर्व एवं यथार्थ है। अतः हमने महर्षिकृत अर्थों का समावेश यथास्थान किया है कि जिससे धर्मजिज्ञासुओं की भ्रान्ति दूर हो सके और यथार्थ ज्ञान होने से धर्मानुष्ठान में प्रीति करके सच्चे धार्मिक बन सकें।

(राजवीर शास्त्री)
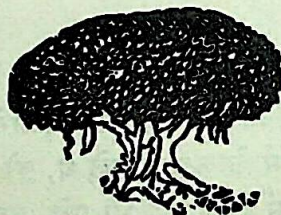
मनुस्मृति-भाष्य में उद्धृत—

ग्रन्थों की संकेत-सूची

अ०	अष्टाध्यायी
ऋ०/ऋग्०	ऋग्वेद
ऋ० दया०	ऋषि-दयानन्द
ऋ० दया० पत्र वि०	ऋषि-दयानन्द के पत्र-विज्ञापन
ऋ० प० वि०	,, ,,
ऋ० भू०/ऋ० भा० भू०	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका
गो० पू०, गो० उ०	गोपथब्राह्मण पूर्वार्चिक, गोपथब्राह्मण उत्तरार्चिक
छान्दो०	छान्दोग्योपनिषद्
ताण्ड्य ब्रा०	ताण्ड्यब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीयसंहिता
द० ल० सं०	दयानन्द-लघुग्रन्थ-संग्रह
द० ल० गो०	,, ,, गोकरुणानिधि
द० ल० पं०	,, ,, पञ्चमहायज्ञविधि
द० ल० भ्र०	,, ,, भ्रमोच्छेदन
द० ल० भ्रा० नि०	,, ,, भ्रान्तिनिवारण
द० ल० वेदाङ्क०	,, ,, वेदभाष्य के नमूने का अंक
द० ल० वे० ख०	,, ,, वेद-विरुद्धमत-खण्डन
द० शा०	दयानन्द-शास्त्रार्थसंग्रह
पू० प्र०	पूना-प्रवचन (उपदेश-मञ्जरी)
पू० मी०	पूर्वमीमांसा (वेदान्तदर्शन)
मनु०	मनुस्मृति
यजु०	यजुर्वेद
वैशे०	वैशेषिकदर्शन
श०/शत०	शतपथ-ब्राह्मण
स० प्र०	सत्यार्थप्रकाश
सं०	सम्पादक
सं० वि०	संस्कार-विधि
सांख्य०	सांख्य-दर्शन

विशुद्ध-मनुस्मृति की विषय-सूची

पञ्चम-अध्याय

[भक्ष्याभक्ष्य-प्रेतशुद्धि-द्रव्यशुद्धि-स्त्री-धर्म-विषय]

षष्ठ-अध्याय

[वानप्रस्थ-संन्यास-धर्मविषय]

अष्टम-अध्याय

[राजधर्मान्तर्गत-व्यवहारों (मुकद्दमों) का निर्णय]

नवम-अध्याय

[राजधर्मान्तर्गत व्यवहारों का निर्णय]

दशम-अध्याय

[चातुर्वर्ण्य-धर्मान्तर्गत वैश्य, शूद्र के धर्म तथा चातुर्वर्ण्यधर्म का उपसंहार]

इति विशुद्धमनुस्मृतेर्विषय-सूची

अथ विशुद्ध-मनुस्मृतिः

प्रथमोऽध्यायः

(प्रक्षिप्तश्लोकसमीक्षा-प्राकृतभाष्याभ्यां सहितः)

(सृष्टि-उत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति विषय)

[भूमिका १ । १ से १ । ४ तक]

महर्षियों का मनु के पास आगमन—

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥ (१)

(महर्षयः) महर्षि लोग (एकाग्रम् आसीनम्) एकाग्रतापूर्वक बैठे हुए (मनुम्) मनु के (अभिगम्य) पास जाकर, और उनका (यथान्यायम्) यथोचित (प्रतिपूज्य) सत्कार करके (इदम्) यह (वचनम्) वचन (अब्रुवन्) बोले ॥१॥

महर्षियों का मनु से वर्णाश्रम धर्मों के विषय में प्रश्न—

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥ (२)

(भगवन्) हे भगवन् ! आप (सर्ववर्णानाम्) सब वर्णों=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र (च) और (अन्तरप्रभवाणाम्) सभी वर्णों के अन्दर होने वाले अर्थात् आश्रमों=ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के [वर्णानां अन्तरे प्रभवः-उत्पत्तिः, स्थितिः येषां ते अन्तरप्रभवाः=आश्रमाः] (धर्मान्) धर्म-कर्त्तव्यों को (यथावत्) ठीक-ठीक रूप से (अनुपूर्वशः) और क्रमानुसार अर्थात् वर्णों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के क्रम से तथा आश्रमों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के क्रम से (नः) हमें (वक्तुम्) बतलाने में (अर्हसि) समर्थ हो ॥ २ ॥

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः ।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ ३ ॥ (३)

(हि) क्योंकि (प्रभो) हे भगवन् ! (अस्य सर्वस्य) इस सब प्रलय समय 'अचिन्त्यस्य अप्रमेयस्य' अर्थात् अविज्ञ जगत् के 'कार्यतत्त्व' कारण से बने स्थूल पदार्थों के तत्त्व सूक्ष्म कारण प्रकृतिमय तत्त्वादि को आप जानते हैं । तथा

(स्वयम्भुवः) स्वयम्भू जो सनातन (विधानस्य) विधानरूप वेद हैं (अचिन्त्यस्य) जिनमें असत्य कुछ भी नहीं अथवा जिनका चिन्तन से पार नहीं पाया जा सकता (अप्रमेयस्य) जिनमें सब अर्थात् अपरिमित सत्यविद्याओं का विधान है उनमें विहित और (अर्थवित्) उनके अर्थों को जानने वाले (एकः त्वम्) केवल आप ही हैं ॥ ३ ॥

"स्वयम्भू जो सनातन वेद हैं, जिनमें असत्य कुछ भी नहीं और जिनमें सब सत्यविद्याओं का विधान है उनके अर्थ को जानने वाले केवल आप ही हैं। (ऋ० भू० वेदविषय विचार)

अभिप्राय यह है कि वेद सब सत्यविद्याओं के विधान हैं, इस प्रकार वे जगत् के विधानरूप ग्रन्थ अर्थात् संविधान हैं। महर्षि लोग प्रशंसापूर्वक मनु से कह रहे हैं कि उन विधानरूप वेदों में कौन-कौन करने योग्य कर्त्तव्य अर्थात् धर्म विहित हैं, इन बातों को भलीभांति समझने वाले आप हैं, अतः हमें वर्णों और आश्रमों के धर्मों को बतलाइये। (यह श्लोक १। २ का पूरक वाक्य है। दूसरे श्लोक में जो प्रश्न किया गया था, वही इसमें प्रशंसा-कथनपूर्वक पूर्ण हुआ है) ॥

मनु का महर्षियों को उत्तर—

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥ ४ ॥ (४)

(तैः) उन (महात्मभिः) महर्षि लोगों द्वारा (सम्यक्) भलीभांति श्रद्धा-सत्कार पूर्वक (तथा) उपर्युक्त प्रकार से (पृष्टः) पूछे जाने पर, (सः अमितौजाः) वह अत्यधिक ज्ञानसम्पन्न महर्षि मनु (तान् सर्वान् महर्षीन्) उन सब महर्षियों का (आर्च्य) सत्कार करके (श्रूयताम् इति) 'सुनिए' ऐसा (प्रत्युवाच) उत्तर में बोले ॥ ४ ॥

मनुस्मृति की भूमिका में—

कूल्लूकभट्टादि टीकाकारों द्वारा अन्यथा व्याख्यात प्रक्षेप-रहित श्लोक

१. (१।२) श्लोक के 'अन्तरप्रभवाणाम्' पद की व्याख्या मेधातिथि, कुल्लूक-भट्टादि टीकाकारों ने 'संकीर्णजातियाँ या वर्णसङ्कर' किया है। यह उनकी व्याख्या सर्वथा असंगत, मनु के आशय से विरुद्ध तथा अविवेकपूर्ण है। इसका

अर्थ 'आश्रम' होना चाहिये। क्योंकि मनु ने वर्णों तथा आश्रमों के धर्मों का ही मनुस्मृति में वर्णन किया है और जो वर्णों के कर्मों से पतित हो गये हैं, चाहे वे वर्णसंकर हों अथवा संकीर्णजातियाँ, उनके अशास्त्रीय कर्मों को धर्म शब्द से कहा ही नहीं जा सकता। 'धर्मो धारयते प्रजाः' 'धारणाद् धर्म इत्याहुः' इत्यादि वचनों के अनुसार प्रजा को धारण=व्यवस्थित रखने वाले श्रेष्ठ गुणों को ही धर्म शब्द से ग्रहण किया जाता है। अतः इस श्लोक में धर्म शब्द के साथ वर्णसंकरादि अर्थ की क्या संगति हो सकती है? और महर्षियों को उनके धर्म-विरुद्ध कार्यों को पूछने का क्या प्रयोजन हो सकता है? और श्लोक के 'अन्तर-प्रभव' शब्द से 'आश्रम' अर्थ की अभिव्यक्ति भी हो रही है। "अन्तरे=वर्णानां मध्ये प्रभव उत्पत्तिर्येषां ते अन्तरप्रभवा आश्रमाः।" क्योंकि ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों की उत्पत्ति वर्णों के मध्य ही है, अतः इन्हें 'अन्तरप्रभव' कहते हैं। और यदि यह अर्थ किसी को स्वीकार करने में कुछ संकोच होता है तो उसे विचार करना चाहिये कि महर्षियों के प्रश्नों के अनुरूप ही तो मनु जी को उत्तर देना चाहिये था, फिर आश्रमों के कर्मों (धर्मों) का वर्णन मनु जी ने क्यों किया? अतः मनु के वर्ण्यविषय के अनुसार भी 'आश्रम' अर्थ ही सुसंगत होता है। इसकी पुष्टि में कुछ और तथ्य देखिये—

(क) 'अन्तरप्रभव' शब्द का दूसरा पर्यायवाची शब्द मनु जी ने 'सान्तरालं' प्रयुक्त किया है। (१।१३७/२।१८) श्लोक में (१।२) श्लोक की भांति कहा है—'वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते।' सदाचार की परिभाषा वर्णों और सान्तरालों=आश्रमों के आचार को ही माना है। यदि 'सान्तराल' शब्द का अर्थ मनु जी को वर्णसंकरादि अभीष्ट होता तो उनके आचार को सदाचार कभी नहीं कहते। क्योंकि वर्णसंकरादि के आचार को दशम अध्याय में निन्दनीय कहा गया है, जिसका यहाँ पृथक् वर्णन पाठक पढ़ सकते हैं। अतः 'सान्तराल' शब्द की भांति 'अन्तरप्रभव' का अर्थ भी 'आश्रम' ही करना चाहिये। यद्यपि टीकाकारों ने (२।१८) श्लोक में भी वर्णसंकरादि असंगत अर्थ किया है, किन्तु उसकी वहाँ लेशमात्र भी संगति न होने से टीकाकारों की भ्रान्त-व्याख्या ही कहनी चाहिये। क्योंकि मनु जी ने जिस ब्रह्मावर्त्त देश में रहने वाले ब्राह्मणों से विश्व को चरित्र की शिक्षा लेने का आदेश दिया है, वह उत्तम सदाचार वर्णसंकरों का कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि मनु जी ने वर्णसंकरों के आचरण को निन्दनीय बताया है। उसके कुछ प्रमाण देखिये—

'मातृदोषविगर्हितान्' (१०।७) माता के दोष से निन्दित।
'क्रूराचारविहारवान्' (१०।६) क्रूर आचार-व्यवहार वाले।
'अधमो नृणाम्' (१०।१२) मनुष्यों में नीच।

'अव्रतांस्तु यान्' (१० । २०) व्रत-हीन।
पापात्मा भूर्जकण्टकः' (१० । २१) पापी आत्मा वाले।

इसी प्रकार संकीर्ण जातियों को 'अपसद=नीच' 'अपध्वंसज' पतितोत्पन्न' आदि शब्दों से कहा गया है। अतः इनका आचरण न तो धर्म कहा जा सकता और नहीं सदाचार।

(ख) मनुस्मृति के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि इसमें वर्णों के धर्मों के साथ-साथ आश्रमों के धर्मों का ही कथन है, वर्णसंकरों का नहीं। द्वितीयाध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम का, तृतीयाध्याय से पञ्चमाध्याय तक गृहस्थाश्रम का, षष्ठाध्याय में वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम का वर्णन है। साथ-साथ वर्णधर्मों का वर्णन भी किया है। अतः 'अन्तर-प्रभव' या 'सान्तराल' आश्रम-धर्म ही हैं।

(ग) मनुस्मृति में वर्णों के साथ-साथ आश्रमों के वर्णन की ही प्रवृत्ति दिखाई देती है। जैसे—'चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्' (१२। ९७)। 'वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता (७। ३५) यहां राजा को वर्णों तथा आश्रमों का रक्षक कहा है। वर्णों के साथ वर्णसंकरों का उल्लेख नहीं है। जैसे—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयादि एक दूसरे से विपरीत हैं, वैसे ही वर्ण तथा वर्णसंकर भी हैं। एक से राष्ट्र की रक्षा या व्यवस्था होती है, तो दूसरे से राष्ट्र की हानि। एक से मानव उन्नत होकर सुखी होता है, तो दूसरे से मानव का पतन तथा दुःखवृद्धि। अतः परस्पर विरोधियों को पूछने का न तो ऋषियों का अभिप्राय ही था और नही मनुको ही अभिप्रेत है। और जैसे धर्म को जानने से अधर्म का, शुभकर्मों को जानने से अशुभकर्मों का ज्ञान स्वतः ही हो जाता है, वैसे ही वर्ण से वर्णसंकर का ग्रहण हो जाता, फिर पृथक् से पूछने की आवश्यकता भी क्या थी?

(घ) वर्णसंकरों के विषय में मनुस्मृति की अन्तःसाक्षी देखिये—

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च।
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः॥ (मनु० १० । २४)

अर्थात् वर्णों के व्यभिचार से, अगम्या स्त्री के साथ गमन करने से और अपने कर्त्तव्य-कर्मों के त्यागपूर्वक उत्पन्न सन्तान 'वर्णसङ्कर' कहलाती हैं।

संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः।
अन्योऽन्यव्यतिषक्ताश्च तान् प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ (मनु० १० । २५)

और संकीर्ण योनियाँ वे होती हैं—जो अवैध रूप से मिश्रित वर्णों से

उत्पन्न होती हैं, उनकी उत्पत्ति प्रतिलोम-अनुलोम तथा पारस्परिक संबंध से होती है, उनको सम्पूर्णता से कहता हूँ।

इन वर्णसंकरों और संकीर्ण-जातियों के होने से राष्ट्र की क्या दशा हो जाती है—

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥ (मनु० १। ६१)

अर्थात् जिस राष्ट्र में वर्ण-कर्मों से पतित होकर ये वर्णसंकर पैदा हो जाते हैं, वह राष्ट्र राष्ट्र-निवासियों के साथ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥ (मनु० १०।४५)

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन की क्रियाओं का लोपादि करने से जो बहिष्कृत जातियाँ=वर्णसंकर या संकीर्ण जातियाँ हो जाती हैं, वे चाहे म्लेच्छभाषा बोलती हों या आर्यभाषा, सब दस्यु कहलाती हैं।

न तैः समयमन्विच्छेत् पुरुषो धर्ममाचरन्॥ (मनु० १०। ५३)

अर्थ—धर्मभीरु व्यक्ति को चाहिये कि इन वर्णसंकर या संकीर्णजातियों से संपर्क करने की इच्छा भी न करे। अतः निन्दनीय या गर्हित कर्म वाले एवं राष्ट्र-नाशक वर्णसङ्करों के कर्मों को धर्म मानने एवं उनका वर्णन पूछने का ऋषियों का कदापि आशय नहीं था। इसलिये इस पद की वर्णसंकर-परक व्याख्या भ्रान्तिवश असंगत की है। कहीं-कहीं तो 'सङ्करप्रभवाणाम्' ही पाठ-भेद भ्रान्तिवश किया गया मिलता है। जो भ्रान्तव्याख्याओं के कारण ही पाठ-भेद किया गया है।

२. (१। ३) यह दुर्भाग्य की बात रही है कि मनुस्मृति जैसे प्रामाणिक धर्मशास्त्र के कुल्लूकभट्टादि समस्त टीकाकारों ने १। ३ श्लोक के 'अस्य सर्वस्य' पदों का अर्थ विधानस्य=वेद के साथ मिलाकर किया है, किन्तु यह अर्थ असंगत-अपूर्ण तथा अविवेकपूर्ण है। इसी अर्थ के कारण यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई कि ऋषियों का प्रश्न वेद-विषयक था, तो उत्तर सृष्टि-उत्पत्ति विषयक क्यों? इन प्रश्न-उत्तरों की संगति टीकाकार नहीं लगा सके हैं। अतः इसका 'अस्य-सर्वस्य= इस प्रत्यक्ष विद्यमान जगत् का' ही अर्थ करना उचित है। 'इदम्' सर्वनाम इस अर्थ को घोषित कर रहा है। इस सर्वनाम से प्रत्यक्ष वस्तु का ही निर्देश किया जाता है। 'सर्व और विश्व' शब्द पर्यायवाची हैं। जब ये सबके वाचक हैं तब ही इनका नाम सर्वनाम है, जगदादि अर्थों में नहीं। अतः 'सर्वस्य' का अर्थ 'जगतः' करना चाहिये। मनु जी ने इस बात का स्पष्टीकरण उत्तर में कहे निम्न श्लोक से दिया है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनु० १ । ५)

इस श्लोक में स्पष्ट रूप से यद्यपि 'जगत्' शब्द नहीं पठित है, और नहीं ऊपर से ही अनुवृत्ति आ रही है, पुनरपि सभी टीकाकारों ने इस श्लोक की जगत्-परक व्याख्या की है, इसी प्रकार इस (१ । ३) श्लोक में भी 'जगत्' अर्थ करने में कैसे असंगति हो सकती है ? 'अस्य' और 'इदम्' दोनों ही एक शब्द के रूप हैं। यदि 'इदम्' शब्द से जगत् का परामर्श हो सकता है, तो 'अस्य' से क्यों नहीं ?

और इस श्लोक के 'कार्यतत्त्वार्थवित्' शब्द से भी इस अर्थ की संगति हो रही है। यह पद समस्त है। यहाँ मनुजी को कार्यतत्त्वों तथा अर्थों को जानने वाला कहा है। इसकी संगति श्लोक में इस तरह लगती है कि अस्य सर्वस्य=इस जगत् के कार्यतत्त्व=कारण से बने स्थूलपदार्थों के तत्त्व=सूक्ष्म-कारण प्रकृति महत्तत्त्वादि को आप जानते हैं और सनातन परमात्मा का जो विधान=वेद है, उसके गहन अर्थों को भी आप जानते हैं। शेष 'अचिन्त्यस्य अप्रमेयस्य' पद दोनों के साथ लग सकते हैं। वेद-परक तो इन पदों की सबने व्याख्या मानी ही है और जगत्-परक स्वयं मनु जी ने (१ । ५) में 'अतर्क्यम् अविज्ञेयम्' कहकर कर दी है। और जगत्-परक व्याख्या में वेद का भी प्रमाण है—

तम आसीत्तमसा गूळमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ॥ (ऋग्वेद)

अर्थात् यह सब जगत् सृष्टि से पहिले अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य..................................था।

और जैसे वेद जगत् का विधान है और वेद को मनुस्मृति में—

'पितृ-देव-मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।' (मनु० १२ । ९४)

चक्षुः='चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि अयं दर्शनेऽपि' इस धात्वर्थ के अनुसार वेद समस्त विधान को स्पष्ट तथा निर्भ्रान्त रूप से बताता है, वैसे 'जगत्' भी बताता है। जगत् तथा वेद क्रमशः परमेश्वर की रचना तथा ज्ञान हैं, अतः वेदान्त-दर्शन के अनुसार 'तत्तु समन्वयात्' वेद और जगत् में समन्वय है। 'विष्णोः कर्माणि पश्यत' इत्यादि वेद-प्रमाणों से स्पष्ट है कि परमात्मा की रचना को देखकर परमेश्वर का ज्ञान होता है, अतः यह जगत् भी चक्षु=परमात्मा की व्याख्या व सिद्धि करता है।

और इस श्लोक के 'कार्यतत्त्वार्थवित्' पद को भी कुल्लूकभट्टादि समझने में

सर्वथा ही असमर्थ रहे हैं। उन्होंने इस पद के 'कार्य' शब्द का 'अग्निष्टोमादि यज्ञ' और 'तत्त्व' शब्द का 'ब्रह्म' अर्थ किया है। यह उनका अर्थ असंगत तथा त्रुटिपूर्ण है। उनकी व्याख्या में निम्नदोष हैं—

(क) महर्षियों ने जिस विषय का प्रश्न किया था, उसी को जानने वाला मनु जी को कहना उचित है। प्रश्न तो किया गया है वर्ण व आश्रमों के धर्मों का और मनु जी के लिये विशेषण दिया जाये यज्ञ तथा ब्रह्म को जानने का, इनमें परस्पर कोई संगति नहीं है। और कार्यतत्त्व तथा वेदार्थवित् कहना इस लिये संगत है कि वेद ही सब धर्मों का मूल है। 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' आदि कहकर मनुजी ने इसे स्पष्ट किया है। और 'अस्य सर्वस्य कार्यतत्त्वार्थवित्' कहकर ऋषियों ने सृष्टि-उत्पत्ति की भी परोक्षरूप में जिज्ञासा प्रकट की और मनु जी ने उसका उत्तर दिया है।

(ख) 'कार्य' शब्द का यज्ञ तथा 'तत्त्व' शब्द का ब्रह्म अर्थ है, इसमें जहाँ प्रकरण से विरोध है, वहाँ इस अर्थ में कोई प्रमाण भी नहीं है। कारण से जो बने उसे कार्य कहते हैं, अथवा करणीय कर्मों को कार्य कहते हैं। यद्यपि 'यज्ञ' भी एक कर्त्तव्य कर्म है, किन्तु यज्ञ ही कर्त्तव्य नहीं है और नहीं इस शास्त्र में यज्ञों का ही वर्णन माना जा सकता है। यज्ञ तो एक अंग है, अंगी नहीं।

(ग) और श्लोक-पठित 'कार्यतत्त्व' शब्द का पृथक्-पृथक् करके अर्थ भी विद्वदभिनन्दनीय नहीं हो सकता। क्योंकि 'तत्त्व' शब्द सापेक्ष है, जो 'कार्य' शब्द के बिना पूर्ण-अर्थ का बोधक नहीं हो सकता। 'और 'कार्यतत्त्वार्थवित्' शब्द के 'अर्थ' शब्द तो इनकी व्याख्या में निरर्थक ही हो जाता है।

(घ) मनुस्मृति के इन कुल्लूकभट्टादि व्याख्या करने वालों पर पौराणिक भाष्यकार सायणाचार्य की मान्यता का यह प्रभाव था कि वेद यज्ञ के लिये हैं। वेदों में यज्ञों का ही प्रतिपादन है। इसलिये उन्होंने क्लिष्ट-कल्पना करके 'कार्य' शब्द का यज्ञ अर्थ कर दिया है। वास्तव में यह एक मिथ्या और मनुस्मृति के विरुद्ध कल्पनामात्र ही है। वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। इसमें कतिपय मनुस्मृति के ही प्रमाण देखिये—

(१।२४) श्लोक में लिखा है—वेदों से ही समस्त पदार्थों का नाम रखे गये और सब मनुष्यों के कर्मों तथा पृथक् व्यवस्थाओं का निर्धारण किया गया। (१२।९७) में चारों वर्णों, आश्रमों एवं तीनों कालों का ज्ञान वेदों से माना है। (१२।९८) शब्द, स्पर्श आदि सूक्ष्म शक्तियों की वैज्ञानिक सिद्धि वेदों के द्वारा मानी है। (१२।९९) में जगत् के समस्त व्यवहारों का सर्वोपरि साधक वेद को माना है। (७।४३,१२,१००) में राजनीति को शिक्षा देने वाला, (१२।

१०९—११३) में धर्माधर्म का ज्ञान देने वाला, (१।२४) और (१।२१) में जगत् के श्रेष्ठ व्यवहारों का साधक वेद को माना है। (१२।९४) में पितर, देव तथा मनुष्यों को समस्त ज्ञान-विज्ञान आदि दर्शाने के कारण वेद को 'चक्षु:' शब्द से कहा गया है।

(ङ) और मनुस्मृति के इन टीकाकारों की व्याख्या प्रसंग के विरुद्ध भीहै। ऋषियों ने मनु जी के पास आकर वर्णों और आश्रमों के धर्म के बारे में प्रश्न किया था। उन्हें धर्म के मूलकारण वेदार्थवेत्ता कहना तो संगत है, यज्ञादि का वेत्ता कहना प्रसंगविरुद्ध है। प्रसङ्गानुकूल ही विशेषणों से विशेषित करना उचित है। और जो वेदार्थवेत्ता है, वही धर्मोपदेश करने में समर्थ हो सकता है, यह स्वयं मनु जी ने १२वें अध्याय के १०८—११४ श्लोकों में कहा है। इस प्रकार कुल्लूकभट्टादि का किया अर्थ सर्वथा असंगत, युक्तिविरुद्ध, अव्यावहारिक तथा मनु जी के आशय से विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता।

३. मनुस्मृति के इन (१—४) प्रथम चार श्लोकों के विषय में भी कुछ टीकाकारों की यह भ्रान्त धारणा है कि मनुस्मृति का प्रारम्भ पांचवें श्लोक से होता है, ये प्रथम चार श्लोक भृगु अथवा किसी शिष्य के बनाये हुए हैं। यद्यपि १—४ श्लोक मनुप्रोक्त श्लोकों की भांति मौलिक नहीं हैं, तथापि इनकी शैली, घटना और प्रश्नों के आधार पर इन्हें मौलिक मानने में संकोच नहीं करना चाहिये। क्योंकि मनु जी के किसी शिष्य ने तत्कालीन घटना तथा भावों के अनुरूप ही भूमिका के रूप में इन श्लोकों का संकलन किया है। घटना तथा प्रश्न दोनों ही यथार्थता को लिये हुए हैं। जिन शिष्यों ने सम्पूर्ण प्रवचनरूप मनुस्मृति का संकलन किया है, उन्होंने ही इन भूमिका के श्लोकों का संकलन किया है। अतः दूसरे मौलिक श्लोकों की भांति इन्हें भी संगत मानना उचित है। और इनके बिना प्रकरण की संगति भी नहीं लग पाती। और कुछ टीकाकारों ने इन चार श्लोकों की शैली के आधार पर मध्य-मध्य में किये प्रक्षिप्त-श्लोकों को भी, (जैसे—मनुरब्रवीत् ॥ (८।३३९) मनुना परिकीर्तितः॥ (१।१२६) उक्तवान् मनुः॥ (१।११८) इत्यादि को मौलिक मानने का प्रयत्न किया है। किन्तु उनकी यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। क्योंकि मनुस्मृति एक प्रवचन किया हुआ ग्रन्थ है। इसका संकलन मात्र ही शिष्यों ने किया है, किन्तु मनु के भावों को लेकर श्लोकों को नहीं बनाया गया है। सङ्कलन में सङ्कलयिता अपनी ओर से कुछ नहीं लिख सकता, किन्तु भावानुरूप भाषा से श्लोक बनाने में स्वयं भी कुछ लिख सकता है। यह मनुस्मृति की अन्तःसाक्षी से स्पष्ट हो जाता कि मनु द्वारा प्रवचन किये श्लोकों के अनुरूप ही संकलन किया गया है। यह बात 'श्रूयताम्' 'निबोधत' आदि क्रियाओं से परि-

पुष्ट हो जाती है। यदि यह भावानुरूप बाद की रचना होती, तो ऐसी क्रियाओं का प्रयोग कैसे हो सकता है ? अतः मनु आदि शब्दों को लेकर अर्वाचीन श्लोकों को मौलिक सिद्ध नहीं किया जा सकता।

(जगदुत्पत्ति-विषय)

[१।५ से १०७, १४४]

उत्पत्ति से पूर्व जगत् की स्थिति—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥ (५)

(इदम्) यह सब जगत् (तमोभूतम्) सृष्टि के पहले प्रलय में अन्धकार से आवृत्त=आच्छादित था।............उस समय (अविज्ञेयम्) न किसी के जानने (अप्रतर्क्यम्) न तर्क में लाने और (अलक्षणम् अप्रज्ञातम्) न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था और न होगा। किन्तु वर्तमान में जाना जाता है और प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त जानने के योग्य होता और यथावत् उपलब्ध है❀।॥ ५ ॥ (स० प्र० अष्टम स०)

❀ (सर्वतः) सब ओर (प्रसुप्तम् इव) सोया हुआ-सा पड़ा था।

जगदुत्पत्ति—

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥ (६)

(ततः) तब (स्वयम्भूः) अपने कार्यों को करने में स्वयं समर्थ, किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला (अव्यक्तः) स्थूल रूप में प्रकट न होने वाला (तमोनुदः) 'तम' रूप प्रकृति का प्रेरक=प्रकटावस्था की ओर उन्मुख करने वाला (महाभूतादि वृत्तौजाः) अग्नि, वायु आदि महाभूतों को आदि शब्द से महत् अहङ्कार आदि को भी [१।१४—१५] उत्पन्न करने की महान् शक्तिवाला (भगवान्) परमात्मा (इदम्) इस समस्त संसार को (व्यञ्जयन्) प्रकटावस्था में लाते हुए ही (प्रादुरासीत्) प्रकट हुआ ॥ ६ ॥

प्रकृति से महत् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति—

उद्बबर्हाऽऽत्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥ (७)
महान्तमेव चाऽऽत्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥ (८)

(च) और फिर उस परमात्मा ने (आत्मनः एव) अपने आश्रय से अथवा स्वाश्रयस्थित प्रकृति से ही (सद्-असद्-आत्मकम्) जो कारणरूप में विद्यमान रहे और विकारी अंश से कार्यरूप में जो अविद्यमान रहे, ऐसे स्वभाव वाले (मनः) 'महत्' नामक तत्त्व को (च) और (मनसः अपि) महत्तत्त्व से (अभिमन्तारम्) 'मैं हूँ' ऐसा अभिमान करने वाले (ईश्वरम्) सामर्थ्यशाली (अहंकारम्) 'अहंकार' नामक तत्त्व को (च) और फिर उससे (सर्वाणि त्रिगुणानि) सब त्रिगुणात्मक पांच तन्मात्राओं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को (च) तथा (आत्मानं एव महान्तम्) आत्मोपकारक अथवा निरन्तरगमनशील 'मन' इन्द्रिय को (च) और (विषयाणां ग्रहीतृणि) विषयों को ग्रहण करने वाली (पञ्चेन्द्रियाणि) दोनों वर्गों की पांचों ज्ञानेन्द्रियों—आंख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा एवं कर्मेन्द्रियों—हाथ, पैर, वाक्, उपस्थ, पायु को [२ । ८९—९२] (शनैः) यथाक्रम से (उद्-बबर्ह) उत्पन्न कर प्रकट किया ॥ १४, १५ ॥

पञ्चमहाभूतों की सृष्टि का वर्णन—

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम् ।
सन्निवेश्याऽऽत्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥ (९)

(तेषां तु) ऊपर [१४, १५] वर्णन किये गये उन तत्त्वों में से (अमित-औजसाम्) अनन्त शक्तिवाले (षण्णां अपि) छहों तत्त्वों के (सूक्ष्मान् अवयवान्) सूक्ष्म अवयवों [शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच तन्मात्रायें तथा छठे अहङ्कार के सूक्ष्म अवयवों] को (आत्ममात्रासु) उनके आत्मभूत तत्त्वों के विकारी अंशों अर्थात् कारणों में मिलाकर (सर्वभूतानि) सब पांचों महाभूतों—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, को (निर्ममे) सृष्टि की ॥ १६ ॥

सूक्ष्म-शरीर से आत्मा का संयोग—

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः ।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥ (१०)

(तदा) तब जगत् के तत्त्वों की सृष्टि होने पर (सह कर्मभिः) अपने-अपने कर्मों के साथ (महान्ति भूतानि) शक्तिशाली सभी सूक्ष्म महाभूत (च) और (सूक्ष्मैः अवयवैः मनः) अपने सूक्ष्म अवयवों—इन्द्रियों और अहंकार के साथ मन (सर्वभूतकृद् अव्ययम्) सब प्राणियों को जन्म देने वाले अविनाशी आत्मा को (आविशन्ति) आवेष्टित करते हैं [और इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की रचना होती है] ॥ १८ ॥

समस्त विनश्वर संसार की उत्पत्ति—

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥ १९ ॥ (११)

[इस प्रकार] (अव्ययात्) विनाशरहित परमात्मा से (तेषां तु) उन्हीं [१४, १५ में वर्णित] (महौजसाम्) महाशक्तिशाली (सप्तानां पुरुषाणाम्) सात तत्त्वों—महत्, अहंकार तथा पाँच तन्मात्राओं के (सूक्ष्माभ्यः मूर्तिमात्राभ्यः) जगत् के पदार्थों का निर्माण करने वाले सूक्ष्म विकारी अंशों से (इदम् व्ययम्) यह दृश्यमान विनाशशील समस्त जगत् (सम्भवति) उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

पञ्चमहाभूतों के गुणों का कथन—

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥ (१२)

(एषाम्) इन [२० वें में चर्चित] पञ्चमहाभूतों में (आद्य-आद्यस्य गुणं तु) पूर्व-पूर्व के भूतों के गुण को (परः परः) परला-परला अर्थात् उत्तरोत्तर बाद में आने वाला भूत प्राप्त करता है (च) और (यः यः) जो-जो भूत (यावतिथः) जिस संख्या पर स्थित है (सः सः) वह-वह (तावद्गुणः) उतने ही अधिक गुणों से युक्त (स्मृतः) माना गया है ॥ २० ॥

वेदशब्दों से नामकरण एवं विभाग—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥ (१३)

(सः) उस परमात्मा ने (सर्वेषां तु नामानि) सब पदार्थों के नाम [यथा-गो-जाति का 'गौ', अश्वजाति का 'अश्व' आदि] (च) और (पृथक्-पृथक् कर्माणि) भिन्न-भिन्न कर्म [यथा—ब्राह्मण के वेदाध्यापन, याजन; क्षत्रिय का रक्षा करना; वैश्य का कृषि, गोरक्षा, व्यापार आदि (१। ८७—९१) अथवा मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के हिंस्र-अहिंस्र आदि कर्म (१। २९—३०)] (च) तथा (पृथक् संस्थाः) पृथक्-पृथक् विभाग [जैसे—प्राणियों में मनुष्य, पशु, पक्षी आदि (१। ४२—४९)] या व्यवस्थाएं [यथा—चारवर्णों की व्यवस्था (१।३१, १। ८७—९१)] (आदौ) सृष्टि के प्रारम्भ में (वेदशब्देभ्यः एव) वेदों के शब्दों से ही (निर्ममे) बनायीं ॥ २१ ॥

"इस वचन के अनुकूल आर्य लोगों ने वेदों का अनुकरण करके जो व्यवस्था की, वह सर्वत्र प्रचलित है। उदाहरणार्थ—सब जगत् में सात ही वार हैं, बारह ही महीने हैं और बारह ही राशियां हैं, इस व्यवस्था को देखो (पू० प्र० ८९) (स्वामी जी ने उक्त श्लोक के बाद ये वाक्य कहे हैं)।

वेद में भी कहा है—

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ (यजु० ४०। ८)

"अर्थात् आदि सनातन जीवरूप प्रजा के लिए वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है।" (स० प्र० अष्टम स०)

उपसंहार रूप में समस्त जगत् की उत्पत्ति का वर्णन—

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः ।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥ २२ ॥ (१४)

[इस प्रकार १ । ५—१२ श्लोकों में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार] (सः प्रभुः) उस परमात्मा ने (कर्मात्मनां च देवानाम्) कर्म ही स्वभाव है जिनका ऐसे सूर्य, अग्नि, वायु आदि देवों के (प्राणिनाम्) मनुष्य, पशु पक्षी आदि सामान्य प्राणियों के (च) और (साध्यानाम्) साधक कोटि के विशेष विद्वानों के (गणम्) समुदाय को [१ । २३ में वर्णित] (च) तथा (सनातनं सूक्ष्मं यज्ञम् एव) सृष्टि-उत्पत्ति काल से प्रलयकाल तक निरन्तर प्रवाहमान सूक्ष्म संसार अर्थात् महत् अहङ्कार पञ्चतन्मात्रा आदि सूक्ष्म रूपमय और सूक्ष्मशक्तियों से युक्त संसार को (असृजत्) रचा ॥ २२ ॥

वेदों का आविर्भाव—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्धचर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥ २३ ॥ (१५)

उस परमात्मा ने (यज्ञसिद्धचर्थम्) जगत् में समस्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि व्यवहारों की सिद्धि के लिए अथवा जगत् की सिद्धि अर्थात् जगत् के समस्त रूपों के ज्ञान के लिए [यज्ञे जगति प्राप्तव्या सिद्धिः यज्ञसिद्धिः, अथवा यज्ञस्य सिद्धिः यज्ञसिद्धिः] (अग्नि-वायु-रविभ्यः तु) अग्नि, वायु और रवि से (ऋग्यजुः सामलक्षणं त्रयं सनातनं ब्रह्म) ऋग्=ज्ञान, यजुः=कर्म, साम= उपासना रूप त्रिविध ज्ञान वाले नित्य वेदों को (दुदोह) दुहकर प्रकट किया ॥ २३ ॥

"जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा से ऋग्यजु साम और अथर्व का ग्रहण किया"।
(स० प्र० सप्तम स०)

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् । दुदोह यज्ञसिद्धचर्थं ऋग्यजुः सामलक्षणम् ॥ १ । २३ ॥ अध्यापयामास पितॄन् शिशुरांगिरसः कविः । २ । १५१ (इस संस्करण में २ । १२६) अर्थात् इसमें मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि पूर्वोक्त अग्नि, वायु, रवि और अंगिरा से ब्रह्मा जी ने वेदों को पढ़ा था। जब ब्रह्मा जी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है।" (ऋ० भू० वेदोत्पत्ति वि०)

"मनु ने लिखा है कि ब्रह्मा जी ने अग्नि, वायु, आदित्य, और अंगिरा

इन चार ऋषियों से वेद सीख फिर आगे वेद का प्रचार किया।"
(पू० प्र० ४५)

धर्म-अधर्म सुख-दुःख आदि का विभाग—

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः॥ २६॥ (१६)

(च) और फिर (कर्मणां विवेकार्थम्) कर्मों के विवेचन के लिए (धर्म-अधर्मौ) धर्म-अधर्म का (व्यवेचयत्) विभाग किया (च) तथा (इमाः प्रजाः) इन प्रजाओं को (सुखदुःखादिभिः द्वन्द्वैः) सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों [=दो विरोधी गुणों या अवस्थाओं के जोड़ों] से (अयोजयत्) संयुक्त किया॥ २६॥

सूक्ष्म से स्थूल के क्रम से सृष्टि का वर्णन—

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः॥२७॥ (१७)

(दशार्धानाम् तु) दश के आधे अर्थात् पांच महाभूतों की ही (याः) जो (विनाशिन्यः) विनाशशील अर्थात् अपने अहङ्कार कारण में लीन होकर नष्ट होने के स्वभाव वाली (अण्व्यः मात्राः स्मृताः) सूक्ष्म तन्मात्राएं कही गई हैं (ताभिः) उनके (सार्धं) साथ अर्थात् उनको मिलाकर ही (इदं सर्वम्) यह समस्त संसार (अनुपूर्वशः) क्रमशः—सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से स्थूलतर, स्थूलतर से स्थूलतम के क्रम से (संभवति) उत्पन्न होता है॥ २७॥

जीवों का कर्मों से संयोग—

यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥ २८॥ (१८)

(सः प्रभुः) उस परमात्मा ने (प्रथमम्) सृष्टि के आरम्भ में (यं तु) जिस प्राणी को (यस्मिन् कर्मणि) जिस कर्म में (न्ययुङ्क्त) लगाया (सः) वह फिर (पुनः पुनः) बार-बार (सृज्यमानः) उत्पन्न होता हुआ (तदेव) उसी कर्म को ही (स्वयम्) अपने आप (भेजे) प्राप्त करने लगा॥ २८॥

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्॥ २९॥ (१९)

(हिंस्र-अहिंस्रे) हिंसा [सिंह, व्याघ्र आदि का] अहिंसा [मृग आदि का] (मृदु-क्रूरे) दयायुक्त और कठोरतायुक्त (धर्म-अधर्मौ) धर्म तथा अधर्म (अनृत-ऋते) असत्य और सत्य (यस्य) जिस प्राणी का (यत्) जो कर्म (सर्गे) सृष्टि के

प्रारम्भ में (सः अदधात्) उस परमात्मा ने धारण कराना था (तस्य तत्) उसको वही कर्म (स्वयम्) अपने आप ही (आविशत्) प्राप्त हो गया ॥ २९ ॥

यथर्तु लिंगान्यृतवः स्वयमेवर्तु पर्यये ।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥ (२०)

(यथा) जैसे (ऋतवः) ऋतुएं (ऋतुपर्यये) ऋतु-परिवर्तन होने पर (स्वयम् एव) अपने आप ही (ऋतुलिंगानि) अपने-अपने ऋतुचिह्नों—जैसे, वसन्त आने पर कुसुम-विकास, आम्रमञ्जरी आदि को (अभिपद्यन्ते) प्राप्त करती हैं (तथा) उसी प्रकार (देहिनः) देहधारी प्राणी भी (स्वानि स्वानि कर्माणि) अपने-अपने कर्मों को प्राप्त करते हैं ॥ ३० ॥

चार वर्णों का निर्माण—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ ३१ ॥ (२१)

[फिर उस परमात्मा ने] (लोकानां तु) प्रजाओं अर्थात् समाज की (विवृद्ध्यर्थम्) विशेष वृद्धि=शान्ति, समृद्धि एवं प्रगति के लिए (मुखबाहु—ऊरु-पादतः) मुख, बाहु, जंघा और पैर की तुलना के अनुसार क्रमशः (ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं च शूद्रम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण को (निरवर्तयत्) निर्मित किया ॥ ३१ ॥

प्राणियों की उत्पत्ति का प्रकार—

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥ (२२)

(इह) इस संसार में (येषां भूतानाम्) जिन मनुष्यों का—वर्णगत मनुष्यों का (यादृशं कर्म) जैसा कर्म (कीर्तितम्) वेदों में कहा है (तत्) उसे (तथा) वैसे ही (१ । ८७–९१) (च) और (जन्मनि) उत्पन्न होने में (क्रमयोगम्) जीवों का जो एक निश्चित प्रकार रहता है, उसे (वः) आप लोगों को (अभिधास्यामि) कहूँगा ॥ ४२ ॥

जरायुज-जीव—

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥ (२३)

(पशवः) ग्राम्यपशु गौ आदि (मृगाः) अहिंसक वृत्ति वाले वन्यपशु हिरण आदि (च) और (उभयोदतः व्यालाः) दोनों ओर दांत वाले हिंसक वृत्तिवाले पशु सिंह, व्याघ्र आदि (च) तथा (रक्षांसि) राक्षस (पिशाचाः) पिशाच (च) तथा (मनुष्य) (जरायुजाः) ये सब 'जरायुज' अर्थात् झिल्ली से पैदा होने वाले हैं ॥४३॥

अण्डज-जीव—

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः ।
यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥ ४४ ॥ (२४)

(पक्षिणः) पक्षी (सर्पाः) सांप (नक्राः) मगरमच्छ (मत्स्याः) मछलियां (च) तथा (कच्छपाः) कछुए (च) और (यानि) अन्य जो (एवं प्रकाराणि) इस प्रकार के (स्थलजानि) भूमि पर रहने वाले (च) और (औदकानि) जल में रहने वाले जीव हैं, वे सब (अण्डजाः) 'अण्डज' अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होने वाले हैं ॥ ४४ ॥

स्वेदज-जीव—

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किञ्चिदीदृशम् ॥ ४५ ॥ (२५)

(दंशमशकम्) डंक से काटने वाले मच्छर आदि (यूका) जूं (मक्षिक) मक्खियां (मत्कुणम्) खटमल (यत् च अन्यत् किञ्चित् ईदृशम्) जो और भी कोई इस प्रकार के जीव हैं जो (ऊष्मणः) ऊष्मा अर्थात् सीलन और गर्मी से (उपजायन्ते) पैदा होते हैं, वे सब (स्वेदजम्) 'स्वेदज' अर्थात् पसीने से उत्पन्न होनेवाले कहाते हैं ॥ ४५ ॥

उद्भिज्ज तथा ओषधियां—

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥ (२६)

(बीजकाण्डप्ररोहिणः) बीज और शाखा से उत्पन्न होने वाले (सर्वे स्थावराः) सब स्थावर [एक स्थान पर टिके रहने वाले] जीव वृक्ष आदि (उद्भिज्जाः) 'उद्भिज'—भूमि को फाड़कर उगने वाले कहाते हैं। इनमें—(फलपाकान्ता) फल आने पर पककर सूख जाने वाले और (बहुपुष्पफलोपगाः) जिन पर बहुत फूल-फल लगते हैं, वे 'ओषधि' कहलाते हैं ॥ ४६ ॥

वनस्पति तथा वृक्ष—

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥ (२७)

(ये अपुष्पाः फलवन्तः) जिन पर बिना फूल आयें ही फल लगते हैं (ते) वे (वनस्पतयः स्मृताः) 'वनस्पतियाँ' कहलाती हैं [जैसे-बड़ (वट), पीपल, गूलर

आदि] (च) और (पुष्पिणः फलिनः एव) फूल लगकर फल लगने वाले (उभयतः) दोनों से युक्त होने के कारण (वृक्षाः) वे उद्भिज्ज स्थावर जीव 'वृक्ष' (स्मृताः) कहलाते हैं ॥ ४७ ॥

गुल्म, गुच्छ, तृण, प्रतान तथा वेल—

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥ ४८ ॥ (२८)

(विविधम्) अनेक प्रकार के (गुच्छ) जड़ से गुच्छे के रूप में बनने वाले 'झाड़' आदि (गुल्मम्) एक जड़ से अनेक भागों में फूटने वाले 'ईख' आदि (तथैव) उसी प्रकार (तृणजातयः) घास की सब जातियां, (बीज-काण्डरुहाणि) बीज और शाखा से उत्पन्न होने वाले (प्रतानाः) उगकर फैलने वाली 'दूब' आदि (च) और (वल्ल्यः) उगकर किसी का सहारा लेकर चढ़ने वाली बेलें (एव) ये सब स्थावर भी 'उद्भिज्ज' कहलाते हैं ॥ ४८ ॥

वृक्षों में अन्तश्चेतना—

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥ (२९)

(कर्महेतुना) पूर्वजन्मों के कर्मों के कारण (बहुरूपेण तमसा) बहुत प्रकार के तमोगुण से (वेष्टिताः) संयुक्त या घिरे हुए (एते) ये स्थावर जीव (अन्तः-संज्ञाः भवन्ति) आन्तरिक चेतना वाले [जिनके भीतर तो चेतना है किन्तु बाहरी क्रियाओं में प्रकट नहीं होती] होते हैं (सुख-दुःखसमन्विताः) और सुख-दुःख के भावों से युक्त होते हैं ॥ ४९ ॥

परमात्मा की जाग्रत् एवं सुषुप्ति अवस्थाएँ—

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ ५२ ॥ (३०)

(यदा) जब (सः देवः) वह परमात्मा [१ । ६ में वर्णित] (जागर्ति) जागता है अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति के लिए प्रवृत्त होता है (तदा) तब (इदं जगत् चेष्टते) यह समस्त संसार चेष्टायुक्त [प्रकृति से समस्त विकृतियों की उत्पत्ति पुनः प्राणियों का श्वास-प्रश्वास चलना आदि चेष्टाओं से युक्त] होता है, (यदा) और जब (शान्तात्मा) यह शान्त आत्मावाला सभी कार्यों से शान्त होकर (स्वपिति) सोता है अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति, स्थिति से निवृत्त हो जाता है (तदा) तब (सर्वम्) यह समस्त संसार (निमीलति) प्रलय को प्राप्त हो जाता है ॥ ५२ ॥

तस्मिन्स्वपिति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः ।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥ ५३ ॥ (३१)

(सुस्थे) सृष्टि-कर्म से निवृत्त हुए (तस्मिन् स्वपिति तु) उस परमात्मा के सोने पर (कर्मात्मानः) कर्मों—श्वास-प्रश्वास, चलना-सोना आदि कर्मों में लगे रहने का स्वभाव है जिनका, ऐसे (शरीरिणः) देहधारी जीव भी (स्वकर्मभ्यः, निवर्तन्ते) अपने-अपने कर्मों से निवृत्त हो जाते हैं (च) और (मनः) 'महत्' तत्त्व (ग्लानिम्) उदासीनता=सब कार्य-व्यापारों से विरत होने की अवस्था को या अपने कारण में लीन होने की अवस्था को (ऋच्छति) प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि ।
तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥ ५४ ॥ (३२)

(तस्मिन् महात्मनि) उस सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय में (यदा) जब (युगपत् तु प्रलीयन्ते) एकसाथ ही सब प्राणी चेष्टाहीन होकर लीन हो जाते हैं (तदा) तब (अयं सर्वभूतात्मा) यह सब प्राणियों का आश्रयस्थान परमात्मा (निर्वृतः) सृष्टि-संचालन के कार्यों से निवृत्त हुआ-हुआ (सुखं स्वपिति) सुखपूर्वक सोता है ॥ ५४ ॥

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।
सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥ (३३)

(सः अव्ययः) वह अविनाशी परमात्मा (एवम्) इस प्रकार [५१-५४ के अनुसार] (जाग्रत्-स्वप्नाभ्याम्) जागने और सोने की अवस्थाओं के द्वारा (इदं सर्वं चर-अचरम्) इस समस्त जड़-चेतन जगत् को क्रमशः (अजस्रं सञ्जीवयति) प्रलयकाल तक निरन्तर जिलाता है (च) और फिर (प्रमापयति) मारता है अर्थात् कारण में लीन करता है ॥ ५७ ॥

दिन-रात का परिमाण—

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला ।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥ (३४)

(दश च अष्टौ च) दश और आठ मिलाकर अर्थात् अठारह (निमेषाः) निमेषों [=पलक झपकने का समय] की (काष्ठा) १ काष्ठा होती है (ताः त्रिंशत्तु) उन तीन काष्ठाओं की (कला) १ कला होती है (त्रिंशत्कलाः) तीस कलाओं का (मुहूर्त्त स्यात्) एक मुहूर्त्त [४८ मिनट का] होता है, और (तावतः तु) उतने ही अर्थात् ३० मुहूर्त्तों के (अहोरात्रम्) एक दिन-रात होते हैं ॥ ६४ ॥

सूर्य द्वारा दिन-रात का विभाग—

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ।। ६६ ।। (३५)

(सूर्य्यः) सूर्य (मानुष-दैविके) मानुष=मनुष्यों के और दैवी=देवताओं के (अहोरात्रे) दिन-रातों का (विभजते) विभाग करता है, उनमें (भूतानां स्वप्नाय रात्रिः) प्राणियों के सोने के लिए 'रात' है और (कर्मणां चेष्टायै अहः) कामों के करने के लिए 'दिन' होता है ।। ६५ ।।

देवों के दिन-रात—

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ।। ६७ ।। (३६)

(वर्षम्) मनुष्यों का एक वर्ष (दैवे रात्र्यहनी) देवताओं के एक दिन-रात होते हैं (तयोः पुनः प्रविभागः) उनका भी फिर विभाग है (तत्र उदगयनम् अहः) उनमें 'उत्तरायण' देवों का दिन है, और (दक्षिणायनम् रात्रिः स्यात्) 'दक्षिणा-यन' देवों की रात है ।। ६७ ।।

ब्रह्म के दिन-रात का वर्णन—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ।। ६८ ।। (३७)

[मनु महर्षियों से कहते हैं कि] (ब्राह्मस्य तु क्षपा-अहस्य) परमात्मा के दिन-रात का (तु) तथा (एकैकशः युगानाम्) एक-एक युगों का (यत् प्रमाणम्) जो कालपरिमाण है (तत्) उसे (क्रमशः) क्रमानुसार और (समासतः) संक्षेप से (निबोधत) सुनो ।। ६८ ।।

सतयुग का परिमाण—

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम् ।
तस्य यावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ।।६९।। (३८)

(तत् चत्वारि सहस्राणि वर्षाणां कृतं युगम् आहुः) उन देवताओं [६७ वें में जिनके दिन-रातों का वर्णन है] के चार हजार दिव्य वर्षों का एक 'सतयुग' कहा है । (तस्य) इस सतयुग की (यावत् शती सन्ध्या) उतने ही सौ वर्ष की अर्थात् ४०० वर्ष की संध्या होती है और (तथाविधः) उतने ही वर्षों का अर्थात् (संध्यांशः) संध्यांश का समय होता है ।। ६९ ।।

त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का परिमाण—

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु ।
एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥ (३९)

(च) और (इतरेषु त्रिषु) शेष अन्य तीन—त्रेता, द्वापर, कलियुगों में (ससंध्येषु ससंध्यांशेषु) 'संध्या' नामक कालों में तथा 'संध्यांश' नामक कालों में (सहस्राणि च शतानि एक-अपायेन) क्रमशः एक हजार और एक-एक सौ घटा देने से (वर्तन्ते) उनका अपना-अपना कालपरिमाण निकल आता है अर्थात् ४८०० दिव्यवर्षों का सतयुग होता है, उसकी संख्याओं में एक सहस्र और संध्या व संध्यांश में एक-एक सौ घटाने से ३००० दिव्यवर्ष+३०० संध्यावष+३०० संन्ध्यांशवर्ष=३६०० दिव्यवर्षों का त्रेतायुग होता है। इसी प्रकार—२०००+२०० +२००=२४०० दिव्यवर्षों का द्वापर और १०००+१००+१००=१२०० दिव्य-वर्षों का कलियुग होता है ॥ ७० ॥

देवयुग का परिमाण—

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥ (४०)

(यद् एतत्) जो यह (आदौ) पहले [६९-७० में] (चतुर्युगम्) चारों युगों को (परिसंख्यातम्) कालपरिमाण के रूप में गिनाया है (एतद् यह (द्वादश-साहस्रम्) बारह हजार दिव्य वर्षों का काल [मनुष्यों का एक चतुर्युगी का काल] (देवानाम्) देवताओं का (युगम्) एक युग (उच्यते) कहा जाता है ॥ ७१ ॥

स्पष्टीकरण—१२००० दिव्यवर्षों की एक चतुर्युगी होती है। उसे मानुष वर्षों में बदलने के लिए ३६० से गुणा करने पर १२०००×३६०=४३,२०,००० मानुष वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। दोनों श्लोकों के कालपरिमाण को तालिका के रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

दिव्यवर्ष	संध्यावर्ष	संध्यांशवर्ष	कुल दिव्यवर्षोंका	गुणा करनेसे	मानुषवर्षोंका	युगनाम
४०००+	४००+	४००=	४८००×	३६०=	१७,२८,०००	सतयुग
३०००+	३००+	३००=	३६००×	३६०=	१२,९६,०००	त्रेतायुग
२०००+	२००+	२००=	२४००×	३६०=	८,६४,०००	द्वापरयुग
१०००+	१००+	१००=	१२००×	३६०=	४,३२,०००	कलियुग
१००००+	१०००+	१०००=	१२०००×	३६०=	४३,२०,०००	एकचतुर्युगी

ब्रह्म के दिन-रात का परिमाण—

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥ ७२ ॥ (४१)

(दैविकानां युगानाम् तु) देवयुगों को (सहस्रं परिसंख्यया) हजार से गुणा करने पर जो कालपरिमाण निकलता है, जैसे—चार मानुषयुगों के दिव्यवर्ष १२००० होते हैं उनको हजार से गुणा करने पर १,२०,००,००० दिव्यवर्षों का (ब्राह्मम्) परमात्मा का (एकं अहः) एक दिन (च) और (तावतीं रात्रिम्) उतने ही दिव्यवर्षों की उसकी एक रात (ज्ञेयम्) समझनी चाहिए ॥ ७२ ॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ७३ ॥ (४२)

जो लोग (तत् युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यम् अहः) उस एक हजार दिव्य-युगों के परमात्मा के पवित्र दिन को (च) और (तावतीं एव रात्रिम्) उतने ही युगों की परमात्मा की रात्रि को (विदुः) समझते हैं (ते) वे ही (वै अहोरात्र-विदः जनाः) वास्तव में दिन-रात=सृष्टि-प्रलय के काल के वेत्ता लोग हैं ।।७३।।

महर्षिदयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में १ । ६८ से ७३ श्लोकों को उद्धृत करके उनका भाव निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं ?

उत्तर—एक वृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नव सौ, छहत्तर अर्थात् १,९६,०८,५२,९७६ वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं और यह संवत् ७७ सतहत्तरवां वर्त्त रहा है ।

प्रश्न—यह कैसे निश्चय होय कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं ?

उत्तर—यह जो वर्तमान सृष्टि है इसमें सातवें (७) वैवस्वत मनु का वर्त्तमान है । इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं—स्वायंभुव १, स्वारोचिष २, औत्तमि ३, तामस ४, रैवत ५, चाक्षुष ६, ये छः तो बीत गये हैं और ७ (सातवां) वैवस्वत वर्त्त रहा है और सार्वणि आदि ७ (सात) मन्वतर आगे भोगेंगे । ये सब मिलके १४ (चौदह) मन्वन्तर होते हैं और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है, सो उस की गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्षों का सतयुग रक्खा है; (१२९६०००) बारह लाख, छानवे हजार वर्षों का नाम त्रेता; (८६४०००) आठ लाख चौंसठ हजार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख, बत्तीस हजार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष

पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है और इन चारों युगों के (४३२००००) तितालीसलाख, बीस हजार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है।

एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हजार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है और ऐसे-ऐसे छः मन्वन्तर मिलकर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अर्ब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हजार वर्ष हुए और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हजार, नौ सौ छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४२७०२४) चार लाख, सत्ताईस हजार चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है। जानना चाहिए कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़, पांच लाख, बत्तीस हजार, नव सौ छहत्तर वर्ष तो वैवस्वत मनु के भोग हो चुके हैं और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़, एकसठ लाख, सत्तासी हजार, चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इनमें से यह वर्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवाँ है जिसको आर्यलोग विक्रम का (१९३३) उन्नीस सौ तेतीसवां संवत् कहते हैं।

जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं उन एक हजार चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा रखी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जाननी चाहिए। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हजार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इस को बना रखता है, इसी का नाम ब्राह्मदिन रक्खा है; और हजार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटाके प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है, उस का नाम ब्राह्मरात्रि रक्खा है अर्थात् सृष्टि के वर्त्तमान होने का नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है। यह जो वर्त्तमान ब्राह्मदिन है, इसके (१,९६,०८,५२,९७६) एक अर्ब, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नव सौ छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं और (२३३३२२७०२४) दो अर्ब, तेतीस करोड़, बत्तीस लाख, सत्ताईस हजार, चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं। इनमें से अन्त का यह चौबीसवां वर्ष भोग रहा है। आगे आनेवाले भोग के वर्षों में से एक-एक घटाते जाना और गत वर्षों में क्रम से एक-एक वर्ष मिलाते जाना चाहिये। जैसे आज पर्यन्त घटाते बढ़ाते आये हैं।"

(ऋ० भू० वेदोत्पत्ति विषय)

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ७४ ॥ (४३)

(प्रसुप्तः सः) वह प्रलय-अवस्था में सोया हुआ-सा [१।५२-५७] परमात्मा (तस्य अहर्निशस्य अन्ते) उस [१।६८-७२] दिन-रात के वाद (प्रति-

बुध्यते) जागता है=सृष्टच्युत्पत्ति में प्रवृत्त होता है (च) और (प्रतिबुद्धः) जागकर (सद्-असद्-आत्मकम्) जो कारणरूप में विद्यमान रहे और जो विकारी अंश से कार्यरूप में अविद्यमान रहे, ऐसे स्वभाव वाले (मनः) 'महत्' नामक प्रकृति के आद्यकार्यतत्त्व की (सृजति) सृष्टि करता है ॥ ७४ ॥

पञ्चभूतों की उत्पत्ति का क्रम—

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया ।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ७५ ॥ (४४)

(सिसृक्षया) सृष्टि को रचने की इच्छा से फिर वह परमात्मा (मनः सृष्टिं विकुरुते) महत्तत्त्व की सृष्टि को विकारी भाव में लाता है—अहंकार के रूप में विकृत करता है (तस्मात्) उस विकारी अंश से (चोद्यमानं आकाशं जायते) प्रेरित हुआ-हुआ 'आकाश' उत्पन्न होता है (तस्य) उस आकाश का (गुणं शब्दं विदुः) गुण 'शब्द' को मानते हैं ॥ ७५ ॥

आकाशोत्पत्ति के विषय में महर्षिदयानन्द लिखते हैं—

"उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा है, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि विना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहां ठहर सकें ?" (स० प्र० अष्टमसमु०)

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः ।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥ ७६ ॥ (४५)

(आकाशात् तु विकुर्वाणात्) उस आकाश के विकारोत्पादक अंश से (सर्वगन्धवहः) सब गन्धों को वहन करने वाला (शुचिः) शुद्ध और (बलवान्) शक्तिशाली (वायुः) 'वायु' (जायते) उत्पन्न होता है (सः वै) वह वायु निश्चय से (स्पर्शगुणः) स्पर्श गुणवाला (मतः) माना गया है ॥ ७६ ॥

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम् ।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥ (४६)

(वायोः अपि) उस वायु के भी (विकुर्वाणात्) विकारोत्पादक अंश से (विरोचिष्णुः) उज्ज्वल (तमोनुदम्) अन्धकार को नष्ट करने वाली (भास्वत्) प्रकाशक (ज्योतिः उत्पद्यते) 'अग्नि' उत्पन्न होती है (तत् रूप गुणम् उच्यते) उसका गुण 'रूप' कहा है ॥ ७७ ॥

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ ॥७८ (४७)

(च) और (ज्योतिषः विकुर्वाणात्) अग्नि के विकारोत्पादक अंश से (रसगुणाः आपः स्मृताः) 'रस' गुण वाला जल उत्पन्न होता है, और (अद्भ्यः) जल से (गन्धगुणा भूमिः) 'गन्ध' गुण वाली भूमि उत्पन्न होती है (इति एषा सृष्टि आदितः) यह इस प्रकार प्रारम्भ से लेकर [१ । १४ से] यहां तक वर्णित सृष्टि उत्पन्न होने की प्रक्रिया है ॥ ७८ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥ (४८)

(प्राक्) पहले श्लोकों में [१ । ७१] (यत्) जो (द्वादशसाहस्रम्) बारह हजार दिव्य वर्षों का (दैविकं युगम् उदितम्) एक 'देवयुग' कहा है (तत् एक-सप्ततिगुणम्) उससे इकहत्तर गुना समय अर्थात् १२०००×७१=८,५२,००० दिव्यवर्षों का अथवा ८,५२,००० दिव्यवर्ष×३६०=३०,६७,२०,००० मानुषवर्षों का (इह मन्वन्तरं उच्यते) यहां एक 'मन्वन्तर' का कालपरिमाण माना गया है ॥ ७९ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥ (४९)

(परमेष्ठी) वह सबसे महान् परमात्मा (असंख्यानि मन्वन्तराणि) असंख्य 'मन्वन्तरों' को (सर्गः) सृष्टि-उत्पत्ति (च) और (संहारः एव) प्रलय को (क्रीडन् इव) खेलता हुआ-सा (पुनः पुनः) बार-बार (कुरुते) करता रहता है ॥ ८० ॥

चारों वर्णों के कर्मों का निर्धारण—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥ (५०)

(अस्य सर्वस्य सर्गस्य) इस [५—८० पर्यन्त श्लोकों में वर्णित] समस्त संसार की (गुप्त्यर्थम्) गुप्ति अर्थात् सुरक्षा, व्यवस्था एवं समृद्धि के लिए (सः महाद्युतिः) महातेजस्वी परमात्मा ने (मुख-बाहु-ऊरु-पद्-जानाम्) मुख, बाहु जंघा और पैर की तुलना से निर्मितों के अर्थात् क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के (पृथक् कर्माणि अकल्पयत्) पृथक्-पृथक् कर्म बनाये ॥ ८७ ॥

ब्राह्मण के कर्म—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥ (५१)

(ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणों के (अध्ययनम् अध्यापनम्) पढ़ना-पढ़ाना (तथा) तथा (यजनं याजनम्) यज्ञ करना-कराना, (दानं च प्रतिग्रहम् एव) दान देना और लेना, ये छः कर्म (अकल्पयत्) हैं ॥ ८८ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

"(एक) निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें, (दो)—पूर्ण विद्या पढ़ें, (तीन)—अग्निहोत्रादि यज्ञ करें, (चार)—यज्ञ करावें, (पांच)—विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें, (छठा)—न्याय से धनोपार्जन करने वाले गृहस्थों से दान लेवें भी।"

(सं० वि० गृहाश्रम प्रकरण)

क्षत्रिय के कर्म—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥ (५२)

"दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपांग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना, (इज्या) अग्निहोत्र आदि यज्ञों का करना (दानम्) सुपात्रों को विद्या, सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना, (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना······(विषयेष्वप्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त होके सदा जितेन्द्रिय रहना—लोभ, व्यभिचार, मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना" + ॥ ५२ ॥ (सं० प्र० षष्ठ समु०)

+ (क्षत्रियस्य समासतः) ये संक्षेप से क्षत्रिय के कर्म हैं।

"न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सबका पालन दान विद्या धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना वा कराना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़ाना और विषयों में न फंसकर जितेन्द्रिय रह के सदा शरीर आत्मा से बलवान् रहना।"

(स० प्र० चतुर्थ समु०)

वैश्य के कर्म—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥ (५३)

"(पशुरक्षा) गाय आदि पशुओं का पालन वर्धन करना, (दान) विद्या-धर्म की वृद्धि करने कराने के लिए धनादि का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का (वणिक्पथ) सब प्रकार के व्यापार करना (कुसीद) एक सैंकड़े में चार, छः, आठ, बारह, सोलह वा बीस आनों से अधिक व्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और न देना (कृषि) खेती करना (वैश्यस्य) ये वैश्य के कर्म हैं" ॥ ९० ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

"(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) अन्नादि का दान देना, ये तीन धर्म के लक्षण और (पशूनां रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना उनसे दुग्धादि का बेचना (वणिक् पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना (कुसीदम्) ब्याज का लेना ❀ (कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खात और भूमि की परीक्षा, जोतना, बोना, आदि व्यवहार का जानना, ये चार कर्म वैश्य की जीविका।" (सं० वि० गृहाश्रम प्रक०)

❀ "सवा रुपये सैंकड़े से अधिक, चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे। जब दूना धन आ जाये, उससे आगे कौड़ी न लेवे, न देवे। जितना न्यून ब्याज लेवेगा उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे'।

(सं० वि० गृहाश्रम प्रक० में ऋ० दया० की टिप्पणी)

शूद्र के कर्म—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ६१ ॥ (५४)

"(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन—जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिए (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की (अनसूयया) निन्दा से रहित प्रीति से (शुश्रूषाम्) सेवा करना, (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है" ॥ ६१ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्रक०)

सृष्टि-उत्पत्ति प्रकरण में—

प्रक्षिप्त-श्लोकों का सकारण विवरण

(१।२४–२५) ये दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं। क्योंकि इनकी संगति इस प्रकरण से तथा मनु की शैली से विपरीत है। यहाँ प्रकरण वेदों के द्वारा कर्मों का ज्ञान कराने का (१।२१–२२ में) चल रहा था, २३ वें श्लोक में प्रसंगवश वेदोत्पत्ति को बताया गया और १।२६ श्लोक में फिर कर्मों का ही विवेचन किया गया है। अतः कर्मविवेक प्रकरण के बीच में नदी, सागर, नक्षत्र, ग्रहादि की सृष्टि की बात असंगत है। और प्राणियों की उत्पत्ति प्रथम कही जा चुकी है, फिर 'स्रष्टुमिच्छन् इमाः प्रजाः' कहने की क्या संगति है? और काम, क्रोध, रति, तप आदि की रचना कहना भी निरर्थक ही है।

अतः कतिपय दोषात्मक भावों के कथन की शैली मनु की प्रतीत नहीं होती। और मनु ने १।२६ वें श्लोक में हिंस्र-अहिंस्र, मृदु-क्रूर, धर्म-अधर्म, तथा सत्य-असत्य प्राणियों के स्वभावों का वर्णन कर दिया है, अतः यहां पुनरुक्त होने से भी यह मनु की रचना प्रतीत नहीं होती।

१।३२—४१ तक दश श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त हैं—वर्त्तमान मनुस्मृति में सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन दो प्रकार से किया है। एक—परमात्मा ने अव्यक्त प्रकृति से सूक्ष्म से स्थूल करते-करते कारण-कार्यभाव से सृष्टि को बनाया। यह मान्यता तो सब शास्त्रों की होने से मान्य है किन्तु ब्रह्मा से उत्पत्ति मौलिक नहीं हो सकती। क्योंकि प्रथम तो दोनों में परस्पर विरोध है, और दोनों प्रसंगों के श्लोकों का क्रम मेल नहीं खाता। ब्रह्मा से उत्पत्ति का वर्णन कल्पना पर आश्रित होने से अविश्वसनीय है, जैसे ब्रह्मा के आधे देह से १।३२ में पुरुष और आधे देह से नारी की उत्पत्ति लिखी है। और इन श्लोकों की संगति पूर्वापर श्लोकों के क्रम को भंग करने से नहीं लगती। जैसे १।३१ श्लोक तथा उससे पूर्व श्लोकों में कर्मानुसार वर्णन किया है और १।४२ वें श्लोक में भी वही क्रम चल रहा है। अतः इनके मध्य के ये श्लोक अप्रासंगिक हैं। १।१४—२३ श्लोकों में जगदुत्पत्ति का वर्णन पूर्ण होने से पुनः स्थावर-जंगम जगत् की उत्पत्ति ब्रह्मा से दिखलाना स्पष्ट ही इन श्लोकों को प्रक्षिप्त सिद्ध करता है। और १।३२–४१ श्लोकों को मानने में अन्तर्विरोध भी है। १।७–१३ में परमात्मा को सृष्टि-कर्त्ता माना है, अब ब्रह्मा से मान-कर १।३४–४१ श्लोकों में दशप्रजापतियों को सृष्टि-कर्त्ता माना है। एक लेखक की पुस्तक में ऐसा पारस्परिक विरोध कदापि नहीं हो सकता। और १।३५–४१ तक श्लोकों में दश प्रजापतियों से सात मनु उत्पन्न हुए, और उन्होंने स्थावर-जंगम जगत् बनाया। क्या यह समस्त जगत् ऋषि बना सकते हैं? और सप्त मनुओं ने यक्ष, रक्ष, पिशाच, नाग, सर्प, वानर, मृग, क्रमि, कीट, पतंगादि को बनाया, यह कथन तो आश्चर्यजनक ही है।

१।५०–५१ श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त हैं—ये श्लोक ब्रह्मा की उत्पत्ति से सम्बद्ध होने से असंगत हैं, क्योंकि ब्रह्मा से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन पहले प्रक्षिप्त सिद्ध हो चुका है। और जब परमात्मा द्वारा सृष्टि रचने की प्रक्रिया का वर्णन १।८० तक चल रहा है, उसके बीच में ही ब्रह्मा का अन्तर्धान बताकर सृष्टि-रचना के क्रम की समाप्ति बताना कैसे संगत हो सकता है? इससे यह स्पष्ट है कि ये श्लोक किसी ने बाद में मिलाये हैं। ब्रह्मा कौन है? क्या परमात्मा से भिन्न है, जो शरीरधारणकर सृष्टि-रचना करके अन्तर्धान हो जाता है। अव्यक्त परमात्मा सृष्टिरचयिता है, ब्रह्मा नहीं। दोनों को मानने में

दोनों बातें सत्य नहीं हो सकतीं। और परमात्मा ब्रह्मा के रूप में शरीर-धारण नहीं कर सकता, क्योंकि वह अकाय=शरीररहित तथा अज=अजन्मा है। और मनु मे १।५२-५४ श्लोकों में सृष्टि के वर्त्तमान को जागृत-दशा तथा प्रलय को परमात्मा की निद्रावस्था बताया है। किन्तु इन श्लोकों में सृष्टि को बनाकर ही उसका अन्तर्धान लिखा है, यह परस्पर विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। और १।६८-७३ श्लोकों में ४ अरब ३२ करोड़ वर्षों का ब्रह्मा का एक दिन माना है, यदि ब्रह्मा शब्द से पूर्वोक्त शरीरधारी ब्रह्मा लिया जाये, तब भी उसे दिन भर जागना चाहिये, फिर उसका अन्तर्धान क्यों? यथार्थ में ब्राह्मदिन आदि शब्द वर्ष-प्रमाण के वाची हैं, ब्रह्म के नहीं।

१।५५-५६ श्लोक निम्न-आधार से प्रक्षिप्त हैं—इन दोनों श्लोकों में नवीन-वेदान्त की मिथ्या मान्यता का वर्णन है अर्थात् यह जीवात्मा अज्ञानवश इन्द्रियसहित शरीर में रहता है, यह स्वयं कुछ भी कर्म नहीं करता, अणुमात्रिक होकर स्थावर-जंगम-जगत् में बीज रूप में प्रवेश करता है, इत्यादि। मनु की मान्यता अद्वैतवाद की कहीं भी नहीं है। और पूर्वापर प्रसंग से भी ये श्लोक असंगत हैं। १।५२-५४ तक जागृत तथा सुषुप्तिदशाओं का वर्णन है और १।५७ श्लोक में उन्हीं दशाओं का उपसंहार किया है, अतः बीच में उनसे असम्बद्ध श्लोकों की क्या संगति हो सकती है?

१।५८-६३ तक छः श्लोक निम्न-कारणों से प्रक्षिप्त हैं—ये श्लोक पूर्वापर प्रसंग से विरुद्ध हैं। १।५२-५७ तक श्लोकों में परमात्मा की जाग्रत-सुषुप्ति दशाओं का वर्णन है और १।६४-७३ तक श्लोकों में इन अवस्थाओं की अवधि (दिन-रात=सृष्टि-प्रलय के परिमाण वर्षों का) का वर्णन है। इस प्रकार पूर्वापर का प्रसंग है, उससे विरुद्ध इन बीच के श्लोकों का अप्रासंगिक वर्णन किया गया है। और मनुस्मृति के रचयिता मनु हैं, किन्तु इन श्लोकों में 'इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ' कहकर ब्रह्मा को मूल रचयिता बताया है। यह ब्रह्मा से सृष्टि-रचना मानने वालों ने बाद में प्रसंग को जोड़ने का ही दुस्साहस किया है। जब ऋषियों ने १।१-४ श्लोकों में मनु से धर्म के लिये प्रार्थना की है, तो ब्रह्मा कहाँ से आ गये? यदि ब्रह्मा से यह ज्ञान मनु को प्राप्त होता तो मनु अवश्य ही इसकी चर्चा कहीं तो करते? अतः इस शास्त्र के मूल-प्रवक्ता मनु ही हैं। और इन श्लोकों में मनुस्मृति को 'शास्त्र' नाम से लिखा है, यह व्यवहार भी यथार्थ में अर्वाचीन है। मनुस्मृति तो प्रवचन रूप ही थी, जैसे—वक्तुमर्हसि (१।२) श्रूयताम् (१।४) वोऽभिधास्यामि (१।४२) तं निबोधत (६।१२०) विधानं श्रूयताम् (३।२८६) इत्यादि श्लोकों से स्पष्ट है। अतः इसका 'शास्त्र' नाम बाद में प्रचलित हुआ, जब इसको संकलन करके ग्रन्थरूप में निबद्ध कर

दिया गया। और १। ६३ श्लोक में मनुओं द्वारा चराचर जगत् की उत्पत्ति का कथन भी पूर्वापर से विरुद्ध है। जब पीछे अव्यक्त परमात्मा से जगदुत्पत्ति कही जा चुकी है, तो यह पुनरुक्ति क्यों? और क्या कोई शरीरधारी जीव चराचर जगत् की रचना कर सकता है? यह सब शास्त्रों से विरुद्ध मान्यता है। और मनु सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए, वे अपने से बाद में होने वाले स्वायम्भुवादि सात मनुओं का वर्णन कैसे कर सकते हैं?

१। ६६ वाँ श्लोक निम्न-कारणों से प्रक्षिप्त है—यह श्लोक पूर्वापर-प्रसंग से विरुद्ध है। दिन-रात=सृष्टि-प्रलय के परिमाण के वर्णन में पितरों के मास, रात-दिनादि की कोई संगति नहीं है। ज्योतिषादि शास्त्रों में भी दो प्रकार से काल-गणना की गई है—देववर्ष तथा मानववर्ष। मनु को भी वे ही अभिप्रेत हैं। पितरों की काल-गणना के वर्ष मनु ने दिखाये भी नहीं हैं। अन्यथा दिन-रात-मास दिखाकर पितरों के वर्षों की गणना भी वैसे ही करते, जैसे देव-मानववर्ष गिनाये हैं। और १। ६५ श्लोक की १। ६७ से पूर्णतः संगति है, बीच में इस विषय का केवल एक ही श्लोक है, जिससे किसी भी प्रकार की संगति नहीं है, अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है। और यह पितरों की एक योनि-विशेष मानने वालों की भावना से अनुप्राणित है। और यह व्यावहारिक भी नहीं है। पितरों के रात-दिन १५–१५ मानव दिन के होते हैं, और इस श्लोक में कहा है कि कृष्ण दिन काम करने के लिये, और शुक्ल दिन सोने के लिये हैं। इसका आशय लोकव्यवहार से विपरीत है। रात सोने तथा दिन काम करने के लिये प्रसिद्ध है, पितरों के रात-दिन विपरीत ही हैं। और इन पितरों के रात-दिन को दिखाने की कोई संगति भी नहीं है।

१। ८१–८६ तक छः श्लोक निम्न-कारणों से प्रक्षिप्त हैं—१। ८० श्लोक की १। ८७ वें श्लोक से सृष्टि-रचना तथा उसकी रक्षा से सम्बन्ध होने से पूर्णतः संगति है। इनके मध्य में युगानुरूप धर्मादि का ह्रास और युगानुरूप फल-कथन की संगति प्रकरणविरुद्ध तथा मनु की मान्यता से विरुद्ध है। १। ८१–८६ तक श्लोकों में जगत् का वर्णन न होने से १। ८७ में 'सर्वस्यास्य गुप्त्यर्थम्' शब्दों की क्या संगति हो सकती है? क्योंकि इन पदों से समस्त-जगत् का ग्रहण किया है। अतः जगदुत्पत्ति के श्लोकों से ही संगति हो सकती है, युगानुरूप धर्मादि के ह्रास से नहीं। और इस अध्याय का विषय वर्णन करते हुए (१। १४४) श्लोक में सर्ग-रचना तथा धर्म बताया है, पुनः युगानुरूप फलकथन की इस विषय से क्या संगति? और यह युगानुसार फलकथन मनु की मौलिक-मान्यता से भी विरुद्ध है। मनुस्मृति धर्मशास्त्र है, अतः मनु का समस्त आधार धर्म-अधर्मानुसार (शुभ-अशुभकर्मानुसार) ही है। इस धर्मानुसार फलकथन की

संगति युगानुरूप फलकथन से कदापि नहीं हो सकती। यदि युगानुरूप ही फल प्राप्त होवे तो मनुस्मृति का समस्त प्रयोजन ही धराशायी हो जाता है। और यह शास्त्र सब युगों के लिये निरर्थक हो जाता है और इन श्लोकों में चारों युगों में क्रमशः तप, ज्ञान, यज्ञ और दान को धर्म माना है। परन्तु मनु ने इन्हें सार्व-भौम सार्वकालिक मानव-मात्र का धर्म माना है। और "राजा हि युगमुच्यते" (९।३०१) में राजा को ही युग का कारण मनु ने क्यों कहा? इससे स्पष्ट है कि ये सब श्लोक पौराणिक-युग की देन होने से प्रक्षिप्त हैं।

१।९२–१०७ तक १६ श्लोक निम्न-कारणों से प्रक्षिप्त हैं—क्योंकि इनमें पक्षपात-पूर्ण ब्राह्मणों की प्रशंसा और मध्य में इस शास्त्र की अप्राकरणिक प्रशंसा की गई है। इस अध्याय के वर्ण्य-विषय से इनकी कोई संगति नहीं है। वर्णों के कर्म-विवेचन से यदि कोई इनका सम्बन्ध बताना चाहे, तो भी उचित नहीं। क्योंकि वर्णों में दूसरे वर्ण भी अपेक्षाकृत प्रशस्य हैं, उनका यहाँ लेश-मात्र भी वर्णन क्यों नहीं? ब्राह्मण को ही धर्म की मूर्त्ति, सब धनों का स्वामी, तथा उसी की कृपा से दूसरे वर्णों का जीवन बताना अतिशयोक्तिपूर्ण, असंगत वर्णन किया है। और पूर्वापर-प्रकरण से भी इन श्लोकों का स्पष्ट विरोध है। इससे पूर्व १।८७–९१ श्लोकों में वर्णों के कर्मों का वर्णन किया है, और १।१०८ से कर्मानुसार आचरण को धर्म कहने से धर्म का स्वरूप बताया गया है। १।१०२ से १०७ तक श्लोकों में इस शास्त्र को पढ़ने का अधिकारी तथा शास्त्र की महिमा बताई है, इसकी संगति ग्रन्थ के प्रारम्भ अथवा अन्त में तो कुछ अंश में संगत कही जा सकती है, किन्तु यहां मध्य में सर्वथा असंगत है। इन श्लोकों में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग भी इन्हें अर्वाचीन ही सिद्ध करता है, क्योंकि इस मनुस्मृति के लिये 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग मनु जैसा आप्तपुरुष स्वयं नहीं कर सकता। और जो मूल प्रवक्ता १।१४४ में स्वयं यह कह रहा है कि मैंने इस अध्याय में सृष्टि-उत्पत्ति तथा धर्मोत्पत्ति ही कही है, क्या उसके कथन के विरुद्ध दूसरे विषयों का वर्णन उचित हो सकता है? ये श्लोक उस समय के सिद्ध होते हैं कि जिस समय धर्म-शास्त्र के नाम पर अनेक-स्मृतियों की रचना हो गई, उस समय किसी विद्वान् ने इसकी प्रशंसा में इन श्लोकों को मिलाया है। और मनु की शैली के अनुकूल भी ये श्लोक नहीं हैं, मनु तो प्रथम विषय का निर्देश करके और समाप्ति पर भी विषय-निर्देश अवश्य करते हैं। इन श्लोकों में कहीं भी विषय का निर्देश नहीं है। और मनु की प्रवचन-शैली का भी इन श्लोकों में अभाव है।

और १।९४–९५ श्लोकों में ब्राह्मण के मुख से पितरों का हव्य-कव्य भक्षण करना तथा १।१०५ में अगली-पिछली सात-सात पीढियों का पवित्र

करना मनु की मान्यता से विरुद्ध है। मृतक-श्राद्ध की पौराणिक भावना के प्रचलित होने पर इन श्लोकों को किसी ने मिलाया है। मनु के मत में वेद-विरुद्ध मृतक-श्राद्ध का कोई स्थान नहीं है, वे तो जीवित-पितरों की ही सेवा का सर्वत्र विधान करते हैं। और सात-सात पीढियों का पवित्र होना कर्मानुसार-फल-व्यवस्था को खण्डित करता है। चाहे मनुष्य कितने भी पाप-कर्म करते रहें, और इस शास्त्र का पाठ कर लें, यदि वे पापी पवित्र हो जायेंगे, तो पाप का फल कौन भोगेगा ? इससे पाप करने को प्रोत्साहन ही मिलता है। अतः किसी अधर्मात्मा पुरुष ने ही ये श्लोक बनाये हैं, मनु जैसे पवित्र व्यक्ति ऐसी वेद तथा ईश्वरीय न्याय के विरुद्ध-बात को कभी नहीं लिख सकता। और १। १०२ वें श्लोक में मनु अपने को 'धीमान्' भी नहीं कह सकते।

और मनु ने वर्ण-व्यवस्था को कर्म-मूलक माना है, जन्ममूलक नहीं, किन्तु इन (१। ९८–९९) श्लोकों में ब्राह्मण को जन्म से ही बड़ा कहकर जन्ममूलक माना है। यदि जन्म से ही कोई बड़ा या श्रेष्ठ हो जाता है, उसे कर्म करने (विद्यादि पढ़ना आदि) की क्या आवश्यकता रहेगी ? परन्तु मनु की मान्यता कर्म-प्रधान है। जो द्विज (२। १६८) वेद से अन्यत्र श्रम करता है, जो (२। १०३) प्रातः सायं सन्ध्या नहीं करता, उसको मनु ने शूद्र मानकर सभी द्विज-कर्मों से बहिष्कार का आदेश दिया है। और ४। २४५ वें श्लोक में तो स्पष्ट ही जन्ममूलक श्रेष्ठता का विरोध करके लिखा है कि ब्राह्मण श्रेष्ठ-कर्मों से श्रेष्ठता तथा दुष्कर्मों के करने से हीनता को प्राप्त होता है। और निश्चित समय पर उपनयनादि न करने से 'व्रात्य' कहलाता है। इससे भी जन्म की श्रेष्ठता का खण्डन होता है। और मनु ने १। ३१ में शरीर के अंगों से जो वर्णों की समानता बताई है, वह भी वर्णों में कर्म को मुख्य मानकर ही आलङ्कारिक वर्णन किया है। अतः जन्म से श्रेष्ठता बताने वाले, मृतकश्राद्ध के पोषक तथा पूर्वापर प्रकरण से विरुद्ध ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

कुल्लूकभट्ट द्वारा अन्यथा व्याख्यात अप्रक्षिप्त श्लोक

(१) १। २१ वें श्लोक की व्याख्या में कुल्लूकभट्ट ने पृथक् संस्थाः= पृथक् व्यवस्थाओं के उदाहरण में कुम्हार का घड़ा बनाना, जुलाहे का कपड़ा बनाना आदि उदाहरण दिये हैं, वे मनु के आशय से विरुद्ध हैं। क्योंकि मनु ने चार वर्णों की व्यवस्था ही मानी है। घड़ादि बनाना, कपड़ा बुननादि कार्य शिल्पकार्य के अन्तर्गत होने से वश्यवर्ण के ही विभिन्न कार्य हैं। अतः कुम्हारादि उपजातियों की मान्यता मनुसम्मत नहीं है।

(२) १। २२ वें श्लोक की व्याख्या में कुल्लूकभट्ट ने 'साध्यानां च गणम्'

के साथ 'सूक्ष्मम्' पद को मिलाकर 'सूक्ष्म देवयोनिविशेष' अर्थ किया है। यह मनु के आशय से विरुद्ध तथा अशास्त्रीय मान्यता है। यथार्थ में मनुष्यों के ही देव, पितर, साध्य, ऋषि आदि ज्ञान-स्तर से भेद हैं। स्वयं मनु ने कर्मफल-व्यवस्था में लिखा है—'पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः।' अर्थात् जो मध्यम सतोगुणी जीव होते हैं, वे मानवयोनि में पितर तथा साध्य कहलाते हैं। इसी प्रकार श्लोक-पठित 'सूक्ष्मं यज्ञम्' के अभिप्राय को न समझकर 'द्रव्यमय हवन अर्थ भी असंगत है। यहाँ इस जगत् को भी 'यज्ञ' शब्द से कहा गया है परमात्मा ने इस यज्ञ-जगत् की सूक्ष्मरचना तथा चकार से स्थूल सर्वविध पदार्थों को रचा है। वेद के पुरुषसूक्त में सृष्टि-रचना को स्पष्ट रूप में 'यज्ञ' शब्द से ही कहा है। भगवान् मनु ने भी सृष्ट्युत्पत्ति प्रकरण में यज्ञ शब्द का ही प्रयोग किया है। और 'सनातनम्' विशेषण देकर प्रवाह से अनादि जगद्रूप यज्ञ की पुष्टि की है। और १।२३ श्लोक में वेदज्ञान का प्रयोजन 'यज्ञसिद्ध्यर्थम्=जगत् के सब धर्मादिव्यवहारों की सिद्धि बताकर मनु ने 'यज्ञ' शब्दार्थ को स्पष्ट किया है। क्योंकि वेद का ज्ञान केवल द्रव्यमय हवन के लिये नहीं है। अतः कुल्लूकभट्ट की व्याख्या असंगत है।

(३) १।३१ वें श्लोक की व्याख्या में कुल्लूकभट्ट ने पौराणिक-प्रभाव वश सृष्टि-क्रम से विरुद्ध एक अविश्वसनीय कल्पना की है। अर्थात् ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैर से शूद्र पैदा हुआ। और इस मिथ्या कल्पना को बल देने के लिये यह भी लिख दिया कि 'दैव्या च शक्त्या मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिनिर्माणं ब्रह्मणो न विशंकनीयं श्रुतिसिद्धत्वात्' अर्थात् ब्रह्मा के मुखादि से ब्राह्मणादि की उत्पत्ति में किसी प्रकार की आशंका न करनी चाहिये। क्योंकि दिव्य-शक्ति से ऐसा भी सम्भव है और इसमें वेद का प्रमाण भी है। वस्तुतः वेद के 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्०' इत्यादि मन्त्र के आलंकारिक वर्णनों को न समझकर ऐसी कल्पना की गई है। यहाँ शरीर की उपमा से ब्राह्मणादि वर्णों के विभाग तथा कर्मों को ही समझाया गया है। और यदि मुखादि से उत्पत्ति का क्रम माना जाये तो अनेक दोष आते हैं—जैसे–१।१६, १९, २२ श्लोकों में जो मनुष्यादि की उत्पत्ति कही है, फिर यहाँ कहने की क्या आवश्यकता है क्या पूर्वकथित मानवादि की उत्पत्ति ब्राह्मणादि से भिन्न है? उनको क्या वर्ण होंगे? यदि मुखादि अवयवों से उत्पत्ति हुई, तो प्रथम तो परमात्मा का शरीर ही नहीं है, मुखादि अवयव कैसे हो सकते हैं। और दुर्जनतोष न्यान से अवयवों से उत्पत्ति मान भी लो तो मुख से उत्पन्न होने से ब्राह्मण गोलाकार, क्षत्रिय हाथ की भांति लम्बा, वैश्य उदर की तरह गोल-मटोल, शूद्र पैर की भांति ऊपर से मोटा नीचे से पतला लम्बा होना चाहिये। कुछ तो उत्पत्ति-भेद से इनकी बनावट में भेद होना चाहिये? अतः मुखादि

से उत्पत्ति की बात न तो बुद्धिसंगत है और न सृष्टिक्रम से अनुकूल। और जन्ममूलक वर्णव्यवस्था के पक्ष में यह भी दोष है कि ब्रह्मा के शरीर से ही उत्पन्न चारों वर्णों का भेद ही क्यों माना जाये ? सभी को एक वर्ण का मानना चाहिये, चाहे वह मुख से हुआ, अथवा दूसरे अंगों से। क्योंकि सब की उत्पत्ति एक ब्रह्मा से मानी गई है। अतः इस प्रकार की व्याख्या सर्वथा असंगत है।

स्थानभ्रष्ट श्लोकों का विवरण

१। २१ वां श्लोक कभी मूलक्रम से पृथक् होकर स्थानान्तरित हो गया है। क्योंकि वेदों की उत्पत्ति १। २३ में बताई है। उसके पश्चात् ही इस श्लोक की संगति उचित हो सकती है। अन्यथा वेदों की उत्पत्ति से पूर्व ही वेदों से सब मनुष्यों के कर्मों का वर्णन करना कैसे संगत हो सकता है।

१। २७ वाँ श्लोक भी किसी समय स्थानभ्रष्ट हो गया है। क्योंकि इससे पूर्वश्लोक १। २६ में कर्मों का विवेचन किया गया है। और १। २८ में भी कर्मों का कथन है। इनके बीच में सूक्ष्ममात्राओं के साथ जगदुत्पत्तिवर्णन कैसे संगत हो सकता है। इस श्लोक की संगति सृष्टि उत्पत्ति प्रकरण में १। १९ श्लोक के पश्चात् १। २१ से पूर्व ही होनी चाहिये। क्योंकि जगत्, मानव तथा वेदों की उत्पत्ति के बाद सूक्ष्ममात्राओं का वर्णन संगत नहीं हो सकता।

(धर्मोत्पत्ति विषय की भूमिका)

[१। १०८ से १४४ तक]

सदाचार की प्रधानता—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः॥ १०८॥ (५५)

उपरोक्त श्लोक देकर स्वामी जी ने निम्न अर्थ दिया है—

"कहने सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने का फल यही है कि जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करना। इसलिये धर्माचार में सदा युक्त रहे।" (स० प्र० तृतीय समु०)

"जो सत्य-भाषणादि कर्मों का आचरण करना है वही वेद और स्मृति में कहा हुआ आचार है।" (स० प्र० दशम समु०)

(श्रुत्युक्तः च स्मार्त एव) वेदों में कहा हुआ और स्मृतियों में भी कहा हुआ जो (आचारः) आचरण है (परमः धर्मः) वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है (तस्मात्) इसीलिए (आत्मवान् द्विजः) आत्मोन्नति चाहने वाले द्विज को चाहिए कि वह (अस्मिन्) इस श्रेष्ठाचरण में (सदा नित्यं युक्तः स्यात्) सदा निरन्तर प्रयत्न-शील रहे ॥ १०८ ॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ॥ १०९ ॥ (५६)

(आचारात् विच्युतः विप्रः) जो धर्माचरण से रहित [द्विज] है वह (वेदफलं न अश्नुते) वेद प्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता, और जो (आचारेण तु संयुक्तः) विद्या पढ़ के धर्माचरण करता है, वही (सम्पूर्णफलभाक् भवेत्) सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है ॥ १०९ ॥

(स० प्र० तृतीय समु०)

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥ (५७)

(एवम्) इस प्रकार (आचारतः) धर्माचरण से ही (धर्मस्य) धर्म की (गतिम्) प्राप्ति एवं अभिवृद्धि (दृष्ट्वा) देखकर (मुनयः) मुनियों ने (सर्वस्य तपसः परं मूलम्) सब तपस्याओं का श्रेष्ठ मूल आधार (आचारम्) धर्माचरण को ही (जगृहुः) स्वीकार किया है ॥ ११० ॥

धर्मोत्पत्ति विषय

(१ । १२० से १४४ तक)

धर्म का सामान्य लक्षण—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥१२०॥ [२।१] (५८)

(अद्वेषरागिभिः सद्भिः विद्वद्भिः नित्यं सेवितः) जिसका सेवन रागद्वेष-रहित [श्रेष्ठ] विद्वान् लोग नित्य करें (यो हृदयेन अभ्यनुज्ञातः धर्मः) जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से सत्य कर्त्तव्य जाने वही धर्म माननीय और करणीय है ।❀ ❀ (तं निबोधत) उसे सुनो ॥ १२० ॥ (स० प्र० दशम समु०)

"जिसको सत्पुरुष रागद्वेषरहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं, उसी पूर्वोक्त को तुम लोग धर्म जानो ।" (सं० वि० गृहा० प्र०)

सकामता-अकामता विवेचन—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥१२१॥ [२।२](५९)

(हि) क्योंकि (इह) इस संसार में (कामात्मता) अत्यन्त कामात्मता (च) और (अकामता) निष्कामता (प्रशस्ता न अस्ति) श्रेष्ठ नहीं है। (वेदाधिगमः च वैदिकः कर्मयोगः) वेदार्थज्ञान और वेदोक्त कर्म (काम्यः) ये सब कामना से ही सिद्ध होते हैं॥ १२१ ॥' (स० प्र० दशम समु०)

"अत्यन्त कामातुरता और निष्कामता किसी के लिए भी श्रेष्ठ नहीं, क्योंकि जो कामना न करे तो वेदों का ज्ञान और वेदविहित कर्मादि उत्तम कर्म किसी से न हो सकें, इसलिये।" (स० प्र० तृतीय समु०)

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥१२२॥ [२।३](६०)

(जो कोई कहे कि मैं निष्काम हूँ वा हो जाऊं तो वह कभी नहीं हो सकता, क्योंकि–) (सर्वे) सब काम (यज्ञाः व्रतानि यमधर्माः) यज्ञ, सत्य-भाषणादि व्रत, यम-नियमरूपी धर्म आदि (संकल्पजाः) संकल्प ही से बनते हैं [(कामः वै) निश्चय से प्रत्येक कामना (संकल्पमूलः) संकल्पमूलक होती है अर्थात् संकल्प से ही प्रत्येक इच्छा उत्पन्न होती है] ॥ १२२ ॥

(स० प्र० दशम समु०)

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥१२३॥[२।४](६१)

(हि) क्योंकि (यत् यत् किंचित् कुरुते) जो-जो हस्त, पाद, नेत्र, मन आदि चलाये जाते हैं (तत्तत् कामस्य चेष्टितम्) वे सब कामना ही से चलते हैं। (अकामस्य) जो इच्छा न हो तो* (काचिद्क्रिया) आंख का खोलना और मींचना भी (न दृश्यते) नहीं हो सकता ॥ १२३ ॥ (स० प्र० दशम समु०)

* (इह) इस संसार में (कर्हिचित्) कभी भी।

"मनुष्यों को निश्चय करना चाहिये कि निष्काम पुरुष में नेत्र का संकोच, विकास का होना भी सर्वथा असम्भव है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो-जो कुछ भी करता है वह-वह चेष्टा कामना के विना नहीं है।"

(स० प्र० तृतीय समु०)

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।
यथा संकल्पितांश्चैव सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ १२४ ॥[२।५] (६२)

(तेषु) उन वेदोक्त कर्मों में (सम्यक् वर्त्तमानः) अच्छी प्रकार संलग्न व्यक्ति (अमरलोकतां गच्छति) मोक्ष को प्राप्त करता है (च) और (यथा संकल्पितान् सर्वान् एव कामान्) संकल्प की गई सभी कामनाओं को (समश्नुते) भलीभांति प्राप्त करता है ॥ १२४ ॥

धर्म के मूल—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥१२५॥[२।६](६३)

(अखिलः वेदः) सम्पूर्ण वेद (च) और (तद्विदां स्मृतिशीले) उन वेद-वेत्ताओं द्वारा प्रणीत स्मृतियां तथा उनका श्रेष्ठ स्वभाव (च) और (साधूनां आचारः) सत्पुरुषों का आचरण (च) तथा (आत्मनः तुष्टिः एव) अपनी आत्मा की प्रसन्नता का होना अर्थात् जिस कर्म के करने में भय, शंका, लज्जा न होकर आत्मा को प्रसन्नता अनुभव हो, (धर्ममूलम्) ये धर्म के मूल हैं ॥ १२५ ॥

"इसलिये सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषिप्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार और जिस-जिस कर्म में अपना आत्मा प्रसन्न रहे अर्थात् भय, शंका, लज्जा जिसमें न हो उन कर्मों का सेवन करना उचित है। देखो! जब कोई मिथ्याभाषण चोरी आदि की इच्छा करता है तभी उसके आत्मा में भय, शंका, लज्जा, अवश्य उत्पन्न होती है। इसलिये वह कर्म करने योग्य नहीं है।"

(स० प्र० दशम समु०)

"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः। (पू० मी० १।१।२)
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वैशे० १।१।२)

(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है वह अधर्म कहाता है परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है उससे अलग होता है, इससे धर्म का ही जो आचरण करना है वही मनुष्यों में मनुष्यपन है। (यतोऽभ्यु०) जिसमें आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है।"

(ऋ० भू० सृष्टिविद्या विषय)

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥१२७॥ [२।८] (६४)

(विद्वान्) [विद्वान्] मनुष्य (इदं सर्वं तु निखिलं समवेक्ष्य) सम्पूर्ण

शास्त्र वेद, सत्पुरुषों का आचार, अपने आत्मा के अविरुद्ध विचार कर [१ । १२५ में वर्णित] (ज्ञानचक्षुषा) ज्ञान नेत्र करके (श्रुतिप्रामाण्यतः) श्रुति-प्रमाण से (स्वधर्मे वै निविशेत) स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे ।। १२७ ।।

(स० प्र० दशम समु०)

श्रुति-स्मृति-प्रोक्त धर्म के अनुष्ठान का पात्र—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ।। १२८ ।। [२।६](६५)

(हि) क्योंकि (मानवः) जो मनुष्य (श्रुति-स्मृति-उदितम्) वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त (धर्मम् अनुतिष्ठन्) धर्म का अनुष्ठान करता है, वह (इह कीर्त्ति च प्रेत्य अनुत्तमं सुखम्) इस लोक में कीर्त्ति और मरके सर्वोत्तम सुख को (अवाप्नोति) प्राप्त होता है ।। १२८ ।। (स० प्र० दशम समु०)

श्रुति और स्मृति का परिचय—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यांधर्मो हि निर्बभौ ।।१२६।।[२।१०](६६)

(श्रुतिः तु वेदः विज्ञेयः) श्रुति को वेद समझना चाहिए, और (धर्म-शास्त्रं तु वै स्मृतिः) धर्मशास्त्र को स्मृति समझना चाहिए (ते) ये श्रुति और स्मृति शास्त्र (सर्वार्थेषु) सब बातों में (अमीमांस्ये) तर्क न करने योग्य हैं अर्थात् इनमें प्रतिपादित बातों का तर्क के द्वारा खण्डन नहीं करना चाहिए (हि) क्योंकि (ताभ्याम्) उन दोनों प्रकार के शास्त्रों से (धर्मः) धर्म (निर्बभौ) उत्पन्न हुआ है ।। १२६ ।।

नास्तिक-निन्दा—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ।।१३०।।[२।११](६७)

(यः द्विजः) जो कोई मनुष्य (ते मूले) वेद और वेदानुकूल आप्तग्रन्थों का (हेतुशास्त्राश्रयात्) तर्कशास्त्र के आश्रय से (अवमन्येत) अपमान करे (सः) उसको (साधुभिः बहिष्कार्यः) श्रेष्ठ लोग जातिबाह्य कर दें, क्योंकि (वेद-निन्दकः) जो वेद की निन्दा करता है (नास्तिकः) वही नास्तिक कहाता है ।।

(स० प्र० दशम समु०)

"जो तर्कशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता अर्थात् वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है, श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है

कि उसको अपनी मण्डली से निकाल के बाहर करदेवें क्योंकि वह वेदनिन्दक होने से नास्तिक है।" (द० ल० वे० ख० ४८)

"जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषों के किये शास्त्रों का अपमान करता है, उस वेदनिन्दक नास्तिक को जाति, पंक्ति और देश से वाह्य कर देना चाहिये।" (स० प्र० तृतीय समु०)

धर्म के चार लक्षण—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥१३१॥[२।१२](६८)

(वेदः स्मृतिः सदाचारः) वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचार (च) और (स्वस्य आत्मनः प्रियम्), अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण (एतत् चतुर्विधं धर्मस्य लक्षणम्) ये चार धर्म के ॐ लक्षण हैं अर्थात् इन्हीं से धर्म लक्षित होता है ॥ १३१ ॥ (स० प्र० दशम समु०)

ॐ (साक्षात्) सुस्पष्ट या प्रत्यक्ष कराने वाले।

"श्रुति—वेद, स्मृति—वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है जैसा कि सत्यभाषण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्माधर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपातरहित न्याय सत्य का ग्रहण असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार है, उसी का नाम धर्म और इस के विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को अधर्म कहते हैं (स० प्र० तृतीय समु०)

धर्मजिज्ञासा में श्रुति परमप्रमाण—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥१३२॥ [२।१३] (६९)

(अर्थकामेषु असक्तानाम्) जो पुरुष अर्थ—सुवर्णादि रत्न और काम—स्त्रीसेवनादि में नहीं फंसते हैं (धर्मज्ञानं विधीयते) उन्हीं को धर्म का ज्ञान होता है (धर्मं जिज्ञासमानानाम्) जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें, वे (प्रमाणं परमं श्रुतिः) वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें, क्योंकि धर्म-अधर्म का निश्चय विना वेद के ठीक-ठीक नहीं होता ॥ १३२ ॥ (स० प्र० तृतीय समु०)

"परन्तु जो द्रव्यों के लोभ और काम अर्थात् विषय-सेवा में फंसा हुआ नहीं होता, उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें उनके लिए वेद ही परम प्रमाण है।" (स० प्र० दशम समु०)

"धर्मशास्त्र में कहा है कि—'अर्थ और काम में जो आसक्त नहीं, उनके लिये धर्मज्ञान का विधान है।" (द० ल० वे० ख० ६)

"जो मनुष्य सांसारिक विषयों में फंसे हुए हैं उन्हें धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। धर्म के जिज्ञासुओं के लिए परम प्रमाण वेद है।"
(पू० प्र० १०५)

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥१३३॥[२।१४](७०)

(यत्र तु श्रुतिद्वैधं स्यात्) जहाँ कहीं श्रुति=वेद में दो पृथक् आदेश विहित हों (तत्र) ऐसे स्थलों पर (उभौ) वे दोनों ही विधान (धर्मौ स्मृतौ) धर्म माने हैं (मनीषिभिः) मनीषी विद्वानों ने (तौ उभौ अपि सम्यक् धर्मौ उक्तौ) उन दोनों को ही श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया है ॥ १३३ ॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥१३४॥ [२।१५] (७१)

(उदिते) सूर्योदय के समय (च अनुदिते) और सूर्यास्त के समय (तथा) तथा (समयाध्युषिते) किसी भी निर्धारित किये समय में [जैसे विशेष उपलक्ष्य में आयोजित यज्ञ] (सर्वथा यज्ञ वर्तते) सब स्थितियों में यज्ञ कर लेना चाहिए (इति इयं वैदिकी श्रुतिः) इस प्रकार ये तीनों ही वैदिक वचन हैं अर्थात् ये तीनों ही धर्म हैं ॥ १३४ ॥

ब्रह्मावर्त्त देश की सीमा—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १३६ ॥ [२।१७] (७२)

(सरस्वती-दृषद्वत्योः देवनद्योः) सिन्धु और ब्रह्मपुत्र इन देवनदियों के (यत् अन्तरम्) जो अन्तराल=मध्यवर्तीका भाग है, (तं देवनिर्मितं देशम्) उस विद्वानों द्वारा बसाये देश को (ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते) 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता है ॥ १३६ ॥

महर्षि दयानन्द ने ब्रह्मावर्त्त के स्थान पर आर्यावर्त्त पाठ ग्रहण करके निम्न व्याख्या दी है—

(देवनद्योः सरस्वती-दृषद्वत्योः) देवनदियों—देव अर्थात् विद्वानों के संग से युक्त सरस्वती और दृषद्वती नदियों, उनमें सरस्वती नदी जो पश्चिम प्रान्त में वर्तमान उत्तर देश से दक्षिण समुद्र में गिरती है, जिसे सिन्धु नदी कहा जाता है और पूर्व में जो उत्तर से दक्षिण देशीय समुद्र में गिरती है, जिसे ब्रह्मपुत्र के

नाम से जानते हैं; इन दोनों नदियों के (यत् अन्तरम्) बीच का (देवनिर्मितम्) विद्वानों=आर्यों द्वारा सुशोभित (देशम्) स्थान (आर्यावर्त्तं प्रचक्षते) 'आर्यावर्त्त' कहलाता है। (ऋ० दयां० पत्र वि० पृ० ६९—हिन्दी में अनूदित)

उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में इस श्लोक के साथ १४१ वां या २।२२ वां श्लोक संयुक्त करके उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विंध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र तथा सरस्वती पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती जो नेपाल के पूर्वभाग पहाड़ से निकल के बंगाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण के समुद्र में मिली है जिसको ब्रह्मपुत्रा कहते हैं और जो उत्तर के पहाड़ों से निकल के दक्षिण के समुद्र की खाडी में अटक मिली है। हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं उन सबको आर्यावर्त्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त्त कहाया है।"

(स० प्र० अष्टम समु०)

सदाचार का लक्षण—

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥१३७॥[२।१८](७३)

(तस्मिन् देशे) उस ब्रह्मावर्त देश में (वर्णानां सान्तरालानां पारम्पर्यक्रमागतः य आचारः) वर्णों और आश्रमों का जो परम्परागत आचार है। (सः) वह (सदाचार उच्यते) सदाचार कहलाता है ॥ १३७ ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥१३९॥ [२।२०](७४)

(एतत् देशप्रसूतस्य) इसी ब्रह्मावर्त देश [१३६—१३७] में उत्पन्न हुए (अग्रजन्मनः सकाशात्) ब्राह्मणों—विद्वानों के सान्निध्य से (पृथिव्यां सर्वमानवाः) पृथिवी पर रहने वाले सब मनुष्य (स्वं स्वं) अपने-अपने (चरित्रं शिक्षेरन्) आचरण तथा कर्त्तव्यों की शिक्षा ग्रहण करें ॥ १३९ ॥

महर्षि दयानन्द ने उसी आर्यावर्त के पाठ के अनुसार अर्थ किया है—

"इसी आर्यावर्त्त में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों अर्थात् विद्वानों से भूगोल के सब मनुष्य—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि सब अपने अपने योग्य विद्या चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें।" (स० प्र० एकादश समु०)

मध्यदेश—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ।। १४० ।। [२।२१](७५)

(हिमवद्-विन्ध्ययोः मध्यं) [उत्तर में] हिमालय पर्वत [और दक्षिण में] विन्ध्याचल के मध्यवर्ती (यत् प्राक् विनशनादपि) तथा पूर्व में विनशन—सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से लेकर (च) और (प्रयागात् प्रत्यग्) प्रयाग से पश्चिम तक (मध्यदेशः प्रकीर्तितः) 'मध्यदेश' कहा जाता है ।। १४० ।।

आर्यावर्त्त—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ।।१४१।। [२।२२] (७६)

(आ-समुद्रात्तु वै पूर्वात्) जो पूर्वसमुद्र से लेकर (आ-समुद्रात्तु पश्चिमात्) पश्चिम समुद्रपर्यन्त विद्यमान (तयोः एव गिर्योः अन्तरम्) उत्तर में हिमालय और दक्षिण में स्थित विन्ध्याचल का मध्यवर्ती देश है, उसे (बुधाः आर्यावर्त्तं विदुः) विद्वान् आर्यावर्त्त कहते हैं ।। १४१ ।।

(ऋ० दया० पत्र० विज्ञा० ९९ हिन्दीअनुवाद)

यज्ञिय और म्लेच्छ देश—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ।।१४२।। [२।२३] (७७)

(यत्र) जिस देश में (स्वभावतः कृष्णसारः चरति) स्वाभाविक रूप से ही काला मृग विचरण करता है (सः यज्ञियः देशः ज्ञेयः) वह यज्ञों से सुशोभित अथवा पवित्र देश जानना चाहिए, (अतः परः म्लेच्छदेशः) इससे भिन्न 'म्लेच्छ देश' है ।। १४२ ।।

"जो आर्यावर्त्त देश से भिन्न देश हैं वे दस्यु देश और म्लेच्छ देश कहाते हैं ।" (स० प्र० अष्टम समु)

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः ।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः ।।१४३।। [२।२४](७८)

(द्विजातयः) द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य लोग (एतान् प्रयत्नः संश्रयेरन्) इन उपर्युक्त देशों में प्रयत्न करके आश्रय ग्रहण करें—निवास करें (वृत्तिकर्शितः शूद्रः तु) जीविका के अभाव से पीड़ित शूद्र तो (यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेत्) जिस किसी देश में जाकर निवास कर सकता है ।। १४३ ।।

विषय समाप्ति कथन एवं अग्रिम विषय का संकेत—

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।
सम्भवश्चास्य सर्वस्य, वर्णधर्मान्निबोधत ॥१४४॥ [२।२५] (७९)

(एषा) यह (धर्मस्य योनिः) धर्म की उत्पत्ति [१२० से १३९ तक (अथवा २।१ से २।२०)] (च) और (अस्य सर्वस्य संभवः) इस समस्त जगत् की उत्पत्ति (समासेन) संक्षेप से (वः प्रकीर्तिता) आप लोगों को कही, अब (वर्ण-धर्मान्) वर्णधर्मों को (निबोधत) सुनो—॥ १४४ ॥

धर्मोत्पत्ति-प्रकरण में

प्रक्षिप्त श्लोकों का सकारण विवरण

१।१११ से ११८ तक आठ श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त हैं—ये श्लोक पूर्वापर प्रसङ्ग से विरुद्ध हैं। १।११० श्लोक में धर्म का प्रकरण है और १।१२० श्लोक में भी धर्म का वर्णन है। इस धर्मविषय के मध्य में इन प्रक्षिप्त श्लोकों में वर्णित विषय-सूची सर्वथा ही असंगत है। और यह विषयसूची यदि मौलिक होती, तो ग्रन्थ के प्रारम्भ में होनी चाहिये थी अथवा ग्रन्थ के अन्त में। किसी विषय के बीच में विषय-सूची की कोई संगति नहीं है। ये श्लोक मनु की शैली से भी विरुद्ध हैं। मनु प्रत्येक विषय का प्रारम्भ तथा अन्त में निर्देश अवश्य करते हैं, और प्रवचन-शैली में तो यह अत्यावश्यक होता है, परन्तु इन आठ श्लोकों में वर्ण्य विषय का संकेत नहीं है। और १।११८ श्लोक में 'शास्त्रेऽस्मिन् उक्तवान् मनुः' कहकर तो प्रक्षेप्ता ने इनके प्रक्षिप्त होने का प्रबल प्रमाण ही दे दिया है। मनु का नाम लेकर किसी और ने ही इन्हें बनाया है और 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग भी मनु का नहीं है। क्योंकि प्रवचन को जब ग्रन्थरूप में संकलित किया गया, तदनन्तर ही 'शास्त्र' शब्द का मनुस्मृति के लिए व्यवहार सम्भव हो सकता है, स्वयं मनु द्वारा नहीं। और इन श्लोकों में जो विषय-सूची दिखाई गई है, उसके अनुसार मनुस्मृति में विषयों का वर्णन भी नहीं है। जैसे—१।११८ श्लोक में कहे कुलधर्म, व पाखण्डियों के धर्मों का कहीं मनुस्मृति में वर्णन ही नहीं है। और जिस विषय को मनु ने 'कार्यविनिर्णय' शब्द से कहा है, उसको इस विषयसूची में पृथक्-पृथक् 'साक्षिप्रश्नविधान', 'स्त्रीपुरुषधर्म', विभावधर्म आदि नामों से उल्लेख किया है और मनुस्मृति में वर्णित अनेक मुख्य विषयों-(प्रथम अध्याय में धर्मोत्पत्ति, १२वें अध्याय में त्रिविध गतियाँ, धर्मनिश्चयविधि आदि) का इस विषयसूची में अभाव ही है। अतः यह विषयसूची असंगत, शैली-विरुद्ध, तथा सर्वथा अपूर्ण है।

१।११९ वाँ श्लोक निम्न आधार पर प्रक्षिप्त है—इस श्लोक में कहा है कि 'जैसे मनु ने इस शास्त्र को मेरे से कहा, वैसे ही मेरे से तुम सब जानो'। इससे स्पष्ट है कि यह श्लोक मनु से भिन्न किसी दूसरे ने बनाकर मिलाया है। और यह श्लोक भी पूर्वापर-संगति से मेल नहीं खाता। १।११० श्लोक में तथा १।१२० श्लोक में धर्म का वर्णन है, यह श्लोक उस प्रकरण से विरुद्ध है और इस श्लोक में 'शास्त्र' अब्द का प्रयोग भी इसे अर्वाचीन सिद्ध कर रहा है। और महर्षियों ने (१।१—४) श्लोकों में मनु जी से धर्मविषयक जिज्ञासा की थी, अतः उत्तर भी मनु जी का ही होना चाहिए। किन्तु इस श्लोक में किसी अन्य भृगु आदि को ही प्रवचन करने वाला माना है, अतः पूर्व श्लोकों में कहे वचनों से यह विरुद्ध है।

१।१२६/२।७ वाँ श्लोक निम्न-आधार पर प्रक्षिप्त है–ऋषियों की जिज्ञासा पर मनु ने मनुस्मृति का प्रवचन किया था, अतः मनुप्रोक्त प्रवचन ही था, ग्रन्थनिबद्ध नहीं। बाद में इसको ग्रन्थ रूप में निबद्ध किया गया और इसे 'शास्त्र' रूप में मान्यता प्राप्त हुई। किन्तु इस श्लोक में मनु की प्रशंसा की गई है कि जो कुछ मनु ने कहा है, वह सब वेद में कहा है। ऐसी प्रशंसा मनु सदृश आप्त पुरुष स्वयं नहीं कर सकता। अतः 'मनुना परिकीर्त्तितः' इस श्लोक के शब्दों से ही इस श्लोक का परवर्ती होना तथा प्रक्षिप्त होना सिद्ध होता है। और जिस समय अनेक स्मृतियों की रचना हो गई थी उस समय मनुस्मृति को अधिक प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये किसी ने यह श्लोक बनाकर मिलाया है।

और यह श्लोक पूर्वापर-प्रसंग से भी संगत नहीं है। १।१२५ श्लोक में धर्म के मूलकारण बताये गये हैं और १।१२७ में उन को ग्रहण करके धर्माचरण के लिए कहा गया है। इनके मध्य में मन का प्रशंसात्मक यह श्लोक प्रकरण को भंग करने से सर्वथा ही प्रक्षिप्त है।

१।१३५/२।१६ वाँ श्लोक निम्न आधार पर प्रक्षिप्त है—यह श्लोक पूर्वापर-प्रकरण से विरुद्ध है। प्रकरण धर्म के लक्षण तथा धर्म के विवेचन का चल रहा है। १।१३६–१३७ में १।१३२–१३४ में कहे धर्मलक्षण सदाचार की व्याख्या में ब्रह्मावर्त्त या आर्यावर्त्त की सीमा का निर्धारण करके सदाचार का स्वरूप बताया गया है। इनके बीच में इस शास्त्र में अधिकार-अनधिकार की चर्चा अप्राकरणिक होने से असंगत है। यदि यह श्लोक मौलिक होता, तो इसका स्थान ग्रन्थ के अन्त में अथवा प्रारम्भ में होना चाहिये था। और इस श्लोक में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग भी इसे परवर्त्ती ही सिद्ध कर रहा है। क्योंकि मनुस्मृति के लिये शास्त्र शब्द का प्रयोग अर्वाचीन है।

१।१३८/२।१९ वाँ श्लोक निम्न आधार पर प्रक्षिप्त है—इस श्लोक में ब्रह्मावर्त्त-देश के समीप ब्रह्मर्षि-देश के प्रदेशों को बताया गया है। प्रथम तो ये कुरुक्षेत्रादि प्रदेश ब्रह्मावर्त्त के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। सरस्वती=सिन्धु और दृषद्वती=ब्रह्मपुत्रा नदियों के बीच के प्रदेश को ब्रह्मावर्त्त माना गया है। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल तथा सूरसेनक प्रदेश इस प्रदेश के अन्तर्गत ही होने से ब्रह्मर्षि देश कोई भिन्न नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि १।१३७ श्लोक में सदाचार का वर्णन है और १।१३९ श्लोक में भी उसी विषय का वर्णन है, अतः इनके मध्य में यह श्लोक प्रकरण-विरुद्ध है। क्योंकि यहां भिन्न-भिन्न देशों की सीमाओं का प्रकरण नहीं है। ब्रह्मावर्त्त की सीमा सदाचार को बताने के लिये प्रसंगवश कही है। सदाचार को बताने के लिये ब्रह्मर्षि-देश के विषय में कुछ कहा भी नहीं है।

और यदि इस श्लोक को मौलिक माना जाये, तो १।१३९ वें श्लोक का सम्बन्ध भी १।१३८ से समीप होने से होगा। फिर पृथिवी के सब मनुष्य ब्रह्मर्षि-देश में उत्पन्न विद्वान् ब्राह्मणों से अपने अपने चरित्र की शिक्षा लेवें, यह अर्थ होगा। इस अर्थ में दो दोष होंगे प्रथम तो ब्रह्मावर्त्त देश की सीमा बताना निरर्थक होगा और ब्रह्मावर्त्त देश विशाल है, ब्रह्मर्षि देश उसी का भाग है, तो सदाचार की सीमा बहुत ही संकुचित हो जायेगी। अतः यह श्लोक असंगत ही है।

बूलरादि पाश्चात्य-विद्वानों तथा टीकाकारों का अन्यथा व्याख्यान

(१) बूलरादि पाश्चात्य विद्वानों ने १।१२१ से १२४ तक [२।२ से २।५ तक] चार श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है। इस विषय में उनकी युक्ति यह है कि यहां सकामता और निष्कामता का कोई प्रसंग नहीं है। परन्तु उनका यह कथन अविवेकपूर्ण तथा असंगत है। क्योंकि मनु ने धर्म के विषय में वेद को सर्वाधिक प्रमाण माना है और मनु ने उसी का संकेत १।१२० श्लोक में यह कहकर दिया है कि विद्वानों ने जिस वेदोक्त धर्म को हृदय से स्वीकार किया है, उसे जानो। किन्तु वेदोक्त-धर्म को जानने की (१।१२१ में) कामना अवश्य करनी पड़ेगी, बिना कामना के अथवा संकल्प के (१।१२२ में) यज्ञ, व्रत, यम, नियम आदि सार्वभौम शाश्वत धर्मों की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। मनुष्य जो भी धर्माचरणादि कोई कर्म करता है, वह (१।१२३) बिना कामना के नहीं होती। उन काम्य व्रत, यम, नियमादि धर्मों में वर्त्तमान रहता हुआ (१।१२४) मनुष्य अमरलोक=मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। वेदोक्त धर्म की

ही कामना क्यों की जाये ? इसका उत्तर १ । १२५ श्लोक में 'वेदोऽखिलो धर्म-मूलम्' कहकर दिया गया है। अतः यह समस्त प्रकरण परस्पर शृंखला से सुसम्बद्ध तथा संगत है।

(२) १।१३७/२।१८ इस श्लोक की व्याख्या में टीकाकारों ने 'सान्तराला-नाम्' पद की व्याख्या 'वर्णसंकर वा संकीर्ण-जातियां' की है, यह व्याख्या अशुद्ध तथा मनु के आशय के विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकती। इस श्लोक में ब्रह्मावर्त्त देश में परम्परा से प्रचलित आचार को सदाचार कहा है। । यदि 'वर्णसंकर या संकीर्ण जाति' अर्थ किया जाये, तो प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि क्या वर्णसंकरों में प्रचलित परम्परा को 'सदाचार' माना जा सकता है ? जब कि मनु ने १०।५–७३ श्लोकों में वर्णसंकरों के आचार को निन्द्य आचार कहा है। और १०।२४ श्लोक में तो यह लिखा है—

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ।
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥

अर्थात् वर्णों के व्यभिचार से, अगम्या स्त्री के गमन करने से, और अपने कर्त्तव्यों के त्याग से 'वर्णसंकर' हो जाते हैं। क्या इनके आचरण को मनु सदा-चार मान सकते हैं ? अतः मनु के आशय के अनुसार और शाब्दिक अर्थ को भी ध्यान में रखकर 'आश्रम' अर्थ ही यहाँ करना चाहिए। मनुस्मृति में भी वर्णों तथा आश्रमों के ही धर्मों का वर्णन किया है। अतः प्रतिपादित धर्मों से भिन्न विषय का ग्रहण 'सदाचार' के लक्षण में कैसे हो सकता है ? १ । २ श्लोक में 'अन्तरप्रभवाणाम्' और इस श्लोक के 'सान्तरालानाम्' पद का 'आश्रम' अर्थ ही सुसंगत होता है। एतदर्थ (१।२) श्लोक की टिप्पणी भी द्रष्टव्य है।

(३) प्रायः सभी टीकाकरों ने मनु की शैली को न समझकर परम्परा से प्राप्त त्रुटित अध्यायों के क्रम को ही अपनाया है। मनु की शैली यह है कि वे विषय के प्रारम्भ तथा अन्त में विषय का निर्देश अवश्य करते हैं। उस पर टीकाकारों ने विचार नहीं किया। इसीलिये प्रथम अध्याय में वर्ण्य धर्मविषय के श्लोकों को दूसरे अध्याय में रखकर प्रथम अध्याय की समाप्ति १।११९ श्लोक पर सबने मानी है। और इसी विषय के २५ श्लोकों का समावेश दूसरे अध्याय में मान लिया है। यह अध्यायों के विभाग में स्पष्ट दोष है कि विषय के अपूर्ण रहने पर ही अध्याय को समाप्त कर दिया। मनु ने विषय की समाप्ति का निर्देश इस प्रकार किया है—

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्त्तिता ।
सम्भवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ (१।१४४/२।२५)

इससे मनु का आशय स्पष्ट है कि मनु विषय की समाप्ति यहां पर

मानते हैं और अगले अध्याय के विषय का निर्देश भी कर रहे हैं। और ये श्लोक इतने अधिक भी नहीं हैं, जो प्रथमाध्याय के साथ न आ सकें। अधिक लम्बे विषय को तो एक से अधिक अध्यायों में विभाजित करना उचित भी लगता है।

और महर्षि-मनु ने विषयों का विभाग बहुत ही सूझ बूझ से किया है। प्रथमा अध्याय में दो ही परस्पर सम्बद्ध विषय रक्खे हैं। सृष्टि-उत्पत्ति तथा धर्मोत्पत्ति। जगदुत्पत्ति के बाद ही धर्मोत्पत्ति आवश्यक है। अतः धर्मोत्पत्ति विषय को खण्डित करके दो अध्यायों में रखना सुसंगत नहीं है। धर्म-विषयक श्लोकों को इकट्ठा न रखकर अध्याय की समाप्ति अपूर्ण ही रहती है। अतः द्वितीयाध्याय में उपलब्ध २५ श्लोकों को प्रथमाध्याय के साथ ही रखने से मनु की विषय-वर्णन शैली सुव्यवस्थित हो जाती है। मनु के प्रवचनों के अध्याय के विभाजन में यह महती भूल पाठक को खटकती रहती थी। इस लिये यहां विषयानुसार ही अध्यायों का विभाग रखा गया है।

इति महर्षिमनुप्रोक्तायां प्राकृतभाष्यसमन्वितायां प्रक्षिप्तश्लोक-समीक्षा-विभूषितायाञ्च मनुस्मृतौ जगदुत्पत्तिधर्मोपत्त्यात्मकः प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीयोऽध्यायः

[प्रक्षिप्तश्लोकसमीक्षा-प्राकृतभाष्याभ्यां सहितः]

(संस्कार एवं ब्रह्मचर्याश्रम-विषय)

[संस्कार २ । १ से २ । ४३ तक]

संस्कारों का विधान—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ १ ॥ [२६] (१)

इसी से सब मनुष्यों को उचित है कि (वैदिकैः पुण्यैः कर्मभिः) वेदोक्त पुण्यरूप कर्मों से (द्विजन्मनाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने सन्तानों का (निषेकादिः शरीरसंस्कारः कार्यः) निषेकादि [=गर्भाधान आदि] संस्कार करें, जो (इह च प्रेत्य पावनः) इस जन्म वा परजन्म में पवित्र करने वाला है ॥१ ॥

(स० प्र० दशम समु०)

संस्कारों से दोषों का विनाश—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २ ॥ [२७] (२)

(गार्भैः) गर्भकालीन=गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन (होमैः) हवनयुक्त संस्कारों से (जातकर्म-चौल-मौञ्जीनिबन्धनैः) जातकर्म [२ । ४] मुण्डन [२ । १०], मेखलाबन्धन अर्थात् यज्ञोपवीत [२ । ११-४३] संस्कारों से (द्विजानाम्) द्विजातियों के (बैजिकम्) बीजसम्बन्धी=परम्परागत पैतृक-मातृक संस्कारों से उत्पन्न होने वाले (च) और (गार्भिकम्) गर्भकाल में होने वाला (एनः) संस्कारजन्य दोष (अपमृज्यते) दूर हो जाता है अर्थात् इन संस्कारों के करने से बालकों के बुरे संस्कार मिटकर विशुद्ध संस्कार बनते हैं ॥ २ ॥

जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकता है और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं । अतः संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है । (सं० वि० भूमिका)

वेदाध्ययन, यज्ञ, व्रत आदि की महिमा—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ ३ ॥ [२८] (३)

"(स्वाध्यायेन) सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने (व्रतैः) ब्रह्मचर्यसत्यभाषणादि नियम पालने (होमैः) अग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग और सब विद्याओं का दान देने (त्रैविद्येन) वेदस्थ कर्म-उपासना-ज्ञान विद्या के ग्रहण (इज्यया) पक्षेष्टयादि करने (सुतैः) सुसन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव और अतिथियों के सेवन रूप पंचमहायज्ञ और (यज्ञैः) अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्याविज्ञानादि यज्ञों के सेवन से (इयं तनुः) इस शरीर को (ब्राह्मीः क्रियते) ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधार रूप ब्राह्मण का शरीर बनता है। इतने साधनों के बिना ब्राह्मण-शरीर नहीं बन सकता ॥ ३ ॥ (स० प्र० तृतीय समु०)

"(स्वाध्याय) पढ़ने-पढ़ाने (जपैः) विचार करने-कराने, नानाविध होम के अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारणसहित पढ़ने-पढ़ाने (इज्यया) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, पूर्वोक्त विधिपूर्वक (सुतैः) धर्म से सन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैः च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का संग-सत्कार, सत्यभाषण परोपकारादि सत्कर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़ के दुराचार छोड़ श्रेष्ठाचार में वर्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मीः) ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है।" (स० प्र० चतुर्थसमु०)

"मनुष्यों को चाहिए कि धर्म से वेदादिशास्त्रों का पठन-पाठन, गायत्री-प्रणवादि का अर्थ विचार, ध्यान, अग्निहोत्रादि होम, कर्म-उपासना-ज्ञानविद्या, पौर्णमास्यादि इष्टि, पंचमहायज्ञ, अग्निष्टोम आदि, न्याय से राज्यपालन, सत्योपदेश और योगाभ्यासादि उत्तम कर्मों से इस शरीर को (ब्राह्मीः) अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी करें।" (सं० वि० गृहाश्रम प्रकरण)

जातकर्म संस्कार का विधान—

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ ४ ॥ [२९] (४)

(पुंसः) बालक का (जातकर्म) जातकर्म संस्कार (नाभिवर्धनात् प्राक्) नाभि काटने से पहले (विधीयते) किया जाता है (च) और इस संस्कार में (अस्य) इस बालक को (मन्त्रवत्) मन्त्रोच्चारणपूर्वक (हिरण्य-मधु-सर्पिषाम्)

सुवर्ण, शहद और घी अर्थात् सोने की शलाका से (असमान मात्रा में) शहद और घी को (प्राशनम्) चटाया जाता है ॥ ४ ॥

"तत्पश्चात् घी और मधु दोनों बराबर मिलाके, जो प्रथम सोने की शलाका कर रखी हो उससे बालक की जीभ पर "ओ३म्" यह अक्षर लिखके ....घी और मधु को उस सोने की शलाका से बालक को नीचे लिखे मन्त्र से थोड़ा-थोड़ा चटाये।" (सं० वि० जातकर्म संस्कार)

नामकरण संस्कार—

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ५ ॥ [३०] (५)

(अस्य) इस बालक का (नामधेयं तु) नामकरण संस्कार (दशम्यां वा द्वादश्याम्) दसवें या बारहवें दिन (वा) अथवा (पुण्ये तिथौ मुहूर्त्ते) किसी भी शुभ=सुविधाजनक या हितकर तिथि या मुहूर्त्त में (वा) अथवा (गुणान्विते नक्षत्रे) शुभगुण वाले नक्षत्र में (कारयेत्) करावे ॥ ५ ॥

नामकरण का काल—"जिस दिन जन्म हो, उस दिन से लेके १० दिन छोड़ ११ में या १०१ एक सौ एक में अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो नाम धरे"। (सं० वि० नामकरणसंस्कार)

वर्णानुसार नामकरण—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ६ ॥ [३१] (६)

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ७ ॥ [३२] (७)

(ब्राह्मणस्य मङ्गल्यं स्यात्) ब्राह्मण का नाम शुभत्व-श्रेष्ठत्व भावबोधक शब्दों से [जैसे—ब्रह्मा, विष्णु, मनु, शिव, अग्नि, वायु, रवि, आदि] रखना चाहिए (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय का (बलान्वितम्) बल-पराक्रम-भावबोधक शब्दों से [जैसे—इन्द्र, भीष्म, भीम, सुयोधन, नरेश, जयेन्द्र, युधिष्ठिर आदि] (वैश्यस्य धनसंयुक्तम्) वैश्य का धन-ऐश्वर्यभाव-बोधक शब्दों से [जैसे—वसुमान्, वित्तेश, विश्वम्भर, धनेश आदि], और (शूद्रस्य तु) शूद्र का (जुगुप्सितम्) रक्षणीय, पालनीय भावबोधक शब्दों से [जैसे—सुदास अकिंचन] नाम रखना चाहिए। अर्थात् व्यक्ति के वर्णसापेक्ष गुणों के आधार पर नामकरण करना चाहिए ॥ ६ ॥

[अथवा] (ब्राह्मणस्य शर्मवद् स्यात्) ब्राह्मण का नाम शर्मवत्=कल्याण, शुभ, सौभाग्य, सुख, आनन्द, प्रसन्नता भाव वाले शब्दों को जोड़कर

रखना चाहिए। जैसे—देवशर्मा, विश्वामित्र, वेदव्रत, धर्मदत्त, आदि] (राज्ञः (रक्षासमन्वितम्) क्षत्रिय का नाम रक्षक भाव वाले शब्दों को जोड़कर रखना चाहिए [जैसे—महीपाल, धनञ्जय, धृतराष्ट्र, देववर्मा, कृतवर्मा] (वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तम्) वैश्य का नाम पुष्टि-समृद्धि द्योतक शब्दों को जोड़कर [जैसे—धनगुप्त, धनपाल, वसुदेव, रत्नदेव, वसुगुप्त] और (शूद्रस्य) शूद्र का नाम (प्रेष्यसंयुतम्) सेवकत्व भाववाले शब्दों को जोड़कर रखना चाहिए [जैसे—देवदास, धर्मदास, महीदास]।

अर्थात् व्यक्तियों के वर्णगत कार्यों के आधार पर नामकरण करना चाहिए ॥ ७ ॥

"जैसे ब्राह्मण का नाम विष्णुशर्मा, क्षत्रिय का विष्णुवर्मा, वैश्य का विष्णुगुप्त और शूद्र का विष्णुदास, इस प्रकार नाम रखना चाहिये। जो कोई द्विज शूद्र बनना चाहे तो अपना नाम दास शब्दान्त धर ले।"

(ऋ० प० वि० ३४९)

स्त्रियों के नामकरण—

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मंगल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ८ ॥ [३३] (८)

(स्त्रीणाम्) स्त्रियों का नाम (सुखोद्यम्) सुखपूर्वक उच्चारण किया जा सकने वाला (अक्रूरम्) कोमल अर्थ और वर्णों वाला (विस्पष्टार्थम्) स्पष्ट अर्थ वाला (मनोहरम्) मन को आकर्षक लगने वाला (मंगल्यम्) मंगल अर्थात् शुभ-भावयुक्त (दीर्घवर्णान्तम्) अन्त में दीर्घ अक्षर वाला, तथा (आशीर्वाद+अभिधान-वत्) आशीर्वाद का वाचक होना चाहिये [जैसे—कल्याणी, वन्दना, विद्यावती, कमला, विमला सुषमा,, सुशीला, भाग्यवती, सावित्री, यशोदा, प्रियंवदा आदि] ॥ ८ ॥

"जो स्त्री हो तो एक, तीन वा पांच अक्षर का नाम रखे श्री, ह्री, यशोदा, सुखदा, सौभाग्यप्रदा इत्यादि।" (सं० वि० नामकरण सं०)

निष्क्रमण और अन्नप्राशन संस्कार—

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥ ९ ॥ [३४] (९)

(शिशोः) बालक का (गृहात् निष्क्रमणं) घर से बाहर निकालने का 'निष्क्रमण संस्कार' (चतुर्थे मासि) चौथे मास में (कर्त्तव्यम्) करना चाहिए और (अन्नप्राशनम्) अन्न खिलाने का संस्कार—'अन्नप्राशन' (षष्ठे मासि) छठे मास

में (वा) अथवा (यत् कुले इष्टं मंगलम्) जब भी परिवार को अभीष्ट अथवा शुभ समय प्रतीत हो, तब करे ॥ ९ ॥

"निष्क्रमण संस्कार उस को कहते हैं कि जो बालक को घर से जहां का वायुस्थान शुद्ध हो वहां भ्रमण कराना होता है। उसका समय जब अच्छा देखे तभी बालक को बाहर घुमावें अथवा चौथे मास में तो आवश्य भ्रमण करावें।"
(सं० वि० निष्क्रमण संस्कार)

"छठे महीने बालक को अन्नप्राशन करावे।" (सं० वि० अन्नप्राशन सं०)

मुण्डन संस्कार—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ १० ॥ [३५] (१०)

(सर्वेषां एव द्विजातीनां चूडाकर्म) सभी द्विजातियों=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का चूडाकर्म=मुंडन संस्कार (धर्मतः) धर्मानुसार (श्रुतिचोदनात्) वेद की आज्ञानुसार (प्रथमे+अब्दे) प्रथम वर्ष में (वा तृतीये) अथवा तीसरे वर्ष में [अपनी सुविधानुसार] (कर्त्तव्यम्) कराना चाहिए ॥ १० ॥

"यह चूडाकर्म अर्थात् मुंडन बालक के जन्म से तीसरे वर्ष वा एक वर्ष में करना। उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्दमंगल हो उस दिन यह संस्कार करें।" (सं० वि० चूडाकर्म संस्कार)

उपनयन संस्कार का सामान्य समय—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ११ ॥ [३६] (११)

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण के बालक का (उपनायनम्) उपनयन=गुरु के पास पहुंचाना अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार (गर्भाष्टमे अब्दे) गर्भ से आठवें वर्ष में (कुर्वीत) करे, (राज्ञः) क्षत्रिय के बालक का (गर्भात्+एकादशे) गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में, और (विशः) वैश्य के बालक का (गर्भात् द्वादशे) गर्भ से बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिए ॥ ११ ॥

"अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। १। गर्भाष्टमे वा। २। एकादशे क्षत्रियम्। ३। द्वादशे वैश्यम्। ४। (आश्वलायन गृह्यसूत्र)—जिस दिन जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो उससे आठवें वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय के और जन्म वा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें॥" (सं० वि० उपनयन संस्कार)

उपनयन का विशेष समय—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥१२॥ [३७] (१२)

इह (ब्रह्मवर्चस-कामस्य) इस संसार में जिसको ब्रह्मतेज=ईश्वर-विद्या आदि का शीघ्र एवं अधिक प्राप्ति की कामना हो, ऐसे (विप्रस्य) ब्राह्मण के बालक का उपनयन संस्कार (पञ्चमे कार्यम्) पांचवे वर्ष में ही करा देना चाहिये (इह बलार्थिनः राज्ञः) इस संसार में बल-पराक्रम आदि क्षत्रिय-विद्याओं की शीघ्र एवं अधिक प्राप्ति की कामना वाले क्षत्रिय बालक का (षष्ठे) छठे वर्ष में और (इह+अर्थिनः वैश्यस्य) इस संसार में धन-ऐश्वर्य की शीघ्र एवं अधिक कामना वाले वैश्य के बालक का (अष्टमे) आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार करा देना चाहिये ॥ १२ ॥

"जिसको शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पांचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें।" (सं० वि० उपनयन संस्कार)

उपनयन की अन्तिम अवधि—

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥१३॥ [३८] (१३)

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण के बालक का (आ-षोडशात्) सोलह वर्ष तक (क्षत्र-बन्धोः) क्षत्रिय के बालक का (आ-द्वाविंशात्) बाईस वर्ष तक (विशः) वैश्य के बालक का (आ-चतुर्विंशतेः) चौबीस वर्ष तक (सावित्री न+अतिवर्तते) यज्ञोपवीत का अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इन अवस्थाओं तक उपनयन संस्कार कराया जा सकता है ॥ १३ ॥

"आषोडशात् ब्राह्मणस्यानतीतकालः ॥ ५ ॥ आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य ॥६॥ (आश्व० गृह्यसूत्र)—ब्राह्मण के सोलह, क्षत्रिय के बाईस और वैश्य के बालक का चौबीस वर्ष से पूर्व-पूर्व यज्ञोपवीत होना चाहिये।"
(सं० वि० उपनयन संस्कार)

व्रात्य-लक्षण—

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ १४ ॥ [३९] (१४)

(यथाकालं असंस्कृताः) निर्धारित समय पर संस्कार न होने पर (अतः+

ऊर्ध्वम्) इस [२ । १३] अवस्था के बीतने के बाद (एते त्रयः+अपि) ये तीनों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] ही (सावित्रीपतिताः) सावित्री-यज्ञोपवीत से पतित हुए (आर्यविगर्हिताः) आर्य= श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा निन्दित (व्रात्याः भवन्ति) 'व्रात्या' [= व्रत से पतित] हो जाते हैं ॥ १४ ॥

"अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ६ ॥ (आश्व० गृ० सू०)
यदि पूर्वोक्त काल में इनका यज्ञोपवीत न हो तो वे पतित मानें जावें ।"
(सं० वि० उपनयन संस्कार)

व्रात्यों के साथ सम्बन्धविच्छेद का कथन—

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह ॥ १५ ॥ (४०)(१५)

(ब्राह्मणः) द्विजों में कोई भी व्यक्ति (एतैः अपूतैः सह) इन पतितों के साथ (कर्हिचित् आपद्यपि हि) कभी आपत्काल में भी (विधिवत्) नियमपूर्वक (ब्राह्मान्) विद्याध्ययन-अध्यापन सम्बन्धी (च) और (यौनान्) विवाह-सम्बन्धी (सम्बन्धान्) व्यवहारों को (न आचरेत्) न करे ॥ १५ ॥

वर्णानुसार मृगचर्मों का विधान—

कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥१६॥ [४१] (१६)

(ब्रह्मचारिणः) तीनों वर्णों के ब्रह्मचारी (आनुपूर्व्येण) क्रमशः (कार्ष्ण-रौरववास्तानि चर्माणि) [आसन के रूप में बिछाने के लिए] काला मृग, रुरुमृग और बकरे के चर्म को (च) तथा [ओढ़ने-पहरने के लिए] (शाण-क्षौम आविकानि) सन, रेशम और ऊन के वस्त्रों को (वसीरन्) धारण करें ॥१६ ॥

"एक-एक मृगचर्म उनके बैठने के लिए···देना चाहिए ।"
(सं० वि० वेदारम्भः संस्कार)

मेखला-विधान—

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥१७॥ [४२] (१७)

(विप्रस्य) ब्राह्मण की (मेखला) मेखला=तगड़ी (मौञ्जी) 'मूंज' नामक घास की बनी होनी चाहिए (क्षत्रियस्य मौर्वी ज्या) क्षत्रिय की धनुष की डोरी जिससे बनती है उस 'मुरा' नामक घास की, और (वैश्यस्य) वैश्य की (शण-तान्तवी) सन के सूत की बनी हो जो (त्रिवृत् समा) तीन लड़ों को तिगुनी करके (श्लक्ष्णा कार्या) चिकनी बनानी चाहिए ॥ १७ ॥

"आचार्य सुन्दर चिकनी प्रथम बनाके रखी हुई मेखला को बालक के कटि में बांधे"

"ब्राह्मण की मुंज वा दर्भ की, क्षत्रिय की धनुष संज्ञक तृण या वल्कल की और वैश्य की ऊन वा शण की मेखला होनी चाहिए।" (सं० वि० वेदा० सं०)

मेखलाओं का विकल्प—

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ १८ ॥ [४३] (१८)

(मुञ्जालाभे तु) यदि उपर्युक्त मूंज आदि न मिलें तो [क्रमशः] (कुश-अश्मन्तक-बल्वजैः) कुश, अश्मन्तक और बल्वज नामक घासों से (तिवृता) उसी प्रकार तिगुनी=तीन बटों वाली करके (एकेन ग्रन्थिना) फिर एक गांठ लगाकर (वा) अथवा (त्रिभिः पञ्चभिः एव) तीन या पांच गांठ लगाकर (कर्त्तव्याः) मेखलाएं बनानी चाहिएं ॥ १८ ॥

वर्णानुसार यज्ञोपवीत—

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥ १९ ॥ [४४] (१९)

(विप्रस्य) ब्राह्मण का (उपवीतम्) यज्ञोपवीत (कार्पासम्) कपास का बना (राज्ञः) क्षत्रिय का (शणसूत्रमयम्) सन के सूत का बना, और (वैश्यस्य) वैश्य का (आविक सौत्रिकम्) भेड़ की ऊन के सूत का बना (स्यात्) होना चाहिए, वह उपवीत (ऊर्ध्ववृतम्) दाहिनी ओर से बायीं ओर का बटा हुआ, और (त्रिवृत्) तीन लड़ों से तिगुना करके बना हुआ होना चाहिए ॥ १९ ॥

वर्णानुसार दण्डविधान—

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥२०॥ [४५] (२०)

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (बैल्व-पालाशौ) बेल या ढाक के (क्षत्रियः) क्षत्रिय (वाट-खादिरौ) बड़ या खैर के (वैश्यः) वैश्य (पैलव+औदुम्बरौ) पीपल या गूलर के (दण्डान्) दण्डों को (धर्मतः) नियमानुसार (अर्हन्ति) धारण कर सकते हैं ॥ २० ॥

दण्डों का वर्णानुसार मान—

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥ २१ ॥ [४६] (२१)

(प्रमाणतः) माप के अनुसार (ब्राह्मणस्य दण्डः) ब्राह्मण का दण्ड (केशान्तिकः) केशों तक (राज्ञः ललाटसंमितः) क्षत्रिय का माथे तक (कार्यः) बनाना चाहिए (तु) और (विशः) वैश्य का (नासान्तिकः स्यात्) नाक तक ऊंचा होना चाहिये ॥ २१ ॥

दण्डों का स्वरूप—

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥ २२ ॥ [४७] (२२)

(ते तु सर्वे) वे सब दण्ड (ऋजवः) सीधे (अव्रणाः) बिना गाँठ वाले (सौम्यदर्शनाः) देखने में प्रिय लगने वाले (नृणां अनुद्वेगकराः) मनुष्यों को बुरे या डरावने न लगने वाले (सत्वचः) छालसहित और (अनग्निदूषिताः) बिना जले-झुलसे (स्युः) होने चाहियें ॥ २२ ॥

२० से २२ तक के श्लोकों का भाव—

"ब्राह्मण के बालक को खड़ा रख के भूमि से ललाट के केशों तक पलाश वा बिल्ववृक्ष का, क्षत्रिय को वट वा खदिर का ललाट भ्रू तक, वैश्य को पीलू वा गूलर वृक्ष का नासिका के अग्रभाग तक दंड प्रमाण और वे दंड चिकने, सूधे हों, अग्नि में जले, टेढ़े कीड़ों के खाये हुये नहीं हों।" (सं० वि० वेदा० सं०)

भिक्षा-विधान—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि ॥२३॥ [४८] (२३)

(ईप्सितं दण्डं प्रतिगृह्य) ऊपर वर्णित दण्डों में अपने योग्य दण्ड धारण करके (च) और (भास्करं उपस्थाय) सूर्य के सामने खड़ा होके (अग्निं प्रदक्षिणं परीत्य) यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा—परिक्रमा करके (यथाविधि) विधि-अनुसार [२।२४-२५] (भैक्षं चरेत्) भिक्षा मांगे ॥ २३ ॥

भिक्षा-विधि—

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ २४ ॥ [४९] (२४)

(उपनीतः द्विजोत्तमः) यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित ब्राह्मण (भवत्पूर्वं भैक्षं चरेत्) 'भवत्' शब्द को वाक्य के पहले जोड़कर, जैसे— 'भवान् भिक्षां ददातु' या 'भवती भिक्षां देहि' भिक्षा मांगे (तु) और (राजन्यः) क्षत्रिय (भवत्-मध्यम्) 'भवत्' शब्द को वाक्य के बीच में लगाकर, जैसे—'भिक्षां भवान् ददातु'

या 'भिक्षां भवती देहि' भिक्षा मांगे (तु) और (वैश्यः) वैश्य (भवत्+उत्तरम्) 'भवत्' शब्द को वाक्य के बाद में जोड़कर, जैसे—'भिक्षां ददातु भवान्' या भिक्षां देहि भवती' भिक्षा मांगे ॥ २४ ॥

"ब्राह्मण का बालक यदि पुरुष से भिक्षा मांगे तो 'भवान् भिक्षां ददातु' और जो स्त्री से मांगे तो 'भवती भिक्षां ददातु' और क्षत्रिय का बालक 'भिक्षां भवान् ददातु और स्त्री से 'भिक्षां भवती ददातु', वैश्य का बालक 'भिक्षां ददातु भवान् और भिक्षां ददातु भवती' ऐसा वाक्य बोले।" (सं० वि० वेदारम्भ संस्कार)

भिक्षा किन से मांगे—

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥२५॥ [५०](२५)

[इन ब्रह्मचारियों को] (मातरं वा स्वसारम्) माता या बहन से (वा मातुः निजां भगिनीम्) अथवा माता की सगी बहन अर्थात् सगी मौसी से (च) और (या एनं न अवमानयेत्) जो इस भिक्षार्थी का अपमान न करे उससे (प्रथमं भिक्षां भिक्षेत) पहले भिक्षा मांगे ॥ २५ ॥

श्लोक २३ और २५ का भाव—

"तत्पश्चात् ब्रह्मचारी यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में खड़ा रह के माता-पिता, बहन-भाई, मामा-मौसी, चाचा आदि से लेके जो भिक्षा देने में नकार न करें उनसे भिक्षा मांगे।" (सं० वि० वेदारम्भ संस्कार)

गुरु को भिक्षा-समर्पण—

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ २६ ॥ [५१] (२६)

(तत् भैक्षं तु समाहृत्य) उस भिक्षा को आवश्यकतानुसार लाकर (यावत्+अन्नम्) जितनी भी वह भोज्य सामग्री हो उसे (अमायया) निष्कपट भाव से (गुरवे निवेद्य) गुरु को निवेदित करके (शुचिः) स्वच्छ होकर (प्राङ्मुखः) पूर्व की ओर मुख करके (आचम्य) आचमन करके (अश्नीयात्) खाये।

"जितनी भिक्षा मिले वह आचार्य के आगे धर देनी, तत्पश्चात् आचार्य उसमें से कुछ थोड़ा सा अन्न लेके वह सब भिक्षा बालक को दे देवे और वह बालक उस भिक्षा को अपने भोजन के लिए रख छोड़े।" (सं० वि० वेदा० सं०)

भोजन से पूर्व आचमन विधान—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥२८॥ [५३](२७)

(द्विजः) द्विज (नित्यम्) प्रतिदिन (उपस्पृश्य) आचमन करके (समाहितः) एकाग्र मन से (अन्नं अद्यात्) भोजन खाये (च) और (भुक्त्वा) खाकर (सम्यक्) अच्छी प्रकार (उपस्पृशेत्) कुल्ला करे (च) तथा (अद्भिः खानि संस्पृशेत्) जल से नाक, कान "नेत्र आदि इन्द्रियों का स्पर्श करे ।। २८ ।।

"नित्य.........भोजन के पूर्व शुद्ध जल का आचमन किया कर ।"

(सं० वि० वेदारम्भ संस्कार)

भोजन-सम्बन्धी विधान—

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ।। २९ ।। [५४] (२८)

(नित्यम्) प्रतिदिन खाते हुए (अशनं पूजयेत्) भोज्य पदार्थ का आदर करे (च) और (एतद्) + अकुत्सयन् + अद्यात्) इसे निन्दाभाव से रहित होकर अर्थात् श्रद्धापूर्वक खाये (दृष्ट्वा हृष्येत् च प्रसीदेत्) भोजन को देखकर मन में उल्लास और प्रसन्नता की भावना करे (च) तथा (सर्वशः प्रतिनन्देत्) उसकी सर्वदा प्रशंसा करे ।। २९ ।।

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ।। ३० ।। [५५] (२९)

(हि) क्योंकि (पूजितं अशनम्) आदरपूर्वक किया हुआ भोजन (नित्यं बलं च ऊर्जं यच्छति) सदैव बल और स्फूर्ति देने वाला होता है (तु तत्+ अपूजितम्) और वह अनादर पूर्वक (भुक्तम्) खाया हुआ (इदम् उभयं नाशयेत्) इन दोनों बल और स्फूर्ति को नष्ट करता है ।। ३० ।।

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ।।३१।। [५६] (३०)

(न कस्यचित्+उच्छिष्टं दद्यात्) न किसी को अपना झूठा पदार्थ दे (च) और (तथा एव न अन्तरा अद्यात्) उसी प्रकार न किसी भोजन के बीच आप खावे (न चैव अति-अशनं कुर्यात्) न अधिक भोजन करे (च) और (न उच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्) न भोजन किये पश्चात् हाथ मुख धोये विना कहीं इधर-इधर जाय ।। ३१ ।। (स० प्र० दशम समु०)

"(प्रश्न) एक साथ खाने में कुछ दोष है वा नहीं ?

(उत्तर) दोष है। क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती। जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का रुधिर बिगड़ जाता है। वैसे दूसरें के साथ खाने में भी कुछ बिगाड़ ही होता है; सुधार नहीं।

(प्रश्न) "गुरोरुच्छिष्टभोजनम्" इस वाक्य का क्या अर्थ होगा ?

(उत्तर) इसका यह अर्थ है कि गुरु के भोजन किये पश्चात् जो पृथक् अन्न शुद्ध स्थित है उसका भोजन करना अर्थात् गुरु को प्रथम भोजन कराके शिष्य को भोजन करना चाहिये।

(प्रश्न) जो उच्छिष्ट मात्र का निषेध है तो मक्खियों का उच्छिष्ट सहत, बछड़े का उच्छिष्ट दूध और एक ग्रास खाने के पश्चात् अपना भी उच्छिष्ट होता है; पुनः उनको भी न खाना चाहिये।

(उत्तर) सहत कथन मात्र ही उच्छिष्ट होता है परन्तु वह बहुत ही औषधियों का सार ग्राह्य; बछड़ा अपनी माँ के बाहर का दूध पीता है भीतर के दूध को नहीं पी सकता इसलिये उच्छिष्ट नहीं परन्तु बछड़े के पिये पश्चात् जल से उसकी माँ का स्तन धोकर शुद्ध पात्र में दोहना चाहिये। और अपना उच्छिष्ट अपने को विकारकारक नहीं होता। देखो ! स्वभाव से यह सिद्ध है कि किसी का उच्छिष्ट का कोई भी न खाये। जैसे अपने मुख, नाक, आँख, उपस्थ और गुह्येन्द्रियों के मलमूत्रादि के स्पर्श में घृणा नहीं होती वैसे किसी दूसरे के मलमूत्र के स्पर्श में होती है। इससे यह सिद्ध होता हैं कि यह व्यवहार सृष्टिक्रम से विपरीत नहीं है। इसलिये मनुष्यमात्र को उचित है कि किसी का उच्छिष्ट अर्थात् झूठा न खाये।

(प्रश्न) भला स्त्री-पुरुष भी परस्पर उच्छिष्ट न खावें ?

(उत्तर) नहीं क्योंकि उनके भी शरीरों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है"।

(स० प्र० दशमसमुल्लास)

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ ३२॥ [५७] (३१)

(अतिभोजनम्) अधिक भोजन करना (अनारोग्यम्) स्वास्थ्यनाशक (अनायुष्यम्) आयुनाशक (अस्वर्ग्यम्) सुख-नाशक (अपुण्यम्) अहितकर (च) और (लोकविद्विष्टम्) लोगों द्वारा निन्दित माना गया है (तस्मात्) इसलिए (तत्) उस अधिक भोजन करने को (परिवर्जयेत्) छोड़ देवे॥ ३२॥

आचमन-विधि—

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन॥ ३३॥ [५८] (३२)

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः॥ ३४॥ [५९] (३३)

(विप्रः) द्विज (नित्यकालम्) प्रतिदिन आचमन करते समय (ब्राह्मेण तीर्थेन) ब्राह्मतीर्थं [हाथ के अंगूठे के मूलभाग का स्थान, जिससे कलाई भाग की ओर से आचमन ग्रहण किया जाता है] से (वा) अथवा (काय-त्रैदशिकाभ्याम्) कायतीर्थ=प्राजापत्य [कनिष्ठा अंगुली के मूलभाग के पास का स्थान] से या त्रैदशिक=देवतीर्थ [—उंगलियों के अग्रभाग का स्थान] से (उपस्पृशेत्) आचमन करे, (पित्र्येण कदाचन न) पितृतीर्थ [अंगूठे तथा तर्जनी के मध्य का स्थान] से कभी आचमन न करे ।। ३३ ।।

(अंगुष्ठमूलस्य तले) अंगूठे के मूलभाग के नीचे का स्थान (ब्राह्मं तीर्थं-प्रचक्षते) ब्राह्मतीर्थं (अंगुलिमूले कालम्) अंगुलियों के मूलभाग का स्थान काय-तीर्थ (अग्रे दैवम्) अंगुलियों के अग्रभाग का स्थान दैवतीर्थं, और (तयोः अधः पित्र्यम्) अंगुलियों और अंगूठे का मध्यवर्ती मूलभाग का स्थान पितृतीर्थ (प्रचक्षते) कहा जाता है ।। ३४ ।।

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ।। ३५ ।। [६०] (३४)

(पूर्वं अपः त्रिः+आचामेत्) पहले जल का तीन बार आचमन करे (ततः) उसके बाद (मुखं द्विः प्रमृज्यात्) मुख को दो बार धोये (च) और (खानि एव) नाक, कान, नेत्र आदि इन्द्रियों को (आत्मानं च शिरः एव) हृदय और सिर को भी (अद्भिः) जल से (स्पृशेत्) स्पर्श करे ।। ३५ ।।

केशान्त संस्कार—

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ।। ४० ।। [६५] (३५)

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण के (षोडशे) सोलहवें (राजन्यबन्धोः द्वाविंशे) क्षत्रिय के बाईसवें (वैश्यस्य) वैश्य के (ततः द्व्यधिके) [उससे दो वर्ष अधिक अर्थात्] चौबीसवें (वर्षे) वर्ष में (केशान्तः विधीयते) केशान्त कर्म=क्षौर-मुंडन हो जाना चाहिए ।। ४० ।।

"अर्थात् इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रखके अन्य डाढ़ी, मूंछ और शिर के बाल सदा मुंडवाते रहना चाहिए अर्थात् पुनः कभी न रखना और जो शीतप्रधान देश हो तो कामचार है, चाहे जितना केश रखे। और जो अति उष्ण देश हो तो सब शिखा सहित छेदन करा देना चाहिये, क्योंकि शिर में बाल रहने से उष्णता अधिक होती है और उससे बुद्धि कम हो जाती है। डाढ़ी मूँछ रखने से भोजन पान अच्छे प्रकार नहीं होता और उच्छिष्ट भी बालों में रह जाता है।" (स० प्र० दशम समु०)

उपनयन विधि की समाप्ति एवं ब्रह्मचारी के कर्मों का कथन—

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः, कर्मयोगं निबोधत ॥ ४३ ॥ [६८] (३६)

(एषः) यह [२ । ११—४२] (द्विजातीनां उत्पत्तिव्यञ्जकः) द्विजातियों के द्वितीय जन्म को प्रकट करने वाली अर्थात् मनुष्यों को द्विज=ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बनाने वाली (पुण्यः) कल्याण-कारक (औपनायनिकः विधिः) उपनयन संस्कार की विधि (प्रोक्तः) कही, (कर्मयोगं निबोधत) [अब उपनयन में दीक्षित होने वाले द्विज ब्रह्मचारियों के] कर्त्तव्यों को सुनो—॥४३॥

(ब्रह्मचारियों के कर्त्तव्य)

[२ । ४४ से २ । २२४ तक]

ब्रह्मचारी को शिक्षा—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥ ४४ ॥ [६९] (३७)

(गुरुः) गुरु (शिष्यं उपनीय) शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके (आदितः) पहले (शौचम्) शुद्धि=स्वच्छता से रहने की विधि (आचारम्) सदाचरण और सद्व्यवहार (अग्निकार्यम्) अग्निहोत्र की विधि (संध्योपासनम् एव) और सन्ध्या-उपासना की विधि (शिक्षयेत्) सिखाये ॥ ४४ ॥

"संन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या अर्थात् भलीभांति जिसमें परमेश्वर का ध्यान करते हैं अथवा जिसमें परमेश्वर का ध्यान किया जाये, वह 'संध्या' है ।

इस प्रकार, गायत्री मन्त्र का उपदेश करके संध्योपासन को जो स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रिया हैं, सिखलावें । प्रथम स्नान, इसलिए है कि जिससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि और आरोग्य आदि होते हैं ।"

(स० प्र० तृतीय समु०)

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ च गुरोः सदा ।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥४६॥ [७१] (३८)

(ब्रह्मारम्भे च अवसाने) वेद पढ़ने के आरम्भ और समाप्ति पर (सदा गुरोः पादौ ग्राह्यौ) सदैव गुरु के दोनों चरणों को छूकर नमस्कार करे [२।४७] (हस्तौ संहत्य अध्येयम्) दोनों हाथ जोड़कर [गुरु से] पढ़ना चाहिये; (सः हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः) इसी [हाथ जोड़ने] को 'ब्रह्माञ्जलि' कहा जाता है ॥ ४६॥

गुरु के अभिवादन की विधि—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो, दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ ४७ ॥ [७२] (३६)

(गुरोः उपसंग्रहणम्) गुरु के चरणों का स्पर्श (व्यत्यस्तपाणिना कार्यम्) हाथों को अदल-बदल करके [प्रणामकर्त्ता का बायां हाथ नीचे रहकर गुरु के बायें पैर का स्पर्श करे और उसके ऊपर से दायां हाथ दायें चरण को स्पर्श करे] करना चाहिए (सव्येन सव्यः) बायें हाथ से बांया चरण (च) और (दक्षिणेन दक्षिणः) दायें हाथ से दायां पैर का (स्प्रष्टव्यः) स्पर्श करना चाहिए ॥ ४७ ॥

अध्ययन के आरंभ एवं समाप्ति की विधि—

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥४८॥ [७३] (४०)

(गुरुः नित्यकालम्) गुरु सदैव पढ़ाते समय (अतन्द्रितः) आलस्यरहित होकर (अध्येष्यमाणं तु) पढ़ने वाले शिष्य को ('भो अधीष्व' इति ब्रूयात्) 'हे शिष्य पढ़ो' इस प्रकार कहे (च) और ('विरामः अस्तु' इति आरमेत्) 'अब बस करो' ऐसा कहकर पढ़ाना समाप्त करे ॥ ४८ ॥

वेदाध्ययन के आद्यन्त में प्रणवोच्चारण का विधान—

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं, पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ४९ ॥ [७४] (४१)

(सर्वदा ब्रह्मणः आदौ च अन्ते प्रणवं कुर्यात्) [शिष्य] सदैव वेद पढ़ने के आरम्भ और अन्त में 'ओ३म्' का उच्चारण करे (पूर्वम् अनोंकृतम्) आरंभ में ओंकार का उच्चारण न करने से (स्रवति) पढ़ा हुआ बिखर जाता है [=भलीभांति ग्रहण नहीं हो पाता] (च) और (पुरस्तात् विशीर्यति) बाद में 'ओ३म्' का उच्चारण न करने से पढ़ा हुआ स्थिर नहीं रहता ॥ ४९ ॥

भावार्थ—'ओ३म्' का उच्चारण करने से यहां मनु का अभिप्राय ओंकारोच्चारण पूर्वक मन को एकाग्र या समाहित करने से है। अन्यत्र भी मनु ने संध्योपासन और अध्ययन से पूर्व समाहित या एकाग्रचित्त होने के लिए कहा है (२।७९)। यह बिल्कुल सही मनोवैज्ञानिक बात है कि यदि छात्र मन को एकाग्र करके अध्ययन नहीं करता तो उसे पूर्णज्ञान ग्रहण नहीं होता, कुछ बिखरता रहता है और कुछ-कुछ ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार अध्ययन के

पश्चात् भी एकाग्रता न रखने से पढ़ा हुआ स्थिर नहीं हो पाता। मन के एकदम अन्यत्र जाने से संचित ज्ञान में गौणता और भुलाव-सा आ जाता है, जबकि अध्ययन की समाप्ति पर अधीत विषय के प्रति एकाग्रता बनाये रखने से वह स्थिर हो जाता है। २।७४ में इसी भाव को दूसरे ढंग से स्पष्ट किया है कि यदि एक भी इन्द्रिय एकाग्रता को छोड़कर अपने विषय में लग जाती है तो उसके साथ ही व्यक्ति की बुद्धि भी उतनी कम होने लगती है।

'ओ३म्' एवं गायत्री की उत्पत्ति एवं फल—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ॥ ५१ ॥ [७६] (४२)

(प्रजापतिः) परमात्मा ने (अकारम् उकारं च मकारं) ओ३म् शब्द के 'अ' 'उ' और 'म्' अक्षरों को [अ+उ+म्=ओम्] (च) तथा (भूः भुवः स्वः इति) 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' गायत्री मन्त्र की इन तीन व्याहृतियों को (वेदत्रयात् निरदुहत्) तीनों वेदों से दुहकर साररूप में निकाला है ॥ ५१ ॥

"जो अकार उकार और मकार के योग से 'ओम्' यह अक्षर सिद्ध है, सो यह परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम है। जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं। जैसा पिता-पुत्र का प्रेम-सम्बन्ध है, वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है। इस एक नाम से ईश्वर के सब नामों का बोध होता है।"

(द० ल० प० पृ० २३२)

"अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं—

'भूरिति वै प्राणः' 'यः प्राणयति चराचरं जगत् सः भूः स्वयंभूरीश्वरः' —जो सब जगत् के जीवन का आधार प्राण से भी प्रिय और स्वयंभू है उस प्राण का वाचक होके 'भूः' परमेश्वर का नाम है। 'भुवरित्यपानः' 'यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः'—जो सब दुःखों से रहित जिसके संग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इसलिये उस परमेश्वर का नाम 'भुवः' है। 'स्वरिति व्यानः' 'यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः'—जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सबका धारण करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम 'स्वः' है।'

(स० प्र० तृतीय समु०)

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥५२॥ [७७] (४३)

(परमेष्ठी प्रजापतिः) सबसे महान् परमात्मा ने (तत् इति अस्याः सावित्र्याः ऋचः) 'तत्' इस पद से प्रारम्भ होने वाली सावित्री ऋचा [=गायत्री

मन्त्र] का (पादं पादम्) एक-एक पाद [प्रथम पाद है—'तत्सवितुर्वरेण्यम्', द्वितीय पाद—'भर्गो देवस्य धीमहि', तृतीय पाद—'धियो यो नः प्रचोदयात्'] (त्रिभ्यः एव तु वेदेभ्यः) तीनों वेदों से (अदूदुहत्) दुहकर साररूप में बनाया है ॥ ५२ ॥

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥५३॥ [७८] (४४)

(एतत् अक्षरम्) इस [ओम्] अक्षर को (और) (व्याहृतिपूर्विकाम्) 'भूः भुवः स्वः' इन व्याहृतियों सहित (एताम्) इस गायत्री ऋचा [=मन्त्र] को ["ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्, भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।" इस मन्त्र को] (वेदवित् विप्रः) वेदपाठी द्विज (सन्ध्ययोः जपन्) दोनों संध्याओं—प्रातः, सायंकाल में जपते हुए (वेदपुण्येन युज्यते) वेदाध्ययन के पुण्य से ही युक्त होता है ॥ ५३ ॥

"गायत्री मन्त्र और उसका अर्थ निम्न प्रकार है—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

धियो यो नः प्रचोदयात्। (यजुर्वेद ३६। ३॥ ऋग्वेद ३। ६२। १०॥

अर्थ—(ओ३म्) यह परमेश्वर का मुख्य नाम है, जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं (भूः) जो प्राण का भी प्राण (भुवः) सब दुःखों से छुड़ाने हारा (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति कराने हारा है, उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले, सूर्य आदि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय कराने हारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ, ग्रहण और ध्यान करने योग्य (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करने हारा, पवित्र, शुद्धस्वरूप है (तत्) उसको हम लोग (धीमहि) धारण करें (यः) यह जो परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण, कर्म, स्वभावों में (प्र, चोदयात्) प्रेरणा करे।" (सं० वि० वेदारम्भ संस्कार)

इन्द्रिय-संयम का विधान—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ६३॥ [८८] (४५)

(विद्वान् यन्ता वाजिनाम् इव) जैसे विद्वान्-सारथि घोड़ों को नियम में रखता है वैसे (विषयेषु अपहारिषु) मन और आत्मा को खोटे कामों में खैंचने वाले

विषयों में (विचरताम्) विचरती हुई (इन्द्रियाणां संयमे) इन्द्रियों के निग्रह में (यत्नम्) प्रयत्न (आतिष्ठेत्) सब प्रकार से करे ।।६३।। (स० प्र० तृतीय समु०)

"मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियाँ चित्त को हरण करने वाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं उनको रोकने में प्रयत्न करे, जैसे घोड़े को सारथि रोककर शुद्ध मार्ग में चलाता है; इस प्रकार इनको अपने वश में करके अधर्म-मार्ग से हटाकर धर्ममार्ग में सदा चलाया करें ।"

(स० प्र० दशम समु०)

"जैसे सारथि घोड़े को कुपथ में नहीं जाने देता वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी आकर्षण करनेवाले विषयों में जाते हुए इन्द्रियों के रोकने में सदा प्रयत्न किया करे" । (सं० वि० चतुर्थ समु०)

ग्यारह इन्द्रियाँ—

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।। ६४ ।। [८९] (४६)

(पूर्वे मनीषिणः) पहले मनीषि-विद्वानों ने (यानि एकादश इन्द्रियाणि आहुः) जो ग्यारह इन्द्रियां कहीं हैं (तानि यथावत् अनुपूर्वशः) उनको यथोचित क्रम से (सम्यक् प्रवक्ष्यामि) ठीक-ठीक कहता हूँ ।। ६४ ।।

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ।।६५।। [९०] (४७)

(श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा) कान, त्वचा, नेत्र, जीभ [(च) और (पञ्चमी) पांचवीं] (नासिका) नासिका [=नाक] (पायु-उपस्थं हस्त-पादम्) गुदा, उपस्थ (=मूत्र का मार्ग) हाथ, पग (वाक्) वाणी (दशमी स्मृता) ये दश इन्द्रिय इस शरीर में हैं ।। ६५ ।। (सं० वि० वेदारम्भ संस्कार)

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ।।६६।। [९१] (४८)

(एषाम्) इनमें ❀ (श्रोत्रादीनि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि) कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और (पायु-आदीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि) गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रिय, (प्रचक्षते) कहाती हैं ।। ६६ ।। (सं० वि० वेदारम्भ संस्कार)

❀ (अनुपूर्वशः) क्रमशः.........

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पंचकौ गणौ ।।६७।। [९२] (४९)

(एकादशं मनः) ग्यारहवां मन है +(स्वगुणेन उभयात्मकम्) वह अपने स्तुति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है (यस्मिन् जिते) जिस मन के जीतने में (एतौ) ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों ❀ (जितौ) जीत लिये जाते हैं ॥ ६७ ॥ (सं० वि० वेदारम्भ संस्कार)

+(ज्ञेयम्) ऐसा समझना चाहिए………। ❀ (पञ्चकौ गणौ) पांचों-पांचों इन्द्रियों के दोनों समुदाय अर्थात् दसों इन्द्रियां………।

इन्द्रिय-संयम से सिद्धि—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥६८॥ [९३] (५०)

(इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन) जीवात्मा इन्द्रियों के साथ मन लगाने से (असंशयम्) निःसंदेह (दोषम् ऋच्छति) दोषी हो जाता है (तु तानि सन्नियम्य एव) और उन पूर्वोक्त [२ । ६५–६७] दश इन्द्रियों को वश में करके ही (ततः) पश्चात् (सिद्धिं नियच्छति) सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ६८ ॥

"जीवात्मा इन्द्रियों के वश होके निश्चित बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है और जब इन्द्रियों को अपने वश करता है तभी सिद्धि को प्राप्त होता है ।"
(स० प्र० तृतीय समु०)

"जो इन्द्रिय के वश होकर विषयी, धर्म को छोड़कर अधर्म करने हारे अविद्वान् हैं, वे मनुष्यों में नीचजन्म बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं ।"
(स० प्र० नवम समु०)

"इन्द्रियों को विषयासक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चित दोष को प्राप्त होता है और जब इनको जीतकर धर्म में चलाता है तभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है ।" (स० प्र० दशम समु०)

विषयों के सेवन से इच्छाओं की वृद्धि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ६९ ॥ [९४] (५१)

यह निश्चय है कि (एव कृष्णवर्त्मा हविषा) जैसे अग्नि में इन्धन और घी डालने से (भूय एव अभिवर्धते) [अग्नि] बढ़ता जाता है (कामानां उपभोगेन कामः न जातु शाम्यति) वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता किन्तु बढ़ता ही जाता है । इसलिए मनुष्य को विषयासक्त कभी नहीं होना चाहिए ॥ ६९ ॥ (स० प्र० दशम समु०)

विषयी व्यक्ति की असिद्धि—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥७२॥ [९७] (५२)

(विप्रदुष्टभावस्य) जो अजितेन्द्रिय दुष्टाचारी पुरुष है, उस पुरुष के (वेदाः त्यागाः यज्ञाः नियमाः तपांसि) वेद पढ़ना, त्याग करना, (=संन्यास) लेना, यज्ञ (=अग्निहोत्रादि) करना, नियम (ब्रह्मचर्याश्रम) आदि करना, तप(=निन्दा-स्तुति, और हानि-लाभ आदि द्वन्द्व का सहन) करना आदि कर्म (कर्हिचित्) कदापि (सिद्धिं न गच्छन्ति) सिद्ध नहीं हो सकते ॥ ७२ ॥ (सं० वि० वेदा० सं०)

"जो दुष्टाचारी अजितेन्द्रिय पुरुष है उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।"

(स० प्र० तृतीय समु०)

"जो अजितेन्द्रिय पुरुष है उसको विप्रदुष्ट कहते हैं। उसके करने से न वेदज्ञान, न त्याग, न यज्ञ, न नियम और न धर्माचरणसिद्धि को प्राप्त होते हैं। किन्तु ये सब जितेन्द्रिय धार्मिक जन को सिद्ध होते हैं।"

(स० प्र० दशम समु०)

जितेन्द्रिय की परिभाषा—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥७३॥ [९८] (५३)

(जितेन्द्रियः स विज्ञेयः) जितेन्द्रिय उसको कहते हैं कि (यः नरः) जो [मनुष्य] (श्रुत्वा) स्तुति सुन के हर्ष और निन्दा सुनके शोक (स्पृष्ट्वा) अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुःख (दृष्ट्वा) सुन्दर रूप देख के प्रसन्न और दुष्टरूप देख के अप्रसन्न (भुक्त्वा) उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित (घ्रात्वा न हृष्यति ग्लायति) सुगन्ध में रुचि दुर्गन्ध में अरुचि न करता ॥ ७३ ॥ (स० प्र० दशम समु०)

एक भी इन्द्रिय के असंयम से प्रज्ञाहानि—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ ७४ ॥ [९९] (५४)

(सर्वेषाम् इन्द्रियाणां तु) सब इन्द्रियों में यदि (एकम् इन्द्रियं क्षरति) एक भी इन्द्रिय अपने विषय में आसक्त रहने लगती है तो (तेन) उसी के कारण (अस्य प्रज्ञा क्षरति) इस मनुष्य की बुद्धि ऐसे नष्ट होने लगती है

(एकादशं मनः) ग्यारहवां मन है +(स्वगुणेन उभयात्मकम्) वह अपने स्तुति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है (यस्मिन् जिते) जिस मन के जीतने में (एतौ) ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों ❀ (जितौ) जीत लिये जाते हैं ॥ ६७ ॥ (सं० वि० वेदारम्भ संस्कार)

+(ज्ञेयम्) ऐसा समझना चाहिए………। ❀ (पञ्चकौ गणौ) पांचों-पांचों इन्द्रियों के दोनों समुदाय अर्थात् दसों इन्द्रियां………।

इन्द्रिय-संयम से सिद्धि—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥६८॥ [९३] (५०)

(इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन) जीवात्मा इन्द्रियों के साथ मन लगाने से (असंशयम्) निःसंदेह (दोषम् ऋच्छति) दोषी हो जाता है (तु तानि सन्नियम्य एव) और उन पूर्वोक्त [२ । ६५–६७] दश इन्द्रियों को वश में करके ही (ततः) पश्चात् (सिद्धिं नियच्छति) सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ६८ ॥

"जीवात्मा इन्द्रियों के वश होके निश्चित बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है और जब इन्द्रियों को अपने वश करता है तभी सिद्धि को प्राप्त होता है ।"
(स० प्र० तृतीय समु०)

"जो इन्द्रिय के वश होकर विषयी, धर्म को छोड़कर अधर्म करने हारे अविद्वान् हैं, वे मनुष्यों में नीचजन्म बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं ।"
(स० प्र० नवम समु०)

"इन्द्रियों को विषयासक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चित दोष को प्राप्त होता है और जब इनको जीतकर धर्म में चलाता है तभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है ।" (स० प्र० दशम समु०)

विषयों के सेवन से इच्छाओं की वृद्धि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ६९ ॥ [९४] (५१)

यह निश्चय है कि (एव कृष्णवर्त्मा हविषा) जैसे अग्नि में इन्धन और घी डालने से (भूय एव अभिवर्धते) [अग्नि] बढ़ता जाता है (कामानां उपभोगेन कामः न जातु शाम्यति) वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता किन्तु बढ़ता ही जाता है । इसलिए मनुष्य को विषयासक्त कभी नहीं होना चाहिए ॥ ६९ ॥ (स० प्र० दशम समु०)

विषयी व्यक्ति की असिद्धि—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥७२॥ [९७] (५२)

(विप्रदुष्टभावस्य) जो अजितेन्द्रिय दुष्टाचारी पुरुष है, उस पुरुष के (वेदाः त्यागाः यज्ञाः नियमाः तपांसि) वेद पढ़ना, त्याग करना, (=संन्यास) लेना, यज्ञ (=अग्निहोत्रादि) करना, नियम (ब्रह्मचर्याश्रम) आदि करना, तप(=निन्दा-स्तुति, और हानि-लाभ आदि द्वन्द्व का सहन) करना आदि कर्म (कर्हिचित्) कदापि (सिद्धिं न गच्छन्ति) सिद्ध नहीं हो सकते ॥ ७२ ॥ (सं० वि० वेदा० सं०)

"जो दुष्टाचारी अजितेन्द्रिय पुरुष है उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।"

(स० प्र० तृतीय समु०)

"जो अजितेन्द्रिय पुरुष है उसको विप्रदुष्ट कहते हैं। उसके करने से न वेदज्ञान, न त्याग, न यज्ञ, न नियम और न धर्माचरणसिद्धि को प्राप्त होते हैं। किन्तु ये सब जितेन्द्रिय धार्मिक जन को सिद्ध होते हैं।"

(स० प्र० दशम समु०)

जितेन्द्रिय की परिभाषा—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥७३॥ [९८] (५३)

(जितेन्द्रियः स विज्ञेयः) जितेन्द्रिय उसको कहते हैं कि (यः नरः) जो [मनुष्य] (श्रुत्वा) स्तुति सुन के हर्ष और निन्दा सुनके शोक (स्पृष्ट्वा) अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुःख (दृष्ट्वा) सुन्दर रूप देख के प्रसन्न और दुष्टरूप देख के अप्रसन्न (भुक्त्वा) उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित (घ्रात्वा न हृष्यति ग्लायति) सुगन्ध में रुचि दुर्गन्ध में अरुचि न करता ॥ ७३ ॥ (स० प्र० दशम समु०)

एक भी इन्द्रिय के असंयम से प्रज्ञाहानि—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ ७४ ॥ [९९] (५४)

(सर्वेषाम् इन्द्रियाणां तु) सब इन्द्रियों में यदि (एकम् इन्द्रियं क्षरति) एक भी इन्द्रिय अपने विषय में आसक्त रहने लगती है तो (तेन) उसी के कारण (अस्य प्रज्ञा क्षरति) इस मनुष्य की बुद्धि ऐसे नष्ट होने लगती है

(दृतेः पादात् उदकम् इव) जैसे चमड़े के वर्त्तन=मशक में छिद्र होने से सारा पानी वहकर नष्ट हो जाता है ॥ ७४ ॥

इन्द्रियम-संयम से स्वार्थसिद्धि—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ ७५ ॥ [१००] (५५)

(इन्द्रियग्रामम्) पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय [इन दश इन्द्रियों के समूह को] (च) और (मनः) ग्यारहवें मन को (वशे कृत्वा) वश में करके (योगतः तनुं अक्षिण्वन्) युक्ताहार विहार रूप योग से शरीर की रक्षा करता हुआ (सर्वान् अर्थान् संसाधयेत्) सब अर्थों को सिद्ध करे ॥ ७५ ॥ (स० प्र० दशम० समु०)

"ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में करके और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किंचित्-किंचित् पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे ।" (स० वि० वेदारम्भ सं०)

संन्ध्योपासन-समय—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥७६॥ [१०१] (५६)

(आर्कदर्शनात् पूर्वां संध्याम्) दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्योदय पर्यन्त प्रातः संध्या (सम्यक् ऋक्षविभावनात् तु पश्चिमाम्) सूर्यास्त से लेकर [अच्छी प्रकार] तारों के दर्शन पर्यन्त सायंकाल में [(समासीनः) भलीभांति स्थित होकर] (सावित्रीं जपन् तिष्ठेत्) सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थविचारपूर्वक नित्य करें ॥ ७६ ॥ (द० ल० पं० पृ० २३६)

संध्योपासना का फल—

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥७७॥ [१०२] (५७)

[मनुष्य] (पूर्वां संध्यां जपन् तिष्ठन्) प्रातःकालीन संध्या में बैठकर जप करके (नैशम् एनः व्यपोहति) रात्रिकालीन मानसिक मलीनता या दोषों को दूर करता है (तु पश्चिमां समासीनः) और सायंकालीन संध्या करके (दिवा-कृतं मलं हन्ति) दिन में सञ्चित मानसिक मलीनता या दोषों को नष्ट करता है [अभिप्राय यह है कि दोनों समय संध्या करने से पूर्ववेला में आये दोषों पर चिन्तन-मनन और पश्चात्ताप करके उन्हें आगे न करने के लिए संकल्प किया

जाता है तथा गायत्री-जप से अपने संस्कारों को शुद्ध-पवित्र बनाया जा सकता है] ॥ ७७ ॥

संध्योपासन न करनेवाला शूद्रवत्—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥७८॥ [१०३] (५८)

(यः) जो मनुष्य (पूर्वां न तिष्ठति च पश्चिमां न उपास्ते) नित्य प्रातः और सायं संध्योपासन को नहीं करता (सः शूद्रवत्) उसको शूद्र के समान समझकर (सर्वस्मात् द्विजकर्मणः वहिष्कार्यः) [समस्त] द्विजकुल से अलग करके शूद्रकुल में रख देना चाहिए ॥ ७८ ॥ (द० ल० पं० पृ० २३९)

गायत्री-जप का विधान—

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥ ७९ ॥ [१०४] (५९)

(अरण्यं गत्वा) जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जा (समाहितः) सावधान होके (अपां समीपे नियतः) जल के समीप स्थित होके (नैत्यकं विधिम् आस्थितः) नित्यकर्म को करता हुआ (सावित्रीम् अपि अधीयीत) सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करे ॥ ७९ ॥ (स० प्र० तृतीय समु०)

अनिवार्य कर्त्तव्य—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥ ८० ॥ [[१०५]] (६०)

(वेदोपकरणे चैव) वेद के पठन-पाठन में (च) और (नैत्यके स्वाध्याये) नित्यकर्म में आने वाले गायत्रीजप या संध्योपासना [२ । ७९] में (होममन्त्रेषु चैव) तथा यज्ञ करने में (अनध्याये अनुरोधः न अस्ति) अनध्याय का आग्रह नहीं है अर्थात् इन्हें प्रत्येक स्थिति में करना चाहिए, इनके साथ अनध्याय का नियम लागू नहीं होता ॥ ८० ॥

"वेद के पढ़ने-पढ़ाने, संध्योपासनादि पंचमहायज्ञों के करने और होम-मन्त्रों में अनध्यायविषयक अनुरोध (आग्रह) नहीं हैं।" (स० प्र० तृतीय समु०)

"वेद-पाठ, नित्यकर्म और होम-मन्त्रों में अनध्याय नहीं है। नित्यकम का अभिप्राय यह है कि अपने मन का लक्ष्य परमेश्वर को बनाया जावे, इसलिए प्रत्येक कर्म की समाप्ति पर यह कहा जाता है कि मैं इस कर्म का या इसके फल को परमेश्वर के अर्पण करता हूँ।" (पू० प्र० पृ० १४४-१४५)

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ ८१ ॥ [१०६] (६१)

(नैत्यके अनध्यायः न अस्ति) नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता जैसे श्वास-प्रश्वास सदा लिये जाते हैं, बन्ध नहीं किये जाते, वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिये, न किसी दिन छोड़ना (हि) क्योंकि॥ (अनध्यायवषट्कृतं ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यम्) अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तमकर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है ॥

॥ (तत् ब्रह्मसत्रं स्मृतम्) उसे ब्रह्मयज्ञ माना गया है.................. ।

जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है, वैसे ही बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही होता है ॥ ८१ ॥ (स० तृतीय समु०)

स्वाध्याय का फल—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥८२॥ [१०७] (६२)

(यः) जो व्यक्ति (अब्दं[1] स्वाध्यायम्) जलवर्षक मेघस्वरूप स्वाध्याय को [वेदों का अध्ययन एवं गायत्री का जप, यज्ञ, उपासना आदि २ । ७६—८१] (शुचिः) स्वच्छ-पवित्र होकर (नियतः) एकाग्रचित्त होकर (विधिना) विधि-पूर्वक (अधीते) करता है (तस्य एषः) उसके लिए यह स्वाध्याय (नित्यं) सदा (पयः दधि घृतं मधु क्षरति) दूध, दही, घी और मधु को बरसाता है ।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार इन पदार्थों का सेवन करने से शरीर तृप्त, पुष्ट, बलशाली और नीरोग हो जाता है, उसी प्रकार स्वाध्याय करने से भी मनुष्य का जीवन शान्तिमय, गुणमय, ज्ञानमय और पुण्यमय या आनन्दमय हो जाता है, अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनकी सिद्धि हो जाती है ॥ ८२ ॥

समावर्तन तक होमादि कर्त्तव्य—

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम् ।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥ ८३ ॥ [१०८] (६३)

(कृतोपनयनः द्विजः) यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित द्विज (अग्नीन्धनम्) अग्निहोत्र करना (भैक्षचर्याम्) भिक्षावृत्ति (अधःशय्याम्) भूमि में शयन (गुरोः हितम्) गुरु की सेवा (आसमावर्तनात्) समावर्तन संस्कार [वेदाध्ययन समाप्त करके घर लौटने तक] तक (कुर्यात्) करता रहे ॥ ८३ ॥

१. 'अब्द शब्द' वर्ष का पर्यायवाची भी है । किन्तु यहाँ उसका (अपो ददातीति अब्दः) यह यौगिकार्थ ही अधिक संगत है । (सं०)

पढ़ाने योग्य शिष्य—

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः॥८४॥[१०९](६४)

(आचार्यपुत्रः) अपने आचार्य [गुरु] का पुत्र (शुश्रूषुः) सेवा करने वाला (ज्ञानदः) किसी विषय के ज्ञान का देने वाला (धार्मिकः) धर्मनिष्ठव्यक्ति (शुचिः) छल-कपट रहित (आप्तः) घनिष्ठ व्यक्ति (शक्तः) विद्याग्रहण करने में समर्थ अर्थात् बुद्धिमान् पात्र (अर्थदः) धन देने वाला (साधुः) हितैषी (स्वः) अपने परिवार या सम्बन्ध का (दश धर्मतः अध्याप्याः) ये दश धर्म से अवश्य पढ़ाने योग्य हैं ॥ ८४ ॥

प्रश्नादि के विना उपदेश निषेध—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ ८५ ॥ [११०] (६५)

(न, अपृष्टः) कभी बिना पूछे (च) वा (अन्यायेन पृच्छतः) अन्याय से पूछने वाले को कि जो कपट से पूछता हो (कस्यचिद् न ब्रूयात्) ऐसे किसी को उत्तर न देवे (मेधावी) उनके सामने❀ बुद्धिमान्+(जडवत् आचरेत्) जड़ के समान रहे, हाँ जो निष्कपट और जिज्ञासु हों उनको बिना पूछे भी उपदेश करे ॥ ८५ ॥
(स० प्र० दशम समु०)

❀ जानन् अपि हि जानते हुए भी................ ।
+ (लोके) लोक में........................ ।

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति ॥ ८६ ॥ [१११](६६)

"(यः) जो (अधर्मेण) अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण, सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह............इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल-कपट से (पृच्छति) पूछता है (च) और (यः) जो (अधर्मेण) पूर्वोक्त प्रकार से (प्राह) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उसको उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो (तयोः अन्यतरः प्रैति) पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है अर्थात् निन्दित होता है। (वा) अथवा (विद्वेषम्) अत्यन्त विरोध को (अधि गच्छति) प्राप्त होकर दोनों दुःखी होते हैं ॥" ८६ ॥ (द० ल० भ्र० पृ०३४७)

मर जाने से अभिप्राय यह भी है कि बिना उत्तर दिये सम्बन्ध तोड़कर चले जाना। यह स्वाभाविक,ही है कि जब कोई दुर्भावना से पूछता या उत्तर

देता है तो उनमें से कोई एक व्यक्ति किनारा कर लेता है। यदि ऐसा नहीं करते तो उनमें दूसरी अवस्था विवाद और विरोध की आ जाती है।

विद्या-दान किसे न दें—

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥८७॥ [११२] (६७)

(यत्र धर्मार्थौ न स्याताम्) जहां धर्मभावना और अर्थप्राप्ति न हो (वा) और (तद्विधा शुश्रूषा अपि) गुरु के अनुरूप सेवाभावना भी न हो (तत्र विद्या न वक्तव्या) ऐसे को विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि (ऊषरे शुभं बीजम् इव) वह ऊसर भूमि में श्रेष्ठ बीज बोने के समान है और जैसे बंजर भूमि में बोया हुआ बीज व्यर्थ होता है उसी प्रकार उक्त व्यक्ति को दी गई विद्या भी व्यर्थ जाती है॥ ८७॥

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥८८॥ [११३] (६८)

(कामम्) चाहे (ब्रह्मवादिना) वेद का विद्वान् (विद्यया एव समं मर्त्तव्यम्) विद्या को साथ लेकर मर जाय (हि) किन्तु (घोरायां आपदि अपि) भयंकर आपत्तिकाल में भी (एनाम् इरिणे तु न वपेत्) इस विद्या को कुपात्र के लिये न दे, न पढ़ाये॥ ८८॥

विद्यादाता ब्राह्मण का कर्त्तव्य—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ८९॥ [११४] (६९)

[एक आख्यान प्रचलित है कि एक बार] (विद्या ब्राह्मणम् एत्य आह) विद्या विद्वान् ब्राह्मण के पास आकर बोली—(ते शेवधिः अस्मि, माम् रक्ष) "मैं तेरा खजाना हूँ, तू मेरी रक्षा कर (माम् असूयकाय मा दाः) मुझे मेरी उपेक्षा, निन्दा या द्वेष करने वाले को मत प्रदान कर (तथा वीर्यवत्तमा स्याम्) इस प्रकार से ही मैं वीर्यवती=महत्त्वपूर्ण और शक्तिसम्पन्न बन सकूंगी"॥ ८९॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ९०॥ [११५] (७०)

(यम् एव तु शुचिं नियतब्रह्मचारिणम्) "जिसे तुम छल-कपट रहित शुद्ध श्रद्धाभाव से युक्त, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी (विद्यात्) समझो (तस्मै अप्रमादिने निधिपाय विप्राय मां ब्रूहि) उस आलस्यरहित और इस खजाने की

रक्षा एवं वृद्धि करने में समर्थ विप्र वेदभक्त जिज्ञासु शिष्य को मुझे पढ़ाना" ॥ ९१ ॥

गुरु को प्रथम अभिवादन— (शिष्य के कर्त्तव्य)

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽध्यात्मिकमेव च।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥९२॥ [११७] (७१)

(यतः) जिससे (लौकिकम्) लोक में काम आने वाला—शस्त्रविद्या, अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति विज्ञान आदि सम्बन्धी (वा) अथवा (वैदिकम्) वेदविषयक (तथा) तथा (आध्यात्मिकम् एव) आत्मा-परमात्मासम्बन्धी (ज्ञानम्) ज्ञान (आददीत) प्राप्त करे (तम्) उसको (पूर्वम् अभिवादयेत्) पहले नमस्कार करे ॥ ९२ ॥

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ९४ ॥ [११९] (७२)

(श्रेयसा) गुरुजन आदि बड़ों द्वारा (अध्याचरिते) प्रयोग में लायी जाने वाली (शय्या-आसने) शय्या [पलंग आदि] आसन पर (न समाविशेत्) न बैठे (च) और (शय्यासनस्थः) यदि अपनी शय्या और आसन पर लेटा या बैठा हो तो (एनम्) इन गुरुजन आदि बड़ों को (प्रत्युत्थाय अभिवादयेत्) उनके आने पर उठकर नमस्कार करे ॥ ९४ ॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥९५॥ [१२०] (७३)

(स्थविरे, आयति) विद्या, पद, आयु आदि में बड़ों के आने पर (यूनः प्राणाः) छोटों के प्राण (उत्क्रामन्ति) ऊपर को उभरते-से लगते हैं अर्थात् प्राणों में घबराहट-सी उत्पन्न होने लगती है (हि) किन्तु (प्रत्युत्थाय–अभिवादाभ्याम्) उठने और नमस्कार करने से (पुनः) फिर से (तान् प्रतिपद्यते) शिष्य प्राणों की सामान्य-स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त कर लेता है अर्थात् प्राणों की घबराहट और उभराव दूर हो जाते हैं ॥ ९५ ॥

अभिवादन का फल—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशो बलम् ॥ ९६ ॥ [१२१] (७४)

(अभिवादनशीलस्य) अभिवादन करने का जिसका स्वभाव और (नित्यं वृद्धोपसेविनः) विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है (तस्य आयुः विद्या यशः बलं चत्वारि वर्धन्ते) उसकी आयु, विद्या, कीर्त्ति और बल, इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है ॥ ९६ ॥ (सं० वि० वेदारम्भ सं०)

"जो सदा नम्र सुशील विद्वान् और वृद्धों की सेवा करता है उसका आयु, विद्या, कीर्त्ति और बल ये चार सदा बढ़ते हैं और जो ऐसा नहीं करता उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते"। (स० प्र० तृतीय समु०)

अभिवादन-विधि—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥ ९७ ॥ [१२२] (७५)

(विप्रः) द्विज (ज्यायांसम् अभिवादयन्) अपने से बड़े को नमस्कार करते हुए (अभिवादात् परम्) अभिवादनसूचक शब्द के बाद ('अहं असौ नामा अस्मि' इति) 'मैं अमुक नाम वाला हूँ' ऐसा कहते हुए (स्वं नाम परिकीर्त्तयेत्) अपना नाम बतलाये, जैसे—अभिवादये अहं देवदत्तः.............[शेष विधि २। ९९ में है] ॥ ९७ ॥

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥ ९९ ॥ [१२४] (७६)

[२। ९७ में विहित प्रक्रिया पूरी होने के बाद फिर] (अभिवादने) अभिवादन में (स्वस्य नाम्नः अन्ते) अपना नाम बताने के पश्चात् ('भोः' शब्दं कीर्तयेत्) 'भोः' यह शब्द लगाये (हि) क्योंकि (ऋषिभिः) ऋषियों ने (भोभावः नाम्नां स्वरूपभावः स्मृतः) 'भोः' के अभिप्राय को नामों के स्वरूप का द्योतक ही माना है अर्थात् 'भोः' संबोधन के उच्चारण से ही नाम का अन्तर्भाव स्वतः हो जाता है। जैसे—"अभिवादये अहं देवदत्तः 'भोः' ॥ ९९ ॥

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥१००॥ [१२५] (७७)

(अभिवादने) अभिवादन का उत्तर देते समय (विप्रः) द्विज को (सौम्य 'आयुष्मान् भव' इति वाच्यः) 'हे सौम्य! आयुष्मान् हो' ऐसा कहना चाहिए (च) और (अस्य नाम्नः अन्ते अकारः पूर्वाक्षरः प्लुतः वाच्यः) नमस्कार करने वाले के नाम के अन्तिम अकार आदि स्वर को पहले अक्षर सहित प्लुत की ध्वनि [तीन मात्राओं के समय में] में उच्चारण करे। जैसे—'देवदत्त' नाम में अन्तिम स्वर अकार है, जो 'त्' में मिला हुआ है। इस प्रकार 'त्' सहित अकार को अर्थात् अन्तिम 'त' को ही प्लुत बोले। उदाहरण है—"आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्तः ३" अथवा "आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्तः ३" ॥ १०० ॥

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १०१ ॥ [१२६] (७८)

(यः विप्रः) जो द्विज (अभिवादस्य प्रत्यभिवादनम्) अभिवादन करने के उत्तर में अभिवादन करना नहीं न जानता अर्थात् नहीं करता (विदुषा सः न अभिवाद्यः) बुद्धिमान् आदमी को उसे नमस्कार नहीं करना चाहिए, क्योंकि (सः यथा शूद्रः तथा एव) वह शूद्र के समान है ।। १०१ ।।

वर्णानुसार कुशल प्रश्नविधि—

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ।।१०२।। [१२७] (७९)

[मिलने पर, नमस्कार के बाद] (ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्) ब्राह्मण से कुशलता—प्रसन्नता एवं वेदाध्ययन आदि की निर्विघ्नता (क्षत्रबन्धुम् अनामयम्) क्षत्रिय से बल आदि की दृष्टि से स्वास्थ के विषय में (वैश्यं क्षेमम्) वैश्य से क्षेम—धन आदि की सुरक्षा और आनन्द के विषय में (च) और (शूद्रम् आरोग्यम् एव) शूद्र के स्वस्थता के विषय में (पृच्छेत्) पूछे। अभिप्राय यह है कि वर्णानुसार उनके मुख्य उद्देश्यसाधक व्यवहारों की निर्विघ्नता के विषय में प्रधानता से पूछे ।। १०२ ।।

दीक्षित के नामोच्चारण का निषेध—

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ।।१०३।। [१२८] (८०)

(दीक्षितः) उपनयन में दीक्षित (यः यवीयान् अपि भवेत्) यदि कोई छोटा भी हो तो उसे (नाम्ना अवाच्यः) नाम लेकर नहीं पुकारना चाहिए (धर्मवित्) व्यवहार में चतुर व्यक्ति को चाहिए कि वह (एनं 'भो' 'भवत्' पूर्वकम् अभिभाषेत) अपने से छोटे व्यक्ति को 'भो' 'भवत्' शब्दों से सम्बोधित करे ।।१०३।।

परस्त्री के नामोच्चारण का निषेध—

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः ।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ।।१०४।। [१२९] (८१)

(या परपत्नी च योनितः असम्बन्धा स्त्री स्यात्) जो कोई दूसरे की पत्नी और योनि से सम्बन्ध न रखने वाली स्त्री अर्थात् बहन आदि न हो तो (ताम्) उसे ('भवति' 'सुभगे' 'भगिनी' इति एवं ब्रूयात्) 'भवति !' [=आप] 'सुभगे!' [=सौभाग्यवति !] 'भगिनी !' [=बहन] इस प्रकार के शब्दों से सम्बोधित करे ।। १०४ ।।

सम्मान के आधार—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ।।१११।। [१३६] (८२)

(वित्तं बन्धुः वयः कर्म) एक—धन, दूसरे—बंधु, कुटुम्ब, कुल; तीसरी—आयु, चौथा—उत्तम कर्म (पञ्चमी विद्या भवति) और पांचवी—श्रेष्ठविद्या (एतानि मान्यस्थानानि) ये पांच मान्य के स्थान हैं, परन्तु (यद् यद् उत्तरं तद् तद् गरीयः) [जो-जो परला है वह अतिशयता से उत्तम है] धन से उत्तम बंधु, बंधु से अधिक आयु, आयु से श्रेष्ठ कर्म और कर्म से पवित्र विद्या वाले उत्तरोत्तर अधिक माननीय हैं ।। १११ ।। (स० प्र० दशम समु०)

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ।।११२।। [१३७](८३)

(त्रिषु वर्णेषु) तीनों वर्णों में अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में परस्पर (पञ्चानां यत्र भूयांसि गुणवन्ति स्युः) उक्त [२ । १११] पांच गुणों में से अधिक गुण जिसमें हों (अत्र सः मानार्हः) समाज में वह कम गुणवालों के द्वारा सम्मान करने योग्य है (दशमीं गतः शूद्रः अपि) तथा दशमी अवस्था अर्थात् नब्बे वर्ष से अधिक आयुवाला शूद्र भी सब के द्वारा सम्मान देने योग्य है ।। ११२ ।।

किस-किस के लिए मार्ग दें—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पंथा देयो वरस्य च ।।११३।।[१३८](८४)

(चक्रिणः) सवारी अर्थात् रथ, गाड़ी आदि में बैठे हुए को (दशमीस्थस्य) दशमी अवस्था वाले अर्थात् नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाले को (रोगिणः) रोगी को (भारिणः) बोझ उठाये हुए को (स्त्रियाः) स्त्री को (च) और (स्नातकस्य) स्नातक को (राज्ञः) राजा को (च) तथा (वरस्य) दूल्हे को (पन्था देयः) पहले रास्ता दे देना चाहिए ।। ११३ ।।

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ।। ११४ ।। [१३९](८५)

(तेषाम् तु) उन [२ । ११३] सब के (समवेतानाम्) एकत्रित होने पर (स्नातक-पार्थिवौ मान्यौ) स्नातक और राजा सबके सम्मान के योग्य हैं (च) और (राजस्नातकयोः एव) राजा तथा स्नातक में भी (स्नातकः) स्नातक ही (नृपमानभाक्) राजा के द्वारा सम्मान पाने योग्य है अर्थात् स्नातक-विद्वान् सबसे अधिक सम्मान का पात्र है ।। ११४ ।।

आचार्य का लक्षण—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।। ११५ ।। [१४०] (८६)

(यः उपनीय तु) जो यज्ञोपवीत कराके (सकल्पं च सरहस्यम्) कल्पसूत्र और वेदान्तसहित (शिष्यं वेदम् अध्यापयेत्) शिष्य को वेद पढ़ावे (तम् आचार्यं प्रचक्षते) उसको आचार्य कहते हैं ।। ११५ ।। (द० ल० वे० पृ० ४)

"जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरु अपने शिष्य को यज्ञोपवीत आदि धर्मक्रिया कराने के बाद वेद को अर्थ और कलासहित पढ़ावे तो ही उसको आचार्य कहना चाहिए।" (द० ल० शि० पृ० ८६)

उपाध्याय का लक्षण—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ।।११६।। [१४१] (८७)

(यः) जो (वृत्त्यर्थम्) जीविका के लिए (वेदस्य एकदेशम्) वेद के किसी एक भाग या अंश को (अपि वा पुनः वेदांगानि) या फिर वेदांगों [शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र और ज्योतिष] को (अध्यापयति) पढ़ाता है (सः उपाध्यायः उच्यते) वह 'उपाध्याय' कहलाता है ।। ११६ ।।

पिता-गुरु का लक्षण—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ।।११७।। [१४२] (८८)

(यः यथाविधि) जो विधि-अनुसार (निषेकादीनि कर्माणि करोति) गर्भाधान आदि संस्कारों को करता है (च) तथा (अन्नेन संभावयति) अन्न आदि भोज्य पदार्थों द्वारा बालक का पालन-पोषण करता है (स विप्रः) वह विद्वान् द्विज (गुरुः उच्यते) गुरु कहलाता है ।। ११७ ।।

"जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है, इससे पिता को 'गुरु' कहते हैं।" (द० ल० आ० पृ० २७६)

"निषेक—अर्थात् ऋतु-प्रदान यह प्रथम संस्कार है। पिता निषेक करता है, इसलिए पिता ही मुख्य गुरु है।" (पू० प्र० पृ० ७७)

ऋत्विक् का लक्षण—

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स यस्य तस्यर्त्विगिहोच्यते।।११८।।[१४३](८९)

(यः वृतः) जो ब्राह्मण किसी के द्वारा वरण किये जाने पर (तस्य) उस वरण करने वाले के (अग्न्याधेयम्) अग्निहोत्र (पाकयज्ञान्) अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि विशेष उपलक्ष्यों पर किये जाने वाले यज्ञों को (अग्निष्टोमादि-

कान् मखान्) और अग्निष्टोम आदि बड़े यज्ञों को (करोति) कराता है (सः तस्य ऋत्विक् उच्यते) वह उस वरण करने वाले का 'ऋत्विक्' कहलाता है ॥

अध्यापक या आचार्य की महत्ता—

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥११६॥ [१४४] (९०)

(यः ब्रह्मणा) जो गुरु या आचार्य वेदज्ञान के द्वारा (उभौ श्रवणौ अवितथम् आवृणोति) दोनों कानों को भलीभांति परिपूर्ण करता है [सुनाता-पढ़ाता है] (सः माता सः पिता ज्ञेयः) उसे माता, पिता समझना चाहिए (तं कदाचन न द्रुह्येत्) और उससे कभी द्रोह [—ईर्ष्या-अपमान] न करे ॥ ११६॥

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥१२१॥ [१४६] (९१)

(उत्पादक-ब्रह्मदात्रोः) उत्पन्न करने वाले पिता और विद्या या वेद-ज्ञान देनेवाले पिता [आचार्य] में (ब्रह्मदः पिता गरीयान्) वेदज्ञान देनेवाला पिता ही अधिक बड़ा और माननीय है (हि) क्योंकि (विप्रस्य) द्विज का (ब्रह्मजन्म) [शरीर जन्म की अपेक्षा] ब्रह्मजन्म [—उपनयन में दीक्षित करके वेदाध्ययन कराके वर्ण निर्धारित करना] ही (इह च प्रेत्य शाश्वतम्) इस जन्म और परजन्म में स्थिर रहने वाला है अर्थात् शरीर तो इस जन्म के साथ ही नष्ट हो जाता है किन्तु विद्या के संस्कार परजन्मों तक साथ रहते हैं ॥ १२१ ॥

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥१२२॥ [१४७] (९२)

(माता च पिता यत् एनं मिथः उत्पादयतः) माता और पिता जो इस बालक को मिलकर उत्पन्न करते हैं, वह (कामात्) सन्तान-प्राप्ति की कामना से करते हैं (यत् योनौ अभिजायते) वह जो माता के गर्भ से उत्पन्न होता है (तस्य तां संभूतिं विद्यात्) उसका वह साधारणरूप से जन्म प्रकट होना मात्र है अर्थात् वास्तविक जन्म तो उपनयन में दीक्षित करके आचार्य ही देता है ॥ १२२ ॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा ॥१२३॥ [१४८] (९३)

(वेदपारगः आचार्यः) वेद में पारंगत आचार्य (विधिवत्) विधिपूर्वक (गायत्र्या) गायत्री संस्कार=उपनयनसंस्कार से (अस्य) इसकी (यां जातिम् उत्पादयति) जाति=अर्थात् वर्ण या आत्मिक स्वरूप को बनाता है (सा सत्या

सा अजरा-अमरा) वही इसकी वास्तविक जाति=वर्ण है, वही जाति [शरीरजन्म की अपेक्षा] क्षीण न होने वाली और स्थिर रहने वाली है अर्थात् शिक्षा-प्रदान करके निर्धारित किये गये वर्ण के संस्कार परजन्मों तक रहते हैं ॥ १२३ ॥

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्यात् श्रुतोपक्रियया तया ॥ १२४ ॥[१४९](९४)

(यः यस्य) जो कोई जिस किसी का (श्रुतस्य अल्पं वा बहु उपकरोति) विद्या पढ़ाकर थोड़ा या अधिक उपकार करता है (तम् अपि इह) उसको भी इस संसार में (तया श्रुतोपक्रियया) उस विद्या पढ़ाने के उपकार को (गुरुं विद्यात्) गुरु समझना चाहिए ॥ १२४ ॥

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥१२५॥ [१५०](९५)

(ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता) वेदाध्ययन के जन्म को देने वाला (स्वधर्मस्य च शासिता) और अपने धर्म का उपदेश देने वाला (विप्रः) विद्वान् (बालः अपि) बालक अर्थात् अल्पायु होते हुए भी (धर्मतः) धर्म से (वृद्धस्य पिता भवति) शिक्षा प्राप्त करने वाले दीर्घायु व्यक्ति का पिता [अर्थात् गुरु के समान] होता है ॥ १२५ ॥

उक्त विषय में आङ्गिरस का दृष्टान्त—

अध्यापयामास पितृञ्शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इतिहोवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १२६ ॥ [१५१](९६)

[इस प्रसंग में एक इतिवृत्त भी है] (शिशुः आङ्गिरसः कविः) आङ्गिरस नामक विद्वान् बालक ने (पितॄन्) अपने पिता के समान चाचा आदि पितरों को (अध्यापयामास) पढ़ाया (ज्ञानेन परिगृह्य) ज्ञान देने के कारण (तान् 'पुत्रकाः' इति ह उवाच) उनको 'हे पुत्रो' इस शब्द से सम्बोधित किया ॥१२६ ॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥१२७॥ [१५२] (९७)

(आगतमन्यवः ते) [उक्त संबोधन को सुनकर] गुस्से में आये हुए उन पितरों ने (तम् अर्थं देवान् अपृच्छन्त) उस 'पुत्र' सम्बोधन के अर्थ अथवा औचित्य के विषय में देवताओं=बड़े विद्वानों से पूछा (च) और तब (देवाः समेत्य एतान् ऊचुः) सब विद्वानों ने एकमत होकर इनसे कहा कि (शिशुः वः न्याय्यम् उक्तवान्) बालक आङ्गिरस ने तुम्हारे लिए 'पुत्र' शब्द का सम्बोधन ठीक ही किया है ॥ १२७ ॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १२८ ॥ [१५३] (९८)

(अज्ञः वै बालः भवति) चाहे सौ वर्ष का भी हो परन्तु जो विद्या विज्ञान से रहित है वह बालक और (मन्त्रदः पिता भवति) जो विद्या विज्ञान का दाता है उस बालक को भी वृद्ध [=पिता] मानना चाहिए हि क्योंकि सब शास्त्र, आप्त विद्वान् (अज्ञं बालम् इति) अज्ञानी को बालक (मन्त्रदं तु पिता इत्येव आहुः) और ज्ञानी को पिता कहते हैं ॥ १२८ ॥ (स० प्र० दशम समु०)

"अज्ञ अर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा वह निश्चय करके बालक होता है, और जो मन्त्रद अर्थात् दूसरे को विचार देनेवाला विद्या पढ़ा विद्याविचार में निपुण है वह पिता-स्थानीय होता है, क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने अज्ञजन को बालक कहा और मन्त्रद को पिता ही कहा है इससे प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर ज्ञानवान्-विद्यावान् अवश्य होना चाहिए । (सं० वि० वेदा० सं०)

अवस्था आदि की अपेक्षा वेदज्ञान की श्रेष्ठता—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१२९॥ [१५४] (९९)

(हायनैः) अधिक वर्षों के बीतने (पलितैः) श्वेत बाल के होने (वित्तेन) अधिक धन से (बन्धुभिः) बड़े कुटुम्ब के होने से (न) वृद्ध नहीं होता (ऋषयः धर्मं चक्रिरे) किन्तु ऋषि-महात्माओं का यही नियम है कि (नः यो अनूचानः स महान्) जो हमारे बीच में विद्या विज्ञान में अधिक है, वही वृद्ध पुरुष कहाता है ॥ १२९ ॥ (स० प्र० दशम समु०)

"धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों, न पके केशों वा झूलते हुए अङ्गों, न धन और न बन्धु-जनों से बड़प्पन माना किन्तु यही धर्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वाद-विवाद में उत्तर देनेवाला अर्थात् वक्ता हो, वह बड़ा है ।"
(सं० वि० वेदारम्भ सं०)

वर्णों में श्रेष्ठता के आधार—

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥१३०॥ [१५५] (१००)

(विप्राणां ज्ञानतः) ब्राह्मण ज्ञान से (क्षत्रियाणां तु वीर्यतः) क्षत्रिय बल से (वैश्यानां धनधान्यतः) वैश्य धन-धान्य से और (शूद्राणां जन्मतः एव ज्यैष्ठ्यम्) शूद्र जन्म अर्थात् अधिक आयु से वृद्ध [=बड़ा] होता है ॥ १३० ॥
(स० प्र० दशम समु०)

अवस्था की अपेक्षा ज्ञान से वृद्धत्व—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१३१॥[१५६](१०१)

(तेन वृद्धः न भवति) उस कारण से वृद्ध नहीं होता (येन अस्य शिरः पलितम्) कि जिससे इसका शिर झूल जाये, केश पक जावें (यः वै युवा अपि अधीयानः) किन्तु जो जवान भी पढ़ा हुआ विद्वान् है (तं देवाः स्थविरं विदुः) उसको विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है ॥ १३१ ॥ (सं० वि० वेदारम्भ सं०)

"शरीर के बाल श्वेत होने से बूढ़ा नहीं होता किन्तु जो युवा विद्या पढ़ा हुआ है, उसी को विद्वान् लोग बड़ा जानते हैं।" (स० प्र० दशम समु०)

मूर्ख की निन्दा—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥१३२॥ [१५७](१०२)

(यथा काष्ठमयः हस्ती) जैसे काठ का कठपुतला हाथी, वा (यथाचर्ममयः मृगः) जैसे चमड़े का बनाया हुआ मृग हो (यः च अनधीयानः विप्रः) वैसे बिना पढ़ा हुआ विप्र अर्थात् ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन होता है (ते त्रयः नाम बिभ्रति) उक्त वे हाथी, मृग और विप्र तीनों नाममात्र धारण करते हैं ॥ १३२ ॥

(सं० वि० वेदारम्भ सं०)

"जो विद्या नहीं पढ़ा है वह जैसा काठ का हाथी, चमड़े का मृग होता है, वैसा अविद्वान् मनुष्य जगत् में नाममात्र मनुष्य कहाता है।"

(स० प्रं० दशम समु०)

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥१३३॥[१५८](१०३)

(यथा स्त्रीषु षण्ढः अफलः) जैसे स्त्रियों में नपुंसक निष्फल है अर्थात् सन्तानरूपी फल को नहीं प्राप्त कर सकता (यथा गवि गौः अफला) और जैसे गायों में गाय निष्फल है अर्थात् जैसे गाय गाय से सन्तानरूपी फल को नहीं प्राप्त कर सकती (च) और (यथा अज्ञे दानम् अफलम्) जैसे अज्ञानी व्यक्ति को दान देना निष्फल होता है (तथा) वैसे ही (अनृचः विप्रः अफलः) वेद न पढ़ा हुआ अथवा वेद के पाण्डित्य से रहित ब्राह्मण निष्फल है अर्थात् उसका ब्राह्मणत्व सफल नहीं माना जा सकता क्योंकि वेदाध्ययन ही ब्राह्मण का सबसे प्रधान कर्म है ॥ १३३ ॥
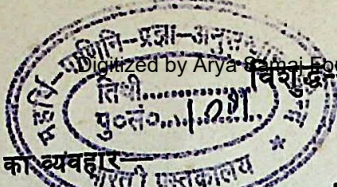
गुरु-शिष्यों का व्यवहार—

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१३४॥[१५९](१०४)

(अहिंसया एव भूतानाम्) (विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि) वैरबुद्धि छोड़के सब मनुष्यों के (श्रेयः अनुशासनं कार्यम्) कल्याण के मार्ग का उपदेश करें (च) और (मधुरा श्लक्ष्णा वाक् प्रयोज्या) उपदेष्टा मधुर, सुशीलतायुक्त वाणी बोलें (धर्मम् इच्छता) जो धर्म की उन्नति चाहे वह सदा सत्य में चले और सत्य ही का उपदेश करे ॥ १३४ ॥ (स० प्र० (तृतीय समु०)

"इसलिये विद्या पढ़ विद्वान् धर्मात्मा होकर निर्वैरता से सब प्राणियों के कल्याण का उपदेश करे और उपदेश में वाणी मधुर और कोमल बोले । जो सत्योपदेश से धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश करते हैं वे पुरुष धन्य हैं ।"
(स० प्र० दशम समु०)

वेदों के फल की प्राप्ति का उपाय—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १३५ ॥[१६०](१०५)

(यस्य वाङ्मनसी) जिस मनुष्य के वाणी और मन (शुद्धे च सम्यग्गुप्ते सर्वदा) शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं (सः वै) वही (सर्वं वेदान्तोपगतं फलं प्राप्नोति) सब वेदान्त अर्थात् सब वेदों के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है ॥

दूसरों से द्रोह आदि का निषेध—

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥१३६॥[१६१](१०६)

मनुष्य (आर्तः अपि) स्वयं दुःखी होता हुआ भी (अरुंतुदः न स्यात्) किसी दूसरे को कष्ट न पहुंचावे (न परद्रोहकर्मधीः) न दूसरे के प्रति ईर्ष्या या बुरा करने की भावना मन में लाये (अस्य यया वाचा उद्विजते) इस मनुष्य के जिस वचन से कोई दुःखित हो (ताम् अलोक्यां न उदीरयेत्) उस ऐसी लोक में अप्रशंसनीय वाणी को न बोले ॥ १३६ ॥

ब्राह्मण के लिए अपमान-सहन का निर्देश एवं उसका फल—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१३७॥ [१६२](१०७)

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (विषात् इव) विष के समान (सम्मानात्) उत्तम

मान से (नित्यम् उद्विजेत) नित्य उदासीनता रखे (च) और (अमृतस्य एव) अमृत के समान (अवमानस्य सर्वदा आकांक्षेत्) अपमान की आकांक्षा सर्वदा करे अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के लिए भिक्षा मात्र मांगते भी कभी मान की इच्छा न करे ॥ १३७ ॥ (सं० वि० वेदारम्भ सं०)

"संन्यासी जगत् के सम्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे। क्योंकि, जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है, वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है। इसलिए चाहे निन्दा, चाहे प्रशंसा, चाहे मान, चाहे अपमान, चाहे जीना, चाहे मृत्यु, चाहे हानि, चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे, चाहे कोई वैर बाँधे, चाहे अन्न, पान, वस्त्र, उत्तम स्थान मिले वा न मिले; चाहे शीत-उष्ण कितना ही क्यों न हो इत्यादि सबका सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे। इससे परे उत्तम धर्म दूसरे किसी को न माने।"

(सं० वि० संन्यासाश्रम)

"वही ब्राह्मण समग्र वेद और परमेश्वर को जानता है जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है और अपमान की इच्छा अमृत के समान किया करता है।" (सं प्र० तृतीय समु०)

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥१३८॥ [१६३] (१०८)

(हि) क्योंकि (अवमतः सुखं शेते) अपमान को सहन करने का अभ्यासी मनुष्य सुखपूर्वक सोता है (च) और (सुखं प्रतिबुध्यते) सुखपूर्वक जागता है अर्थात् जागृत अवस्था में भी सुखपूर्वक रहता है अभिप्राय यह है कि मानव को सर्वाधिक रूप में व्यथित करने वाली मान-अपमान और उनसे उत्पन्न होने वाली भावनाएँ उस व्यक्ति को सोते तथा जागते व्यथित नहीं करतीं, वह निश्चिन्त एवं शान्तिपूर्वक रहता है। (अस्मिन् लोके सुखं चरति) वह इस संसार में सुखपूर्वक विचरण करता है, तथा (अवमन्ता) अपमान से व्यथित होने वाला व्यक्ति (विनश्यति) [चिन्ता और शोक के कारण] विनाश को प्राप्त होता है ॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥१३९॥ [१६४] (१०९)

(अनेन क्रमयोगेन) इसी प्रकार से [उपर्युक्त निर्देशों के अनुसार] (संस्कृतात्मा द्विजः) कृतोपनयन द्विज कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या❀ (शनैः) धीरे-धीरे (ब्रह्माधिगमिकं तपः) वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को (संचिनुयात्) बढ़ाते चले जायें ॥ १३९ ॥ (स० प्र० तृतीय समु०)

❀ (गुरौ वसन्) गुरु के समीप अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए..............

वेदाध्ययन के लिए प्रयत्न करने का विधान एवं उसका कारण तथा प्रशंसा—

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥१४०॥[१६५](११०)

(द्विजन्मना) द्विजमात्र को (विधिचोदितैः तपोविशेषैः च विविधैः व्रतैः) शास्त्रों में विहित विशेष तपों [ब्रह्मचर्यपालन, प्राणायाम, द्वन्द्वसहन आदि] और विविध व्रतों [२ । १४९–१९४ में प्रदर्शित] का पालन करते हुए (कृत्स्नः वेदः) सम्पूर्ण वेदज्ञान को (सरहस्यः) रहस्य पूर्वक अर्थात् गूढार्थज्ञान-चिन्तनपूर्वक (अधिगन्तव्यः) अध्ययन करके प्राप्त करना चाहिए ॥ १४० ॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१४१॥[१६६](१११)

(द्विजोत्तमः) द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणादिकों में उत्तम सज्जन पुरुष (सदा तपः तप्स्यन्) सर्वकाल तपश्चर्या करता हुआ (वेदम् एव अभ्यस्येत्) वेद का ही अभ्यास करे (हि) जिस कारण (विप्रस्य) ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन को (वेदाभ्यासः) वेदाभ्यास करना (इह) इस संसार में (परं तपः उच्यते) परम तप कहा है ॥ १४१ ॥ (सं० वि० वेदारम्भ सं०)

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥१४२॥[१६७](११२)

(यः द्विजः) जो द्विज (स्रग्वी-अपि) माला धारण करके (३ । ३) अर्थात् गृहस्थी होकर भी (अन्वहम्) प्रतिदिन (शक्तितः स्वाध्यायम् अधीते) पूर्ण शक्ति से अर्थात् अधिक से अधिक प्रयत्नपूर्वक वेदों का अध्ययन करता रहता है (सः) वह (आ ह एव) निश्चय ही (नखाग्रेभ्यः) पैरों के नाखून के अग्रभाग तक अर्थात् पूर्णतः (परमं तपः तप्यते) श्रेष्ठ तप करता है ॥ १४२ ॥

वेदाभ्यास के विना शूद्रत्वप्राप्ति—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१४३॥ [१६८] (११३)

(यः द्विजः) जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (वेदम् अनधीत्य) वेद को न पढ़कर (अन्यत्र श्रमं कुरुते) अन्य शास्त्र में श्रम करता है (सः) वह (जीवन् एव) जीवता ही (सान्वयः) अपने वंश के सहित✦✦ (शूद्रत्वं गच्छति) शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है ॥ १४३ ॥ (सं० वि० वेदारम्भ सं०)

✦✦ (आशु) शीघ्र ही...............

"जो वेद को न पढ़ के अन्यत्र श्रम किया करता है, वह अपने पुत्र-पौत्र सहित शूद्रभाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।" (स० प्र० तृतीय समु०)

गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी के पालनीय नियम—

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्धयर्थमात्मनः ॥१५०॥ [१७५] (११४)

(गुरौ वसन्) गुरु के समीप अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (आत्मनः तपोवृद्धयर्थम्) अपने तप की वृद्धि के लिये (इन्द्रियग्रामं सन्नियम्य) इन्द्रियों के समूह [२। ६४-६७] को वश में करके (इमान् तु नियमान् सेवेत) इन आगे वर्णित नियमों का पालन करे॥ १५०॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥१५१॥ [१७६] (११५)

[ब्रह्मचारी] (नित्यम्) प्रतिदिन (देव–ऋषि–पितृ–तर्पणम्) विद्वानों, ऋषियों, बुजुर्गों की प्रसन्नताकारक कार्यों से तृप्ति=संतुष्टि (च) और (स्नात्वा शुचिः) स्नान करके, शुद्ध होकर (देवता-अभ्यर्चनम्) परमात्मा की उपासना (च) तथा (समिधा-आधानम्) अग्निहोत्र भी (कुर्यात्) किया करे॥ १५१॥

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१५२॥ [१७७] (११६)

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी (मधु-मांसं गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः) मधु-मांस, गंध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का संग (सर्वाणि यानि शुक्तानि) सब खटाई (प्राणिनां हिंसनम्) प्राणियों की हिंसा............(वर्जयेत्) छोड़ देवें॥ १५२॥
(स० प्र० तृतीय समु०)

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥१५३॥ [१७८] (११७)

(अभ्यंगम्) अंगों का मर्दन—बिना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श (अक्ष्णोः च अञ्जनम्) आंखों में अञ्जन (उपानत्-छत्र-धारणम्) जूते और छत्र का धारण (कामं क्रोधं लोभं च) काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष चकार से मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष का ग्रहण किया है। (च) और (नर्त्तनं गीत-वादनम्) नाच, गान, बजाना 'इनको भी छोड़ देवे' यह पूर्वश्लोक से अनुवृत्ति आती है॥ १५३॥ (स० प्र० तृतीय समु०)

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथा नृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥ १५४॥ [१७९] (११८)

(द्यूतम्) द्यूत (जनवादम्) जिस किसी की कथा (परिवादम्) निन्दा (अनृतम्) मिथ्याभाषण (स्त्रीणां प्रेक्षण-आलम्भम्) स्त्रियों का दर्शन, आश्रय (परस्य उपघातम्) दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़देवें ॥ १५४ ॥
(स० प्र० तृतीय समु०)

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥१५५॥ [१८०] (११९)

(सर्वत्र एकः शयीत) सर्वत्र एकाकी सोवे (रेतः क्वचित् न स्कन्दयेत्) वीर्यस्खलित कभी न करे (कामात् हि रेतः स्कन्दयन्) काम से वीर्यस्खलित कर दे तो जानो कि (आत्मनः व्रतं हिनस्ति) अपने ब्रह्मचर्य व्रत का नाश कर दिया ॥
॥ १५५ ॥ (स० प्र० तृतीय समु०)

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥१५७॥ [१८२] (१२०)

(उदकुम्भम्) पानी का घड़ा (सुमनसः) फूल (गोशकृत्) गोबर (मृत्तिका) मिट्टी (कुशान्) कुशाओं को (यावत् अर्थानि) जितनी आवश्यकता हो उतनी ही (आहरेत्) लाकर रखे (च) और (भैक्षम्) भिक्षा भी (अहः अहः चरेत्) प्रतिदिन-प्रतिदिन मांगे ॥ १५७ ॥

वेदज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १५८ ॥ [१८३] (१२१)

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (स्वकर्मसु प्रशस्तानाम्) अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में सावधान रहने वालों के और (वेदज्ञैः अहीनानाम्) वेदाध्ययन और पञ्चमहायज्ञों से जो हीन नहीं हैं अर्थात् जो प्रतिदिन इनका पालन करते हैं ऐसे श्रेष्ठ व्यक्तियों के (गृहेभ्यः) घरों से (प्रयतः) प्रयत्न पूर्वक (अन्वहम्) प्रतिदिन (भैक्षम् आहरेत्) भिक्षा ग्रहण करे ॥ १५८ ॥

भिक्षा-सम्बन्धी नियम—

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥१५९॥ [१८४] (१२२)

ब्रह्मचारी (गुरोः कुले न भिक्षेत) गुरु के परिवार में भिक्षा न मांगे (ज्ञाति कुल–बन्धुषु न) सम्बन्धियों के परिवारों तथा मित्रों-धनिकों में भी भिक्षा न मांगे (अन्यगेहानां अलाभे तु) अन्य घरों से यदि भिक्षा न मिले तो (पूर्वं-पूर्वं विवर्जयेत्) पूर्वं-पूर्वं घरों को छोड़ते हुए भिक्षा प्राप्त कर ले अर्थात् पहले मित्रों,

परिचितों या घनिष्ठों के घरों से भिक्षा मांगे, वहां न मिले तो सम्बन्धियों में, वहां भी न मिले तो गुरु के परिवार से भिक्षा मांग सकता है ॥ १५९ ॥

सर्वं वाऽपि चरेद् ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥१६०॥ [१८५] (१२३)

(पूर्वोक्तानाम् असंभवे) पूर्व [२ । १५८-१५९] कहे हुए घरों के अभाव में (सर्वं वा अपि ग्रामं चरेत्) सारे ही गांव में भिक्षा मांग ले (तु) किन्तु (प्रयतः) प्रयत्नपूर्वक (वाचं नियम्य) अपनी वाणी को नियन्त्रण में रखता हुआ (अभिशस्तान्) पापी व्यक्तियों को (वर्जयेत्) छोड़ देवे अर्थात् पापी लोगों के सामने किसी भी अवस्था में भिक्षा-याचना के लिए वाणी न खोले ॥ १६० ॥

दूरादाहृत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि ।
सायम्प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥१६१॥ [१८६] (१२४)

(दूरात् समिधः आहृत्य) दूरस्थान अर्थात् जंगल आदि से समिधाएं लाकर (विहायसि संनिदध्यात्) उन्हें खुले [=हवादार] स्थान में रख दे (ताभिः) और फिर उनसे (अतन्द्रितः) आलस्यरहित होकर (सायं च प्रातः) सांयकाल और प्रातःकाल दोनों समय (अग्निं जुहुयात्) अग्निहोत्र करे ॥ १६१ ॥

"अग्निहोत्र सायं प्रातः दो काल में करे । दो ही रात-दिन की संधि-वेला हैं, अन्य नहीं ।" (स० प्र० तृतीय समु०)

गुरु के समीप रहते ब्रह्मचारी की मर्यादाएं—

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १६६ ॥ [१९१] (१२५)

(गुरुणा चोदितः) गुरु के द्वारा प्रेरणा करने पर (वा) अथवा (अप्रचोदितः एव) बिना प्रेरणा किये भी [ब्रह्मचारी] (नित्यम्) प्रतिदिन (अध्ययने) पढ़ने में (च) और (आचार्यस्य हितेषु) गुरु की हित की बातों में (यत्नं कुर्यात्) यत्न करे ॥ १६६ ॥

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥१६७॥ [१९२] (१२६)

[गुरु के सामने खड़े होने की अवस्था में ब्रह्मचारी] (शरीरं च वाचं च बुद्धि+इन्द्रिय+मनांसि एव च) शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रियों और मन को भी (नियम्य) वश में करके (गुरोः मुखं वीक्षमाणः) गुरु के सामने देखता हुआ (प्राञ्जलिः) हाथ जोड़कर (तिष्ठेत्) खड़ा होवे ॥ १६७ ॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥१६८॥ [१६३] (१२७)

(नित्यम् उद्धृतपाणिः स्यात्) सदा उद्धृतपाणि रहे अर्थात् ओढ़ने के वस्त्र से दायां हाथ बाहर रखे [ओढ़ने के वस्त्र को इस प्रकार ओढ़े कि वह दायें हाथ के नीचे से होता हुआ बायें कंधे पर जाकर टिके, जिससे दायां कन्धा और हाथ वस्त्र से बाहर निकला रहा जाये] (साधु+आचारः) शिष्ट-सभ्य आचरण रखे (सुसंयतः) संयमपूर्वक रहे ('आस्यताम्' इति उक्तः सन्) गुरु के द्वारा 'बैठो' ऐसा कहने पर (गुरोः अभिमुखं आसीत) गुरु के सामने उनकी ओर मुख करके बैठे ॥ १६८ ॥

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य परमं चैव संविशेत् ॥१६९॥ [१६४] (१२८)

(गुरु-सन्निधौ) गुरु के समीप रहते हुए (सर्वदा) सदा (हीन+अन्न+वस्त्र + वेषः स्यात्) अन्न=भोज्यपदार्थ, वस्त्र और वेशभूषा गुरु से सामान्य रखे (च) और (अस्य प्रथमम् उत्तिष्ठेत्) इस गुरु से पहले जागे (च) तथा (परमं संविशेत्) बाद में सोये ॥ १६९ ॥

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥१७०॥ [१६५] (१२९)

(प्रतिश्रवण+संभाषे) प्रतिश्रवण अर्थात् गुरु की बात या आज्ञा का उत्तर देना, या स्वीकृति देना, और संभाषा=बातचीत, ये (शयानः न समाचरेत्) लेटे हुए न करे (न आसीनः) न बैठे-बैठे (न भुञ्जानः) न कुछ खाते हुए (च) और (न तिष्ठन्) न दूर खड़े होकर (न पराङ्मुखः) न मुँह फेरकर ये बातें करें ॥१७०॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥१७१॥ [१६६] (१३०)

(आसीनस्य स्थितः) बैठे हुए गुरु से खड़ा होकर (तिष्ठतः तु अभिगच्छन्) खड़े हुए गुरु के सामने जाकर (आव्रजतः तु प्रति+उद्गम्य) अपनी ओर आते हुए गुरु से उसकी ओर शीघ्र आगे बढ़कर (धावतः तु पश्चात् धावन्) दौड़ते हुए के पीछे दौड़कर (कुर्यात्) प्रतिश्रवण और बातचीत [२ । १७०] करे ॥ १७१ ॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥१७२॥ [१६७] (१३१)

(पराङ्मुखस्य अभिमुखः) गुरु यदि मुँह फेरे हों तो उनके सामने होकर (च) और (दूरस्थस्य अन्तिकम् एत्य) दूर खड़े हों तो पास जाकर (शयानस्य तु)

लेटे हों (च) और (निदेशे एव तिष्ठतः) समीप ही खड़े हों तो (प्रणम्य) हाथ जोड़कर बातचीत करे ॥ १७२ ॥

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १७३ ॥ [१९८] (१३२)

(गुरुसन्निधौ) गुरु के समीप रहते हुए (अस्य) इस ब्रह्मचारी का (शय्या+आसनम्) बिस्तर और आसन (सर्वदा) सदा ही (नीचम्) नीचा या सामान्य रहना चाहिए (गुरोः तु चक्षुः विषये) और गुरु की आंखों के सामने (यथेष्टासनः न भवेत्) कभी मनमाने आसन से न बैठे ॥ १७३ ॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥१७४॥ [१९९] (१३३)

(परोक्षम् अपि) पीछे से भी (अस्य) अपने गुरु का (केवलं नाम न उदाहरेत्) केवल नाम न ले [अर्थात् जब भी गुरु के नाम का उच्चारण करना पड़े तो 'आचार्य' 'गुरु' आदि सम्मानबोधक शब्दों के साथ करना चाहिए, अकेला नाम नहीं] (च) और (अस्य) इस गुरु की (गति+भाषित+चेष्टितम्) चाल, वाणी तथा चेष्टाओं का (न अनुकुर्वीत) अनुकरण=नकल न करे ॥ १७४ ॥

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्त्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥१७५॥ [२००] (१३४)

(यत्र) जहां (गुरोः परीवादः वाऽपि निन्दा प्रवर्त्तते) गुरु की बुराई अथवा निन्दा हो रही हो (तत्र) वहां (कर्णौ पिधातव्यौ) अपने कान बन्द कर लेने चाहिएं अर्थात् उसे नहीं सुनना चाहिए (वा) अथवा (ततः अन्यतः गन्तव्यम्) उस जगह से कहीं अन्यत्र चला जाना चाहिए ॥ १७५ ॥

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः ।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥१७७॥ [२०२] (१३५)

(एनम्) शिष्य अपने गुरु को (दूरस्थः) दूर से (न अर्चयेत्) नमस्कार न करे (न क्रुद्धः) न क्रोध में (न स्त्रियाः अन्तिके) जब अपनी स्त्री के पास बैठे हों न उस स्थिति में जाकर अभिवादन करे (च) और (यान+आसनस्थः) यदि सवारी में बैठा हो तो (अवरुह्य) उतरकर (एनम्) अपने गुरु को (अभिवादयेत्) अभिवादन करे ॥ १७७ ॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत् ॥ १७८॥ [२०३] (१३६)

(प्रतिवाते) गुरु की ओर से शिष्य की ओर आने वाली हवा में (च) और

(अनुवाते) शिष्य की ओर से गुरु की ओर जाने वाली हवा में (गुरुणा सह न आसीत) शिष्य गुरु के साथ न बैठे (च) तथा (गुरोः असंश्रवे एव) जहां गुरु को अच्छी प्रकार न सुनाई पड़े ऐसे स्थान में (किंचित् अपि न कीर्त्तयेत्) कुछ बात न करे ॥ १७८ ॥

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च ।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥१७९॥ [२०४](१३७)

(गो+अश्व+उष्ट्रयान--प्रासादप्रस्तरेषु) बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊंटगाड़ी पर और महलों अथवा घरों में बिछाये जाने वाले बिछौनों पर (च) और (कटेषु) चटाईयों पर (च) तथा (शिला-फलकनौषु) पत्थर, तख्ता, नौका पर (गुरुणा सार्धं आसीत) गुरु के साथ बैठ जाये ॥ १७९ ॥

गुरु के गुरु से गुरुतुल्य आचरण—

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥१८०॥ [२०५](१३८)

(गुरोः गुरौ सन्निहिते) गुरु के भी गुरु यदि समीप आ जायें तो (गुरुवत् (वृत्तिम् आचरेत्) उनसे अपने गुरु के समान ही आचरण करे (च) और (स्वान् गुरून्) अपने माता-पिता आदि गुरुजनों के आने पर (गुरुणा अनिसृष्टः न अभिवादयेत्) गुरु से आदेश पाये बिना अभिवादन न करे अर्थात् शिष्टता के नाते गुरु से पहले अनुमति लेकर उनके पास अभिवादन के लिए जाये ॥ १८० ॥

अन्य अध्यापकों से व्यवहार—

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्वपि ॥१८१॥ [२०६](१३९)

(विद्यागुरुषु) विद्या पढ़ाने वाले सभी गुरुओं में (स्वयोनिषु) अपने वंश वाले सभी बड़ों में (च) और (अधर्मात् प्रतिषेधत्सु उपदिशत्सु अपि) अधर्म से हटाकर धर्म का उपदेश करने वालों में भी (नित्या एतत् एव वृत्तिः) सदैव यही (ऊपर वर्णित) बर्ताव करे ॥ १८१ ॥

युवती गुरुपत्नी के चरणस्पर्श का निषेध—

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥१८७॥[२१२](१४०)

(पूर्णविंशतिवर्षेण) जिसके बीस वर्ष पूर्ण हो चुके हैं ऐसे (गुणदोषौ विजानता) गुण और दोषों को समझने में समर्थ युवक शिष्य को (युवतिः गुरुपत्नी तु) जवान गुरुपत्नी का (पादयोः न अभिवाद्या) चरणों का स्पर्श

करके अभिवादन नहीं करना चाहिए [अर्थात् बिना चरणस्पर्श किये ही उसका अभिवादन करे। उसकी विधि २। १९१ में वर्णित है] ॥ १८७ ॥

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥१८८॥[२१३](१४१)

(इह) इस संसार में (एषः स्वभावः) यह स्वाभाविक ही है कि (नारीणां नराणां दूषणम्) स्त्री पुरुषों का परस्पर के संसर्ग से दूषण हो जाता है—दोष लग जाता है (अतः अर्थात्) इस कारण से (विपश्चितः) बुद्धिमान् व्यक्ति (प्रमदासु) स्त्रियों के साथ व्यवहारों में (न प्रमाद्यन्ति) कभी असावधानी नहीं करते ॥ १८८ ॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥१८९॥[२१४](१४२)

(लोके) संसार में (प्रमदाः) स्त्रियाँ (काम-क्रोध-वश+अनुगम्) काम और क्रोध के वशीभूत होने वाले (अविद्वांसम्) अविद्वान् को (वा) अथवा (विद्वांसम् अपि) विद्वान् व्यक्ति को भी (उत्पथं नेतुम्) उसके मार्ग से उखाड़ने में (हि) निश्चय से (अलम्) पूर्णतः समर्थ हैं ॥ १८९ ॥

अभिप्राय यह है कि स्त्रियों में मोहित कर लेने का पूर्ण सामर्थ्य है। उनके इस गुण के कारण पुरुष उनके संसर्ग से स्वयं अथवा उन्हीं के प्रयत्न से पथ-भ्रष्ट हो सकता है।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥१९०॥[२१५](१४३)

[मनुष्य को चाहिए कि] (मात्रा स्वस्रा वा दुहित्रा) माता, बहन अथवा पुत्री के साथ भी (विविक्त+आसनः न भवेत्) एकान्त आसन पर न बैठे या न रहे, क्योंकि (बलवान् इन्द्रियग्रामः) शक्तिशाली इन्द्रियां (विद्वांसम् अपि) विद्वान्=विवेकी व्यक्ति को भी (कर्षति) खींचकर अपने वश में कर लेती हैं ॥ १९० ॥

"इस वाक्य का अर्थ—इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हैं कि माता तथा बहनों के साथ रहने में भी सावधान रहना चाहिए।" (पू० प्र० १५)

युवता गुरुपत्नी के अभिवादन की विधि—

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥१९१॥[२१६](१४४)

(कामं तु) अच्छा तो यही है कि (युवा) युवक शिष्य (युवतीनां गुरु-

पत्नीनाम्) जवान गुरुपत्नियों को (असौ अहम् इति ब्रुवन्) 'यह मैं अमुक नाम वाला हूँ' ऐसा कहते हुए (विधिवत्) पूर्ण विधि के अनुसार [२ । ९७, ९९] (भुवि) भूमि पर झुककर ही (वन्दनं कुर्यात्) अभिवादन करे ॥ १९१ ॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ १९२ ॥ [२१७] (१४५)

शिष्य (सतां धर्मम् अनुस्मरन्) श्रेष्ठों के धर्म को स्मरण करते हुए अर्थात् यह विचारते हुए कि स्त्रियों को अभिवादन करना श्रेष्ठ-शिष्ट व्यक्तियों का कर्त्तव्य है (गुरुदारेषु) गुरुपत्नियों को (अन्वहम् अभिवादनं कुर्वीत) प्रतिदिन अभिवादन करे (च) और (विप्रोष्य) परदेश से लौटकर (पादग्रहणम्) चरणस्पर्श कर अभिवादन करे ॥ १९२ ॥

गुरुसेवा का फल—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥१९३॥ [२१८](१४६)

(यथा खनित्रेण खनन् नरः) जैसे फावड़े से खोदता हुआ मनुष्य (वारि अधिगच्छति) जल को प्राप्त होता है (तथा) वैसे (शुश्रूषुः) गुरु की सेवा करने वाला पुरुष (गुरुगतां विद्याम्) गुरुजनों ने जो विद्या प्राप्त की है, उसको (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥ १९३ ॥ (सं० वि० वेदारम्भ संस्कार)

ब्रह्मचारी के लिए केश-सम्बन्धी तीन विकल्प एवं ग्राम निवास का निषेध—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित्॥१९४॥[२१९](१४७)

ब्रह्मचारी (मुण्डः वा जटिलः वा स्यात्) चाहे तो सब केश मुंडवाकर रहे चाहे सब केश रखकर रहे (अथवा) या फिर (शिखाजटः) केवल शिखा रखकर [शेष केश मुंडवाकर] (स्यात्) रहे। (एनम्) इस ब्रह्मचारी को (क्वचित् ग्रामे) किसी स्थान में रहते (सूर्यः) सूर्य (न अभिनिम्लोचेत्) न तो अस्त हो (न अभ्युदियात्) न कभी उदय हो अर्थात् प्रमाद के कारण उसके निवास स्थान पर रहते-रहते सूर्य अस्त नहीं होना चाहिए और न ही सोते-सोते सूर्योदय होना चाहिए अपितु उससे पूर्व ही संध्योपासन आदि नित्यकर्मों के लिये वन-प्रदेश में निकल जाना चाहिए [२ । ७९, ७८, ७७, ७६] ॥ १९४ ॥

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।
निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ १९५ ॥ [२२०](१४८)

(तं चेत्) यदि उसे (कामचारतः शयानम्) इच्छानुसार सोते हुए (सूर्यः अभि+उदियात्) सूर्य का उदय होजाये (अपि वा) अथवा (अविज्ञानात् निम्लोचेत्) अनजाने में या प्रमाद के कारण सूर्य अस्त हो जाये तो (दिनं जपन् उपवसेत्) दिनभर गायत्री का जप करते हुए उपवास करे=खाना न खाये ॥ १९५ ॥

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥१९६॥ [२२१] (१४९)

(यः) जो (सूर्येण अभिनिर्मुक्तः) प्रमाद में सूर्य के अस्त हो जाने पर (च) और (शयानः अभ्युदितः) सोते-सोते सूर्य उदय होने पर (प्रायश्चित्तम् अकुर्वाणः) प्रायश्चित्त [१९५] नहीं करता है वह (महता एनसा युक्तः स्यात्) बड़े अपराध का भागी बनता है अर्थात् उसे बड़ा दोषी माना जायेगा, क्योंकि संध्याकालों में ब्रह्मचारी के लिये सबसे परमावश्यक कर्म संध्योपासन का विधान है और इस कर्म में प्रमाद करने से ब्रह्मचारी के पापों में फंसने का भय रहता है।

संध्योपासन का विधान एवं विधि—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ १९७ ॥ [२२२] (१५०)

ब्रह्मचारी (नित्यम्) प्रतिदिन (उभे संध्ये) प्रातः और सायं दोनों संध्याकालों में (शुचौ देशे) शुद्ध स्थान में (आचम्य) आचमन करके (प्रयतः) प्रयत्नपूर्वक (समाहितः) एकाग्र होकर (जप्यं जपन् उपासीत) गायत्री का जप करते हुए उपासना करे ॥ १९७ ॥

"नित्य संध्योपासन..................के पूर्व शुद्ध जल का आचमन किया करे।" (सं० वि० वेदारम्भ संस्कार)

स्त्री-शूद्रादि के उत्तम आचरण का भी अनुसरण करे—

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत् ।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वाऽस्य रमेन्मनः ॥१९८॥ [२२३] (१५१)

(यदि स्त्री यदि अवरजः) यदि स्त्री अथवा शूद्र (किंचित् श्रेयः समाचरेत्) कोई श्रेष्ठ कार्य करें (तत् सर्वम् आचरेत्) उनसे शिक्षा लेकर उन पर आचरण करे (वा) अथवा (यत्र) जिस शास्त्रोक्त कर्म में (अस्य मनः रमेत्) इसका मन रमे उस श्रेष्ठ कार्य को करता रहे ॥ १९८ ॥

निम्नस्तर के व्यक्ति से भी ज्ञान-धर्म की प्राप्ति—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥२१३॥ [२३८] (१५२)

(शुभां विद्यां श्रद्दधानः) उत्तम विद्या प्राप्ति की श्रद्धा करता हुआ पुरुष (अवरात् अपि आददीत) अपने से न्यून से भी विद्या पावे तो ग्रहण करे (अन्त्यादपि परं धर्मम्) नीच जाति से भी उत्तम धर्म का ग्रहण करे, और (दुष्कुलात् अपि स्त्रीरत्नम्) निंद्यकुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्री का ग्रहण करे, यह नीति है ॥ २१३ ॥ (सं० वि० वेदारम्भ संस्कार)

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥२१४॥ [२३९] (१५३)

(विषात् अपि अमृतं ग्राह्यम्) विष से भी अमृत का ग्रहण करना (बालात् अपि सुभाषितम्) बालक से भी उत्तम वचन को ले लेना ❀ (सं० वि० ८५)
❀ और (अमित्रात्, अपि सद् वृत्तम्) वैरी से भी श्रेष्ठ आचरण सीख लेना चाहिए, तथा (अमेध्यात् अपि काञ्चनम्) अशुद्ध स्थान से भी स्वर्ण को प्राप्त कर लेना चाहिए ॥ २१४ ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥२१५॥ [२४०] (१५४)

(स्त्रियः) उत्तम स्त्री (रत्नानि) नाना प्रकार के रत्न (विद्या) विद्या (धर्मः) सत्य (शौचम्) पवित्रता (सुभाषितम्) श्रेष्ठभाषण (च) और (विविधानि शिल्पानि) नाना प्रकार की शिल्पविद्या अर्थात् कारीगरी (सर्वतः समादेयानि) सब देश तथा सब मनुष्यों से ग्रहण करें ॥ २१५ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

आपत्ति काल में अब्राह्मण से विद्याध्ययन एवं उसके नियम—

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २१६ ॥ [२४१] (१५५)

(आपत्काले) आपत्ति काल में (अब्राह्मणात्) अब्राह्मण अर्थात् क्षत्रिय आदि से भी (अध्ययनम्) विद्या ग्रहण करना (विधीयते) विहित है (यावत् अध्ययनम्) शिष्य जब तक पढ़े तब तक (गुरोः अनुव्रज्या च शुश्रूषा) गुरु की आज्ञा का पालन और सेवा करे ॥ २१६ ॥

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥२१७॥ [२४२] (१५६)

(अनुत्तमां गतिं कांक्षन् शिष्यः) उत्तमगति चाहने वाले शिष्य को चाहिए कि वह (अब्राह्मणे गुरौ) अब्राह्मण गुरु के यहाँ (च) और (अन्+अनूचाने ब्राह्मणे साङ्गोपाङ्ग वेदों को न जानने वाले ब्राह्मण गुरु के समीप भी (आत्यन्तिकं वासं न वसेत्) आजीवनपर्यन्त निवास न करे [क्योंकि इनके पास शिष्य की

उन्नति रुक जाती है, साङ्गोपाङ्ग वेदों के ज्ञाता विद्वान् के पास रहकर ही उन्नति की उत्तम गति तक पहुंच सकता है] ॥ २१७ ॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥२१८॥ [२४३](१५७)

(यदि तु) यदि ब्रह्मचारी शिष्य (गुरोः कुले) गुरुकुल में (आत्यन्तिकं वासं रोचयेत) जीवन-पर्यन्त निवास करना चाहे तो (आशरीर-विमोक्षणात्) शरीर छूटनेपर्यन्त (एनम्) अपने गुरु की (युक्तः परिचरेत्) प्रयत्नपूर्वक सेवा करे ।२१८।

आजीवन गुरु-सेवा का फल—

आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥२१९॥[२४४](१५८)

(यः तु) जो ब्रह्मचारी (आ समाप्तेः शरीरस्य) शरीर के त्याग होने तक अर्थात् मृत्युपर्यन्त (गुरुं शुश्रूषते) [ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक] गुरु की सेवा करता है (सः) वह (विप्रः) विद्वान् व्यक्ति (ब्रह्मणः शाश्वतं सद्म) परमात्मा के नित्य-पद मोक्ष को (अञ्जसा गच्छति) शीघ्र प्राप्त करता है ॥ २१९ ॥

गुरुदक्षिणा का विधान एवं नियम—

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥२२०॥[२४५](१५९)

(धर्मवित्) विधि का ज्ञाता शिष्य (स्नास्यन् तु) स्नातक बनने [समावर्तन कराने] की इच्छा होने पर (गुरुणा+आज्ञप्तः) गुरु से आज्ञा प्राप्त करके (शक्त्या) शक्ति के अनुसार (गुर्वर्थम्) गुरु के लिए (आहरेत्) दक्षिणा प्रदान करे (पूर्वं गुरवे किंचित् न उपकुर्वीत) समावर्तन से पहले गुरु को दक्षिणा के रूप में कुछ न दे ॥ २२० ॥

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं वासांसि वा शाकं गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥२२१॥ [२४६] (१६०)

[शिष्य यथाशक्ति] (क्षेत्रम्) भूमि (हिरण्यम्) सोना (गाम्) गौ (अश्वम्) घोड़ा (छत्र-उपानहम् आसनम्) छाता, जूता, आसन (धान्यम्) अन्न (वासांसि) वस्त्र (वा) अथवा (शाकम्) शाक (गुरवे) गुरु के लिए (प्रीतिम् आवहेत्) प्रीति-पूर्वक दक्षिणा में दे ॥ २२१ ॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद् वृत्तिमाचरेत् ॥ २२२ ॥ [२४७] (१६१)

(आचार्ये तु खलु प्रेते) आचार्य की यदि मृत्यु हो जाये तो (गुणान्विते गुरुपुत्रे) गुणवान् गुरुपुत्र में (गुरुदारे) गुरुपत्नी में (वा) अथवा (सपिण्डे) गुरु के वंश वाले योग्य व्यक्ति में (वृत्तिम्) दक्षिणा देने के कर्त्तव्य को (गुरुवत्) गुरु के समान (आचरेत्) करे अर्थात् गुरु को मृत्यु हो जाने पर उक्त व्यक्तियों का गुरु के स्थान की दक्षिणा दे दे ॥ २२२ ॥

आजीवन ब्रह्मचर्य पालन का फल—

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥२२४॥ [२४९] (१६२)

(यः विप्रः) जो द्विज विद्वान् (एवम्) उपर्युक्त प्रकार से (अविप्लुतः) अखण्डित रूप से (ब्रह्मचर्यं चरति) ब्रह्मचर्य का पालन करता है (सः उत्तमं स्थानं गच्छति) वह उत्तम स्थान अर्थात् ब्रह्म के पद को प्राप्त करता है (च) और (इह) इस संसार में (पुनः न आजायते) पुनर्जन्म नहीं लेता अर्थात् प्रवाह से चलने वाले जन्म-मरण से छूट जाता है। [क्योंकि **मोक्षसुख भी कर्मों का फल है,** अतः वह सान्तकर्मों का अनन्त फल नहीं हो सकता। अतः मोक्ष-सुख की अवधि पूरी होने पर जीव का फिर जन्म अवश्य होता है।] ॥ २२४ ॥

द्वितीयाध्याय के—

कुल्लूकभट्टादि टीकाकारों द्वारा अन्यथा व्याख्यात प्रक्षेपरहित-श्लोक

२।६—७ [२।३१—३२] श्लोकों की कुल्लूकभट्टादि की व्याख्या में यह स्पष्ट नहीं होता कि इन श्लोकों के अर्थ में क्या अन्तर हैं ? क्या इन श्लोकों में परस्पर-विरोध है अथवा कोई विशेष कथन किया है ? इन की व्याख्या के अनुसार—चारों वर्णों के क्रमशः मङ्गलयुक्त, बलयुक्त, धनयुक्त और निन्दायुक्त नाम रखने का विधान है और द्वितीय श्लोकार्थ में—वर्णों के क्रमशः शर्मायुक्त, रक्षायुक्त, पुष्टि-युक्त और दासयुक्त नाम रखने का कथन है। इन अर्थों में निम्न दोष हैं—(क) इन दोनों श्लोकों में भिन्न-भिन्न विधान क्यों है ? क्या यह वैकल्पिक विधान है ? (ख) प्राचीन आर्य ऋषि-मुनियों, तथा राजाओं के नामों में इस विधान का प्रचलन क्यों नहीं हुआ ? स्वयं मनु के नाम में भी इस

विधान का अभाव है। (ग) ब्राह्मण का शर्मायुक्त नाम माना गया है, किन्तु क्षत्रियादि के नाम श्लोकों के अनुसार रक्षायुक्त, पुष्टियुक्त और प्रेष्ययुक्त क्यों नहीं ? या तो श्लोकपठित शब्दों का ही चारों वर्णों के नामों के साथ विधान होना चाहिये अथवा चारों के भाव मानकर इनके अर्थ वाले दूसरे शब्दों का भी विधान होना चाहिये। (घ) और सभी टीकाकारों ने 'शर्मवत्' शब्द का 'शर्मा' शब्द वाला अर्थ किया है, प्रथम तो श्लोक के दूसरे वर्णों के लिये प्रयुक्त शब्दों से इस अर्थ का विरोध है। और यदि 'शर्मवत्' शब्द का यह अर्थ है तो २।८ [२।३३] श्लोक में स्त्रियों के नाम के लिये 'अभिधानवत्' शब्द पठित है। क्या यहाँ यह अर्थ करना उचित है कि 'शर्मवत्' की भांति 'अभिधान' शब्दयुक्त नाम रखा जाये ? अतः 'शर्मा' नाम वाला अर्थ मनु के अभिप्राय से भी विरुद्ध है। (ङ) और सभी टीकाकारों ने २।६ [२।३१] श्लोक के "जुगुप्सितं" शब्द का 'निन्दायुक्त' अर्थ किया है। यह अर्थ मनु के आशय से सर्वथा विरुद्ध है। मनु ने सर्वत्र शूद्र को द्विजों का सेवाकार्य दिया है, अतः उसका पालन तथा रक्षण द्विजों के आश्रय से होता है। इसलिये इस पद में विद्यमान (गुपू रक्षणे धातु के स्वार्थ में सन्) धातु के अर्थानुसार पालन या रक्षण भावों को द्योतित करने वाला शूद्र का नाम होना चाहिये। यद्यपि वर्त्तमान संस्कृत में 'जुगुप्सितम्' पद का निन्दा अर्थ में व्यवहार देखने में आता है, इस अर्थ को देख कर इन टीकाकारों की व्याख्या सत्य प्रतीत होती है। किन्तु मनु के समय में निन्दा अर्थ प्रसिद्ध नहीं था। यह संकुचित अर्थ बहुत ही अर्वाचीन है। क्योंकि यदि शूद्र के कार्य तथा नाम निन्दायुक्त या घृणित होते, तो मनु शूद्र के कर्मों को भी 'धर्म' शब्द से न कहते। मनु जी ने चारों वर्णों के कर्मों को 'एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्त्तितः' (मनु० १०। १३१) 'धर्म' शब्द से न कहते। और शूद्र के कर्म को (१। ९२) में प्रभु द्वारा उपदिष्ट न कहते। और (१। २) में ऋषि-मुनि चारों वर्णों के धर्मों की जिज्ञासा न करके तीन वर्णों की जिज्ञासा प्रकट करते। मनु के लेख के अनुसार जो मनुष्य तीनों ब्राह्मणादि वर्णों के कर्मों को करने में असमर्थ हो, वह शूद्र एकजाति होने से द्विज कहलाने का अधिकारी नहीं है। परन्तु उसके प्रति घृणाभावादि का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

दोनों श्लोकों की संगति—वास्तव में एक ही लेखक के दोनों श्लोकों में विरोध नहीं हो सकता। भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या से ही भ्रान्ति की उत्पत्ति होती है। इन श्लोकों में वर्णानुसार व्यक्तियों के गुणों तथा नाम रखने का विधान किया गया है। जो व्यक्ति ब्राह्मणवर्ण में दीक्षित होना चाहता है, उस में ऐसे गुण होने चाहिये कि जो मंगल्यम्=प्राणिमात्र की भलाई के लिये हों। क्योंकि यदि ज्ञान का केन्द्र ही अमंगलभावों से प्रेरित होगा, तो सर्वाधिक हानि की संभावना

रहती है। और उसका नाम 'शर्मवत्[1]' परोपकारादि सब को सुख देने वाले भावों का सूचक होना चाहिये। ब्राह्मण ज्ञान का केन्द्र होने तथा उपदेष्टा होने से 'शर्म' सुख के भावों वाला होना चाहिये। और जो व्यक्ति क्षत्रियवर्ण में दीक्षित होना चाहे, उसमें बलान्वितम्=बल पराक्रम वाले गुण होने चाहिये और उसका नामकरण भी इस प्रकार के गुणों को द्योतित करने वाले रक्षासमन्वितम् =रक्षणात्मक भावों को बताने वाला होना चाहिये। केवल प्रचलित 'वर्मा' शब्दयुक्त ही नहीं, प्रत्युत अरिंदम, धनञ्जय, धृतराष्ट्रादि रखने चाहिये। और जो व्यक्ति वैश्य वर्ण में दीक्षित होना चाहे, उसमें धनयुक्तम्='धिनोतीति धनम्' जो सब वर्णों को तृप्त करने वाले गुण रखता हो, ऐसे धनार्जन करने के गुण होने चाहिये, उसका नामकरण पुष्टिसंयुक्तम्=धनसमृद्धि के भावों का द्योतक होना चाहिये। जैसे—धनगुप्त, अर्थपति, वसुगुप्तादि, केवल प्रचलित 'गुप्त' शब्द युक्त नहीं। और जो जिसमें इन तीनों द्विजों के गुणों का अभाव है, वह शूद्र है, अतः उसमें जुगुप्सितम्=इन वर्णों की रक्षा (सेवादि के द्वारा) करने के गुण होने चाहिये और उसका नामकरण प्रेष्यसंयुतम्=प्रपूर्वक इष् धातु का प्रयोग आज्ञा करने या प्रेरणा करने में आता है, अतः आज्ञाकारी या प्रेरणा से काम करने के भावों को द्योतित करने वाला हो। जैसे—देवदास, महीदासादि।

इस प्रकार प्रथम श्लोक में वर्णों के गुणों का वर्णन किया है, और दूसरे श्लोक में कर्मानुसार नामकरण का संकेत किया है। जिससे मनु का आशय बहुत ही स्पष्ट है कि मनु जी गुणों के द्योतक भावों को ही नामों में चाहते हैं, किसी शब्द विशेष को नहीं। और वह भाव नाम में ही स्पष्ट होना चाहिये। वर्त्तमान में जो शर्मा, वर्मा आदि लिखने की परम्परा प्रचलित हुई है, यह जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था प्रचलन के बाद की है। प्राचीन नामों में यह परम्परा नहीं मिलती।

---

१. शर्म सुखनाम (निघं० ३। ६)। शर्म गृहनाम (निघं० ३। ४)। शर्म शरणम्। (निरुक्त ६। १६)। वाग्वै शर्म (ऐ० २। ४०)। अग्निर्वै शर्माणि (ऐ० २। ४१)। और धात्वर्थ के अनुसार—शृणाति हिनस्ति दुःखानि यत्तत् शर्म= सुखम्॥

द्वितीयाध्याय के

संस्कार और ब्रह्मचर्याश्रम विषय में प्रक्षिप्त श्लोकों का विवरण

२।२७ [२।५२] यह श्लोक निम्न कारण से प्रक्षिप्त है—

(क) यहाँ द्विजवर्णों की उपनयन-विधि प्रकरण (२।२६ श्लोक) में पूर्वाभिमुख होकर एक सामान्य विधि का उल्लेख किया गया है और इस श्लोक में चारों दिशाओं में मुख करके फलनिर्देशपूर्वक कथन किया है। अतः यह पूर्व विधान से विरुद्ध है।

(ख) इस श्लोक में दिशाओं के अनुसार भोजन करने के जो फल (आयु, यश, श्री, ऋत=सत्य) दिखाये हैं, उनका दिशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। मनु ने 'आचाराल्लभते ह्यायुः' आदि कथन करके आयु-वृद्धि के कारणों का निर्देश किया है। बिना कारण-कार्य भाव के फलकथन की भावना पौराणिक युग की है, मनु की नहीं। अतः इसमें शैली-विरुद्ध कथन है।

(ग) यदि दिशाओं को आयु आदि का कारण माना जाये, तो यह निर्धन से निर्धन, अत्यन्त रोगी तथा अतिशय पाप निरत पुरुष को भी सुविधा प्राप्त है, फिर तो अल्पायु वाला, निर्धन एवं पापी कोई नहीं होना चाहिये। अतः यह मान्यता प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है।

(घ) प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी दिशा में ही मुख करके भोजन करता है, क्योंकि कैसे भी बैठा जाये, दिशाओं को नहीं छोड़ा जा सकता। यदि आयु आदि इतने सुगम उपाय से प्राप्त हो जायें, तो कोई भी इनकी प्राप्ति के साधनों को न अपनाये। अतः यह धर्मविमुख तथा निष्क्रिय बनाने वाली मान्यता है।

२।३६—३७ [२।६१—६२] ये दोनों श्लोक निम्न आधार से प्रक्षिप्त हैं—

(क) यहाँ द्विजों के कर्मों तथा उपनयन संस्कार का प्रकरण चल रहा है। (२।२८[२।५३]) श्लोक में तो स्पष्टरूप से 'द्विज' शब्द का पाठ किया गया है। और उपनयन विधि में जितने भी अन्य कर्मों का वर्णन हुआ है, उसमें शूद्र का कहीं नाम नहीं है, फिर आचमन विधि में शूद्र का कथन प्रसङ्ग के विरुद्ध है।

(ख) आचमन की विधि का सन्ध्या, यज्ञ तथा संस्कारों के प्रारम्भ में

विधान है। अतः इस विधि का 'एकान्त' से विशेष प्रयोजन संगत नहीं होता। प्रस्तुत उपनयन संस्कार में भी एकान्त कदापि सम्भव नहीं है, अतः इन श्लोकों में एकान्तता की बात अव्यावहारिक होने से असंगत ही है।

(ग) 'सन्ध्या' के विषय में तो पूर्व-पश्चिम का विधान तथा व्यवहार होता है। जैसे मनु ने भी कहा है—'न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम्।' सन्ध्या में भी उत्तर दिशा का कहीं वर्णन नहीं मिलता। और यज्ञ, संस्कारादि में भी सब का उत्तर-मुख होना कदापि सम्भव नहीं है, तो क्या आचमन करने के लिये सबको प्रातः-सायं दिशा परिवर्तन करना चाहिये ? और सन्ध्या के समय में भी दिशा का निर्धारण करना अनिवार्य नहीं हैं, क्योंकि सर्व-व्यापक परमात्मा की उपासना किसी ओर मुख करके की जा सकती है सन्ध्या के समय वायु के प्रवाह का भी ध्यान रखना होता है। अतः उत्तर दिशा की ओर मुख करके आचमन की बात सर्वथा अव्यवहार्य है।

(घ) २।१९७ श्लोक में दोनों सन्ध्याओं में आचमन करके गायत्री जप का विधान किया है। इसी प्रकार २।७६—७७ श्लोकों में भी कहा गया है। इनमें कहीं भी दिशा-विशेष का विधान नहीं किया है। २।३६ में उत्तर दिशा का विधान करने से परस्पर-विरोध हो जाता है, जो कि एक लेखक की मान्यता नहीं हो सकती।

(ङ) चारों वर्णों का विभाग गुण-कर्मानुसार ही मनु ने माना है। सब वर्णों की शरीर-रचना में परमात्मा ने ऐसा कोई अन्तर नहीं रक्खा है कि ब्राह्मण की पवित्रता हृदय तक आचमन-जल जाने से हो, क्षत्रिय की कण्ठ तक, वैश्य की मुख तक और शूद्र की ओष्ठ से छूने से ही पवित्रता हो जाये। यह निराधार व पक्षपातपूर्ण वर्णन है। और आचमन का प्रयोजन कफादि की निवृत्ति करना है, जिससे सन्ध्या आदि कार्य निर्विघ्न हो सकें। फिर यह प्रयोजन उपर्युक्त भिन्नता से कैसे सम्भव है ? मुख तक अथवा छूने से तो आचमन का प्रयोजन कभी सिद्ध नहीं हो सकता। और कर्मों की दृष्टि से देखा जाये तो निचले वर्णों को हृदय तक पहुंचने वाला आचमन करना चाहिये। अतः इस प्रकार का वर्णन निरर्थक, अयुक्तियुक्त तथा पक्षपातपूर्ण होने से मान्य नहीं हो सकता।

२।४१—४२ [२।६६—६७] ये दोनों श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) संस्कारों के समय जो वेद-मन्त्र बोले जाते हैं, उनमें उन संस्कारों के लाभादि का वर्णन है। अतः संस्कारों में मन्त्रोच्चारण करना अत्यावश्यक है। क्या मन्त्रोक्त उपदेशों की स्त्रियों के लिये आवश्यकता नहीं है ?

अतः २।४१में विना मन्त्र की बात पक्षपात-पूर्ण एवं पौराणिकप्रभाव को द्योतित कर रही है। ईश्वरोक्त होने से मन्त्रों का उपदेश मानव-मात्र के लिये है। मन्त्रों से स्त्रियों को वञ्चित रखना पक्षपातपूर्ण है।

(ख) स्त्रियों के संस्कार विना मन्त्रों के करने की मान्यता मनु के आशय से भी विरुद्ध है। मनु ने धर्मकार्यों में स्त्री-पुरुष का समान अधिकार माना है। जैसे—जातकर्मसंस्कार में 'मन्त्रवत् प्राशनं चास्य' (२।४) मन्त्रोच्चारणपूर्वक मधु चटाने का स्पष्ट विधान किया है। इसी प्रकार विवाह-संस्कारादि के समय में भी वैदिक-संस्कारों का विधान है। यदि वेद-मन्त्रों का ही पाठ न हो तो वैदिकता कहाँ रह जायेगी ? ३।२८ श्लोक में मनु ने दैव-विवाह का विधान किया है, जो अग्निहोत्र पूर्वक ही होता है और अग्निहोत्र मन्त्रोच्चारण के विना कैसे सम्भव है ? मनु ने ९।२८ में 'अपत्यं धर्मकार्याणि' और ९। ११ में भी धर्मकार्यों को स्त्री के आधीन कहा है।-९।९६ में 'तस्मात् साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः' स्त्री को धर्मकार्यों में साथ रखने का आदेश दिया है। (२।२६—२८) श्लोकों में मनु जी ने संस्कारों को समानता से सभी के लिये आवश्यक कहा है। और संस्कार मन्त्र-पूर्वक ही होते हैं। अतः इन श्लोकों का कथन मनु की मान्यता से विरुद्ध है।

(ग) इन श्लोकों की बात वेद-विरुद्ध होने से भी असत्य है। मनु ने सर्वत्र वेद को परम-प्रमाण माना है। और धर्मकार्यों के लिये तो 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' कहकर वेद को परम प्रमाण माना है। फिर वे वेद से विरुद्ध कैसे कह सकते हैं ? वेद में कहा है—'यथेमां वाचं कल्याणीम् आवदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय......।'' (यजु० २६।२) अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान मानव मात्र के लिये है। चारों वर्णों, स्त्रियों, भृत्यों, अतिशूद्रादि के लिये भी वेद का उपदेश है। और मन्त्रों के पाठ का जो प्रयोजन मनष्यों के लिये है, क्या स्त्रियों के लिये उसकी आवश्यकता नहीं है ? अतः स्त्रियों के संस्कार विना मन्त्र के कहना अवैदिक मिथ्यामान्यता है। प्राचीनकाल में गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषी स्त्रियों के उदाहरण भी इस बात को परिपुष्ट करते हैं कि स्त्रियाँ भी वेदादिशास्त्रों को पढ़ती थीं।

(घ) ये दोनों श्लोक प्रसंग-विरुद्ध भी हैं। यहाँ द्विजों के उपनयन संस्कार का प्रकरण चल रहा है। जैसे—२।४३ में प्रकरण की समाप्ति करते हुए मनु जी ने कहा है—'एषः प्रोक्तः द्विजातीनामौपनयनिको विधिः'। परन्तु इन दोनों श्लोकों में उपनयन से भिन्न वैवाहिक विधि आदि का वर्णन किया है। अतः ये प्रसंगविरुद्ध हैं।

(ङ) २।४२ वें श्लोक में स्त्रियों के विवाह-संस्कार को ही उपनयन संस्कार, पतिसेवा को गुरुकुलवास, और घर के कार्यों को ही अग्निहोत्रादि धार्मिक कार्य मानने की बात भी इस बात का स्पष्ट संकेत कर रही है कि ये श्लोक उस समय मिलाये गये हैं, जब स्त्रियों से वेद-पठनाधिकार छीन लिया गया और उनके प्रति हीन भावना होने लगी। और यह वर्णन वेद एवं मनु की मान्यता के विरुद्ध है। मनु ने ६।२८ तथा ६।११ में यज्ञादिधर्मकार्यों को स्त्रियों के आधीन कहा है। क्या बिना पढ़े धर्मकार्य हो सकते हैं? और वेद में 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।' (अथर्व० ३।५।१८) यहाँ कन्याओं को ब्रह्मचर्याश्रम का स्पष्ट विधान किया है। और ब्रह्मचर्याश्रम के लिये गुरुकुलवास करना अपरिहार्य है। अतः इन श्लोकों का कथन अव्यावहारिक, वेद तथा मनु से विरुद्ध होने से मिथ्या है।

(च) इन दोनों श्लोकों के कथन में परस्पर विरोध भी इन को अर्वाचीन सिद्ध कर रहा है। २।४१ श्कोक में कहा है कि स्त्रियों के ये संस्कार बिना मन्त्र के करने चाहिये और २।४२ में स्त्रियों के लिये उपनयनादिसंस्कारों का निषेध दूसरे कार्यों को बताकर कर दिया है। यदि इन संस्कारों को बिना मन्त्र के करना चाहिये तो निषेध करना निरर्थक है और यदि निषेध का विधान हैं, तो विना मन्त्र के करे, यह कथन भी विरुद्ध है। अतः अवान्तरविरोध होने से भी ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

२।४५[२।७०] वाँ श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त है—

(क) इस श्लोक में उत्तर दिशा की तरफ मुख करके पढ़ने का विधान किया है। और २।१७८ वें श्लोक में कहा है कि शिष्य गुरु के पास ऐसे स्थान पर बैठे जहाँ गुरु की ओर वायु शिष्य की ओर से न जावे। इन दोनों बातों में परस्पर समन्वय नहीं हो सकता। क्योंकि शिष्य हवा का ध्यान रक्खे या दिशा का? हवा का ध्यान रखना तो उचित है, जिससे गुरु की तरफ गन्दी हवा न जावे, किन्तु दिशा वाली बात उसके विरुद्ध होने से संगत नहीं है।

(ख) इस श्लोक में पुनरुक्ति भी है। २।४६ श्लोक में गुरु के पास शिष्य कैसे बैठे? इसकी विधि 'ब्रह्माञ्जलिः=दोनों हाथ जोड़कर' कही है। उसी को इस २।४५ में 'ब्रह्माञ्जलिकृतः' कहकर पुनः कहा गया है। एक ही लेखक के वचनों में यह पुनरुक्ति सम्भव नहीं है। और २।४६ में ही 'ब्रह्माञ्जलि' का लक्षण भी किया गया है। अतः इस श्लोक में पिष्ट-पेषण मात्र ही किया है। अतः यह श्लोक अवान्तर विरोध एवं पुनरुक्ति से युक्त होने से प्रक्षिप्त है।

२।५०[२।७५] वाँ श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त है—

(क)—इस श्लोक में 'ओम्' के उच्चारण की योग्यता का उल्लेख किया गया है अर्थात् पूर्व की ओर मुख करके कुशासन पर बैठकर, पवित्र कुशाओं से मार्जनकर और तीन प्राणायमों से पवित्र होकर ओंकार का उच्चारण करे। ओंकार के लिये इस प्रकार की शर्त लगाना मनु के अभिप्राय से विरुद्ध है। मनु ने किसी भी पुण्यप्रद अथवा धार्मिक कर्त्तव्य से पूर्व इस प्रकार की शर्त नहीं लगाई है। जैसे—२।१०१ से १०६ तक सन्ध्या तथा गायत्री-जप का विधान किया है, किन्तु वहाँ भी इस प्रकार की कोई शर्त्त नहीं लगाई, फिर वेदाध्ययन से पूर्व सन्ध्या से भी बढ़कर इस प्रकार की शर्त मनुसम्मत कैसे हो सकती है ?

(ख) और वेदाध्ययन को सब अवस्थाओं में आवश्यक मनु ने माना है, क्या वेदाध्ययन करने से पूर्व कुशासन, कुशायें, जलपात्रादि रखना, इत्यादि शर्तों को पूरा किया जा सकता है ? और जब-जब भी ओंकार का जप करने की इच्छा होगी, चलते-फिरते, रुग्णावस्था, यात्रा करते समयादि दशाओं में इन साधनों की पूर्त्ति कैसे की जा सकती है ? अतः यह वर्णन व्यावहारिक नहीं है।

(ग) मनु के अनसार २।५१ में ओंकार को वेदों से लिया गया है और २।५२ के अनुसार गायत्री मन्त्र को भी वेदों से लिया है। वेद की प्रतिष्ठा तथा पवित्रता को ध्यान में रखकर उपर्युक्त साधनों का एक के लिये आवश्यक तथा दूसरे मन्त्र के लिये नहीं, यह एक लेखक की कृति में कदापि नहीं हो सकता। जबकि २।५३–५८ तक श्लोकों में गायत्री का माहात्म्य विशेष रूप से कहा गया है।

(घ) यह श्लोक प्रसंगानुकूल भी नहीं है। २।४९ श्लोक में ओंकार के उच्चारण का विधान किया है और २।५१ श्लोक में ओंकार का स्वरूप बताया गया है। इन के मध्य में ओंकार के उच्चारण करने वाले की योग्यता का वर्णन प्रसंग के विरुद्ध होने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

२।५४—६२[२।७९—८७] तक ९ श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये सभी श्लोक प्रसंग विरुद्ध हैं। २।५३ श्लोक में ओंकार और गायत्री के जप का फलकथन किया गया है और उसके बाद गायत्री तथा ओंकार जप का अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन किया गया है। यथार्थ में फलकथन करने पर ही इनके जप की बात समाप्त हो गई है।

(ख) २।५४ तथा २। ५७ श्लोकों में काल की अवधि बताकर जप

करने से वड़े से बड़े पापों से मुक्ति कही गई है। पापों से मुक्ति की वात मनु की मान्यता से विरुद्ध तथा अवैदिक है। क्योंकि जो जैसा कर्म करता है, वह वैसा फल प्राप्त करता है, इस मान्यता से तथा ईश्वर की न्यायव्यवस्था से इसका विरोध है। और यदि गायत्री जप से ही पापों से मुक्ति मिलने लगे, तो कोई भी पाप करने से भयभीत न होगा, क्योंकि उसका इतना सुगम उपाय मिलने पर पापों के प्रति और अधिक उत्साह ही होगा।

(ग) मनुस्मृति में मुक्ति-प्राप्ति के अनेक साधन (परमात्मध्यान, इन्द्रिय-संयम, तप, विद्या, यमनियमों का पालनादि) बताये हैं। यदि गायत्री जप से ही मुक्ति-प्राप्त हो जाती है, तो दूसरे समस्त साधन निरर्थक ही हो जायेंगे।

(घ) २।५६ वें श्लोक में गायत्री को वेद का मुख, २।५८ में अनश्वर तथा सर्वोत्तम तप कहा है। २।५७ में गायत्री का तीन वर्ष तक प्रतिदिन जप करने से परमब्रह्म की प्राप्ति तथा वायुरूप होकर विचरने वाला माना है। यह अतिशयपूर्ण तथा परस्परविरोधी कथन होने से सत्य नहीं है। गायत्री-मन्त्र भी वेद ही का है, अतः वेद की भांति वह भी नित्य है। फिर उसे अनश्वर बताना अनावश्यक ही है। गायत्री का जप ब्रह्मचारी के लिये आवश्यक वताया है और ब्रह्मचर्य की अवधि २५, ३६, ४८ वर्ष तक है। यदि तीन वर्ष तक जपने से ही परब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है, तो ब्रह्मचर्य की समस्त अवधि में अधिक जप करना निरर्थक ही हो जाता है। और मनु ने वेद तथा ईश्वर को सर्वोपरि माना है, वेदाभ्यास को तथा प्राणायाम को परम तप कहा है। और यहाँ गायत्री को सर्वोपरि तथा उसके जप को परम तप कहा है। इनमें परस्पर विरोध होने से गायत्री-सम्बन्धी वर्णन सत्य नहीं है। और वेद परमेश्वर का ज्ञान है, गायत्री वेद का मन्त्र है, फिर यह परमेश्वर से ऊपर सर्वोपरि कैसे हो सकती।

(ङ) २।५९ वें श्लोक में वैदिक यज्ञादि क्रियाओं को नाशवान् बताने में लेखक का क्या तात्पर्य है? क्रियायें तो सभी करने के बाद समाप्त हो जाती हैं, फिर यज्ञादि क्रियाओं के विषय में ऐसा कहना निरर्थक है। और यदि इनके फल के विषय में तात्पर्य हो, तो मिथ्या ही है। क्योंकि वेदोक्त यज्ञादि कर्मों को मनु ने धर्म माना है और धर्म जन्म-जन्मातन्र में श्रेष्ठता का कारण है और मोक्षप्राप्ति व ब्रह्मप्राप्ति का साधन है। इसलिये यज्ञादि क्रियायें निष्फल कैसे हो सकती हैं?

(च) २।५५ वें श्लोक में वर्णों के साथ 'योनि' शब्द का प्रयोग भी द्विजों को जन्मना वर्णव्यवस्था बताने के लिये प्रक्षेप किया गया है। यह मनु की

मान्यता के विरुद्ध है। मनु ने २।१३० में 'शूद्राणामेव जन्मतः' कहकर जन्म से शूद्र की ज्येष्ठता मानी है। ब्राह्मणादि वर्ण तो कर्मों के कारण ही ज्येष्ठ होते हैं, जन्म से नहीं। और २।१३२, २।१३३ श्लोकों में अनपढ़ तथा वेदज्ञानरहित को ब्राह्मण मानने से स्पष्ट रूप से मना किया है। इस से जन्मजात वर्णव्यवस्था का प्रत्याख्यान हो जाता है। और मनु ने शूद्र को एकजाति=एकजन्मा और ब्राह्मणादि को द्विज इसलिये ही कहा है कि जो उपनयनादि संस्कार तथा वेदज्ञान से हीन है, वह द्विज नहीं है, उस की गणना एकजन्मा होने से शूद्रों में ही है।

(छ) २।५५ वें श्लोक का मनु की मान्यता से और भी विरोध है। इसमें गायत्री जप से रहित को निन्दनीय ही कहा है, जबकि २।७८ वें श्लोक में उस व्यक्ति को शूद्र मानकर द्विजों से पृथक् करने का आदेश है। एक ही प्रसंग में यह विरोध कदापि संगत नहीं हो सकता।

(ज) २।६२ श्लोक में केवल जप करने से ही ब्राह्मण की सिद्धि कहना पक्षपातपूर्ण है। क्या दूसरे वर्णों की जप से सिद्धि नहीं हो सकती? और जब जप से ही सिद्धि हो जाती है, तो ब्राह्मण को दूसरे कर्मों की क्या आवश्यकता है? और जप करने मात्र से दूसरे कर्मों की छूट देना मनु की मान्यता से विरुद्ध है। १।८८ श्लोक में ब्राह्मण के यजन-याजनादि कर्मों का निर्धारण तथा २।३ में स्वाध्याय, व्रत, यज्ञ, वेदाध्ययनादि से ब्राह्मण बनने का समस्त विधान इस श्लोक को मानने पर वैकल्पिक हो जाता है जो कि विरुद्ध है।

(झ) २।६१-६२ श्लोकों में जपयज्ञ का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। और वह केवल इसलिये लिखा है कि २।६२ वें श्लोक के अनुसार जप से ब्राह्मण की सिद्धि कही जा सके। यद्यपि पञ्चमहायज्ञों तथा दूसरे कर्मों में अन्तरंग-बहिरंग भेद से कुछ अन्तर कहा जा सकता है, किन्तु इतना अन्तर नहीं है कि (२।६१) सोलवीं कला के बराबर भी नहीं है, अथवा शतगुण या सहस्र गुण अधिक है।

यह २।६१[२।११६] श्लोक निम्न कारण से प्रक्षिप्त है—

(क) मनुस्मृति २।८०-८१ में वेद का पठन-पाठन प्रतिदिन आवश्यक बताते हुए उसमें अनध्याय=अवकाश का भी निषेध किया है। और २।१६६ में 'चोदितो गुरुणा नित्यम् अप्रचोदित एव वा' कहकर गुरु की प्रेरणा अथवा बिना प्रेरणा के भी वेदाध्ययन में रत होने का विधान किया है। इन मनु के निर्देशों से स्पष्ट है कि वेदाध्ययन के लिये मनु जी किसी प्रकार बन्धन नहीं मानते। परन्तु प्रस्तुत श्लोक में पढ़ाने वाले की बिना अनुमति के वेद पढ़ने

वाले को वेद-ज्ञान की चोरी का भागीदार कहा है। अतः यह कथन मनु की मान्यता से विरुद्ध है।

(ख) और वेद का ज्ञान मानव-मात्र के लिये है तथा उसका पठन-पाठन स्वीकृति अथवा अस्वीकृति से अपुण्यप्रद तो कदापि हो नहीं सकता। फिर इस श्लोक में चोर के समान तथा नरकगामी होने का भय दिखाना कैसे संगत हो सकता है? इस श्लोक के वर्णन से इस श्लोक की अर्वाचीनता भी स्पष्ट प्रतीत हो रही है कि जब वेदाधिकार कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित कर दिया गया है और पौराणिक कल्पित स्वर्ग-नरक कोई लोकविशेष माने जाने लगे, उस समय इस श्लोक को बनाकर मिलाया गया है। मनु जी ने स्वर्ग-नरक को स्थानविशेष कहीं भी नहीं माना है।

यह २।९३[२।११८] वाँ श्लोक निम्न कारण से प्रक्षिप्त है—

(क) यह श्लोक प्रसंगविरुद्ध है। २।९२ श्लोक में अभिवादन विधि का वर्णन है, और २।९४ श्लोक में भी अभिवादन का वर्णन है। अतः इनके मध्य में इस श्लोक की कोई संगति नहीं है।

(ख) इस श्लोक में मनु की मान्यताओं का स्पष्ट रूप से विरोध है। इस श्लोक में कहा है—'सब कुछ बेचने वाला, सब कुछ खाने वाला और तीन वेदों का ज्ञाता ब्राह्मण यदि अजितेन्द्रिय है, तो वह श्रेष्ठ नहीं है। और जो केवल गायत्री के सार जानने वाला है, और कुछ नहीं जानता, ऐसा जितेन्द्रिय ब्राह्मण (श्रेष्ठ) अच्छा है'। प्रथम तो ब्राह्मण के कर्मों में मनु ने व्यापार को नहीं माना, फिर सब कुछ बेचना ब्राह्मणकर्म कैसे सम्भव है? व्यापार तो वैश्य का कर्म है। इसी प्रकार मनु ने द्विजों को सब कुछ खाने का कहीं आदेश नहीं दिया है। ब्रह्मचर्यादि विभिन्न आश्रमों में भोजन-विशेषों का उल्लेख तो किया ही है, साथ ही द्विजों को तामसिक भोजनादि (मांस, मदिरादि) का पञ्चम अध्याय में स्पष्ट निषेध किया है। अतः सब कुछ खाने वाला ब्राह्मण हो ही नहीं सकता। अतः यह श्लोक मनु की व्यवस्था के विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता।

(ग) और ब्राह्मण का मुख्य कार्य वेदाध्ययन करके दूसरों को उपदेश करना है। किन्तु यहां 'गायत्रीमात्रसार' कहकर ब्राह्मण को वेदादि न पढ़ने की छूट का स्पष्ट संकेत किया गया है। और इसे आपद्धर्म भी नहीं कह सकते। मनु ने आपद्धर्मों का पृथक् विधान किया है। अतः प्रकरण-विरुद्ध, असंगत, तथा मनु की मान्यता से प्रतिकूल होने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

यह २।९८ [२।१२३] वाँ श्लोक निम्न कारण से प्रक्षिप्त है—

(क) यह श्लोक प्रसगविरुद्ध है। २।६७ में अभिवादन की विधि बताई गई है और उसकी पूर्ति २।६६ में हुई है। इस अभिवादन-विधि के मध्य में इस श्लोक का वर्णन असंगत है।

(ख) इस श्लोक का मनु की दूसरी मान्यताओं से विरोध भी है। मनु ने २।१०१ में कहा है कि जो विप्र प्रत्यभिवादन करना नहीं जानते, उन्हें अभिवादन करना ही नहीं चाहिए। और यहां कहा है कि बिना नाम बताये अभिवादन करे यह परस्पर विरुद्ध कथन होने से मान्य नहीं हो सकता।

(ग) इसी प्रकार स्त्रियों के लिये अभिवादन विधि में पक्षपातपूर्ण कथन किया गया है। स्त्रियां यदि प्रत्यभिवादन करना जानती हैं तो उनके अभिवादन में भी भेद क्यों? यह प्रक्षेप भी स्त्रियों के प्रति हीन भावना आने पर ही हो सकता है और जब २।१६१ में गुरु-पत्नियों को पूर्ण विधि से वन्दन करने का विधान किया तो अभिवादन में सब स्त्रियों का परित्याग करने की वात परस्पर विरुद्ध हो गई, अतः यह श्लोक मनुसम्मत कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि मनु ने स्त्री-जाति का अत्यधिक सम्मान किया है।

ये २।१०५—११०[२।१३०-१३५] छः श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये श्लोक प्रसंग-विरुद्ध हैं। इस अध्याय में मुख्यरूप से ब्रह्मचर्याश्रम में वर्णधर्मों का वर्णन है। इस प्रकरण की समाप्ति करते हुए मनु लिखते हैं—"अनेन क्रमयोगेन............गुरौ वसन् संचिनुयात् ब्रह्माधिगमिकं तपः।" (२।१३९) अर्थात् इन पूर्वोक्त विधियों के अनुसार ब्रह्मचारी गुरु के पास रहता हुआ वेद-ज्ञान के लिये तप करे। परन्तु इन श्लोकों में जो वर्णन है, उससे गृहस्थ के कर्त्तव्यों का सम्बन्ध है, ब्रह्मचारी के नहीं। क्योंकि—(२।१०५-१०६) गुरुकुल में मामा, मामी, चाचा, श्वसुर, ऋत्विज, सास, बुआ मौसी आदि कैसे हो सकते हैं? और गृहस्थ, में जाने से पूर्व ही सास-श्वसुर का संबन्ध कैसे बन जायेंगे? और २।१०७ के अनुसार बड़े भाई की पत्नी (भाभी) और दूसरी स्त्रियों के गुरुकुल में न होने से ब्रह्मचारी प्रतिदिन उन्हें अभिवादन कैसे कर सकेगा? और (२।१०८) गुरुकुल में बूआ, मौसी, और बड़ी बहन न होने से उनके साथ माता की तरह व्यवहार कैसे कर सकेगा? अतः इस प्रकार के श्लोक प्रसंगविरुद्ध हैं।

(ख) इन श्लोकों में मनु की मान्यता (२।११०) से विरुद्ध मान्यता का कथन है। मनु ने २।१११-११२ तथा २।१२५—१३१ श्लोकों के अनुसार गुणों के आधार पर ही बड़प्पन माना है। किन्तु इस श्लोक में जन्म से बड़प्पन की वात कही है। जैसे दशवर्ष के ब्राह्मण को १०० वर्ष के क्षत्रिय से बड़ा

कहा है। यह अवस्था का निर्देश जन्म से बड़प्पन की पुष्टि कर रहा है। दश वर्ष का ब्राह्मण-बालक कैसे विना विद्या पढ़े ही पिता हो सकता है? मनु ने तो अन्यत्र (२। १२८ में) 'अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः' कहकर ज्ञान के कारण बड़ा माना है और २। ११२ में भी मान का आधार गुणों को माना है। अतः यह अवस्था की बात मनुविरुद्ध है।

(ग) और मनु की वर्णव्यवस्था का आधार कर्म है, जन्म नहीं। यहाँ अल्पायु के ब्राह्मणकुमार को १०० वर्ष के क्षत्रिय से बड़ा कहना जन्म-मूलक वर्णव्यवस्था का बोधक है। अतः यह मनु के दूसरे वर्णनों से विरुद्ध होने के साथ पक्षपातपूर्ण कथन भी किया गया है। मनु जैसा विद्वान् ऐसी पूर्वापर विरुद्ध तथा प्रसंग-विरुद्ध बातें कदापि नहीं मान सकता। इसलिये ये श्लोक अर्वाचीन और प्रक्षिप्त हैं।

यह २। १२०[२। १४५] वाँ श्लोक निम्नलिखि कारण से प्रक्षिप्त है।

(क) यह श्लोक पूर्वापर-प्रसं से विरुद्ध है। २। ११९ श्लोक में गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारो के माता-पिता कौन हैं, यह बताया है। २। १२१ में जन्म देनेवाले तथा वेदज्ञान देनेवाले पिताओं की तुलना की गई है। इनके मध्य में उपाध्याय की आचार्य से, आचार्य की पिता से, पिता की माता से तुलना बताना प्रकरण को भंग कर रहा है अतः असंगत है।

(ख) इस श्लोक में मनु की मान्यता से स्पष्ट विरोध है। मनु ने २।१११ में विद्या को सर्वोपरि माना है २। १२१ में भी जन्म देनेवाले पिता से ज्ञान देनेवाले पिता (आचार्य) को अधिक बड़ा माना है। किन्तु इस श्लोक में जन्म देने वाले पिता को आचार्य से अधिक माननीय माना है। इस अवान्तर विरोध तथा मनु की मान्यता से विरुद्ध होने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

ये (२।१४४–१४९[२।१६९–१७४] तक) छः श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त हैं—

(क) २।१४४ वें श्लोक में तीन जन्मों का कथन मनु की मान्यता से विरुद्ध है। मनु ने २।१२२-१२३ श्लोकों में द्विजों के दो जन्मों का तथा २। १२१ में जन्म देनेवाले एवं ज्ञान देनेवाले दो पिताओं का कथन किया है। और 'द्विज' शब्द से भो दो जन्मों की ही पुष्टि होती है। अतः यहाँ तीन जन्मों की वात पूर्ववर्त्ती मान्यता से विरुद्ध होने से मिथ्या है।

(ख) और २।१४५ में दूसरे जन्म में सावित्री को माता तथा आचार्य को पिता कहा है। तृतीय-जन्म के माता-पिता कौन हैं? इसका यहां कोई

उल्लेख नहीं है। अतः तृतीय-जन्म की बात इन श्लोकों में भी अपूर्ण होने से कल्पित है।

(ग) २।११६ वें श्लोक में ब्रह्मचारी का गुरुकुल में रहते हुए आचार्य ही को माता-पिता कहा है। और १। ४५ में सावित्री को माता, आचार्य को पिता कहा है। यह भिन्नता भी परस्पर-विरोध को प्रकट करती है।

(घ) २। १४७ में कहा है कि उपनयन-संस्कार से पूव वेदोच्चारण न कराये, क्योंकि वह शूद्र के समान है। यहां शूद्र को वेद पढ़ने, सुनने का निषेध करने की भावना प्रकट हो रही है। जब कि यह वेद-विरुद्ध मान्यता होने से मनुसम्मत कदापि नहीं हो सकती। वेद में 'यथेमां वाचं कल्याणीं आवदानि······ शूद्राय चार्याय०' कहकर शूद्र को भी वेद पढ़ने का समान अधिकार दिया है। मनु ने सर्वत्र वेदोक्त बातों का ही वर्णन किया है। और २।२१३ श्लोक में शूद्र से भी धर्म की शिक्षा लेने को कहा है, यदि शूद्र को धर्म के कार्यों में अधिकार ही नहीं है तो इस श्लोक की कैसे संगति हो सकती है?

(ङ) इन (२।१४६-१४७) श्लोकों में उपनयन से पूर्व वेद-मन्त्रों का उच्चारण तथा वैदिक कार्य का निषेध किया है। यह भी मनु की मान्यता से विरुद्ध है। क्योंकि उपनयन से पूर्व जातकर्म, नामकरण, आदि वैदिक-संस्कारों का विधान मनु ने किया है। इन संस्कारों में वेद-मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। स्वयं मनु ने 'मन्त्रवत् प्राशनं चास्य' (२।४ में) कहकर मन्त्रपूर्वक संस्कार का विधान किया है। तथा। २। ८०-८१ श्लोकों में वेदाध्ययन को सब अवस्थाओं में पुण्यप्रद कहा है। अतः वैदिककर्मों का निषेध अथवा मन्त्रोच्चारण का निषेध उपनयन से पूर्व मनुसम्मत नहीं है।

(च) ये (२। १४८-१४९) श्लोक भी इन (२।१४६-१४७) से सम्बद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। इनमें भी मन्त्रोच्चारण उपनयन के बाद ही करे, क्योंकि उपनयन करने से पूर्व शूद्र के समान होता है, और शूद्र को मन्त्रोच्चारण का अधिकार नहीं है, इत्यादि मनुविरुद्ध भाव हैं, अतः ये प्रक्षिप्त हैं।

यह (२।१५६[२।१८१]) श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त है—

(क) इस श्लोक से पूर्व तथा बाद में ब्रह्मचर्य के नियमों का विधान किया गया है, अतः नियम-विधान के मध्यम में ही प्रायश्चित्त का वर्णन प्रसंग-विरुद्ध है। और व्रत या नियम के भंग होने पर यदि प्रायश्चित्त का विधान भी करना है, तो दूसरे व्रत-नियमों के भंग होने पर प्रायश्चित्त का क्यों विधान नहीं किया? क्या उनमें त्रुटि सम्भव नहीं है?

(ख) और मनु ने प्रथम दश अध्यायों में धर्मों का विधान किया है, और उसके बाद एकादश-अध्याय में प्रायश्चित्तों का विधान किया है। अतः यहां मध्य में प्रायश्चित्त का विधान मनु की शैली से भी विरुद्ध है। मनु यदि इस प्रकार मध्य-मध्य में ही प्रायश्चित्त का विधान करते तो एक पृथक् प्रकरण ही क्यों बनाते ?

(ग) और इस श्लोक में 'अर्कम् अर्चयित्वा' कहकर सूर्य की पूजा का कथन भी इसे मनु से विरुद्ध सिद्ध कर रहा है क्योंकि समस्त मनुस्मृति में एक परमेश्वर की पूजा तथा उपासना का विधान किया गया है। और जड़-पदार्थों की पूजा करना वेद-विरुद्ध होने से मनु कैसे कह सकते थे ? वेद में जड़-पूजा करने वालों की भी दुर्दशा का वर्णन करते हुए लिखा है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥ (यजु०)

इस मन्त्र में प्रकृति तथा उसके कार्यपदार्थों की उपासना करने वालों को घोर दुःखमय योनियों में जाने का वर्णन किया। यह श्लोक पौराणिक प्रभाववश किसी व्यक्ति ने जड़-पूजा प्रचलन होने पर ही बिना किसी प्रसंग के मिलाया है, अतः प्रसंगविरुद्ध तथा मनु की मान्यता के विरुद्ध होने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

ये (२।१६२—१६५ [२।१८७–१९०]) चार श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) २। १६२ वें श्लोक में प्रायश्चित्तस्वरूप अवकीर्णिव्रत का वर्णन है, यह इस प्रसंग से विरुद्ध है। मनु ने प्रायश्चित्त का वर्णन एक पृथक् अध्याय में (११ वें में) किया है। और अवकीर्णिव्रत का यहां कोई स्पष्टीकरण भी नहीं है।

(ख) २। १६१ वें श्लोक की २। १६६ श्लोक से पूर्णतः संगति है और भिक्षा का विषय २। १६० श्लोक में ही समाप्त हो गया है। २। १६१ श्लोक में अग्निहोत्र का वर्णन है। अतः २। १६२-१६३ में फिर से भिक्षा की बात कहकर अप्रासंगिक वर्णन किया है।

(ग) इन (२। १६४-१६५) श्लोकों में मृतक-श्राद्ध का वर्णन है, यह मनु की मान्यता के विरुद्ध है। मनु ने सर्वत्र जीवित-पितरों (माता-पितादि कों) की सेवा का विधान किया है। ३। ८२ श्लोक में पितरों की प्रसन्नता के लिये प्रतिदिन श्राद्ध करने को कहा है। मृतक-पितरों की प्रसन्नता कदापि सम्भव

नहीं है। यद्यपि इस श्लोक में 'मृतक' शब्द नहीं है, परन्तु पितृकर्म में ब्रह्मचारी के खाने की बात मृतकश्राद्ध में ही सम्भव है। दैनिक जीवित श्राद्ध में यह मान्यता संगत ही नहीं है। क्योंकि जो कर्म द्विजों को प्रतिदिन करना है, उसके लिये पृथक् कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

और २। १६५ में श्राद्ध में ब्राह्मण ही भोजन करे क्षत्रिय, वैश्य नहीं, यह बात भी पक्षपातपूर्ण तथा मनु की मान्यता से विरुद्ध है। प्रथम तो प्रकरण ब्रह्मचर्य का चल रहा है। ब्रह्मचर्य के नियमों के वर्णनों में कहीं भी ऐसा वर्णन मनु ने नहीं किया कि ब्राह्मण ऐसा करे, क्षत्रियादि नहीं। इसका कारण स्पष्ट है कि मनु जन्म से वर्ण-व्यवस्था नहीं मानते। ब्रह्मचर्याश्रम में सबके लिये समान नियम हैं। और इस आश्रम की समाप्ति पर गुरु गुण-कर्मानुसार वर्णों का निर्धारण करता है। अतः ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध और मनु की मान्यता के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

निम्नकारण से यह (२। १७६ [२। २०१] वाँ) श्लोक प्रक्षिप्त है—

(क) मनु ने १२। ९, २५-५२, ७४ श्लोकों में सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण वाले कर्मों के अनुसार उत्तम, मध्यम, अधम अथवा तिर्यक्, स्थावर, मनुष्यादि की योनियों को प्राप्त करना माना है। किसी एक ही कर्म से एक योनि विशेष में जाना मनु ने नहीं माना, किन्तु यहाँ एक कर्म से ही योनियों में जाना माना है, यह मनु की शैली तथा मान्यता से विरुद्ध है।

(ख) २। ११७ वें श्लोक में कहा है—'सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते' अर्थात् जो विप्र अन्न से सत्कार करता है, वह गुरु कहलाता है। यहां गुरु के द्वारा अन्नादि से पालन-पोषण की बात कही है। और इस श्लोक में गुरु के अन्नादि को खाने वाले को 'कृमि' योनि में जाने की बात कही है। अतः अन्तर्विरोध होने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

ये (२। १८२—१८६ [२। २०७—२११]) पाञ्च श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) २। १८२ से १८४ श्लोकों में गुरुपुत्र के साथ गुरु जैसा व्यवहार करने की बात कही है। चाहे वह बालक हो, समानायु वाला हो अथवा शिष्य भी क्यों न हो। यह कथन मनु की मान्यता से विरुद्ध है। मनु ने २। ९२ में ज्ञान देनेवाले का सत्कार करने को कहा है। २। १२४—१३६ इन श्लोकों में विद्या देने वाले को ही गुरु माना है। किन्तु शिष्य बने गुरु-पुत्र के सत्कार की बात मनुसम्मत नहीं हो सकती। इस कथन से जन्ममूलक परम्परा की बात

झलकती है। मनु ने सर्वत्र जन्म से किसी को सत्कार देने की बात नहीं कही है।

(ख) २। १८५ में सवर्ण अथवा असवर्ण गुरु-पत्नियों के सत्कार की बात कही है। गुरु-पत्नी का सत्कार अवश्य करना चाहिये, किन्तु यहाँ एक अवैदिक-मान्यता बहुपत्नी प्रथा का निर्देश किया है, यह मनुसम्मत कदापि नहीं हो सकती। मनु ने सर्वत्र एकपत्नीव्रत का ही निर्देश किया है। 'सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता' इत्यादि श्लोकों में सर्वत्र एकवचन का ही निर्देश है। और वानप्रस्थाश्रम में 'पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य' यहाँ भी एकवचन का पाठ है। और ५। १५८ में 'यो धर्म एकपत्नीनाम्' कहकर एक पत्नीव्रत को ही उत्तम माना है। अतः यहाँ गुरु की अनेक पत्नियों की बात मनु की मान्यता से विरुद्ध है।

(ग) मनु ने ३। ४ में कहा है—'उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्' अर्थात् द्विज शुभ लक्षणों वाली सवर्णा कन्या से विवाह करे। किन्तु २। १८५ में गुरु की सवर्णा तथा असवर्णा स्त्रियों के आदर की बात कही है। यह परस्पर विरोधी कथन मान्य नहीं हो सकता। क्या गुरु को द्विजों के कर्त्तव्य नहीं पालने चाहिये? जो वह असवर्णा स्त्रियों से विवाह कर सके।

(घ) और मनु ने ब्रह्मचर्य-नियमों में (२। १५२, १५४ में) स्त्रियों का दर्शन करना, स्पर्शन आदि का सर्वथा निषेध किया है। फिर यहाँ (२।१८६ में) गुरु-पत्नी को उबटन लगाना, स्नान कराना, उसके शरीर के दबानादि का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः यहाँ जो इन कामों का निषेध किया है, वह परवर्ती होने से प्रक्षिप्त ही है। यथार्थ में गुरु के सन्मान का ही मनु ने निर्देश किया है। गुरु-पत्नी, गुरु-पुत्र, तथा गुरु के अन्य सम्बन्धियों के सन्मान की बात मनु की नहीं हो सकती। क्योंकि मनु ने ऐसी व्यवस्था कहीं भी नहीं मानी। ऋत्विक्, आचार्य, उपाध्याय आदि का भी मनु ने वर्णन किया है, किन्तु उनके पारिवारिक जनों का नहीं। अतः गुरु के परिवार के सन्मानादि की बात मौलिक नहीं है। और मनु ने इसीलिये २। १८७ श्लोक में गुरुपत्नी को पंर छूकर अभिवादन करने का भी निषेध किया है। अतः ये श्लोक मनु की मान्यता से विरुद्ध हैं।

ये (२। १९९—२१२[२। २२४-२३७]) १४ श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) २। १९९ वें श्लोक में विभिन्न आचार्यों के मत दिखाये हैं—किसी ने धर्म-अर्थ को श्रेयः=कल्याणकारक माना है, किसी ने काम-अर्थ को, किसी ने धर्म को, और किसी ने अर्थ को ही श्रेयस्कर माना है। यह मान्यता मनु के कथन से विपरीत है। मनु ने सर्वत्र धर्म को ही मुख्य माना है और यहां तक लिखा

है—"परित्यजेत अर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ" (४। १७६) धर्म से रहित अर्थ-काम का परित्याग ही कर देना चाहिये। और धर्म के ज्ञान के विषय में लिखा है—अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते' अर्थात् जो अर्थ-काम में आसक्त नहीं हैं, उन्हें ही धर्म का ज्ञान हो सकता है। फिर मनु 'अर्थ-काम को अथवा 'अर्थ' को ही श्रेयस्कर मानने वालों के मत कैसे दिखा सकते हैं? और 'परमतमप्रतिषिद्धं स्वमतमेव भवति' अर्थात् यदि आचार्यों का मत दिखाकर उसका खण्डन नहीं किया है, तो वह भी मत उसका माना जाता है। मनु यदि इन विभिन्न मतों को दिखाते हैं, और खण्डन करते नहीं, तो यह मनु का मत माना जायेगा। किन्तु क्या मनु जैसा विद्वान् परस्पर-विरोधी बातों को कह सकता है?

(ख) ये (२। २०० से २। २१२ तक) श्लोक प्रसंगविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। इस द्वितीयाध्याय के वर्ण्य विषय ब्रह्मचर्याश्रम में वर्ण-धर्म हैं। यहाँ उन्हीं कर्त्तव्यों का वर्णन होना चाहिये, जिनका पालन ब्रह्मचर्याश्रम में गुरु के पास किया जा सके। किन्तु इन श्लोकों में गृहस्थों के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है। जैसे प्रतिदिन माता-पिता का प्रियाचरण (२। २०३), उनकी प्रतिदिन सेवा करना (२। २१०), उनकी आज्ञा लेकर धर्मकार्य करना (२। ११), इत्यादि। गुरुकुल में रहनेवाला घर से दूर ब्रह्मचारी इन कर्त्तव्यों को कैसे कर सकता है? और २। २०७ वें श्लोक में तो 'विजयेत् गृही' कहकर गृहस्थ का स्पष्ट निर्देश किया गया है। अतः गृहस्थ के कर्त्तव्यों का ब्रह्मचर्याश्रम में वर्णन करना विषय-विरुद्ध है। और २। १९८ श्लोक का सम्बन्ध २। २१३ से संगत होता है, बीच के श्लोकों से नहीं। क्योंकि दोनों में एक ही विषय का प्रतिपादन है अर्थात् विद्या का ग्रहण निचले वर्ण से भी कर लेना चाहिये। अतः ये श्लोक प्रसंग-विरुद्ध हैं।

(ग) इन श्लोकों में वर्ण्य-विषय मनु की दूसरी व्यवस्थाओं से भी विरुद्ध है। मनु ने सब वर्णों तथा सभी आश्रमों में अवश्य पालनीय मानव-धर्मों को परम धर्म माना है। जैसे—इन (१। १०८, २। १४१, ४। १४७) श्लोकों में प्राणायाम, वेदाभ्यासादि को परम-तप कहा है। किन्तु यहाँ माता-पिता-आचार्य की सेवा में ही तप की पूर्णता (२। २०४), इन्हीं के सेवा को परम-धर्म कहना और दूसरे कर्मों को उपधर्म कहना (२। ११२), जब तक ये जीवित रहें तब तक दूसरे धर्म-कार्यों का निषेध करना (२। २१०), और तीनों की सेवा में ही सब कर्त्तव्यों का पूर्ण मानना (२। ११२) इत्यादि बातें अतिशयोक्तिपूर्ण तथा मनुवर्णित दूसरी मान्यता से विरुद्ध हैं। इसी प्रकार २। २०५, २०६ श्लोकों में माता-पिता-आचार्य को ही तीन लोक, तीन वेद, तीन आश्रम, तथा तीन अग्नियाँ कहना भी

मनुस्मृति के विरुद्ध है। यदि ऐसा मान लिया जाये तो मनुद्वारा वेद तथा आश्रम-धर्मों को सर्वोपरि मानने की बात मिथ्या हो जाती है और उन की महत्ता तथा वर्णाश्रमधर्मों का वर्णन अनावश्यक ही प्रतीत होता है। और विद्या-ग्रहण के प्रसंग में माता-पिता आदि की सेवा का वर्णन प्रसंग को भी भंग कर रहा है। अतः ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध, मनु की मान्यता से विरुद्ध तथा अतिशयोक्तिपूर्ण होने और मनु की शैली से विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

यह २। २२३ [२। २४८] वाँ श्लोक निम्न कारण से प्रक्षिप्त है—

(क) इस श्लोक में कहा है कि गुरु के मरने पर गुरु-पुत्र, गुरु-पत्नी, आदि के भी न होने पर ब्रह्मचारी अग्नि के पास अपने देह को जीवन-पर्यन्त साधे। यह कथन निरर्थक तथा अन्ध-विश्वास की उपज है। क्योंकि जिस गुरु के पास विद्या पढ़ने गया था, जब उसकी मृत्यु ही हो गई, फिर वहाँ रहना निष्प्रयोजन है। क्योंकि वहाँ पहले गुरु रहते थे, इसलिये अब विद्यार्जन न होते हुए भी वहीं रहना मिथ्या अन्धविश्वास है। और ज्ञानादि के बिना केवल अग्नि के पास बैठने से देह-साधना भी नहीं हो सकती। मनु ने विद्या-प्राप्ति के लिये ऐसा बन्धन नहीं रक्खा है कि जो दूसरा गुरु बनाने में कोई आपत्ति मानी जाये। मनु ने २। ११५—११६, १२४ श्लोकों में विद्यार्जन के लिये बहुत ही उदारता से लिखा है। और २। ११५ में तो विद्या की प्राप्ति सब मनुष्यों से करने के लिये कहा है। अतः यह श्लोक मनु की मान्यता से विरुद्ध, और अन्ध-विश्वास का जनक होने से प्रक्षिप्त है।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां मनुस्मृतौ प्राकृतभाष्यसमन्वितायां
प्रक्षेपश्लोक-समीक्षाविभूषितायाञ्च ब्रह्मचर्याश्रमे
वर्णधर्मात्मको द्वितीयोऽध्यायः ॥

ओ३म्

तृतीयोऽध्यायः

[प्राकृतभाषाभाष्य-प्रक्षेपश्लोक-समीक्षाभ्यां सहितः]

(समावर्त्तन, विवाह एवं पञ्चयज्ञ विधान-विषय)

[समावर्त्तन ३ । १ से ३ । ३ तक]

समावर्त्तन काल—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥ (१)

(गुरौ) गुरु के समीप रहते हुए ब्रह्मचारी को (त्रैवेदिकं व्रतम्) ज्ञान, कर्म, उपासना रूप त्रिविध ज्ञानवाले वेदों के अध्ययन-सम्बन्धी ब्रह्मचर्य व्रत का (षट्त्रिंशद्+आब्दिकम्) छत्तीस वर्ष पर्यन्त (तत्+अर्धिकम्) उससे आधे अर्थात् अठारह वर्ष पर्यन्त (वा) अथवा (पादिकम्) उन छत्तीस के चौथे भाग अर्थात् नौ वर्ष पर्यन्त (वा) अथवा (ग्रहण+अन्तिकं एव) जब तक विद्या पूरी न हो जाये तब तक (चर्यम्) पालन करना चाहिये ॥ १ ॥

"आठवें वर्ष से आगे छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त अर्थात् वेद के साङ्गोपाङ्ग पढ़ने में बारह-बारह वर्ष मिलके छत्तीस और आठ मिलके चवालीस अथवा अठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य और आठ पूर्व के मिल के छब्बीस वा नौ वर्ष तथा जब तक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे तब तक ब्रह्मचर्य रक्खे।"

(स० प्र० तृतीय समु०)

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥ (२)

(वेदान् वेदौ वा वेदं यथाक्रमं अधीत्य) ब्रह्मचर्य से चार, तीन, दो अथवा एक वेद को यथावत् पढ़ (अविप्लुतब्रह्मचर्यः) अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करके (गृहास्थाश्रमम् आवसेत्) गृहाश्रम को धारण करे ॥२॥ (सं० वि० विवाह सं०)

"जब यथावत् ब्रह्मचर्य आचार्यानुकूल वर्त्तकर धर्म से चारों, तीन वा

दो अथवा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ़के जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥ (३)

(तं स्वधर्मेण प्रतीतम्) जो स्वधर्म अर्थात् यथावत् आचार्य और शिष्य का धर्म है उससे युक्त (पितुः ब्रह्मदायहरम्) पिता=जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण (स्रग्विणम्) और माला का धारण करने वाले (तल्प आसीनम्) अपने पलंग में बैठे हुये आचार्य को (प्रथमं गवा अर्हयेत्) प्रथम गोदान से सत्कार करे। वैसे लक्षणयुक्त विद्यर्थी को भी कन्या का पिता गोदान से सत्कृत करे ॥ ३ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

विवाह-विषय

[३।४ से ३।६६ तक]

गुरु की आज्ञा से विवाह—

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥ (४)

(यथाविधि समावृत्तः) यथावत् उत्तम रीति से ब्रह्मचर्य और विद्या को ग्रहण कर (गुरुणा अनुमतः स्नात्वा) गुरु की आज्ञा से स्नान करके (द्विजः) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (सवर्णाम्) अपने वर्ण की (लक्षणान्विताम्) उत्तम लक्षण युक्त (भार्याम्) स्त्री से (उद्वहेत) विवाह करे ॥ ४ ॥ (सं० वि० विवाह सं०)

"गुरु की आज्ञा से स्नान कर गुरुकुल से अनुक्रम पूर्वक आके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दरलक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे।
(स० प्र० चतुर्थ समु०)

विवाह-योग्य कन्या—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥ (५)

(या मातुः असपिण्डा) जो स्त्री माता की छह पीढ़ी (च) और (पितुः असगोत्रा) पिता के गोत्र की न हो (सा) वही (द्विजातीनाम्) द्विजों के लिये (दारकर्मणि) विवाह करने में ❀(प्रशस्ता) उत्तम है ॥५॥ (सं० वि० विवाह सं०)

❀ (मैथुने) मैथुन के लिए—

"जो कन्या माता के कुल की छः पीढियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो उस कन्या से विवाह करना उचित है" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

विवाह में त्याज्य कुल—

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥ (६)

(स्त्रीसंबन्धे एतानि दशकुलानि) विवाह में नीचे लिखे हुये दश कुल (गो+अजा+अवि+धनधान्यतः समृद्धानि महान्ति अपि) चाहे वे गाय*आदि पशु, धन और धान्य से कितने ही बड़े हों (परिवर्जयेत्) उन कुलों की कन्या के साथ विवाह न करे ॥ ६ ॥ (सं० वि० विवाह सं०)

* (अजा) बकरी (अवि) भेड़............

"चाहे कितने ही धन, धान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री, आदि से समृद्ध ये कुल हों तो भी विवाह-सम्बन्ध में निम्नलिखित दश कुलों का त्याग कर दे।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ ७ ॥ (७)

वे दश कुल ये हैं—(हीनक्रियम्) एक—जिस कुल में उत्तम क्रिया न हो (निष्पुरुषम्) दूसरा–जिस कुल में कोई भी उत्तम पुरुष न हो (निश्छन्दः) तीसरा—जिस कुल में कोई विद्वान् न हो (रोमश+अर्शसम्) चौथा–जिस कुल में शरीर के ऊपर बड़े-बड़े लोम हों, पांचवां—जिस कुल में बवासीर (क्षयी) छठा—जिस कुल में क्षयी (राजयक्ष्मा) रोग हो (आमयावी) सातवां—जिस कुल में अग्निमन्दता से आमाशय रोग हो (अपस्मारि) आठवां—जिस कुल में मृगी रोग हो (श्वित्रि) नववां—जिस कुल में श्वेतकुष्ठ (च) और (कुष्ठि कुलानि) दशवां—जिस कुल में गलितकुष्ठ आदि रोग हों उन कुलों की कन्या अथवा उन कुलों के पुरुषों से विवाह न करे ॥ ७ ॥ (सं० वि० विवाह सं०)

"जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े-बड़े लोम अथवा बवासीर, क्षयी, दमा, खांसी, आमाशय, मिरगी श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठयुक्त कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह होना न चाहिये क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करने वाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं। इसलिए उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिये।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

विवाह में त्याज्य कन्याएँ—

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकांगीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥ ८ ॥ (८)

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥ (९)

(कपिलाम्) पीले वर्ण वाली (अधिक+अङ्गीम्) अधिक अङ्गवाली जैसी छंगुली आदि (रोगिणीम्) रोगवती (अलोमिकाम्) जिस के शरीर पर कुछ भी लोम न हों (अतिलोमाम्) जिसके शरीर पर बड़े-बड़े लोम हों (वाचाटाम्) व्यर्थ अधिक बोलने हारी (पिङ्गलाम्) जिसके पीले बिल्ली के सदृश्य नेत्र हों, तथा (ऋक्ष वृक्ष-नाम्नीम्) जिस कन्या का ऋक्ष=नक्षत्र पर नाम अर्थात् रेवती रोहिणी इत्यादि,*नदी=जिसका गंगा, यमुना इत्यादि (अन्त्य-पर्वत-नामिकाम्) पर्वत=जिसका विन्ध्याचला इत्यादि (पक्षी+अहि-प्रेष्य-नाम्नीम्) पक्षी अर्थात् कोकिला, हंसा इत्यादि अहि अर्थात् उरगा, भोगिनी इत्यादि, प्रेष्य=दासी इत्यादि और जिस कन्या का (भीषणनामिकाम्) कालिका, चंडिका इत्यादि नाम हो (न) उससे विवाह न करे ॥ ८, ९ ॥ (सं० वि० विवाह सं०)

* (वृक्ष) तुलसिया, गेंदा, गुलाबा, चंपा, चमेली आदि वृक्ष नाम वाली (स० प्र० चतुर्थ समु०)

न पीले वर्ण वाली, न अधिकाङ्गी अर्थात् पुरुष[1] से लम्बी-चौड़ी अधिक

---

१. महर्षि-दयामन्द ने (३ । ८) श्लोक के 'अधिकांगी' शब्द के दो अर्थ किये हैं—(१) अधिक अङ्ग वाली, जैसी छंगुली आदि । (२) पुरुष से लम्बी चौड़ी । इस पर पौराणिकों का यह आक्षेप मिथ्या है कि इस शब्द के दोनों अर्थ नहीं वन सकते । देखिये इन अर्थों की सिद्धि—

(१) अधिकाङ्गीम्=अधिकान्यंगानि यस्यास्ताम् । अर्थात् जिसके अधिक अङ्ग हैं, वह छंगुली आदि । इस अर्थ में 'अधिक' शब्द विशिष्ट वाची तथा 'अङ्ग शब्द अवयववाची है ।

(२) अधिकाङ्गीम्=अधिकम् अङ्गं=शरीरं यस्यास्ताम् । अर्थात् जिसका शरीर अधिक=लम्बा चौड़ा है, उसको । इस अर्थ में अधिक, 'अध्यारूढ़= बढ़ा हुआ' अर्थ में और 'अङ्ग' शब्द अङ्ग समुदाय शरीर अर्थ का बोधक है । इन अर्थों में प्रमाण—

(क) 'अधिकम्' अष्टाध्यायी (५ । २ । ७३) सूत्र में 'अध्यारूढ़' शब्द का उत्तरपदलोप और 'कन्' प्रत्यय से इस शब्द की सिद्धि की है । और निरुक्त में 'अधि' शब्द का 'उपरिभाव' अर्थ भी बताया है । 'अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वा ।' (निरुक्त १ । ३)

(ख) 'अङ्ग' शब्द अवयव अर्थ में तो प्रसिद्ध ही है किन्तु अङ्गी=

बलवाली, न रोगयुक्ता, न लोमरहिता न बहुत लोमवाली न बकवाद करने हारी और भूरे नेत्र वाली, न ऋक्ष अर्थात् अश्विनी, भरणी, रोहिणीदेई, रेवतीबाई चित्तारि आदि नक्षत्र नाम वाली; तुलसिया, गेंदा, गुलाबा, चम्पा, चमेली आदि वृक्ष नाम वाली; गंगा, जमुना आदि नदी नाम वाली; चाण्डाली आदि अन्त्य नाम वाली; विन्ध्या, हिमालया, पार्वती आदि पर्वत नाम वाली; कोकिला, मैना आदि पक्षी नाम वाली; नागी, भुजंगा आदि सर्प नाम वाली; माधोदासी, मीरा-दासी आदि प्रेष्य नाम वाली और भीमकुंअरी, चण्डिका, काली आदि भीषण नाम वाली कन्या के साथ विवाह न करना चाहिए। क्योंकि ये नाम कुत्सित तथा अन्य पदार्थों के भी हैं।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

विवाहयोग्य कन्या—

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम्॥ १०॥ (१०)

(अव्यङ्ग+अङ्गीम्) जिसके सरल सूधे अंग हों, विरुद्ध नहीं (सौम्यनाम्नीम्) जिसका नाम सुन्दर अर्थात् यशोदा, सुखदा आदि हो (हंस-वारण-गामिनीम्) हंस और हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो (तनु-लोम-केश दशनाम्) सूक्ष्म लोम, केश, और दाँत युक्त (मृदु+अङ्गीम्) जिसके सब अङ्ग कोमल हों, वैसी (स्त्रियम् उद्वहेत्) स्त्री के साथ विवाह करना चाहिए॥ १०॥

(स० प्र० चतुर्थ समु०)

"किन्तु जिसके सुन्दर अङ्ग, उत्तम नाम, हंस और हस्तिनी के सदृश चाल वाली, जिसके सूक्ष्म लोम, सूक्ष्म केश और सूक्ष्म दांत हों, जिसके सब अङ्ग कोमल हों, उस स्त्री से विवाह करे।" (स० वि० विवाह संस्कार)

आठ प्रकार के विवाह—

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान्।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत॥ २०॥ (११)

शरीर के लिये भी आता है। जैसे 'येनाङ्गविकारः' (अ० २।३।२०) सूत्र में पाणिनि-मुनि ने 'अङ्गी' अर्थ में 'अङ्ग' शब्द का प्रयोग किया है। महाभाष्य में महर्षि-पतञ्जलि लिखते हैं—'अङ्ग शब्दोऽयं समुदायशब्दः।' इस पर कैयट लिखते हैं—'अङ्गान्यस्य सन्तीत्यर्श आदित्वादच्प्रत्ययान्तोऽत्रांगशब्दो निर्दिष्टः।'

अतः 'अङ्ग' शब्द का केवल अवयव अर्थ मानकर महर्षि के अर्थ पर आक्षेप करने वालों को प्रथम शास्त्रीयाध्ययन भलीभांति करना चाहिये। महर्षि-दयानंद व्याकरणादि के उद्भट्ट विद्वान् तथा योगी थे, वे शास्त्रविरुद्ध अर्थ कैसे कर सकते थे? (सम्पादक)

(चतुर्णाम् अपि वर्णानाम्) चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और वैश्यों के (प्रेत्य च इह हित+अहितान्) परलोक में और इस लोक में हित करने वाले तथा अहित करने वाले (इमान् अष्टौ स्त्रीविवाहान्) इन आठ प्रकार के स्त्रियों के साथ होने वाले विवाहों को (समासेन) संक्षेप से (निबोधत) जानो सुनो ॥ २० ॥

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥ (१२)

(ब्राह्मः दैवः तथा+एव आर्षः प्राजापत्यः तथा आसुरः) ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर (गान्धर्वः राक्षसः च एव अधमः पैशाचः च अष्टमः) गान्धर्व, राक्षस और❀पैशाच ये विवाह ८ प्रकार के होते हैं ॥२१॥ (सं०वि०विवाह सं०)

❀ (अधमः) सबसे निन्दनीय.........

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ २७ ॥ (१३)

(श्रुतिशीलवते, अर्चयित्वा) कन्या के योग्य सुशील, विद्वान् पुरुष का सत्कार कर के (आच्छाद्य) कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके (स्वयम् आहूय) उत्तम पुरुष को बुला अर्थात् जिसको कन्या ने प्रसन्न भी किया हो (कन्यायाः दानम्) उसको कन्या देना (ब्राह्मः धर्मः प्रकीर्तितः) वह 'ब्राह्म विवाह' कहाता है।
॥ २७ ॥ (सं० वि० विवाह संस्कार)

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ २८ ॥ (१४)

(वितते तु यज्ञे) विस्तृत यज्ञ में (सम्यक् ऋत्विजे कर्म कुर्वते) बड़े-बड़े विद्वानों का वरण कर उसमें कर्म करने वाले विद्वान् को (अलंकृत्य सुतादानम्) वस्त्र, आभूषण आदि से कन्या को सुशोभित कर के देना (दैवं धर्मं प्रचक्षते) वह 'दैव विवाह'❀ ॥ २८ ॥ (सं० वि० विवाह संस्कार)

❀ (प्रचक्षते) कहा जाता है।

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥ (१५)

(एकं गोमिथुनं वा द्वे) एक गाय बैल का जोड़ा अथवा दो जोड़े (वरात् आदाय) वर से लेके+ (धर्मतः कन्याप्रदानम्) धर्मपूर्वक कन्यादान करना (सः आर्षधर्मः) वह 'आर्ष विवाह'❀ ॥ २९ ॥ (सं० वि० विवाह-संस्कार)

\+ (विधिवत्) यज्ञादि विधि को करके...........
❀ (प्रचक्षते) कहाता है।

"वर से कुछ लेके विवाह होना आर्ष"

(विवाह के लक्षण, स० प्र० चतुर्थ समु०)

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥ ३० ॥ (१६)

(अभ्यर्च्य) कन्या और वर को, यज्ञशाला में विधि करके ('उभौ धर्मं सह चरताम्' इति) सब के सामने 'तुम दोनों मिलके गृहाश्रम के कर्मों को यथावत् करो' ऐसा (वाचा-अनुभाष्य) कहकर (कन्याप्रदानम्) दोनों की प्रसन्नता पूर्वक पाणिग्रहण होना (प्राजापत्यः विधिः स्मृतः) वह 'प्राजापत्य विवाह' कहाता है।

॥ ३० ॥ (सं० वि० विवाह संस्कार)

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते॥ ३१ ॥ (१७)

(ज्ञातिभ्यः च कन्यायै) वर की जाति वालों और कन्या को (शक्तितः द्रविणं दत्त्वा) यथाशक्ति धन देके +(कन्याप्रदानम्) होम आदि विधि कर कन्या देना (आसुरः धर्मः उच्यते) 'आसुर विवाह' कहाता है॥ ३१ ॥

(सं० वि० विवाह संस्कार)

+ (स्वाच्छन्द्यात्) अपनी इच्छा से अर्थात् वर या कन्या की प्रसन्नता और इच्छा का ध्यान न रखके............

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः॥ ३२ ॥ (१८)

(वरस्य च कन्यायाः) वर और कन्या की (इच्छया अन्योन्य-संयोगः) इच्छा से दोनों का संयोग होना (मैथुन्यः) और अपने मन में यह मान लेना कि हम दोनों स्त्री-पुरुष हैं (कामसंभवः) यह काम से हुआ (सः तु गान्धर्वः विज्ञेयः) वह 'गान्धर्व विवाह' कहाता है॥ ३२ ॥ (सं० वि० विवाह संस्कार)

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते॥ ३३ ॥ (१९)

(हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च) हनन, छेदन अर्थात् कन्या के रोकने वालों का विदारण कर (क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् प्रसह्य कन्याहरणम्) क्रोशती, रोती, कांपती और भयभीत हुई कन्या को+बलात्कार हरण करके विवाह करना (राक्षसः विधिः उच्यते) वह 'राक्षस विवाह'❀ ॥ ३३ ॥ (सं० वि० विवाह संस्कार)

+ (गृहात्) घर से............
❀ (उच्यते) कहा जाता है।

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३४ ॥ (२०)

(सुप्तां मत्तां वा प्रमत्ताम्) जो सोती, पागल हुई वा नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को (रहः यत्र उपगच्छति) एकान्त पाकर दूषित कर देना (सः विवाहानाम् अधमः पापिष्ठः पैशाचः) यह सब विवाहों में नीच से नीच=महानीच, दुष्ट अतिदुष्ट, 'पैशाच विवाह' है ॥ ३४ ॥ (सं० वि० विवाह संस्कार)

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ ३९ ॥ (२१)

✱(ब्राह्म+आदिषु चतुर्षु विवाहेषु) ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहों में पाणिग्रहण किये हुए स्त्री-पुरुषों से (पुत्राः जायन्ते) जो सन्तान उत्पन्न होते हैं वे (ब्रह्मवर्चस्विनः शिष्टसंमताः) वेदादिविद्या से तेजस्वी, आप्त-पुरुषों के संगत अत्युत्तम होते हैं ॥ ३९ ॥ (सं० वि० विवाह संस्कार)

✱ (अनुपूर्वशः) क्रमशः प्रारम्भ के..............

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ ४० ॥ (२२)

वे पुत्र वा कन्या (रूप-सत्त्वगुण+उपेताः) सुन्दर रूप, बल-पराक्रम, शुद्ध बुद्धि आदि उत्तम गुणयुक्त (धनवन्तः) बहुधन युक्त (यशस्विनः) पुण्य कीर्त्तिमान् (च) और (पर्याप्तभोगाः) पूर्णभोग के भोक्ता (धर्मिष्ठाः) धर्मात्मा होकर (शतं समाः जीवन्ति) सौ वर्ष तक जीते हैं ॥ ४० ॥ (सं० वि० विवाह संस्कार)

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ४१ ॥ (२३)

(इतरेषु तु शिष्टेषु दुर्विवाहेषु) चार विवाहों से जो बाकी रहे चार—आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, इन चार दुष्ट विवाहों से उत्पन्न हुए (सुताः) सन्तान (नृशंसा+अनृतवादिनः) निन्दित कर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी (ब्रह्मधर्मद्विषः) वेदधर्म के द्वेषी बड़े नीच स्वभाव वाले (जायन्ते) होते हैं ॥ ४१ ॥
(सं० वि० विवाह संस्कार)

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥ ४२ ॥ (२४)

(अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैः प्रजा अनिन्द्या भवति) श्रेष्ठ विवाहों से सन्तान भी श्रेष्ठगुण वाली होती है (निन्दितैः नृणां निन्दिता) निन्दित विवाहों से

मनुष्यों की सन्तानें भी निन्दनीय कर्म करने वाली होती हैं (तस्मात्) इसलिए (निन्द्यान् विवर्जयेत्) निन्दित विवाहों को आचरण में न लावे ॥ ४२ ॥

इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती है उनका त्याग और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती है, उनको किया करें। (सं० वि० विवाह सं०)

ऋतुकाल-सम्बन्धी विधान—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥ (२५)

(ऋतुकालाभिगामी स्यात्) सदा पुरुष ऋतुकाल में स्त्री का समागम करे (स्वदारनिरतः सदा) और अपनी स्त्री के बिना दूसरी स्त्री का सर्वदा त्याग रक्खे, वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़कर अन्य पुरुषों से सदैव पृथक् रहे (तद्व्रतः) जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री ही से प्रसन्न रहता है जैसे कि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती (रतिकाम्यया) वह पुरुष जब ऋतुदान देना हो तब (एनां पर्ववर्जं व्रजेत्) पर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान के सोलह दिनों में पौर्णमासी, अमावस्या, चतुर्दशी वा अष्टमी आवे उसको छोड़ देवे। इनमें स्त्री-पुरुष रति-क्रिया कभी न करें ॥ ४५ ॥ (सं० वि० गर्भाधान सं०)

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ ४६ ॥ (२६)

(स्त्रीणां स्वाभाविक ऋतुः) स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल (षोडश रात्रयः स्मृताः) सोलह रात्रि का है अर्थात् रजोदर्शन दिन से लेके सोलहवें दिन तक ऋतु समय है (इतरैः सद्विगर्हितैः चतुर्भिः अहोभिः सार्धम्) उनमें से प्रथम की चार रात्रि अर्थात् जिस दिन रजस्वला हो उस दिन से लेके चार दिन निन्दित हैं ॥ ४६ ॥ (सं० वि० गर्भाधान सं०)

"प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रात्रि में पुरुष स्त्री का स्पर्श और स्त्री पुरुष का सम्बन्ध कभी न करे अर्थात् उस रजस्वला के हाथ का छुआ पानी भी न पीवे, न वह स्त्री कुछ काम करे, किन्तु एकान्त में बैठी रहे। क्योंकि इन चार रात्रियों में समागम करना व्यर्थ और महारोगकारक है।"

(सं० वि० गर्भाधान संस्कार)

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ४७ ॥ (२७)

(तासाम् आद्याः चतस्रः तु निन्दिताः) जैसे प्रथम की चार रात्रि ऋतुदान देने में निन्दित हैं (या एकादशी च त्रयोदशी) वैसे ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी निन्दित है (शेषाः तु दशरात्रयः प्रशस्ताः) और बाकी रहीं दश रात्री, सो ऋतुदान में श्रेष्ठ हैं ॥ ४७ ॥ (सं० वि० गर्भाधान सं०)

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥ ४८ ॥ (२८)

(युग्मासु पुत्राः जायन्ते) युग्म अर्थात् समसंख्या की रात्रियों–छठी, आठवीं दशमी, द्वादशी, चतुर्दशी, षोडशी में समागम करने से पुत्र उत्पन्न होते हैं (अयुग्मासु रात्रिषु स्त्रियः) विषमसंख्या वाली अर्थात् पांचवीं, सातवीं, नवमी, पन्द्रहवीं रात्रियों में लड़की उत्पन्न होती है (तस्मात्) इसलिए (पुत्रार्थी) पुत्र की इच्छा रखने वाला पुरुष (आर्तवे युग्मासु स्त्रियं संविशेत्) ऋतुकाल में सम-रात्रियों में स्त्री से समागम करे ॥ ४८ ॥

"जिनको पुत्र की इच्छा हो वे छठी, आठवीं, दशमी, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं, ये छः रात्रि ऋतुदान में उत्तम जानें। परन्तु इनमें भी उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ हैं और जिनको कन्या की इच्छा हो वे पाँचवीं, सातवीं, नवमी और पन्द्रहवीं, ये चार रात्रि उत्तम समझें☐। इससे पुत्रार्थी युग्म रात्रियों में ऋतु-दान देवे।" (सं० वि० गर्भाधान सं०)

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ या क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ४९ ॥ (२९)

(पुंसः अधिके शुक्रे पुमान्) पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र (स्त्रियाः अधिके स्त्री) स्त्री का आर्त्तव अधिक होने से कन्या (समे अपुमान्) तुल्य होने से नपुंसक पुरुष वा वन्ध्या स्त्री+ (क्षीणे च अल्पे विपर्ययः) क्षीण और अल्पवीर्य से गर्भ का न रहना वा रहकर गिर जाना (भवति) होता है ॥ ४९ ॥

(सं वि० गर्भाधान संस्कार)

+ (वा पुम्+स्त्रियौ) अथवा लड़का-लड़की का जोड़ा·····················

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ ५० ॥ (३०)

(निन्द्यासु अष्टासु च अन्यासु रात्रिषु) जो पूर्व निन्दित आठ रात्रि कह आये हैं उनमें जो (स्त्रियः वर्जयन्) स्त्री का संग छोड़ देता है (यत्र-तत्र-आश्रमे)

☐ "रात्रिगणना इसलिये की है कि दिन में ऋतुदान का निषेध है।"
(सं० वि० गर्भाधान संस्कार में टिप्पणी)

वसन्) वह गृहाश्रम में वसता हुआ भी (ब्रह्मचारी एव भवति) ब्रह्मचारी ही कहाता है ॥ ५० ॥ (सं० वि० गर्भाधान सं०)

स्त्रियों के आदर का विधान तथा उसका फल—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥ (३१)

(पितृभिः भ्रातृभिः पतिभिः तथा देवरैः) पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि (एताः पूज्याः[1] च भूषयितव्याः) अपनी कन्या, बहन, स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें अर्थात् यथायोग्य मधुरभाषण, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि से प्रसन्न रक्खें (बहुकल्याणम् ईप्सुभिः) जिन को कल्याण की इच्छा हो वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें ॥ ५५ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५६ ॥ (३२)

(यत्र) जिस कुल में (नार्यः तु पूज्यन्ते) नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है (तत्र) उस कुल में (देवताः) दिव्यगुण=दिव्य भोग और उत्तम सन्तान (रमन्ते) होते हैं (यत्र) और जिस कुल में (एतास्तु न पूज्यन्ते) स्त्रियों की पूजा नहीं होती है (तत्र सर्वाः अफलाः क्रियाः) वहां जानो उनकी सब क्रिया निष्फल हैं ॥ ५६ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है उसमें विद्यायुक्त पुरुष होके, देवसंज्ञा धराके आनन्द से क्रीड़ा करते हैं और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता वहां सब क्रिया निष्फल हैं।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥ (३३)

(यत्र) जिस कुल में (जामयः) स्त्रियां (शोचन्ति) अपने-अपने पुरुषों के वेश्यागमन, अत्याचार वा व्यभिचार आदि दोषों से शोकातुर रहती हैं (तत्कुलम् आशु विनश्यति) वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है (तु) और (यत्र एताः न शोचन्ति) जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तम आचरणों से प्रसन्न रहती हैं (तत् हि सर्वदा वर्धते) वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥ ५७ ॥

"जिस घर वा कुल में स्त्री लोग शोकातुर होकर दुःख पाती हैं, वह कुल

---

१. मनु ने स्त्री-जाति का कितना सम्मान माना है, यह (३ । ५६—६२) तक श्लोकों में द्रष्टव्य है । मनु ने स्त्रियों के सम्मान से कल्याण व सुख की प्राप्ति तथा असम्मान से कुलों का नाश लिखा है । (सं०)

शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और जिस घर वा कुल में स्त्री लोग आनन्द से उत्साह और प्रसन्नता में भरी हुई रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है।"
(स० प्र० चतुर्थ स०)

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥ ५८॥ (३४)

(यानि गेहानि) जिन कुल और घरों में (अप्रतिपूजिताः जामयः) अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्रीलोग (शपन्ति) जिन गृहस्थों को शाप देती हैं (तानि) वे कुल तथा गृहस्थ (कृत्याहतानि[1] इव) जैसे विष देकर बहुतों को एक बार नाश कर देवें वैसे (समन्ततः विनश्यन्ति) चारों ओर से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं॥ ५८॥ (सं० वि० अन्नप्राशन सं०)

"जो विवाहित स्त्रियाँ पति, माता, पिता, बन्धु और देवर आदि से दुःखित होके जिन घर वालों को शाप देती हैं, वे जैसे किसी कुटुम्ब भर को विष देके मारने से एक बार सबके सब मर जाते हैं, वैसे उनके पति आदि सब ओर से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।" (ऋ० पत्र वि० पृ० ४४४)

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥ ५९॥ (३५)

(तस्मात्) इस कारण (भूतिकामैः नरैः) ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले पुरुषों को योग्य है कि (एताः) इन स्त्रियों को (सत्कारेषु च उत्सवेषु) सत्कार के अवसरों और उत्सवों में (भूषण+आच्छादन+अशनैः) भूषण, वस्त्र, खान-पान आदि से (सदा पूज्याः) सदा पूजा अर्थात् सत्कारयुक्त प्रसन्न रखें॥ ५९॥
(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"इसलिए ऐश्वर्य की कामना करने हारे मनुष्यों को योग्य है कि सत्कार और उत्सव के समय में भूषण, वस्त्र और भोजन आदि से स्त्रियों का नित्यप्रति सत्कार करें।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ ६०॥ (३६)

हे गृहस्थो! (यस्मिन् कुले) जिस कुल में (भार्यया भर्त्ता संतुष्टः तथैव भर्त्रा भार्या नित्यम्) भार्या से प्रसन्न पति और पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है (तत्र वै) उसी कुल में (ध्रुवं कल्याणम्) निश्चित कल्याण होता है और दोनों

---

१. 'कृत्या' शब्द दुष्क्रिया अर्थ का भी बोधक है। देखिये महर्षि-दयानन्द का वेदभाष्य (यजु० ३५। ११) (सम्पादक)

परस्पर अप्रसन्न रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है ॥ ६० ॥
(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"जिस कुल में भार्या से भर्त्ता और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती है, उसी कुल में सब सौभाग्य और ऐश्वर्य निवास करते हैं।
(स० प्र० चतुर्थ समु०)

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ६१ ॥ (३७)

(यदि हि स्त्री न रोचेत) यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रखे (पुमांसं न प्रमोदयेत्) वा पुरुष को प्रहर्षित न करे तो (अप्रमोदात् पुनः पुंसः) अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर में (प्रजनं न प्रवर्तते) कामोत्पत्ति न होके सन्तान नहीं होते, और होते हैं तो दुष्ट होते हैं ॥ ६१ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"जो स्त्री पति से प्रीति और पति को प्रसन्न नहीं करती तो पति के अप्रसन्न होने से काम उत्पन्न नहीं होता।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥ (३८)

(स्त्रियां तु अरोचमानायाम्) जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने में (सर्वम् एव न रोचते) सब कुल भर अप्रसन्न, शोकातुर रहता है (तु) और (स्त्रियाँ रोचमानायाम्) जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है तब (तत् सर्वं कुलं रोचते) सब कुल आनन्दरूप दीखता है ॥ ६२ ॥
(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"स्त्री की प्रसन्नता में सब कुल प्रसन्न होता है उसकी अप्रसन्नता में सब अप्रसन्न अर्थात् दुःखदायक हो जाता है।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

(पञ्चमहायज्ञ-विषय)

[३ । ६७ से ३ । २८६ तक]

पञ्चमहायज्ञों का विधान—

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥ (३९)

(गृही) गृहस्थी पुरुष (वैवाहिके अग्नौ) विवाह के बाद प्रज्वलित की जाने वाली अग्नि अर्थात् गार्हस्थ्यरूप अग्नि में (गृह्यं कर्म यथाविधि) गृहस्थ के सभी

कर्त्तव्यों को (जैसे सन्तानोत्पत्ति आदि) उचित विधि के अनुसार (कुर्वीत) करे (पञ्चमहायज्ञविधानम्) होम, दैव आदि (३ । ७०) पांचों यज्ञों को (च) तथा (आन्वाहिकीं पक्तिम्) प्रतिदिन का भोजन पकाना ये भी करे ॥ ६७ ॥

पञ्चमहायज्ञों के अनुष्ठान का कारण—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ६८ ॥ (४०)

(चुल्ली) चूल्हा (पेषणी) चक्की (उपस्करः) झाड़ू (कण्डनी) ओखली (च) तथा (उदकुम्भः) पानी का घड़ा (गृहस्थस्य पंचसूनाः) गृहस्थियों के ये पाँच हिंसा के स्थान हैं (याः तु वाहयन्) जिनको प्रयोग में लाते हुए गृहस्थी व्यक्ति (बध्यते) हिंसा के पाप से बंध जाता है ॥ ६८ ॥

"प्रश्न—क्या इस होम कराने के बिना पाप होता है ।

उत्तर—हां क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध पैदा होके वायु और जल को बिगाड़कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त करता है उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है । इस लिये उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिये ।"
(सत्यार्थ० तृतीय समु० होमप्रकरण)

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ ॥ (४१)

(क्रमेण) क्रम से (तासां सर्वासां निष्कृत्यर्थम्) उन सब हिंसा-दोषों की निवृत्ति या परिशोधन के लिये (गृहमेधिनां प्रत्यहम्) गृहस्थी लोगों के प्रतिदिन करने के लिए (महर्षिभिः पञ्चमहायज्ञाः क्लृप्ताः) महर्षियों ने पांच महायज्ञों का विधान किया है ॥ ६९ ॥

पञ्चमहायज्ञों के नाम एवं नामान्तर—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥ (४२)

(अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः) पढ़ना-पढ़ाना, संध्योपासन करना [सावित्रीमप्यधीयीत २ । ७९ (२ । १०४)] 'ब्रह्मयज्ञ' कहलाता है (तु) और (तर्पणं पितृयज्ञः) माता-पिता आदि की सेवा-शुश्रूषा तथा भोजन आदि से तृप्ति करना 'पितृयज्ञ' है (होमः दैवः) प्रातः सायं हवन करना 'देवयज्ञ' है (बलिः भौतः) कीटों, पक्षियों, कुत्तों और कुष्ठी व्यक्तियों तथा भृत्यों आदि आश्रितों को देने के लिए भोजन का भाग बचाकर देना 'भूतयज्ञ' या 'बलिवैश्वदेवयज्ञ' कहलाता है (अतिथि-

पूजनम्) अतिथियों को भोजन देना और सेवा द्वारा सत्कार करना (नृयज्ञः) 'नृयज्ञ' अथवा 'अतिथियज्ञ' कहाता है ॥ ७० ॥

[सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास में यह श्लोक आया है। वहां श्लोकार्थ सरल होने से नहीं दिया है। (सं०)]

पंचैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥ (४३)

(यः) जो (एतान् पञ्चमहायज्ञान् शक्तितः न हापयति) इन पाँच महायज्ञों को यथाशक्ति नहीं छोड़ता (सः) वह (गृहे अपि वसन्) घर में रहता हुआ भी (नित्यम्) प्रतिदिन (सूनादोषैः न लिप्यते) चुल्लो आदि में हुए हिंसा के दोषों से लिप्त नहीं होता [यतो हि यज्ञों के पुण्यों से उनका शमन होता रहता है] ॥ ७१ ॥

देवताऽतिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ७२ ॥ (४४)

(यः) जो गृहस्थी व्यक्ति (देवता+अतिथि+भृत्यानां पितृणां च आत्मनः पञ्चानाम्) अग्नि आदि देवताओं [हवन के रूप में,] अतिथियों [अतिथियज्ञ के रूप में], भरण-पोषण की अपेक्षा रखने वाले या दूसरों की सहायता पर आश्रित कुष्ठी, भृत्य आदि के लिये [भूतयज्ञ या वलिवैश्वदेव यज्ञ के रूप में] माता-पिता पितामह आदि के लिये [पितृयज्ञ के रूप में] और अपनी आत्मा के लिये [ब्रह्मयज्ञ के रूप में] इन पांचों के लिये (न निर्वपति) उनके भागों को नहीं देता है अर्थात् पांच दैनिक महायज्ञों को नहीं करता है (सः) वह (उच्छ्वसन् न जीवति) सांस लेते हुये भी वास्तव में नहीं जीता किन्तु मरे हुये व्यक्ति के समान है ॥७२॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पंचयज्ञान्प्रचक्षते ॥ ७३ ॥ (४५)

(पञ्चयज्ञान्) इन पांच यज्ञों को (अहुतं हुतं प्रहुतं ब्राह्म्यं हुतं च प्राशितं एव) 'अहुत', 'हुत', 'प्रहुत', 'ब्राह्म्यहुत' और प्राशित भी (प्रचक्षते) कहते हैं ।७३।

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥ (४६)

(अहुतः जपः) 'अहुत' 'जपयज्ञ' अर्थात् 'ब्रह्मयज्ञ' को कहते हैं (हुतः होमः) 'हुतः' होम अर्थात् 'देवयज्ञ' हैं (प्रहुतः भौतिकः बलिः) 'प्रहुत' भूतों के लिये भोजन का भाग रखना अर्थात् 'भूतयज्ञ' या 'बलिवैश्वदेवयज्ञ' है (ब्राह्म्यं हुतम्) 'ब्राह्म्यहुत' (द्विजाग्र्यार्चा) विद्वनों की सेवा करना अर्थात् 'अतिथियज्ञ' है

(प्राशितं पितृतर्पणम्) 'प्राशित' माता-पिता आदि का तर्पण=तृप्ति करना 'पितृ-यज्ञ' है ॥ ७४ ॥

ब्रह्मयज्ञ एवं अग्निहोत्र का विधान—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि ।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥ ७५ ॥ (४७)

(स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्) मनुष्य को चाहिये कि वह पढ़ने पढ़ाने और संध्योपासन अर्थात् ब्रह्मयज्ञ में नित्य लगा रहे अर्थात् प्रतिदिन अवश्य करे (च) और (दैवे कर्मणि एव) देवकर्म अर्थात् अग्निहोत्र भी अवश्य करे (हि) क्योंकि (इह) इस संसार में रहते हुये (दैवकर्मणि युक्तः) अग्निहोत्र करने वाला व्यक्ति (इदं चर+अचरं बिभर्ति) इस समस्त चेतन और जड़ जगत् का पालन-पोषण और भला करता है ॥ ७५ ॥

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥ (४८)

[वह पालन-पोषण और भला इस प्रकार होता है] (अग्नौ सम्यक् प्रास्ता आहुतिः) अग्नि में अच्छी प्रकार डाली हुई घृत आदि पदार्थों की आहुति (आदित्यम् उपतिष्ठते) सूर्य को प्राप्त होती है—सूर्य की किरणों से वातावरण में मिलकर अपना प्रभाव डालती है, फिर (आदित्यात् जायते वृष्टिः) सूर्य से वृष्टि होती है (वृष्टेः अन्नम्) वृष्टि से अन्न पैदा होते हैं (ततः प्रजाः) उससे प्रजाओं का पालन होता है ॥ ७६ ॥

"उससे वायु और वृष्टि-जल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदविषयविचार)

गृहस्थाश्रम की महत्ता—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ (४९)

(यथा वायुं समाश्रित्य) जैसे वायु के आश्रय से (सर्वजन्तवः वर्तन्ते) सब जीवों का वर्त्तमान सिद्ध होता है (तथा) वैसे ही (गृहस्थमाश्रित्य) गृहस्थ के आश्रय से (सर्वे आश्रमाः) ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का (वर्त्तन्ते) निर्वाह होता है ॥ ७७ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमी गृही ॥ ७८ ॥ (५०)

(यस्मात्) जिस से (त्रयः अपि आश्रमिणः) ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और

संन्यासी, इन तीन आश्रमियों को (अन्नेन दानेन अन्वहम्) अन्न-वस्त्रादि दान से नित्यप्रति (गृहस्थेन एव धार्यन्ते) गृहस्थ धारण-पोषण करता है (तस्मात्) इस लिए (गृही-आश्रमः ज्येष्ठः) व्यवहार में गृहाश्रम सबसे बड़ा है ।। ७८ ।।

(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"जिससे गृहस्थ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है, इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है अर्थात् सब व्यवहारों में धुरंधर कहाता है ।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ।। ७९ ।। (५१)

हे स्त्री-पुरुषो ! जो तुम (अक्षयं स्वर्गम् इच्छता च सुखम् इच्छता) अक्षय❀ मुक्ति-सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो (यः दुर्बलेन्द्रियैः अधार्यः) जो दुर्बलेन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है (सः नित्यं प्रयत्नेन संधार्यः) उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो ।। ७९ ।।

(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"इसलिए जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो, वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे ।।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ।। ८० ।। (५२)

(ऋषयः पितरः देवाः भूतानि तथा अतिथयः) ऋषि-मुनि लोग, माता पिता, अग्नि आदि देवता, भृत्य तथा कुष्ठी आदि और अतिथिलोग (कुटुम्बिभ्यः आशासते) गृहस्थों से ही आशा रखते हैं अर्थात् सहायता की अपेक्षा रखते हैं (विजानता तेभ्यः कार्यम्) अपने गृहस्थ सम्बन्धी कर्त्तव्यों को समझने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह इनके लिए सहायता कार्य करे ।। ८० ।।

स्वाध्यायेनार्चयेदर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि ।
पितृन्श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ ८१ ।। (५३)

(स्वाध्यायेन ऋषीन्) स्वाध्याय से ऋषिपूजन (यथाविधि होमैः देवान्) यथाविधि होम से देवपूजन (श्राद्धैः पितृन्) श्राद्धों से पितृपूजन (अन्नैः नृन्) अन्नों

❀ "अक्षय इतना ही मात्र है कि जितना समय मुक्ति का है उतने समय में दुःख का संयोग, जैसे विषयेन्द्रिय के संयोगजन्य सुख में होता है, वैसा नहीं होता ।" (महर्षि-दयानन्द की टिप्पणी, सं० वि० गृहाश्रम प्रकरण)

से मनुष्यपूजन (च) और (बलिकर्मणा भूतानि) वैश्वदेव से प्राणी मात्र का सत्कार करना चाहिए ॥ ८१ ॥ (द० ल० ग्र० २३)

"इन श्लोकों से क्या आया कि होम जो है, सो ही देवपूजा है, अन्य कोई नहीं। और होमस्थान जितने हैं, वे ही देवालयादिक शब्दों से लिए जाते हैं।

पूजा नाम सत्कार। क्योंकि 'अतिथिपूजनम्' 'होमैर्देवानर्चयेत्'–अतिथियों का पूजन नाम सत्कार करना, तथा देव परमेश्वर और मन्त्र इन्हों का सत्कार, इसका नाम है पूजा, अन्य का नहीं।" (द० शा० ५४)

"इस कथन से अर्वाचीन देवालय अर्थात् मन्दिरों को कोई न समझे, देवालय का अर्थ तो यज्ञशाला ही है।" (पू० प्र० ६७)

श्राद्ध का अर्थ है–श्रद्धा से किया गया कार्य, जैसे श्रद्धा पूर्वक माता-पिता की सेवा—सुश्रूषा करना, भोजन देना आदि। यही पितरों का तर्पण या पितृ-यज्ञ है।

पितृयज्ञ का विधान—

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥ (५४)

गृहस्थ व्यक्ति (अन्नाद्येन वा उदकेन अपि वा पयः+मूल+फलैः) अन्न आदि भोज्य पदार्थों से और जल तथा दूध से, कन्दमूल, फल आदि से (पितृभ्यः प्रीतिम् आवहन्) माता-पिता आदि बुजुर्गों से अत्यन्त प्रेम करते हुए (अहः+अहः श्राद्धं कुर्यात्) प्रतिदिन श्राद्ध=श्रद्धा से किये जाने वाले सेवा-सुश्रूषा, भोजन देना आदि कर्त्तव्य करे ॥ ८२ ॥

बलिवैश्वदेव यज्ञ का विधान—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥ (५५)

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण एवं द्विज व्यक्ति (गृह्ये अग्नौ) पाकशाला की अग्नि में (सिद्धस्य वैश्वदेवस्य) सिद्ध=तैयार हुए बलिवैश्वदेव यज्ञ के भाग वाले भोजन का (अन्वहम्) प्रतिदिन (आभ्यः देवताभ्यः होमं कुर्यात्) इन देवताओं के लिये आहुति देकर हवन करे—॥ ८४ ॥

"चौथा वैश्वदेव—अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो तब जो कुछ भोजनार्थ बने उसमें से खट्टा लवणान्न और क्षार को छोड़के घृत मिष्टयुक्त अन्न लेकर चूल्हे से अग्नि अलग धर निम्नलिखित मन्त्रों से विनयपूर्वक होम नित्य करे (सत्यार्थ० चतुर्थ समु०)

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५ ॥ (५६)

(आदौ) प्रथम (अग्नेः सोमस्य च एव) अग्नि=पूज्य परमेश्वर और सोम=सब पदार्थों को उत्पन और पुष्ट करके सुख देने वाले सोमरूप परमात्म-देव के लिए ['ओम् अग्नये स्वाहा' 'ओं सोमाय स्वाहा' इन मन्त्रों द्वारा] (च) और (तयोः समस्तयोः) उन्हीं देवों के सर्वत्र व्याप्त रूपों के लिए संयुक्त रूप में ['ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' इस मन्त्र के द्वारा, अग्नि=जो प्राण अर्थात् सब प्राणियों के जीवन का हेतु है और सोम=जो अपान अर्थात् दुःख के नाश का हेतु है] (च) और (विश्वेभ्यः देवेभ्यः एव) विश्वदेवों=संसार को प्रकाशित या संचालित करनेवाले ईश्वरीय गुणों के लिए ['ओं विश्वेभ्यः देवभ्यः स्वाहा' इस मन्त्र द्वारा] (च) तथा (धन्वन्तरये एव) धन्वन्तरि=जन्म-मरण आदि के अवसर पर आने वाले रोगों का नाश करने वाले ईश्वर के गुण के लिए ['ओं धन्वन्तरये स्वाहा' इस मन्त्र से] बलिवैश्वदेव यज्ञ में आहुति देवे ॥ ८५ ॥

उसी के आधार पर सत्यार्थ-प्रकाश मे निम्न आहुतियों का महर्षि ने कथन किया है—

"होम मन्त्र—ओम् अग्नेय स्वाहा। सोमाय स्वाहा। अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा। विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। धन्वन्तरये स्वाहा" (सत्यार्थ० चतुर्थसमु०)

कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ।
सहद्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ ८६ ॥ (५७)

(च) और (कुह्वै) अमावस्या की अधिष्ठात्री ईश्वरीय शक्ति अर्थात् कृष्णपक्ष को रचनेवाली परमेश्वर की शक्ति के लिए ['ओं कुह्वै स्वाहा' मन्त्र से] (च) तथा (अनुमत्यै) पूर्णिमा की अधिष्ठात्री ईश्वरीय शक्ति अर्थात् शुक्ल-पक्ष का निर्माण करने वाली परमेश्वर की शक्ति के लिए या परमेश्वर की चितिशक्ति के लिए ['ओं अनुमत्यै स्वाहा' मन्त्र से] (प्रजापतये एव) सब जगत् को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर के सामर्थ्य गुण के लिए ['ओं प्रजापतये स्वाहा' मन्त्र से] (सहद्यावापृथिव्योः) ईश्वर दारा उत्पादित द्युलोक और पृथिवी लोक की पुष्टि के लिए ['ओं सहद्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा' मन्त्र से] (तथा अन्ततः) और अन्त में (स्विष्टकृते) अभीष्ट सुख देने वाले ईश्वर गुण के लिए ['ओं स्विष्टकृते स्वाहा' मन्त्र से] आहुति देवे ॥ ८६ ॥

इसी श्लोकानुसार सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समु० में निम्न आहुतियाँ कथित हैं—

"कुह्वै स्वाहा। अनुमत्यै स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा। सह द्यावा-

पृथिवीभ्यां स्वाहा। स्विष्टकृते स्वाहा॥ इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक बार आहुति प्रज्वलित अग्नि में छोड़े।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत्॥ ८७॥ (५८)

(एवम्) इस प्रकार (सम्यक् हविः हुत्वा) अच्छी तरह उपर्युक्त आहुतियां देकर (सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्) सब दिशाओं में घूमकर (सानुगेभ्यः इन्द्र+अन्तक+अप्पति+इन्दुभ्यः) परमेश्वर के सहचारी गुणों इन्द्र=सर्व प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त होना, अन्तक=यम अर्थात् न्यायकारी होना, या प्राणियों के जन्म-मरण का नियन्त्रण रखने वाला गुण, अप्पति=वरुण अर्थात् सबके द्वारा वरणीय सबसे श्रेष्ठ परमात्मा, इन्द्र=सोम अर्थात् आनन्ददायक होना इनके लिए [क्रमशः 'ओं सानुगायेन्द्राय नमः' मन्त्र से पूर्व दिशा में, 'ओं सानुगाय यमाय नमः' से दक्षिण दिशा में, 'ओं सानुगाय वरुणाय नमः' से पश्चिम दिशा में, 'ओं सानुगाय सोमाय नमः' से उत्तर दिशा में] (बलिं हरेत) भोजन के भाग अर्थात् बलि को रखे॥ ८७॥

"पश्चात् थाली अथवा भूमि में पत्ता रखके पूर्व दिशादि क्रमानुसार यथा क्रम इन मन्त्रों से भाग रखें—ओ३म् सानुगायेन्द्राय नमः सानुगाय यमाय नमः सानुगाय वरुणाय नमः सानुगाय सोमाय नमः।" (सत्यार्थ० चतुर्थसमु०)

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत्॥८८॥ (५९)

(मरुद्भ्यः इति तु द्वारि) मरुत्=जीवन के संचालक प्राणरूप परमात्मा या वायु के लिये ['ओं मरुद्भ्यो नमः' मन्त्रसे] द्वार पर (अद्भ्यः इति+अपि अप्सु) सर्वत्र व्याप्त और सम्पूर्ण जगत् के आश्रय रूप परमात्मा के लिए अथवा जीवनदायक जलों के नाम से ['ओम् अद्भ्यो नमः से] जलों में (क्षिपेत्) बलि भाग को डाले (एवम्) इसी प्रकार (वनस्पतिभ्यः) वनस्पतियों के नाम से ['ओं वनस्पतिभ्यो नमः' से] (मुसल+उलूखले) मूसल और ऊखल के समीप (हरेत्) बलि रखे॥ ८८॥

"मरुद्भ्यो नमः। अद्भ्यो नमः। वनस्पतिभ्यो नमः।"
(सत्यार्थ० चतुर्थ समु०)

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद् भद्रकाल्यै च पादतः।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत्॥ ८९॥ (६०)

(श्रियै उच्छीर्षके) सबके द्वारा सेव्य परमात्मा की सेवा से राज्यश्री

अथवा लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये ['ओं श्रियै नमः' से] ईशान कोण की ओर (च) और (भद्रकाल्यै पादतः) परमात्मा की कल्याणकारी शक्ति की प्राप्ति के लिए ['ओं भद्रकाल्यै नमः' से] पृष्ठभाग अर्थात् नैर्ऋत्य कोण की ओर (कुर्यात्) बलिभाग रखे (तु) और (ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्याम्) ब्रह्म—वेदविद्या की प्राप्ति के लिए वेदविद्या के दाता परमात्मा के लिए, वास्तोष्पतिगृहसम्बन्धी पदार्थों के दाता ईश्वर की सहायता के लिए ['ओं ब्रह्मपतये नमः' 'ओं वास्तुपतये नमः' इन से] (वास्तुमध्ये बलिं हरेत्) घर के मध्यभाग में बलिभाग रखे॥ ८९॥

"श्रियै नमः। भद्रकाल्यै नमः। ब्रह्मपतये नमः। वास्तुपतये नमः।
(स० प्र० चतुर्थ समुल्लास)

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत्।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तञ्चारिभ्य एव च॥ ९०॥(९१)

(च) और (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) संसार के साधक गुणों की प्राप्ति के लिए संसार के संचालक परमात्मा या विद्वानों के दिव्य गुणों के लिए (आकाशे बलिम् उत्क्षिपेत्) ['ओं विश्वेभ्यः देवेभ्यः नमः' से] आकाश की ओर या घर के ऊपर बलिभाग रखे (च) तथा (दिवाचरेभ्यः भूतेभ्यः) दिन में विचरण करने वाले प्राणियों से सुखप्राप्ति के लिए ['ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यः नमः' से] (नक्तंचारिभ्यः एव) और रात्रि में विचरण करने वाले प्राणियों से सुखप्राप्ति की कामना के लिए ['ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः' मन्त्र से] बलि रखे॥ ९०॥

"विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः। दिवाचरेभ्यो भूतभ्यो नमः। नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः"। (सत्यार्थ० चतुर्थसमु०)

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्॥ ९१॥ (९२)

(सर्वात्मभूतये) सब प्राणियों में व्याप्त या आश्रयरूप परमात्मा की सत्ता का स्मरण करने के लिए ['ओं सर्वात्मभूतये नमः' से] (पृष्ठवास्तुनि बलिं कुर्वीत) घर के पृष्ठभाग में बलिभाग रखे (सर्वं बलिशेषं तु) शेष बलिभाग को (पितृभ्यः) माता-पिता, आचार्य, अतिथि, भृत्य आदिकों को सम्मानपूर्वक भोजन कराने की भावना को स्मरण करने के लिए ['ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः' इस मन्त्र से] (दक्षिणतः हरेत्) घर के दक्षिण भाग में रखे॥ ९१॥ ❋

❋ महर्षि-दयानन्द ने ८५ से ९१ श्लोकों का भाव ग्रहण करके स० प्र० १०० से १०२, पञ्चमहायज्ञविधि द० ल० ग्र० २५८—२६३ तथा सं० वि० १६२—१६४ पर बलिवैश्वदेव यज्ञ का वर्णन किया है। इन सभी श्लोकों में दिये गये मन्त्र तथा

"सर्वात्मभूतये नमः। इन भागों को जो कोई अतिथि हो तो उसको जिमा देवे अथवा अग्नि में छोड़ देवे।" (सत्यार्थ० चतुर्थ समु०)

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां क्रमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥ ९२ ॥ (६३)

(च) और (शुनां पतितानां श्वपचां पापरोगिणां वायसानां च क्रमीणां) कुत्ता, पतित, चांडाल, पापरोगी, काक और क्रमी इन छः नामों के छः भाग (भुवि शनकैः निर्वपेत्) पृथिवी में धरे ॥ ९२ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

इस प्रकार "श्वभ्यो नमः; पतितेभ्यो नमः, श्वपभ्यो नमः, पापरोगिभ्यो नमः, वायसेभ्यो नमः, क्रमिभ्यो नमः, से बलि धर कर पश्चात् किसी दुःखी बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते, कौवे आदि को दे देवे। यहां नमः शब्द का अर्थ अन्न अर्थात् कुत्त, पापी, चाण्डाल, पापरोगी, कौवे और क्रमि अर्थात् चींटी आदि को अन्न देना यह मनुस्मृति आदि की विधि है—(सत्यार्थ० चतुर्थ समु०)

अतिथियज्ञ का विधान—

कृत्वैतद् बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत्।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद् ब्रह्मचारिणे ॥ ९४ ॥ (६४)

(एतत् बलिकर्म कृत्वा) उपर्युक्त [३ । ८४—९२] बलिवैश्वदेव यज्ञ करके (पूर्वम् अतिथिम् आशयेत्) पहले अतिथि को भोजन खिलाये (च) तथा (भिक्षवे ब्रह्मचारिणे विधिवत् भिक्षां दद्यात्) भिक्षा के लिए आये हुए ब्रह्मचारी के लिए विधिपूर्वक भिक्षा देवे ॥ ९४ ॥

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥ (६५)

(तु) और (संप्राप्ताय अतिथये) आये हुए अतिथि के लिए (विधिपूर्वकं सत्कृत्य) व्यवहार की उचित विधि के अनुसार सत्कार करके (यथाशक्ति) शक्ति के अनुसार (आसन+उदके च अन्नम् एव) आसन और जल तथा अन्न भी (प्रदद्यात्) प्रदान करे ॥ ९९ ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥ (६६)

(तृणानि) बैठने के लिए आसन (भूमिः) बैठने या सोने के लिए स्थान

उनका भाव वहीं से ले लिया गया है, विधियां भी वहीं हैं। विस्तृत होने के कारण उस वर्णन को यहां उद्धृत नहीं किया जा रहा है। विशेष अध्ययन के लिए पाठक उक्त पुस्तक में देख सकते हैं। (सं०)

(उदकम्) पानी (च) और (सूनृता वाक्) सत्कारयुक्त मीठी वाणी (एतानि अपि) सत्कार करने की ये बातें या वस्तुएं तो (सतां गेहे) श्रेष्ठ-सभ्य व्यक्तियों के घर में (कदाचन न उच्छिद्यन्ते) कभी भी नष्ट नहीं होतीं अर्थात् श्रेष्ठ-सभ्य व्यक्ति इनके द्वारा तो अवश्य ही सत्कार करते हैं ॥ १०१ ॥

अतिथि का लक्षण—

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥ (६७)

(ब्राह्मणः) विद्वान् व्यक्ति (एकारात्रं तु निवसन्) जो एक ही रात्रि तक पराये घर में रहे तो उसे (अतिथिः स्मृतः) अतिथि कहा गया है (यस्मात् हि अनित्यं स्थितः) क्योंकि जिस कारण से वह नित्य नहीं ठहरता है अथवा जिसका आना अनिश्चित होता है इसी कारण से उसे (अतिथिः उच्यते) अतिथि कहा जाता है ॥ १०२ ॥

"जिसके आगमन की कोई नियत तिथि न हो और स्थिति भी जिसकी अनियत हो, वह अतिथि कहलाता है। अतिथियज्ञ का अधिकारी वही है, जो विद्वान् हो एवं जिसका आना, जाना और ठहरना अनियत हो, वह चाहे किसी वर्ण का हो उसकी सेवा करना यह एक श्रेष्ठ कर्म है।" (पू० प्र० १४३)

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा ।
उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥ १०३ ॥ (६८)

(यत्र भार्या अपि वा अग्नयः) जिसके घर में पत्नी हो और पंचयज्ञों की अग्नि जहां प्रज्ज्वलित रहती हो अथवा जहां पाकाग्नि प्रज्ज्वलित होती हो ऐसे (एकग्रामीणं तथा साङ्गतिकं विप्रं गृहे उपस्थितम्) एक गांव के रहने वाले तथा मित्र विद्वान् यदि घर में आया हुआ हो तो (अतिथिं न विद्यात्) उसे अतिथि के रूप में न समझे ॥ १०३ ॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥ (६९)

(ये गृहस्थाः) यदि गृहस्थ होके (परपाकम् उपासते) पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते हैं तो (ते अबुद्धयः तेन) वे बुद्धिहीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रह रूप पाप करके (प्रेत्य) जन्मान्तर में (अन्नादिदायिनां पशुतां व्रजन्ति) अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं क्योंकि अन्य से अन्न आदि का ग्रहण करना अतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं ॥ १०४ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"ब्राह्मणों का काम अध्यापन है, उसी तरह उनकी जीविका अध्यापन,

याजनादि कार्यों की दक्षिणा से होती है। व्यर्थ प्रतिग्रह लेना अप्रशस्त ही है।"
(पू० प्र० ९२)

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत् ॥ १०५ ॥ (७०)

(गृहमेधिना) गृहस्थी को चाहिए कि (सायं सूर्योढः अतिथिः अप्रणोद्यः) सायंकाल सूय अस्त होते देख आये हुए अतिथि को वापिस न लौटाये, और (काले प्राप्तः वा अकाले) चाहे समय पर आये अथवा असमय पर (अस्य गृहे अनश्नन् न वसेत्) इस गृहस्थी के घर में कोई अतिथि बिना भोजन के नहीं रहे ॥ १०५ ॥

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् ॥ १०६ ॥ (७१)

(यत् अतिथिं न भोजयेत्) जिस पदार्थ को अतिथि को नहीं खिलावे (तत् वै स्वयं न अश्नीयात्) उसे स्वयं भी न खावे, अभिप्राय यह है कि जैसा स्वयं भोजन करे वैसा ही अतिथि को भी दे (अतिथिपूजनम्) अतिथि का सत्कार करना (धन्यं यशस्यम् आयुष्यं वा स्वर्ग्यम्) धन, यश, आयु और सुख को देने और बढ़ाने वाला है ॥ १०६ ॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम्।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ १०७ ॥ (७२)

जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें तब (आसन+आवसथौ) आसन, निवास (शय्याम् अनुव्रज्याम् उपासनाम्) शय्या, पश्चात्गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा अर्थात् (उत्तमेषु उत्तमं, समे समं, हीने हीनं कुर्यात्) उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट करे, ऐसा न हो कि कभी न समझें ॥ १०७ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥ १०८ ॥ (७३)

(वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते) वैश्वदेव यज्ञ के समाप्त होने पर अर्थात् भोजन बनने और उसकी यज्ञ में आहुतियां दे देने के पश्चात् भी (यत् अन्यः अतिथिः आव्रजेत्) यदि कोई और अतिथि आ जाये तो (तस्य अपि यथाशक्ति अन्नं प्रदद्यात्) उसको भी यथाशक्ति भोजन कराये (बलिं न हरेत्) दुवारा भोजन बनाने के वाद बलिभाग नहीं निकाले ॥ १०८ ॥

श्लोक ९४ से १०८ तक के विषय में सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समल्लास में

निम्न प्रकार लिखा है –"अब पांचवीं अतिथिसेवा—अतिथि उसको कहते हैं कि जिस की कोई तिथि निश्चित न हो अर्थात् अकस्मात् धार्मिक सत्योपदेशक सब के उपकारार्थ सर्वत्र घूमनेवाला पूर्ण विद्वान् परमयोगि-संन्यासी गृहस्थ के यहाँ आवे तो उसको प्रथम पाद्य, अर्घ और आचमनादि तीन प्रकार का जल देकर पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठालकर खान, पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवासुश्रूषा करके, प्रसन्न करे। पश्चात् सत्संग करे। उनसे ज्ञान विज्ञान आदि जिनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होवे ऐसे-ऐसे उपदेशों का श्रवण करे और अपना चाल-चलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे"

संस्कार विधि गृहाश्रम के अतिथियज्ञ प्रकरण में निम्न प्रकार लिखा है—

"पांचवाँ जो धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक पक्षपात रहित, शान्त, सर्वहितकारक विद्वानों की अन्नादि से सेवा उनसे प्रश्नोत्तर आदि कर के विद्या प्राप्त होना "अतिथियज्ञ" कहाता है, उसको नित्य किया करें।

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका के पञ्चमहायज्ञान्तर्गत अतिथियज्ञ-विधान में निम्न प्रकार लिखा है—"अब पांचवाँ अतिथियज्ञ अर्थात् जिसमें अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है, उसको लिखते हैं। जो मनुष्य पूर्ण विद्वान् परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छल कपट रहित और नित्य भ्रमण करके विद्या धर्म का प्रचार और अविद्या अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं, उनको अतिथि कहते हैं। इसमें वेद-मन्त्रों के अनेक प्रमाण हैं। परन्तु उनमें से दो मन्त्र अथर्ववेद काण्ड १५ के लिखे हैं।

इतरानपि सख्यादीन्सम्प्रीत्या गृहमागतान्।
सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥ ११३ ॥ (७४)

(संप्रीत्या) प्रीतिपूर्वक (भार्यया सह गृहम् आगतान् इतरान् सख्यादीन् अपि) पत्नी के साथ घर में आये अन्य मित्र आदि को भी (सत्कृत्य) सत्कार पूर्वक (यथाशक्ति अन्नं भोजयेत्) शक्ति के अनुसार भोजन करावे ॥ ११३ ॥

"समय पाके गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं।" (सत्यार्थ० चतुर्थसमु०)

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥ ११४ ॥ (७५)

(सुवासिनीः च कुमारीः) नव विवाहिता और अल्पवयस्क कन्याओं को (रोगिणः) रोगियों को (गर्भिणीः स्त्रियः) गर्भवती स्त्रियों को (एतान्) इन्हें (अतिथिभ्यः अग्र एव) अतिथियों से पहले ही (अविचारयन्) विना किसी संदेह के

अर्थात् बड़े-छोटे को पहले-पीछे भोजन कराने का विचार किये बिना (भोजयेत्) खिला दे ॥ ११४ ॥

गृहस्थ दम्पती को सबके बाद भोजन करना और यज्ञशेष भोजन करना—

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥ (७६)

(अथ विप्रेषु भुक्तवत्सु) विद्वान् अतिथियों द्वारा भोजन कर लेने पर (च) और (स्वेषु भृत्येषु एव हि) अपने सेवकों आदि के खा लेने पर (ततः पश्चात्) उसके बाद (अवशिष्टम् तु) शेष बचे भोजन को (दम्पती भुञ्जीयाताम्) पति-पत्नी खायें ॥ ११६ ॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितृन्गृह्याश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७ ॥ (७७)

(देवान्) विद्वानों का [अग्निहोत्र से] (ऋषीन्) मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों का तथा परमात्मा का [ब्रह्मयज्ञ=वेद के स्वाध्याय तथा सन्ध्योपासना से] (मनुष्यान्) अतिथियों का [अतिथियज्ञ से] (पितृन्) जीवित माता-पिता आदि का [पितृयज्ञ से] (च गृह्या देवताः) और गृहस्थ के भरण-पोषण की अपेक्षा रखने वाले असहाय, अनाथ, कुष्ठी भृत्यादि का [बलिवैश्वदेवयज्ञ से] (पूजयित्वा) सत्कार करके (गृहस्थः) गृहस्थ पुरुष (ततः पश्चात्) उसके बाद (शेषभुक् भवेत्) पञ्चमहायज्ञों से बचे भोजन को खाने वाला बने ॥ ११७ ॥

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥ (७८)

(यः केवलम् आत्मकारणात् पचति) जो व्यक्ति केवल अपना पेट भरने के लिए ही भोजन पकाता है (सः) वह (अघं भुङ्क्ते) केवल पाप को खाता है अर्थात् इस प्रवृत्ति से स्वार्थ आदि पापभावना ही बढ़ती है (एतत्) यह उपर्युक्त (यज्ञशिष्ट+अशनं हि) यज्ञों से शेष भोजन ही (सताम् अन्नं विधीयते) सज्जनों का अन्न माना गया है ॥ ११८ ॥

गृहस्थ के लिए दो ही प्रकार के भोजनों का विधान—

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ॥ २८५ ॥ (७९)

गृहस्थी को चाहिए कि वह (नित्यं विघसाशी भवेत्) प्रतिदिन 'विघस' भोजन को खाने वाला होवे (वा) अथवा (अमृतभोजनः) 'अमृत' भोजन को खाने वाला होवे (भुक्तशेषं तु विघसः) अतिथि, मित्रों आदि सभी व्यक्तियों के

खा लेने पर बचा भोजन को 'विघस' कहा जाता है [३ । ११६, ११७] (तथा) तथा (यज्ञशेषम् अमृतम्) यज्ञ में आहुति देने के बाद बचा भोजन 'अमृत' कहलाता है। [३ । ११८] ॥ २८५ ॥

उपसंहार—

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् ।
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ २८६ ॥ (८०)

(एतत् वः) यह तुम्हें (सर्वं पाञ्चयज्ञिकं विधानम् अभिहितम्) सम्पूर्ण पञ्चयज्ञसम्बन्धी विधान कहा। अब आगे (द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयताम्) द्विजातियों की मुख्य आजीविका और जीवनचर्या के विधान को सुनो— ॥ २८६ ॥

तृतीयाध्याय के विवाह प्रकरण में प्रक्षिप्त श्लोकों का सहेतुक-विवरण

ये आठ ३।१२—१९ श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) इन (३ । १२–१३) दोनों श्लोकों में काम-भावना से प्रेरित होकर विवाह का विधान मनुस्मृति की मूल भावना के विरुद्ध है। क्योंकि मनुस्मृति एक धर्मशास्त्र है, उस में सब मनुष्यों के लिए एक व्यवस्था का विधान किया है स्वेच्छाप्रेरित कार्यों का नहीं। और जब मनुष्य कामासक्त हो जाता है, तब उसके लिए यह अवसर ही नहीं होता कि वह किस वर्ण की स्त्री से विवाह करे? और ३।३२ वें श्लोक में कन्या और वर का एक दूसरे की इच्छा से संयोग होने को गान्धर्व विवाह माना हैं, किन्तु वह सवर्णों का ही है। ३।४ में द्विजों के लिए मनु ने सवर्ण कन्या से ही विवाह करने का ही आदेश दिया है। अतः यहाँ कामासक्त होकर सब वर्णों को छूट देना मनु की मान्यता से विरुद्ध है।

(ख) यद्यपि मनु ने सवर्णों में ही विवाह को प्रशस्त माना है, परन्तु इस नियम के अपवाद नियम भी लिखे हैं,। जैसे—'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि' (२।२१३)। और 'स्त्रियो रत्नानि.........समादेयानि सर्वतः' (२।२४०) यहाँ श्रेष्ठ स्त्री किसी भी वर्ण की हो, उससे विवाह करने की व्यवस्था है। किन्तु यहाँ (२।१४-१९) श्लोकों में यह पक्षपातपूर्ण वर्णन है कि शूद्रा कन्या से ब्राह्मण, क्षत्रिय का विवाह निन्दित माना है। यह मनु की मान्यता के विरुद्ध है। यदि श्रेष्ठ स्त्री शूद्रकुल में है, तो उसका निषेध करना, अपने से निम्न वर्ण की स्त्रियों से विवाह

को उचित कहना और अपने से उच्चवर्ण की स्त्रियों से विवाह का निषेध करना, ये सब बातें मनु की मान्यता से विरुद्ध तथा पक्षपातपूर्ण ढंग से लिखी गई हैं।

(ग) मनु ने जो आठ विवाहों का विधान किया है, उनके प्रारम्भ में यह वाक्य लिखा है—'चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान्' (३।२०) इससे स्पष्ट है कि जो आठ प्रकार के विवाह लिखे, वे चारों वर्णों के लिए समानरूप से लिखे हैं। परन्तु यहाँ (३।१२-१६) जो उससे विरुद्ध तथा पक्षपातपूर्ण बातें लिखी हैं, वे मनु से विरुद्ध हैं।

(घ) इन सभी श्लोकों में शूद्रा के प्रति घृणा, अस्पृश्यता की भावना दिखाई गई है, जो बहुत ही अर्वाचीन है। शूद्रा के सम्पर्क से अपवित्र होना, श्वासमात्र लगने से द्विजाति से भ्रष्ट होना आदि बातें मनु-सम्मत नहीं हैं। क्योंकि मनु ने कहीं भी शूद्रवर्ण के प्रति घृणा, अस्पृश्यतादि भाव प्रकट नहीं किया है। प्रत्युत यह तो लिखा है कि 'अन्त्यादपि परं धर्मम्' (२।२३८) अर्थात् शूद्र से भी अच्छी बातों का ग्रहण कर लेना चाहिये। और शूद्र का कार्य मनु ने तीनों वर्णों की सेवा करना लिखा है। इन वर्णों के घरादि में रहकर शूद्र जब सेवादिकार्य करेगा, तब स्पर्शादि भी हुए बिना नहीं रह सकता। यदि मनु शूद्र के प्रति घृणाभावादि मानते होते तो शूद्रों को सेवा का कार्य कदापि न देते। और ९।३३५ में शूद्र के लिये 'शुचिः=पवित्र' तथा शूद्र के कार्यों को (९।३३४ में) मोक्ष देनेवाले 'धर्म' शब्द से न कहते। अतः शूद्रों के प्रति घृणा-भावादि मनुसम्मत नहीं हैं।

(ङ) और ३।१८ श्लोक में तो शूद्र के प्रति हीनभावना की पराकाष्ठा ही कर दी है कि यदि शूद्र की प्रधानता में यज्ञ, श्राद्धादि कर्म किये जाते हैं, तो उस हव्यकव्य को देव व पितर नहीं खाते। प्रथम तो मनु जन्म से सब को एकजाति शूद्र मानते हैं और जो द्विजों की गणना में नहीं आ सकता, वह शूद्र होता है। अतः जो पठनादिकार्य कर ही नहीं सका, वह यज्ञादि कदापि नहीं करा सकता। और इन श्लोकों में मृतकश्राद्ध का वर्णन होने से यह मनुसम्मत नहीं हो सकते क्योंकि मनु ने जीवित-पितरों का ही श्राद्ध=श्रद्धा से सेवा करना कहा है। अतः मृतकश्राद्ध का मानना और शूद्र की प्रधानता का यज्ञ होना दोनों ही बातें पौराणिक युग की हैं।

(च) और देव दो प्रकार के होते हैं जड और चेतन। जड अग्नि आदि देवों में यह ज्ञान कहाँ कि इस यज्ञ में जो शाकल्य डाला गया है, वह शूद्र ने गेरा है, या ब्राह्मणादि ने? और शूद्र के द्वारा अग्नि में शाकल्य डालने पर यदि

अग्नि उसे न जलाये, तब तो यह बात सत्य हो सकती है, किन्तु यह सर्वथा असम्भव बात है। और जो मरकर शरीर त्याग कर गये, उनका श्राद्ध के समय आना ही सम्भव नहीं, क्योंकि वे तो कर्मानुसार योनियों में चले जाते हैं, फिर कौन यह विचार कर सकेगा कि यह श्राद्ध शूद्र ने किया अथवा ब्राह्मणादि ने ?

(छ) और परमात्मा की व्यवस्था तथा रचना मनुष्य मात्र के लिए एक समान है। यदि द्विजों के मृत-पितर श्राद्ध में खाने आ सकते हैं, उन्हें भोजनादि की आवश्यकता होती है, तो शूद्रवर्ण के मृत-पितरों को भी होनी चाहिये। और शूद्र जब श्राद्ध करेगा, क्या उनके पितर उनका खाना नहीं खायेंगे ? यथार्थ में यह सब पक्षपातपूर्ण मिथ्या प्रक्षेप अर्वाचीन तथा वेदविरुद्ध होने से मनुसम्मत कदापि नहीं हो सकता।

(ज) ३।१६ वें श्लोक में प्रक्षेप करने वाले ने अत्रि, गौतम, शौनक, और भृगु के मत देकर अपने मत की पुष्टि की है। किन्तु मिथ्या बात सत्य कदापि नहीं हो सकती। उसने यह विचार नहीं किया कि ये सब ऋषि मनु से बाद के हैं। १। ३५ श्लोक में तो अत्रि और भृगु को मनु की सन्तान माना है। परवर्ती मनुष्यों के मत मनु कैसे दिखा सकते थे ? अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

(झ) ये श्लोक प्रसंगानुकूल भी नहीं हैं। २।६—११ श्लोकों में विवाह के लिए त्याज्यकुलों का वर्णन किया गया है। इसके बाद वे विवाह कौन से हैं, यह कथन अपेक्षित था, उससे पूर्व ही किस वर्ण को किस वर्ण में विवाह करना चाहिए, यह वर्णन करना असंगत ही है। अतः ३।११ के बाद ३।२० श्लोक की संगति ही उचित लगती है।

३।२२—२६ ये पाञ्च श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त हैं :—

(क) ये पाञ्चों श्लोक प्रसंग-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। मनु ने ३।२०-२१ श्लोकों में आठ विवाहों के कथन तथा उनके नामों का उल्लेख किया है। उसके बाद इन आठ विवाहों के लक्षणों का वर्णन अपेक्षित है, जो कि ३।२७ श्लोक से आरम्भ किये गये हैं। इनके मध्य में किस वर्ण को कौनसा विवाह करना उचित या अनुचित का वर्णन प्रसंगानुकूल नहीं है। जब तक विवाहों के स्वरूपों का बोध ही नहीं हुआ, उनसे पूर्व ही इन श्लोकों का वर्णन अप्रासंगिक है।

(ख) मनु ने ३।२० वें श्लोक में आठ विवाहों को चारों वर्णों के लिए हितकर और अहितकर लिखा है। और इनमें प्रथम चार श्रेष्ठ तथा अन्तिम चारों को निन्दित मानकर इन्हें ३।३९—४२ श्लोकों में सभी वर्णों के लिए

लिखा है कि प्रथम चार प्रकार के विवाहों से उत्तम-सन्तान पैदा होती हैं और दूसरों में निन्दित। परन्तु इन पाञ्च श्लोकों में मनु की मान्यता से विरुद्ध कथन किया गया है कि पृथक् पृथक् वर्णों के लिए पृथक् पृथक् विवाह निश्चित किये हैं। क्षत्रिय-वैश्यों के लिए (३।२४) निन्दित आसुर और राक्षस विवाहों को भी प्रशस्त कहना मनु की मान्यता के विरुद्ध है।

(ग) इन श्लोकों में अवान्तर विरोध भी है। जिससे स्पष्ट है कि ये श्लोक मनुसदृश आप्त-पुरुष के कदापि नहीं हो सकते। जैसे ३।२३ में कहा है कि ब्राह्मण के लिए प्रारम्भ के छः विवाह, क्षत्रिय के लिए अन्तिम चार विवाह इसी प्रकार वैश्य-शूद्र के लिए राक्षस विवाह को छोड़कर चार विवाह श्रेष्ठ माने हैं। किन्तु ३।२४ में कहा है —ब्राह्मण के लिए प्रथम चार विवाह श्रेष्ठ हैं, क्षत्रिय को राक्षस तथा वैश्य-शूद्र को आसुर विवाह श्रेष्ठ है। और ३।२५ में इन दोनों श्लोकों से भी भिन्न वर्णन है, और ३।२६ में एक अन्य ही प्रकार का विधान है। ये परस्पर विरुद्ध वर्णन एक लेखक के कभी नहीं हो सकते। इनका मिश्रण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न भिन्न समय में किया है। अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

(घ) और ३।२१ में आठ विवाहों का नामपूर्वक कथन किया गया है। इसके बाद इनके लक्षण अपेक्षित थे, किन्तु लक्षण न कहकर ३।२२ श्लोक में कहा गया है—'यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य..................तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि...........।' यहाँ जब तक एक प्रसंग पूर्णतया नहीं कहा गया उसके पूर्ण ही दूसरे प्रसंग की प्रतिज्ञा कोई भी विद्वान् व्यक्ति नहीं कर सकता। अतः प्रसंगविरुद्ध प्रतिज्ञावचन से भी स्पष्ट है कि ये श्लोक अर्वाचीन प्रक्षेप किये गये हैं।

३।३५-३८ ये चार श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये श्लोक प्रसंग-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। ३।३४ श्लोक तक विवाहों के लक्षण समाप्त हो गये हैं। इनके बाद उन विवाहों के गुण-दोषों का वर्णन अपेक्षित था, जो कि ३।३९-४२ श्लोकों में किया गया है। इनके बीच में ३।३५ में विवाह की विधि, ३।३७-३८ में अगली पिछली पीढियों को पार करने की बात प्रसंगानुकूल नहीं है।

(ख) और ३।३६ में 'मनुना कीर्तितो गुणः' कहने से स्पष्ट हो गया है कि यह मनु से भिन्न पुरुष की रचना है। मनु स्वयं अपना नाम लेकर कैसे वर्णन करते ? और इस श्लोक में विवाहों के गुणों का वर्णन करने को कहा है, जबकि इससे अगले श्लोकों में विवाह के गुणों का वर्णन न होकर पुत्रों के गुणों का वर्णन किया गया है। यदि कोई यहाँ यह कहे कि परोक्षरूप में यहाँ विवाहों के

गुणों का भी कथन किया गया है, तो फिर ३।३६—४२ श्लोकों में दुबारा वर्णन क्यों किया गया ? अतः ये श्लोक प्रक्षेप के द्वारा की गई प्रतिज्ञा से विरुद्ध तथा मनु की मान्यता से भी विरुद्ध हैं।

(ग) मनु ने आठ विवाहों के लक्षणों में विवाहों की विधियों का भी कथन कर दिया है। फिर ३।३५ में जो विवाह की विधि बतायी गई है, वह पुनरुक्त तथा पूर्वविधियों से संगत न होने से प्रक्षिप्त है।

(घ) ३।३७-३८ श्लोकों में कहा है कि एक ही पुत्र अपनी पिछली तथा आगे आने वाली दश-दश पीढियों को पापों से मुक्त कर देता है। यह मनु की मान्यता के विरुद्ध है। क्योंकि मनु ने अपनी मान्यता को बहुत ही स्पष्ट करके (४।२४०) लिखा है—'एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्'। अर्थात् अच्छा या बुरा कर्म जो जीव करता है, वही उस कर्म का फल स्वयं भोगता है। परन्तु यहाँ लिखा है कि एक पुत्र अपनी अनेक पीढियों को पापों से मुक्त कर देता है, यह मनुसम्मत कैसे हो सकता है ? और इस प्रकार यदि पापों से मुक्ति होने लगे तो ईश्वरीय न्याय व्यवस्था तो निर्मूल ही हो जायेगी और धर्मकार्यों में अरुचि तथा पापों में वृद्धि स्वतः ही हो जायेगी। जिन पीढियों को पापों से मुक्ति मिल जायेगी, उन्हें धर्म-कर्म करने की क्या आवश्यकता रहेगी ? परन्तु मनु का आदेश तो मानव मात्र को धर्माचरण करने का है।

३।४३-४४ ये दोनों श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) मनु ने विवाह के लक्षणों के साथ साथ विवाहों की विधियों का भी कथन कर दिया है। किन्तु इन श्लोकों में विवाहों की विधियाँ फिर से कही गई हैं, अतः पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त हैं। और यहाँ जो विधियाँ लिखी हैं, उनमें पूर्वविधियों से भिन्नता है। क्योंकि ३।२७-३४ तक श्लोकों में सभी वर्णों के लिए समान विधियाँ कहीं हैं, उनमें मनु ने सवर्ण-असवर्ण का कोई भेद नहीं माना है। किन्तु यहाँ असवर्णों के लिए पृथक् वर्णन करना मनु की मान्यता से विरुद्ध है।

(ख) और ३।४४ श्लोक में जो विवाह की विधियाँ लिखी हैं वे आठों विवाहों पर चरितार्थ नहीं हो सकतीं। अन्तिम तीन विवाहों के साथ इनकी कोई संगति ही सम्भव नहीं है। क्योंकि गान्धर्व विवाह में स्त्री-पुरुष का स्वेच्छा से संयोग होता है, राक्षस विवाह में अपहरण किया जाता है, और पैशाच विवाह में बलात्कारपूर्वक विवाह होता है। अतः इन विवाहों में इन विधियों का अर्थात् बाण पकड़ना, चाबुक और वस्त्र का किनारा पकड़ना कैसे सम्भव हो सकता है ?

(ग) मनु ने विवाहों के लक्षणों के साथ विवाहों की विधियाँ भी लिख दी हैं। क्योंकि विधिभेद से ही ये आठ विवाहों के भेद हुए हैं। तदनन्तर विवाहों के गुणों का विवेचन ३।४२ तक कर दिया है। अब पुनः विवाह की विधियों का उल्लेख करना प्रसंगानुकूल नहीं है। अतः प्रसंगविरुद्ध, मनु की मान्यता के प्रतिकूल तथा अव्यवहार्य (सब विवाहों पर) होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

३।६३—६६ ये चार श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। विवाहों के भेद, उनके लक्षण तथा विधियाँ, विवाहों के गुण-अवगुणों का वर्णन ३।४२ तक हो गया है। उसके बाद गृहस्थाश्रम में स्त्रियों के साथ व्यवहार का वर्णन ३।६२ तक किया गया और ३।६७ से पञ्चयज्ञों का विधान किया गया है। इनके मध्य में विवाहों के गुण-अवगुणों का पुनः असंगत वर्णन होने से प्रक्षिप्त है।

(ख) इन श्लोकों में परस्पर भी प्रायः पुनरुक्तियों का ही कथन है, अतः इनको मौलिक नहीं कहा जा सकता। जैसे (३।६३) में 'क्रियालोपैः पद की ३।६५ में 'अयाज्ययाजनैः' 'नास्तिक्येन कर्मणाम्' 'हीनानि मन्त्रतः' पदों से और ३।६३ में 'वेदानध्ययनेन' पद से पुनरुक्ति ही की गई है। मनुसदृश आप्तपुरुष के वचनों में ऐसी पुनरुक्तियों का होना कदापि सम्भव नहीं है।

(ग) इन श्लोकों में मनु के दूसरे वचनों से परस्पर विरोध का स्पष्ट वर्णन है। जैसे वर्णों के कर्म-निर्धारण में मनु ने शिल्प, व्यापार, कृषि, पशुरक्षा ये वैश्य के कर्म और राजा की सेवा क्षत्रिय का कर्म माना है। और वर्णानुसार कर्म करने से श्रेष्ठ गतियों का भी वर्णन किया है। किन्तु इन श्लोकों में इन्हीं कर्मों से कुलों का विनाश माना गया है। क्या क्षत्रिय तथा वैश्य अपने-अपने कर्म करते हुए अपने कुलों को नष्ट कर लेते हैं? अतः ये श्लोक अन्तर्विरोध होने से मनु की व्यवस्था से विरुद्ध हैं।

(घ) और इन चारों श्लोकों में यह कहीं भी नहीं लिखा कि किस वर्ण के कुलों का नाश होता है। क्या सभी वर्णों के कुलों का श्लोकोक्त बातों से नाश हो जाता है? जब इन श्लोकों में कुछ तो वर्णविशेषों के कर्तव्य कर्म ही हैं और कुछ अकर्तव्य कर्म हैं। क्या कर्तव्य कर्म से कुलों का नाश हो सकता है? अतः ये श्लोक किसी विवेकरहित पुरुष ने प्रसंगविरुद्ध ही मिलाये हैं।

तृतीय अध्याय के—

पञ्चमहायज्ञ विषय में प्रक्षिप्त श्लोकों का सहेतुक-विवरण

यह (३ । ८३) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

(क) महर्षि-मनु ने ३ । ८२ श्लोक में श्राद्ध के विषय में लिखा है कि गृहस्थी पुरुष अपने पितर=माता पितादि बड़े तथा मान्य पुरुषों की प्रसन्नता के लिए प्रतिदिन अन्नादि से, जल, दूध, कन्दमूल एवं फलों से श्राद्ध=श्रद्धा से सेवा किया करें। किन्तु इस श्लोक में उससे विपरीत बात कही गई है कि पितरों के निमित्त से एक ब्राह्मण को भोजन खिलावे। यह पूर्वकथन से विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है। और ब्राह्मण को भोजन कराने से पितरों की प्रसन्नता भी नहीं हो सकती। क्योंकि दूसरे के खाने से दूसरे पुरुष की तृप्ति कदापि सम्भव नहीं है।

(ख) इस श्लोक से मृतक-श्राद्ध की पुष्टि होती है। जब माता-पितादि मर जाते हैं, तो उनके निमित्त ब्राह्मण को भोजन कराना इस श्लोक में लिखा है। यह मान्यता मनु की नहीं है। मनु जी ने जीवित पितरों की सेवा के लिए ही विधान किया है और उसे प्रतिदिन करने के लिये लिखा है। और मरने के पश्चात् जीव कर्मानुसार योनियों में चला जाता है, अतः उनकी तृप्ति या सेवा कदापि सम्भव नहीं है। और माता, पिता, पुत्रादि सम्बन्ध शारीरिक हैं। शरीर के नष्ट होने पर कौन किसका पिता और कौन किसका पुत्र? अतः जीवन-काल में ही श्राद्ध करना वैदिक कर्म है, मृतक का नहीं।

(ग) और वैश्वदेवयज्ञ का विधान अगले श्लोक से प्रारम्भ किया गया है। वहाँ (३ । ८४–९२) ब्राह्मण को जिमाने की कोई बात ही नहीं कही, अतः उसका निषेध करना अप्रासंगिक ही है। क्योंकि इस यज्ञ में भूतों के लिये बलि-निकालकर रखने तथा गृह्य-अग्नि में मन्त्र-पूर्वक आहुति का विधान मनु ने किया है। इसलिये मनु की मान्यता से विरुद्ध तथा अन्तर्विरोध के कारण यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

यह (३ । ९३) श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त है—

(क) यह श्लोक प्रसंङ्ग को भंग कर रहा है। ३ । ९२ श्लोक में बलिवैश्वदेवयज्ञ का विधान पूरा हो गया है और ३ । ९४ में अतिथियज्ञ का

वर्णन किया है। इनके मध्य में फलकथनपरक श्लोक वर्णनक्रम को भंग कर रहा है।

(ख) मनु ने प्रत्येक गृहस्थ-मात्र को, चाहे वह किसी वर्ण का हो, पञ्चयज्ञ (३।६७-७१ तक) प्रतिदिन करने के लिये विधान किया है। यदि यहाँ मनु को फलकथन अभीष्ट होता तो प्रत्येक वर्ण के लिये फलकथन करते। किन्तु यहाँ केवल ब्राह्मण के लिये ही फलकथन करके पक्षपातपूर्ण कथन किया गया है, अतः यह प्रक्षिप्त है।

(ग) यह श्लोक मनु की शैली से विरुद्ध है। मनु ने पञ्चयज्ञों को आवश्यक बताते हुए सब का सामान्य फलकथन किया है पृथक् पृथक् नहीं। जैसे इससे पूर्व पितृयज्ञ का कोई फलकथन नहीं किया है। अतः यह फलकथन परक श्लोक मनु की शैली से विरुद्ध है।

(घ) इस श्लोक में केवल बलिवैश्वदेवयज्ञ से ही मुक्ति-प्राप्त की वात कही है। जब कि मनु ने (१२।८२—११६) श्लोकों में अनेक नैःश्रेयस कर्मों से मुक्ति मानी है। यदि एक ही कर्म से मुक्ति हो सकती है, तो दूसरे मुक्तिप्रद कर्मों का वर्णनु वैसे ही निरर्थक है, जैसे परीक्षार्थी के लिये अतिरिक्त-विषय निरर्थक होता है। उस विषय को वह ले अथवा नहीं, उससे परीक्षा-पास करने में कोई बाधा नहीं होती। और पञ्चयज्ञों का विधान करते हुए मनु ने लिखा है कि 'सूनादोषैर्न लिप्यते' (३।७१) अर्थात् गृहस्थकर्मों को करते हुए जो हिंसाजन्य पाप होते हैं, उनकी निवृत्ति पञ्चयज्ञों से होती है। इससे स्पष्ट है कि इनका न करना पाप है। किन्तु ये यज्ञ मोक्षप्राप्ति में आनुषङ्गिक ही हैं, मुख्य नहीं। और मोक्ष-प्रकरण में इन कर्मों का परिगणन मनु ने नहीं किया अतः यह श्लोक अतिशयोक्तिपूर्ण, पक्षपातपूर्ण तथा प्रसंगविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

ये (३।९५-९८) चार श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये श्लोक प्रसंग से विरुद्ध हैं। ३।९४ श्लोक में अतिथियज्ञ का वर्णन प्रारम्भ किया है और वही प्रकरण ३।९९ श्लोक में भी है। इनके मध्य में फलकथन परक वर्णन तथा हव्य-कव्य लेने के अधिकारी अनधिकारी की चर्चा मनु की शैली से विरुद्ध तथा अप्रासङ्गिक है।

(ख) मनु की मान्यता के अनुसार वर्णों की व्यवस्था का आधार कर्म है, जन्म नहीं। मनु ने (१।८७—८८) तथा (१०।७४—७६) श्लोकों में ब्राह्मणादि के कर्मों का स्पष्ट वर्णन किया है। जो वेदाध्ययन-अध्यापनादि कर्मों से हीन है,

वह ब्राह्मण ही नहीं है। किन्तु (३।९६—९८) श्लोकों में विद्यासहित तथा विद्यारहित जो ब्राह्मणों के भेद किये हैं, वे जन्ममूलक वर्णव्यवस्था के प्रचलन होने के बाद की रचना को स्पष्ट करते हैं। अतः ये मनु की मान्यता के विरुद्ध होने से अर्वाचीन हैं।

(ग) और ३।९८ श्लोक में महान् पापों से तारने की बात भी मिथ्या है। मनु ने इस विषय में बहुत ही स्पष्ट (४।२४० तथा १२।३-९ में) कहा है कि प्रत्येक कर्म का फल अवश्य मिलता है। यदि पाप-कर्मों से यज्ञादि के द्वारा मुक्ति सम्भव हो जाये, तो मनु की कर्म-फल व्यवस्था ही निर्मूल हो जाये और कर्म-फल ईश्वराधीन न होकर जीवों के आधीन होने से पापकर्मों में वृद्धि ही होने लगे। क्योंकि उसे ईश्वरीय-न्याय का कोई भय तो रहेगा ही नहीं। यज्ञादि कर्मों से अन्तःकरण शुद्धि तो सम्भव है, और आगे पापों से बचा जा सकता है, किन्तु कृत-पापों से छुटकारा नहीं हो सकता।

(घ) मनु ने यज्ञों का सामान्य-फल तो कहा है, जैसे-सूनादोष=हिंसा जन्य दोषों में न फंसनादि। किन्तु विशेष फलकथन मनुसम्मत नहीं है। और यदि फलकथन करते तो सबका ही कहते। अतः यहाँ ३।९५ में भिक्षादान का फल ३।९७ में दानफल का न होना, और ३।९८ में पापों से पार होने आदि का कथन निराधार, अयुक्तियुक्त एवं अतिशयोक्तिपूर्ण होने से परवर्ती हैं।

यह (३।१००) श्लोक निम्न लिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

(क) यह श्लोक प्रसङ्गविरुद्ध है। ३।९९ में अतिथि के यथाशक्ति सत्कार की बात कही है। और ३।१०१ में 'यथाशक्ति' शब्द के भाव की व्याख्या की गई है। इनके मध्य में अतिथि-यज्ञ न करने के फलकथन का वर्णन अप्रासंगिक है।

(ख) अतिथि का सत्कार न करने से गृहस्थी को जो दोष लगेगा, अथवा अतिथि से होने वाले लाभ से गृहस्थी वञ्चित हो जायेगा, ऐसा कथन तो ठीक था। परन्तु असत्कृत-अतिथि गृहस्थी के सभी पुण्यों का हरण कर लेता है, यह मनु के लेख के विरुद्ध तथा युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि मनु ने ४।२४० में 'कृत कर्म का फल कर्त्ता को अवश्य मिलता है' यह स्पष्ट लिखा है। अतः किसी भी पुरुष के शुभाशुभ कर्मों को कोई अन्य नहीं छीन सकता।

(ग) केवल असत्कार मात्र से समस्त पुण्यों का अपहरण अयुक्तियुक्त तथा मनु की शैली के विरुद्ध है। और यह कोई न्यायव्यवस्था भी नहीं है कि किसी ने उदाहरण स्वरूप दश कर्म अच्छे किये हैं, और ११ वां कर्म प्रमादवश

या अज्ञानवश त्रुटिपूर्ण हो जाये, तो प्रथम १० भी समाप्त हो जायें। अतः यह अतिशयोक्तिपूर्ण कथन मनुसम्मत कदापि नहीं हो सकता।

ये (३।१०९–११२) चार श्लोक निम्न लिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं —

(क) ये श्लोक प्रसङ्ग-विरुद्ध हैं। मनु ने ३।१०८ श्लोक में वैश्वदेवयज्ञ के पश्चात् भी किसी अतिथि के आने पर भोजन कराने की बात कहकर अतिथि-सम्बन्धी सामान्य कथन को पूर्ण कर दिया है और उसके पश्चात् अतिथि के साथ मित्रादि के आने पर, अथवा अतिथि से पूर्व भी किनको भोजन कराया जा सकता है, उनके सम्बन्ध में ३।११३-११४ श्लोकों में विशेष उल्लेख किया गया है। इनके बीच में कौन अतिथि हो सकता है, यह अतिथि की परिभाषा सम्बन्धी वर्णन प्रसंगविरुद्ध है।

(ख) मनु ने ३।१०२ श्लोक में अतिथि की पूर्ण परिभाषा की है कि जो विद्वान् है और जो अनियततिथि वाला हो, उसको अतिथि कहते हैं। किन्तु यहाँ (३।११० में) क्षत्रियादि का ब्राह्मण के घर अतिथि न होने का कथन और (३।१११ में) क्षत्रिय अतिथि हो तो ब्राह्मणों के खाने पर उसको खिलाये, और (३।११२ में) यदि वैश्य, शूद्र अतिथि रूप में आ जायें, तो उन्हें नौकरों के साथ भोजन खिलाये, इत्यादि बातें मनु की अतिथि-परिभाषा से विरुद्ध हैं। मनु ने जिसके आने की तिथि न हो और विद्वान् हो, उसे ही अतिथि माना है। चाहे वह किसी वर्ण का हो। और मनु के अतिथि सम्बन्धी (३।१०४–१०६) अन्य वचनों से भी ये सब बातें विरुद्ध एवं पक्षपातपूर्ण हैं। और मनु ने ३।१०२–१०३ में अतिथि की परिभाषा कर दी है, पुनः दुबारा यहाँ परिभाषा सम्बन्धी बातें मौलिक न होने से परवर्ती ही सिद्ध होती हैं।

(ग) इन श्लोकों में पुनरुक्त बातों का भी वर्णन है। जैसे मनु ने ३।११३ में मित्रादि परिचितों को अतिथि से भिन्न माना है। और यहाँ (३।११०) में मित्रादि को अतिथि न मानना पुनरुक्त है। अतः पुनरुक्त बातें निष्प्रयोजन मनु सदृश आप्त पुरुष की कदापि नहीं हो सकतीं।

(घ) मनु ने ३।१०७ श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि अतिथि वर्णों के आधार पर नहीं होता। किन्तु घर पर आये अतिथियों की सेवा योग्यता के आधार पर करनी चाहिए। किन्तु यहां वर्णों के आधार पर अतिथि-सेवा मानना और वैश्य को मनु ने द्विजों में माना है, उसका शूद्र के तुल्य सत्कार करनादि बातें मनु की मान्यता से विरुद्ध हैं।

(ङ) मनु ने २।१११-११२ श्लोकों में बडप्पन के आधार सभी वर्णों में पाञ्च माने हैं— वित्त, बन्धु, अवस्था, कर्म, विद्या। इनमें भी विद्या को सर्वोपरि

माना है। परन्तु यहाँ (३। १०९ में) कुल व गोत्र की बात का जो कथन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि ये श्लोक उस समय लिखे गये हैं, जब बडप्पन का आधार कुल तथा गोत्र को माना जाने लगा था।

यह (३। ११५) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

(क) यह श्लोक प्रसङ्गविरुद्ध है। इससे पूर्वश्लोकों में अतिथि, मित्र, गर्भिणी, रोगी आदि को खिलाने का वर्णन किया है और ३।११६ में कहा है इन सबके खाने पर गृहस्थ पति-पत्नी अवशिष्ट भोजन को खायें। इनके मध्य में इनसे (अतिथि आदि से) पूर्व खाने का दोषपरक अर्थवाद असंगत है। क्योंकि अर्थवाद विधिवाक्य के बाद आना चाहिये। अतः यह श्लोक प्रसङ्ग को भंगकर रहा है।

(ख) इस श्लोक में कुत्ते, गिद्ध, आदि से खाने की बात भी मनु की मान्यता से विरुद्ध है। मनु ने अन्त्येष्टि क्रिया को मानकर शव के दाह करने की विधि को ही माना है, न कि मरने के बाद जंगल में गेरने पर कुत्ते, गिद्धादि के द्वारा खाने को। मनु ने ५।१६७-१६८ श्लोकों में अन्त्येष्टि (दाहक्रिया) का स्पष्ट उल्लेख किया है।

(ग) अतिथि आदि से पूर्व भोजन करना गृहस्थी के लिये निन्दनीय अवश्य है। और वह भी यदि अतिथि भोजन खाने से पूर्व घर पर आ गया हो। यदि अतिथि भोजन करने के बाद आया हो, तब भी उसका सत्कार करना ही चाहिये। अतः पूर्व भोजन करना भी सापेक्ष निन्दनीय तो है, परन्तु यहाँ अतिशयोक्तिपूर्ण जो वर्णन किया है, यह मनु की शैली नहीं है।

ये (३। ११९–२८४) १६६ श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये सभी श्लोक प्रसङ्ग विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। ३। ११७–११८ में गृहस्थी पति-पत्नियों के लिये 'यज्ञशेषभुक्' कहा है। और ३। २८५ में यज्ञ-शेष को ही अमृत-भोजन कहा है। अतः इन श्लोकों की पूर्णतः परस्पर संगति है। इनके मध्य में ये १६६ श्लोक प्रसङ्ग को भङ्ग कर रहे हैं।

(ख) और यहाँ पञ्चमहायज्ञों का विधान क्रमशः किया गया है अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथि यज्ञ। इनमें पितृयज्ञ का वर्णन ३।८३ में समाप्त हो गया। ३।९४ में वैश्वदेवयज्ञ का विधान पूर्ण हो गया। तत्पश्चात् अतिथियज्ञ का विधान करके गृहस्थी को यज्ञशेष खाने को कहा गया है। इस अतिथियज्ञ के बाद ३।११८ से ३।२८५ के बीच के श्लोक बिना किसी क्रम के प्रकरणविरुद्ध मिलाये गये हैं। इन पञ्चयज्ञों में (३।११९) राजा, स्नातक आदि का सत्कार ३।१२१ में वैश्वदेवयज्ञ का पुनः विधान, ३।१२२ से २८४ तक 'पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य' पितृयज्ञ करके मृतकश्राद्ध

का विधान करना विनाक्रम के अप्रासङ्गिक है। क्योंकि ३।२८६ में 'सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्' कहकर मनु ने प्रकरण का स्पष्ट निर्देश किया है। इस प्रकरण में 'मृतकश्राद्ध' का किसमें अन्तर्भाव माना जाये ? पितृयज्ञ में अन्तर्भाव माना जाये तो उसका खण्डन ३। १२२ में प्रक्षेपक ने स्वयं कर दिया कि पितृयज्ञ को करके श्राद्ध करे। अतः प्रक्षेपक के कथनानुसार भी मृतकश्राद्ध पितृयज्ञ से भिन्न है। अतः मृतकश्राद्ध का प्रक्षेप सर्वथा ही असंगत है।

(ग) मनु ने ३।६७ में 'वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत................ पञ्चयज्ञ विधानम्' लिखकर तथा ३।८२ में पितृयज्ञ को दैनिक कर्तव्य बताया है। किन्तु मृतकश्राद्ध को मासिक, त्रैमासिक माना गया है। अतः मनु के विषय-निर्देश से मृतकश्राद्ध-बाह्य होने से प्रक्षिप्त है।

(घ) मृतक-श्राद्ध की मान्यता मनु की मान्यता से विरुद्ध है। मनु ने जीवित पता-मातादि की तन, मन, धन से सेवा करने का तो निर्देश सर्वत्र किया है, मृतकों का नहीं। मनु ने ३। ८०–८२ श्लोकों में जीवित-पितरों की पूजा तथा 'प्रीतिमावहन्' कहकर उनकी प्रसन्नता के लिये पितृयज्ञ लिखा है। किन्तु जो पितर मर गये हैं, उनकी तृप्ति तथा प्रसन्नता कथमपि सम्भव नहीं है। 'पितर' शब्द के अर्थ से भी स्पष्ट है—जो पालन तथा रक्षण करे वह 'पितर' कहाता है। मृतक-जीव इन दोनों अर्थों की कदापि पूर्ति नहीं कर सकते। और २।१२६ वें श्लोक से स्पष्ट है कि आंगिरस ने जो पितरों को पढ़ाया था, वे जीवित ही थे। और ६। २८ में पत्नी के आधीन पितरों का सुख भी जीवितों में ही संगत होता है। और दैनिक पितृयज्ञ का घर पर ही विधान किया है, किन्तु ३। २०७ आदि में मृतकश्राद्ध का विधान वनों, नदीतीरों तथा एकान्त में किया है। यह भिन्नता भी मनुसम्मत नहीं हो सकती। और मनु ने २।८२ में पितृयज्ञ को ही श्राद्ध माना है, किन्तु ३।१२२ में मृतकश्राद्ध को पितृयज्ञ से भिन्न माना है। मनु ने पितृयज्ञ के लिये अन्न, जल, कन्दमूल, फलादि ही आवश्यक माने हैं, किन्तु मृतकश्राद्ध में मांस से श्राद्ध करना अधिक फलदायक तथा उत्कृष्ट माना गया है। और (३। २६६ से २७२ तक) मृतकश्राद्ध में मांसभक्षण का वर्णन है, जबकि मनु ने (५। ४३–५१) मांसभक्षण को पाप माना है और मांस बिना हिंसा के प्राप्त नहीं हो सकता। जिस मनु ने (३।६८-६९) श्लोकों में सूना=हिंसाजन्य दोषों की निवृत्ति के लिये और जो कि चक्की, चूल्हादि के द्वारा अनजाने में होने वाले हैं। पञ्चमहायज्ञों का विधान किया है, ;क्या वह इस प्रकार के मांसभक्षण का विधान कर सकता है ? और मनु ने शुभाशुभ कर्म करने वाले को ही कर्मफल का भोक्ता मानते हैं, परन्तु मृतकश्राद्ध में

(३।२२०-२२२) एक के श्राद्ध करने से सात सात पीढी के पूर्वजों को पुण्यफल की प्राप्ति की बात मनुसम्मत कैसे हो सकती है ? और मनु तो (१।८८, २।१४३ में) कर्मणा वर्णव्यवस्था को मानते हैं, किन्तु इस मृतकश्राद्ध में (३।१३६-१३७,१५२-१५६,१६४,१६६,१८२) जन्मना वर्णों को मानने के स्पष्ट संकेत हैं। और मनु ने वेदाध्ययन को (२।८०-८१) दैनिक कर्तव्य तथा उसमें अवकाश का निषेध किया है किन्तु 'न च छन्दांस्यधीयीत' (३ । १८८ में) मृतकश्राद्ध में वेद-पाठ का निषेध किया है। और मनु ने सृष्टि-उत्पत्ति (१।६,१४—२० में) परमात्मा द्वारा पञ्चभूतों से मानी है। जबकि यहाँ (३।२०१ में) ऋषियों से चराचर जगत् की उत्पत्ति मानी है। मनु ने १।६१ में शूद्रों का कर्म सेवा करना माना है, किन्तु श्राद्ध में शूद्र का स्पर्श भी निन्दनीय (३।२४१) माना है। ३।१६७ में वसिष्ठ के पुत्र सुकाली शूद्रों के पितर लिखे हैं, तो शूद्रों के घर श्राद्ध खाने कौन ब्राह्मण जायेंगे ? और वसिष्ठ ऋषि के पुत्र शूद्रों के पितर हैं, तो जन्मना वर्ण मानने वाले उन्हें शूद्र कैसे कह सकते हैं ? इस प्रकार की मनु की मान्यताओं का मृतकश्राद्ध के श्लोकों में विरोध भरा हुआ है, क्या इन विरुद्ध बातों को कोई बुद्धिमान् व्यक्ति मनु की मान सकता है ?

(ङ) इन मृतकश्राद्ध के श्लोकों में अत्यधिक परस्पर विरोधी बातें भी भरी पड़ी हैं, जिनसे स्पष्ट है कि इनको बनाने वाला कोई एक पुरुष न होकर भिन्न-भिन्न समय के भिन्न-भिन्न पुरुष हैं। ३।१४७ श्लोक में हव्य-कव्य देने में प्रथम कल्प और अनुकल्प का वर्णन भी भिन्न लेखकों को स्पष्ट करता है। बाद में जिसने श्लोक मिलाये, उसने अनुकल्प कहकर मिश्रण किया और इसी लिए इनमें प्रथम श्लोकों से स्पष्ट विरोध है। परस्पर विरोधी कुछ उदाहरण देखिये—

(१) ३।१३६-१३७ में वेदज्ञानरहित को भी श्राद्ध में जिमाने के योग्य लिखा है, किन्तु ३।१४२-१४६ तथा ३।१२८-१३१ श्लोकों में वेद से अनभिज्ञ ब्राह्मण को श्राद्ध में अयोग्य माना है।

(२) ३।१२६ में वेदानभिज्ञ को दैवकर्म में जिमाने का निषेध किया है। और ३ । १४६ में दैवकर्म में ही ब्राह्मण की विद्वत्तादि को जांच करने का निषेध किया है।

(३) मृतकश्राद्ध में (३।२६६-२७२, ३।१२३) मांसभक्षण का विधान किया है और (३।१५२ में) मांस बेचने वाले ब्राह्मण को जिमाने का भी निषेध किया है। और ३।२३३-२३७ तक श्लोकों में अन्न से पितरों की तृप्ति, ३।१२४ में अन्न से श्राद्ध और ३।१२३ में मांस से ही श्राद्ध करना लिखा है।

(४) ३।१९६-१९७ में चारों वर्णों के पितरों का उल्लेख किया है। उन में शूद्रों के सुकाली नामक पितर माने हैं और ३।२४१ में कहा है कि शूद्र के स्पर्श से भी श्राद्ध का अन्न निष्फल हो जाता है। क्या शूद्र अपने पितरों को विना छुए ही तृप्त कर सकता है?

(५) ३।१८८ में मृतकश्राद्ध में वेदपाठ करने का निषेध किया है, किन्तु ३।२३२ में वेदाध्ययन करने का विधान किया है।

(६) ३।१२२ में पितृयज्ञ से श्राद्ध को भिन्न माना है, किन्तु अन्यत्र सर्वत्र श्राद्ध को पितृकार्य कहकर दोनों को एक माना है। ३।१२७ में तो पितृयज्ञ को प्रेतकृत्य ही कहा है।

(७) ३।१९२ में पितरों को 'सततं ब्रह्मचारिण:' कहकर सदा ब्रह्मचारी माना है। ३।२०० श्लोक में पितरों के पुत्रों तथा पौत्रों का वर्णन किया है। क्या सदा ब्रह्मचारियों के भी पुत्र-पौत्र सम्भव हैं।

(८) पितर कौन होते हैं, इसके विषय में तो बहुत ही विरोधी वर्णन किया गया है। ३। २२०-२२२ श्लोकों में पूर्वज पिता, पितामहादि को पितर कहा है और ३।२०१ में ऋषियों से पितरों की उत्पति ३।१९४ में मरीची आदि ऋषियों के पुत्रों को पितर माना है। यदि सोमसदादि ऋषि-पुत्र ही पितर हैं, तो पूर्वज पिता, पितामहादि जो ऋषि-पुत्र नहीं हैं, उनको पितर कहना निरर्थक है। यदि यह कहा जाये कि सब मनुष्य ऋषियों की ही सन्तान हैं, तो चारों वर्णों के (३।१९४-१९९) अग्निष्वात्तादि भिन्न-भिन्न पितर होने का क्या कारण है? और ३।२८४ में वसुओं को पितर, रुद्रों को पितामह, और आदित्यों को प्रपितामह कहकर कौन से पितर माने हैं? अत. इस विभिन्नता से पितरों का निर्णय करना सम्भव ही नहीं है।

(९) ३। १३८ में श्राद्ध में मित्र को जिमाने का निषेध किया है, किन्तु ३। १४४ में जिमाने का विधान किया है।

(१०) ३।१२५ में कहा है कि पितृश्राद्ध में धनसम्पन्न व्यक्ति भी विस्तार न करे। केवल एक-एक अथवा तीन ब्राह्मणों को जिमावे। किन्तु ३।१४८ में नाना, मामा, सास, श्वसुर, गुरु, दौहित्रादि को जिमाने का तथा ३।२६४ में ब्राह्मणों के बाद रिश्तेदारों तथा जातिवालों को जिमाने का विधान किया है। क्या विस्तार का निषेध करके यह विस्तार का ही विधान नहीं है?

(११) यदि ३। २२०—२२२ श्लोकानुसार पूर्वज ही पितर हैं, और ३।१२७ के अनुसार प्रेतकृत्य ही श्राद्ध है, तो मरने के पश्चात् पितर तो कर्मानुसार योनियों में चले जाते हैं, फिर वे श्राद्ध के समय कैसे आ सकते

हैं ? सशरीर आते हैं, या विना शरीर के ? सशरीर आते हैं, तो दिखाई क्यों नहीं देते ? यदि विना शरीर के आते हैं, तो जिस घर में वे शरीर को छोड़कर आते हैं, क्या उस घर के व्यक्ति मुर्दा समझकर शव को जलाते नहीं ? क्या उन्हें भी श्राद्ध का ज्ञान रहता है ? यदि रहता है, तो आजकल भी रहना चाहिये ? अन्यथा शव को जलाने के बाद श्राद्ध को खाकर पितर-जीव कहाँ जाते हैं ? इत्यादि अनेक भ्रान्तियाँ इस मिथ्या मान्यता से उत्पन्न होती हैं ? जिन का समाधान इस मान्यता को मानने वालों के पास कोई नहीं है।

और ३। १८६ में लिखा है कि श्राद्ध में पितर ब्राह्मणों के पीछे-पीछे चलते हैं और बैठते समय बैठते हैं। क्या बिना शरीर के चलना बैठनादि क्रियायें सम्भव हैं ? और ३।२५० में कहा है कि यदि श्राद्ध में ब्राह्मण शूद्रा स्त्री का संग करता है, तो पितर उस स्त्री के मल में महीना भर पड़ रहते हैं। क्या यह महान् अन्याय नहीं कि दुष्कर्म कोई करे और उसका फल पितर भोगें ? और ३। १९६ में सांपों को भी पितर मानना क्या उपहास्यास्पद नहीं है ?

(च) इन श्लोकों में अयुक्तियुक्त, बुद्धिविरुद्ध अशास्त्रीय बातें भी कम नहीं हैं। कतिपय उदाहरण देखिये—

(१) ३।१४६ में लिखा है—श्राद्ध में ब्राह्मण को जिमाने से सात पीढ़ियों तक के पितरों की तृप्ति हो जाती है। यह सात पीढ़ियों की ही सीमा क्यों ? सभी पूर्वजों की कह देना चाहिये था ! यथार्थ में भोजन कोई करे और तृप्ति दूसरे की हो जाये, यह कथन ही मिथ्या है।

(२) ३।१७७ में कहा है—श्राद्ध में ब्राह्मण को जिमाते हुओं को यदि अन्धा व्यक्ति देख लेता है तो ९० वेदपाठियों को जिमाने का फल नष्ट हो जाता है। यह कितनी विचित्र बात है, क्या अन्धा पुरुष भी देख सकता है ? और देखने मात्र से किसी पुण्यापुण्य कर्म का फल कैसे नष्ट हो सकता है ?

(३) ३।१७८ में कहा है—शूद्र-याजक के स्पर्श से ही दान का फल नष्ट हो जाता है। ३।१७९ में कहा है—लोभवश ब्राह्मण दान लेकर शीघ्र नष्ट हो जाता है। ३।१९० श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण भोजन न खाये तो सूकर योनि में जाता है। ३।१९१ में श्राद्ध में जीमने वाले ब्राह्मण को शूद्रा के साथ संग करने पर दाता के समस्त दुष्कर्मों का फल मिलता है। ३।२०५ में दैवकर्म के प्रारम्भ में श्राद्ध करने वाला कुलसहित नष्ट हो जाता है। ३। २३० में श्राद्ध-अन्न में पैर से स्पर्श होने पर राक्षसों द्वारा अपहरण करना। ३।२४९ में श्राद्ध का झूठा अन्न शूद्र को देने से कालसूत्र नामक नरक में जाना, इत्यादि

अतिशयोक्ति पूर्ण तथा कार्य-करणभाव सम्बन्ध से रहित बातों को कौन बुद्धि-जीवी स्वीकार कर सकता है ? स्पर्शमात्र से फल का नष्ट होना, दूसरे के कर्म का फल दूसरे ने भोगना, और कल्पित नरकादि का भय दिखाना उदरम्भरी ब्राह्मणों की पोपलीला मात्र ही कहनी चाहिये।

(४) जब श्राद्ध को प्रक्षेपक ने प्रेतकर्म माना है, तो क्या मृत-पितरों से किसी वर की प्राप्ति हो सकती है ? ३।२५८-२५९ में कहा है कि ब्राह्मणों को जिमाने के बाद यजमान दक्षिण दिशा में मुख करके—'दानदाता बढते रहें, कुल में दानादि देने की श्रद्धा बनी रहे' इस प्रकार के वरों को मांगे। क्या यह निरर्थक वर-याचना नहीं है ? और ३।२६२-२६३ में कहा है कि यजमान की पत्नी यदि पुत्र चाहती है तो श्राद्ध में बनाये आटे के पिण्डों में से बीच के पिण्ड को खा लेवे। क्या इस प्रकार के कर्म से सन्तान की प्राप्ति हो सकती है, जिसमें कोई कार्य कारण भाव सम्बन्ध नहीं है ?

(५) ३।२०१ में कहा है कि पितरों से देव व मनुष्यों की उत्पत्ति होती है और देवों से जड़-चेतन जगत् की उत्पत्ति होती है। इस जगत् को परमेश्वर प्रकृति से बनाता है और वह कभी जन्मादि धारण नहीं करता। इस सत्य मान्यता के विरुद्ध प्रकृति आदि साधनों के बिना देवों ने सृष्टि को कैसे बनाया ? क्या ये परमेश्वर से भिन्न हैं ? भिन्न हैं तो भिन्न-भिन्न देवों की सृष्टि-रचना भिन्न-भिन्न होनी चाहिये। किन्तु सृष्टि में एकरूपता तथा एक व्यवस्था से स्पष्ट है कि इसको बनाने वाला एक ही है। और जो स्वयं पितरों से उत्पन्न हुए हैं, वे सृष्टि को कैसे बना सकते हैं ? और चेतन जीवात्मा एक शाश्वत सत्ता है, किन्तु यहाँ उनको भी बनाने की बात कही है, यह कितनी असम्भव बात है ?

(६) ३। २६८-२७२ तक भिन्न-भिन्न पशुओं के मांस से जो पितरों की तृप्ति लिखी है, वह कैसी विषम है। किसी से महीने भर, किसी से त्रैमासिक, किसी से वर्ष भर और किसी से अनन्तकाल तक तृप्ति लिखी है। लोक में हम देखते हैं कि भौतिक पदार्थों से कुछ समय तक ही तृप्ति होती है। एक दिन में भी अनेक प्रकार के भोजन खाना होता है। पहले तो श्राद्ध में पितर आ नहीं सकते और उन्हें विभिन्न प्रकार के मांसों से विभिन्न प्रकार की तृप्ति करना केवल मांसाहारी वाममार्गी मनुष्यों से स्वार्थवश लीला की गई है। अथवा स्वार्थी ब्राह्मणों ने यह पोपलीला लिखी है।

(७) ३। २१७ श्लोक में छः ऋतुओं तथा मृत-पितरों को नमस्कार करने की बात भी मिथ्या है। ऋतुओं को नमस्कार करना निरर्थक है और जो इस

लोक में नहीं रहे, उन मृत-पितरों को नमस्कार करना भी व्यर्थ है। क्योंकि नमस्कार का अर्थ सत्कार करना है, इस अर्थ की इनके साथ कोई संगति नहीं है।

(ङ) इसी प्रकार मृतक-श्राद्ध के अनेक भेद माने हैं। जैसे ३।२५४ श्लोक में पितृश्राद्ध, गोष्ठी श्राद्ध, अभ्युदय श्राद्ध तथा दैवश्राद्ध। किन्तु इनका पितृश्राद्ध को छोड़कर नाम-मात्र ही वर्णन है। इन की विधि का वर्णन नहीं किया गया है और श्राद्ध करने के विशेष समय, नक्षत्र तथा तिथियाँ लिखी हैं—जैसे ३।२७३ में वर्षा ऋतु, मघानक्षत्र, त्रयोदशी तिथि को श्राद्ध के लिये उत्तम माना है। ३।२७६ में कृष्णपक्ष में दशमी से लेकर पौर्णमासी तक की तिथियाँ श्राद्ध करने में श्रेष्ठ हैं, चतुर्दशी को छोड़कर। ३।२७७ में युग्म (सम) संख्या वाली तिथियों, नक्षत्रों में श्राद्ध करने से सब इच्छायें पूरी होती हैं। ३।२७८ में शुक्लपक्ष की अपेक्षा कृष्णपक्ष, पूर्वह्न की अपेक्षा अपराह्न को श्रेष्ठ माना है। और ३।२३६–२३७ में अत्यन्त-गर्म अन्न को ही पितर खाते हैं। इत्यादि बातें अयुक्तियुक्त, असंगत तथा मिथ्या प्रपंच मात्र ही हैं। क्योंकि मनुसम्मत दैनिक पितृयज्ञ से इनकी कोई संगति नहीं है।

(छ) इन मृतक-श्राद्ध के श्लोकों से इनकी अर्वाचीनता के संकेत भी मिलते हैं। क्योंकि इनमें ऐसी-ऐसी मान्यताओं का समावेश है, जिससे स्पष्ट है कि जब से ये मान्यतायें प्रचलित हुई हैं, तब या उसके बाद ही किसी ने इन श्लोकों को इसलिये मिलाया है, क्योंकि मनुस्मृति को सभी प्रामाणिक मानते हैं। देखिये कुछ अवैदिक, मनु से असम्मत, कल्पित मान्यतायें—

(१) **जन्म-जात-वर्णव्यवस्था**—मनु ने वर्णव्यवस्था को कर्ममूलक माना है, जन्ममूलक नहीं। परन्तु ३।१५०–१६७ तक जिन चोर, जुआरी, मांस-विक्रयी, व्यापारी, ब्याज से आजीविका चलाने वाला, शूद्रा से विवाह करने वाला, विष देनेवाला आदि को भी ब्राह्मण माना है, वह जन्ममूलक ही है। क्योंकि मनु ने ये ब्राह्मण के कर्म ही नहीं माने हैं।

शूद्रों के प्रति हीन भावना—मनु ने कर्मानुसार मनुष्यों को वर्णों में बांटा है। किन्तु उनमें ऐसा कहीं भी भाव नहीं है कि जिससे परस्पर घृणाभाव प्रकट होता हो। परन्तु यहाँ ३।२४१ में शूद्र के स्पर्श से ही श्राद्ध अन्न को निष्फल माना है। जबकि मनु तीनों वर्णों के सेवा-कार्य को शूद्र का मानते हैं। क्या सेवा कार्य करने वाला स्पर्शादि से पृथक् रह सकता है?

(३) **'नरक' की मिथ्या कल्पना**—नरक कोई स्थान विशेष नहीं है। 'नरक' दुःख विशेष का ही नाम है। नरकादि पौराणिक कल्पना ही है। यहाँ

३ । १७२, ३ । २४६ श्लोकों में 'नरक' को स्थानविशेष माना है और 'कालसूत्र' नरक का तो नाम भी लिखा है। इस प्रकार के नरक किसी स्थान विशेष में नहीं हैं।

(४) **पुराणों का वर्णन**—किसी के मरने पर गरुड-पुराणादि का पाठ पौराणिक बन्धु करते हैं। वैसा ही यहाँ ३ । २३२ में पुराणों के श्राद्ध में पाठ करने का उल्लेख किया गया है। और पुराणों के इतिहास से स्पष्ट है कि पुराणों की रचना बहुत ही अर्वाचीन है।

(५) **प्रेत तथा राक्षस योनियाँ**—इन श्लोकों में श्राद्ध को प्रेत कृत्य तो कहा ही है, किन्तु ३ । २३० में लिखा है कि श्राद्ध में आंसु गिराने से श्राद्धान्न प्रेतों को मिलता है और पैर से छूने से राक्षसों को। इसी प्रकार (३ । १७०) वर्जित ब्राह्मणों को खिलाया अन्न राक्षस खाते हैं। ये प्रेत तथा राक्षस कौन हैं? क्या मनुष्यों से भिन्न कोई योनि विशेष हैं? और जिस अन्न को ब्राह्मणों ने खालिया है, उसे पितर, प्रेत तथा राक्षस कैसे खा सकते हैं। क्या ये पेट में कीड़े बनकर खाते हैं? यह केवल यजमान को भयमात्र दिखाना है कि यदि श्राद्ध में कोई त्रुटि हो गई तो श्राद्धान्न पितरों को नहीं पहुँचेगा। मनु ने कर्म-फल की व्यवस्था में विभिन्न योनियों का परिगणन किया है किन्तु प्रेत-योनि कहीं भी नहीं लिखी है। और जो उत्तम तमोगुणी जीव होते हैं वे राक्षस=हिंसक, पिशाच=अनाचारी जन्म को पाते हैं। किन्तु ये मनुष्यों के ही भेद मात्र हैं।

(ज) ये सभी श्लोक जहाँ मनु की मान्यताओं से विरुद्ध, परस्पर विरुद्ध अयुक्तियुक्त, तथा पौराणिक प्रभाव से प्रभावित हैं, वहाँ मनु की शैली से भी विरुद्ध हैं। जैसे ३।१९४-२०१ में मनु के ही परवर्ती वंशजों को ही पितर कहना ३।१५० में 'मनुरब्रवीत्' ३।२२२ में 'अब्रवीन्मनुः' इत्यादि पाठों में अपने रचे श्लोकों को मनु के बताने की चेष्टा करना और अतिशयोक्तिपूर्ण फलकथन करना मनु की शैली कदापि नहीं हो सकती। यह अतिशयोक्तिपूर्ण अर्थवाद तथा मनु के नाम से श्लोक कहना ही इन्हें अर्वाचीन सिद्ध करता है। मनु सदृश आप्त पुरुष ऐसी लोकैषणा की भावना वाली अथवा अपना प्रभाव दिखाने वाली बातें कदापि नहीं कह सकते। अतः इन श्लोकों में मनु से विरुद्ध शैली का दिग्दर्शन होने से भी ये परवर्ती प्रक्षिप्त श्लोक हैं।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां मनुस्मृतौ प्राकृतभाष्यसमन्वितायाम्
प्रक्षेपश्लोक-समीक्षाविभूषितायाञ्च गृहस्थाश्रमे समावर्त्तन-
विवाह-पञ्चयज्ञविधानात्मकस्तृतीयोऽध्यायः ॥

ओ३म्

चतुर्थोऽध्यायः

[हिन्दी-टीकाप्रक्षेपश्लोकसमीक्षाभ्यां सहितः]

(गृहस्थान्तर्गत आजीविका एवं व्रत विषय)

गृहस्थान्तर्गत आजीविका-सम्बन्धी कर्त्तव्य—

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥ (१)

(द्विजः) द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (आद्यम्) पहले (आयुषः चतुर्थं भागम्) आयु के चौथाई भाग तक [कम से कम पच्चीस वर्ष पर्यन्त] (गुरौ उषित्वा) गुरु के समीप रहकर अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए अध्ययन और ब्रह्मचर्यपालन करके (आयुषः द्वितीयं भागम्) आयु के दूसरे भाग में (कृतदारः) विवाह करके (गृहे वसेत्) घर में निवास करे ॥ १ ॥

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥ (२)

(विप्रः) द्विज व्यक्ति (अनापदि) आपत्तिरहितकाल में (भूतानाम् अद्रोहेण एव) प्राणियों को जिससे किसी प्रकार की पीड़ा न पहुंचे (वा) अथवा (पुनः) ऐसी वृत्ति न मिलने पर बाद में (अल्पद्रोहेण) जिसमें प्राणियों को कम से कम पीड़ा हो ऐसी (या वृत्तिः) जो वृत्ति=आजीविका हो (तां समास्थाय जीवेत्) उसको अपनाकर जीवननिर्वाह करे ॥ २ ॥

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥ ३ ॥ (३)

(स्वैः अगर्हितैः कर्मभिः) अपने अनिन्दित अर्थात् श्रेष्ठकर्मों से (शरीरस्य अक्लेशेन) शरीर को अधिक कष्ट न देकर (यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थम्) केवल जीवनयात्रा को चलाने के लिए ही [अर्थात् जिससे जीवन कष्टरहित रूप में चलता रहे और उससे अधिक ऐश्वर्य भोग की कामना न हो] (धन-संचयं कुर्वीत) धन का संचय करे ॥ ३ ॥

न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम्॥ ११॥ (४)

गृहस्थ (वृत्तिहेतोः) जीविका के लिये भी (लोकवृत्तं न वर्तेत) कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का वर्त्ताव न वर्त्ते, किन्तु जिसमें (अजिह्माम् अशठां शुद्धाम्) किसी प्रकार की कुटिलता, मूर्खता, मिथ्यापन वा अधर्म न हो (ब्राह्मण-जीविकां जीवेत्) उस वेदोक्त कर्मसम्बन्धी जीविका को करे॥ ११॥

(सं० वि० गृहाश्रम वि०)

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥ १२॥ (५)

(सुखार्थी) सुख चाहने वाला व्यक्ति (परमं सन्तोषम् आस्थाय) अत्यन्त संतोष को धारण करके (संयतः भवेत्) संयत=अधिक धन के संग्रह की इच्छा न रखनेवाला बने (हि) क्योंकि (संतोषमूलं सुखम्) संतोष सुख का आधार है (विपर्ययः) उससे उल्टा अर्थात् असंतोष (दुःखमूलम्) दुःख का आधार है॥ १२॥

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः।
स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्॥ १३॥ (६)

(अतः) इसलिए (स्नातकः द्विजः) स्नातक गृहस्थी द्विज (अन्यतमया) अपेक्षाकृत किसी श्रेष्ठ (वृत्त्या) आजीविका से (जीवन्) जीवननिर्वाह करते हुए (स्वर्ग-आयुष्य-यशस्यानि इमानि व्रतानि धारयेत्) सुख, आयु और यश देने वाले इन व्रतों को धारण करे—॥ १३॥

गृहस्थों के लिये सत्तोगुणवर्धक व्रत—

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्॥ १४॥ (७)

ब्राह्मणादि द्विज (वेदोदितं स्वकं कर्म) वेदोक्त अपने कर्म को (अतन्द्रितः नित्यं कुर्यात्) आलस्य छोड़के नित्य किया करें (तत् हि यथाशक्ति कुर्वन्) उसको अपने सामर्थ्य के अनुसार करते हुए (परमां गतिं प्राप्नोति) मुक्ति पर्यन्त पदार्थों को प्राप्त होते हैं॥ १४॥ (सं० वि० गृहाश्रम वि०)

नेहेतार्थान्प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः॥ १५॥ (८)

गृहस्थ (प्रसंगेन अर्थान् न ईहेत) कभी किसी दुष्ट के प्रसंग से द्रव्यसंचय न करे (न विरुद्धेन कर्मणा) न विरुद्ध कर्म से (न विद्यमानेषु अर्थेषु यतस्ततः) न विद्यमान पदार्थ होते हुए उनको गुप्त रखके अथवा दूसरे से छल करके

और (न आर्त्ताम् अपि) चाहे कितना ही दुःख पड़ तदपि अधर्म से द्रव्यसंचय कभी न करे ॥ १५ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम वि०)

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत् ॥ १६ ॥ (९)

(सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु कामतः न प्रसज्येत) इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फंसे (च) और (एतेषाम् अतिप्रसक्तिम्) विषयों की अत्यन्त प्रसक्ति अर्थात् प्रसंग को (मनसा संनिवर्तयेत्) मन से अच्छे प्रकार दूर करता रहे ॥ १६ ॥
(सं० वि० गृहाश्रम वि०)

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाऽध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥ (१०)

(स्वाध्यायस्य विरोधिनः सर्वान् अर्थान् परित्यजेत्) जो स्वाध्याय और धर्मविरोधी व्यवहार वा पदार्थ हैं उन सब को छोड़ देवे (यथा तथा अध्यापयन् तु) जिस किसी प्रकार से विद्या को पढ़ाते रहना ही (सा हि अस्य कृतकृत्यता) गृहस्थ को कृतकृत्य होना है ॥ १७ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम वि०)

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९ ॥ (११)

हे स्त्रीपुरुषो ! तुम (धन्यानि आशु बुद्धिवृद्धिकराणि च हितानि शास्त्राणि) जो धर्म-धन और बुद्धयादि को अत्यन्त शीघ्र बढ़ाने हारे हितकारी शास्त्र हैं उनको (च) और (वैदिकान् निगमान्) वेद के भागों की विद्याओं को (नित्यम् अवेक्षेत) नित्य देखाकरो ॥ १९ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम वि०)

"जो शीघ्र बुद्धि-धन और हित की वृद्धि करने हारे शास्त्र और वेद हैं उनको नित्य सुनें और सुनावें, ब्रह्मचर्याश्रम में जो पढ़े हों उनको स्त्री पुरुष नित्य विचारा और पढ़ाया करें।" (स० प्र० विवाह सं०)

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ २० ॥ (१२)

(पुरुषः) मनुष्य (यथा-यथा शास्त्रं समधिगच्छति) जैसे-जैसे शास्त्र का विचार कर उसके यथार्थ भाव को प्राप्त होता है (तथा तथा विजानाति) वैसे वैसे अधिक जानता जाता है (च) और (अस्य विज्ञानं रोचते) इसकी प्रीति विज्ञान ही में होती जाती है ॥ २० ॥ (सं० वि० गृहाश्रम वि०)

"क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य शास्त्रों को यथावत् जानता है वैसे-वैसे उस विद्या का विज्ञान बढ़ता जाता, उसी में रुचि बढ़ती रहती है।" (स० प्र० ४ स०)

पञ्चयज्ञों के पालन का निर्देश—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥ २१॥ (१३)

(ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं नृयज्ञं च पितृयज्ञम्) ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, बलि-वैश्वदेवयज्ञ, अतिथियज्ञ और पितृयज्ञ इनको (सर्वदा यथाशक्ति न हापयेत्) सदा ही जहां तक हो कभी न छोड़े ॥ २१॥

अग्निहोत्र का विधान—

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि॥ २५॥ (१४)

गृहस्थ (सदा) प्रतिदिन (द्यु-निशोः आद्यन्ते) दिन-रात के आदि और अंत में अर्थात् प्रातः सांय सन्धिवेलाओं में (अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र (जुहुयात्) करे (च) और (अर्धमासान्ते) आवे मास के अन्त में दर्शयज्ञ अर्थात् अमावस्या का यज्ञ करे (च) तथा (एव हि पौर्णमासेन) इसी प्रकार मास पूर्ण होने पर पूर्णिमा के दिन पौर्णमास यज्ञ करे ॥ २५॥

अतिथिसत्कार का विधान—

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
नास्य कश्चिद्वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः॥ २६॥ (१५)

(अस्य गेहे) इस गृहस्थी के घर में (कश्चित् अतिथिः) कोई भी अतिथि (शक्तितः) शक्ति के अनुसार (आसन+अशनशय्याभिः) आसन, भोजन, बिछौना आदि से (वा) अथवा (अद्भिः-मूल-फलेन) जल, कन्दमूल और फल आदि से (अनर्चितः न वसेत्) बिना सत्कार किये न रहे अर्थात् यथाशक्ति सब का सत्कार करना चाहिये ॥ २६॥

सत्कार के अयोग्य व्यक्ति—

पाखण्डिनो विकर्मस्थान्बैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥ ३०॥ (१६)

(पाखण्डिनः) पाखण्डी (विकर्मस्थान्) वेदों की आज्ञा के विरुद्ध चलने वाले (बैडालव्रतिकान्) विडालवृत्ति वाले (शठान्) हठी (हैतुकान्) बकवादी (च) और (बकवृत्तीन्) बगुलाभक्त मनुष्यों का (वाङ्मात्रेण अपि न अर्चयेत्) वाणी से भी सत्कार नहीं करना चाहिए ॥ ३०॥ (पू० प्र० १४३)

"किन्तु जो पाखण्डी, वेदनिन्दक, नास्तिक, ईश्वर, वेद और धर्म को न

मानें अधर्माचरण करने हारे हिंसक, शठ मिथ्याभिमानी कुतर्की और बकवृत्ति अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुले के समान अतिथि वेषधारी बन के आवें उनका वचनमात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करे।" (सं० वि० गृहा०)

"(पाखंडी) अर्थात् वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध आचरण करने हारे (विकर्मस्थ) जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्त्ता मिथ्याभाषणादियुक्त, जैसे विड़ाल छिप और स्थिर रहकर ताकता-ताकता झपट से मूषे आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है, वैसे जनों का नाम वैडालवृत्ति (शठ) अर्थात् हठी, दुराग्रही, अभिमानी आप जाने नहीं औरों का कहा माने नहीं (हैतुक) कुतर्की, व्यर्थ बकने वाले जैसे कि आजकल के वेदान्ती बकते हैं, हम ब्रह्म और जगत् मिथ्या है, वेदादि शास्त्र और ईश्वर भी कल्पित है, इत्यादि गपोड़ी हांकने वाले (बकवृत्ति) जैसे बक एक पैर उठा, ध्यानावस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, वैसे आजकल के वैरागी और खाखी आदि हठी दुराग्रही, वेदविरोधी हैं; ऐसों का सत्कार वाणीमात्र से भी न करना चाहिए।"

(स० प्र० चतुर्थ समु०)

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्छ्रोत्रियान्गृहमेधिनः ।
पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥ (१७)

(वेदविद्याव्रतस्नातान्) वेदों के विद्वान्, ज्ञानी और जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके स्नातक बने हैं ऐसे (श्रोत्रियान् गृहमेधिनः) वेदपाठी पिता-माता आदि गृहपतियों का (हव्यकव्येन) देय पदार्थों और भोजन आदि से (पूजयेत्) सत्कार करे (विपरीतान् च वर्जयेत्) और जो इनसे विपरीत हैं उन्हें छोड़दे ॥३१॥

भिक्षा एवं बलिवैश्वदेव का विधान—

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना ।
संविभागश्च भूतेभ्यः कर्त्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥ (१८)

(गृहमेधिना) गृहस्थी को (शक्तितः अपचमानेभ्यः) अपने हाथ से जो पका नहीं सकते हैं, ऐसे ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि को (दातव्यम्) अन्न देना चाहिए (च) और (अनुपरोधतः) जिससे परिवार के भरण-पोषण में बाधा न पड़े इस प्रकार (भूतेभ्यः संविभागः कर्त्तव्यः) प्राणियों—असहाय, विकलांगादि मनुष्यों तथा कुत्ता, पक्षी आदि के लिये भोजन का भाग भी निकालना चाहिए ॥ ३२ ॥

स्वाध्याय में तत्पर रहना—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः ।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥३५॥ (१९)

(क्लृप्त-केश-नख-श्मश्रुः) केश, नाखून और दाढ़ी कटवाता रहे (दान्तः) सहिष्णु रहे (शुक्लाम्बरः) श्वेतवस्त्र धारण करे (शुचिः) स्वच्छता रखे (च) और (नित्यं स्वाध्याये च आत्महितेषु युक्तः स्यात्) प्रतिदिन वेदों के स्वाध्याय और अपनी उन्नति में लगा रहे ॥ ३५ ॥

रजस्वलागमन-निषेध एवं उससे हानि लाभ—

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्त्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥ (२०)

(प्रमत्तः अपि) कामातुर होता हुआ भी (आर्तवदर्शने) मासिक धर्म के दिनों में (स्त्रियं न उपगच्छेत्) स्त्री से उपभोग न करे (च) और (तया सह समानशयने न शयीत) उसके साथ एक बिस्तर पर न सोये ॥ ४० ॥

रजसाऽभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥ (२१)

(हि) क्योंकि (रजसाभिप्लुतां नारीं) रजस्वला स्त्री के पास (उपगच्छतः नरस्य) जाने वाले—उपभोग करने वाले मनुष्य के (प्रज्ञा तेजः बलं चक्षुः च आयुः एव प्रहीयते) बुद्धि, तेज, बल, नेत्रज्योति और आयु ये सब घटते हैं ॥ ४१ ॥

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥ (२२)

(रजसा समभिप्लुतां तां विवर्जयतः) रज निकलती हुई अर्थात् रजस्वला स्त्री से उपभोग न करने वाले (तस्य) उस मनुष्य के (प्रज्ञा तेजः बलं चक्षुः च आयुः एव प्रवर्धते) बुद्धि, तेज, बल, नेत्रज्योति और आयु ये सब बढ़ते हैं ॥४२॥

नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः ।
न भिन्नश्रृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥ (२३)

(अविनीतैः) बिना सिखाये हुए (क्षुद्-व्याधि-पीडितैः) भूख और रोग से पीड़ित (भिन्न-श्रृंग-अक्षि-खुरैः) जिनके सींग, नेत्र और खुर टूट गये हैं (वालधिविरूपितैः) जिनकी पूंछ कटी या घायल हो, ऐसे (धुर्यैः न व्रजेत्) घोड़े, बैल आदि पशुओं पर चढ़कर न जाये ॥ ६७ ॥

विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः ।
वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥ (२४)

(विनीतैः) सिखाये हुए (लक्षण+अन्वितैः) सुन्दर लक्षणों से युक्त (वर्ण-रूप+उपसंपन्नैः) सुन्दर रंग-रूप से युक्त (आशुगैः) शीघ्रगामी पशुओं

से (प्रतोदेन भृशम् अतुदन्) चाबुक की मार से बहुत पीड़ा न देता हुआ (व्रजेत्) सवारी करे ॥ ६८ ॥

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७९ ॥ (२५)

सज्जनगृहस्थ लोगों को योग्य है कि (न पतितैः, न अन्त्यैः, न चांडालैः, न पुल्कसैः) जो पतित, दुष्टकर्म करने हारे हों न उनके, न चांडाल, न कंजर(न मूर्खैः अवलिप्तैः च न अन्त्य+अवसायिभिः संवसेत्) न मूर्ख, न मिथ्याभिमानी, और न नीच निश्चय वाले मनुष्यों के साथ कभी निवास करें ॥ ७९ ॥

(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

ब्राह्ममुहूर्त्त में जागरण—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ९२ ॥ (२६)

(ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत) रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात से उठे (धर्मार्थौ) आवश्यक कार्य करके धर्म और अर्थ (कायक्लेशान् च तन्मूलान्) शरीर के रोगों और उनके कारणों को (च) और (वेदातत्त्वार्थम् एव अनुचिन्तयेत्) परमात्मा का ध्यान करे, कभी अधर्म का आचरण न करे ॥ ९२ ॥

(स० प्र० चतुर्थ समु०)

संध्योपासन आदि नित्यचर्या का पालन एवं उससे दीर्घायु की प्राप्ति—

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥ ९३ ॥ (२७)

(उत्थाय) उठकर (आवश्यकं कृत्वा) दिनचर्या के आवश्यक कार्य सम्पन्न करके (कृतशौचः) स्वच्छ-पवित्र होकर (समाहितः) एकाग्रचित्त होकर (पूर्वां संध्यां जपन् चिरं तिष्ठेत्) प्रातःकालीन संध्योपासना करने के लिए देर तक बैठे (च) और (स्वकाले) उपयुक्त समय पर (अपराम्) सायंकालीन संध्या में भी उपासना करे ॥ ९३ ॥

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४ ॥ (२८)

(ऋषयः) मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों ने (दीर्घसंध्यत्वात्) देर तक संध्योपासना करने के कारण (दीर्घम् आयुः, प्रज्ञां, यशः, कीर्तिं, च ब्रह्मवर्चसम् अवाप्नुयुः) लम्बी आयु, बुद्धि, यश, प्रसिद्धि और ब्रह्मतेज को प्राप्त किया है ॥ ९४ ॥

अमावस्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ।। १२८ ।। (२९)

(स्नातकः द्विजः) गृहस्थ द्विज को चाहिये कि वह (ऋतौ अपि) ऋतु-काल होते हुए भी (अमावस्याम् अष्टमीं पौर्णमासीं च चतुर्दशीम्) अमावस्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी के दिन (ब्रह्मचारी भवेत्) ब्रह्मचारी रहे ।।१२८।।

❀ "जब ऋतुदान देना हो तब पर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान १६ दिनों में पौर्णमासी, अमावस्या, चतुर्दशी वा अष्टमी आवे उस को छोड़ देवे। इनमें स्त्री पुरुष रतिक्रिया कभी न करें।"

(संस्कारविधि गर्भादान संस्कार ऋतुदान काल प्रकरण।)

त्याज्य व्यक्ति—

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः ।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ।। १३३ ।। (३०)

गृहस्थ द्विज (वैरिणम्) शत्रु (च) और (वैरिणः सहायम्) शत्रु के सहायक (अधार्मिकं तस्करं च परस्य योषितम्) अधार्मिक, चोर, पराई स्त्री से (न सेवेत) मेलजोल न रखे ।। १३३ ।।

परस्त्रीसेवन-निन्दा—

न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ।। १३४ ।। (३१)

गृहस्थ द्विज का (इह लोके) इस संसार में (पुरुषस्य अनायुष्यं ईदृशं किंचन न हि विद्यते) पुरुष की 'आयु को घटाने वाला ऐसा कोई काम नहीं है (यादृशम्) जैसा कि (परदारा-उपसेवनम्) परस्त्रीगमन करना है ।। १३४ ।।

आत्महीनता-अनुभव-निषेध—

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ।। १३७ ।। (३२)

गृहस्थ द्विज कभी (पुर्वाभिः असमृद्धिभिः) प्रथम पुष्कल धनी होके पश्चात् दरिद्र हो जायें, उससे (आत्मानं न अवमन्येत) अपने आत्मा का अपमान न करें कि 'हाय हम निर्धन हो गये' इत्यादि विलाप भी न करें, किन्तु (आमृत्योः) मृत्युपर्यन्त (श्रियम् अन्विच्छेत्) लक्ष्मी की उन्नति में पुरुषार्थ किया करें, और (एनां दुर्लभां न मन्येत) लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें ।। १३७ ।। (सं० वि० गृ० प्र०)

सत्य तथा प्रियभाषण—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥ (३३)

(सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्) सदा प्रिय सत्य दूसरे का हितकारक बोले (अप्रियं सत्यं न ब्रूयात्) अप्रिय सत्य अर्थात् काणे को काणा न बोले (अनृतं च प्रियं न ब्रूयात्) अनृत अर्थात् झूठ दूसरे को प्रसन्न करने के अर्थ न बोले ❋ ॥ १३८ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

❋ (एषः सनातनः धर्मः) यह सनातन धर्म है। (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"मनुष्य सदैव सत्य बोलें और दूसरे का कल्याणकारक उपदेश करें, काणे को काणा, मूर्ख को मूर्ख आदि अप्रिय वचन उनके सम्मुख कभी न बोलें और जिस मिथ्याभाषण से दूसरा प्रसन्न होता हो उसको भी न बोलें यह सनातन धर्म है।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ॥ १३९ ॥ (३४)

(भद्रं भद्रम् इति ब्रूयात्) सदा भद्र अर्थात् सबके हितकारी वचन बोला करे (शुष्कवैरं विवादं च केनचित् सह न कुर्यात्) शुष्कवैर अर्थात् बिना अपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे (भद्रम् इत्येव वा वदेत्) जो-जो दूसरे का हितकारी हो और बुरा भी माने तथापि कहे बिना न रहे ॥१३९॥ (स. प्र. ४ स.)

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोऽधिकान् ।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥ १४१ ॥ (३५)

(हीन+अङ्गान्) कम अंगों वालों या अपंगों पर (अतिरिक्त+अङ्गान्) अधिक अङ्गों वाले (विद्याहीनान्) मूर्ख (वय+अधिकान्) आयु में बड़े (च) और (रूप-द्रव्य-विहीनान्) रूप और धन से रहित (च) और (जातिहीनान्) निम्न वंश वाले, इन पर (न आक्षिपेत्) कभी आक्षेप [=व्यंग या मजाक] न करे ॥ १४१ ॥

मंगलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥ (३६)

(मङ्गल+आचार+युक्तः) कल्याणकारी कार्यों में लगा रहने वाला या श्रेष्ठ आचरणवाला (प्रयतात्मा) उन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील (जितेन्द्रियः) जितेन्द्रिय (स्यात्) रहे (च) और (नित्यम्) प्रतिदिन (अतन्द्रितः) आलस्यरहित होकर (जपेत्) जपोपासना करे (च एव) तथा (जुहुयात्) हवन करे ॥ १४५ ॥

मंगलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥ (३७)

(मङ्गल+आचार+युक्तानाम्) जो सदाकल्याणकारी कार्यों में लगे रहते हैं अथवा जो श्रेष्ठ आचरण का पालन करते हैं (च) और (नित्यं प्रयतात्मनाम्) जो सदा उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं (च) तथा (जपताम्) जो परमात्मा का जाप करते हैं (जुह्वताम्) जो हवन करते हैं, उनकी (विनिपातः) अवनति नहीं होती ॥ १४६ ॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥ (३८)

द्विज (नित्यम्) सदा (यथाकालम्) जितना भी अधिक समय लगा सके उसके अनुसार (अतन्द्रितः) आलस्यरहित होकर (वेदमेव अभ्यसेत्) वेद का ही अभ्यास करे (हि) क्योंकि (तम् अस्य परं धर्मम् आहुः) उस वेदाभ्यास को इस द्विज का सर्वोत्तम कर्त्तव्य कहा है (अन्यः उपधर्मः उच्यते) अन्य सब कर्त्तव्य गौण हैं ॥ १४७ ॥

वेदाभ्यास का कथन और उसका फल—

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ १४८ ॥ (३९)

मनुष्य (सततं वेदाभ्यासेन) निरन्तर वेद का अभ्यास करने से (शौचेन) आत्मिक तथा शारीरिक पवित्रता से (च) तथा (तपसा) तपस्या से (च) और (भूतानाम् अद्रोहेण) प्राणियों के साथ द्रोहभावना न रखते हुए अर्थात् अहिंसाभावना रखते हुए (पौर्विकीं जातिं स्मरति) पूर्वजन्म की अवस्था को स्मरण कर लेता है ॥ १४८ ॥

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥ (४०)

(पौर्विकीं जातिं संस्मरन्) पूर्वजन्म की अवस्था का स्मरण करते हुए (पुनः ब्रह्म एव अभ्यसते) फिर भी यदि वेद के अभ्यास में लगा रहता है तो (अजस्रं ब्रह्माभ्यासेन) निरन्तर वेद का अभ्यास करने से (अनन्तं सुखम् अश्नुते) मोक्ष-सुख को प्राप्त कर लेता है ॥ १४९ ॥

अभिवादयेद् वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १५४ ॥ (४१)

(वृद्धान्) सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को (अभिवादयेत्) नमस्ते अर्थात्

उनका मान्य किया करे (स्वकम् आसनं च एव दद्यात्) जब वे अपने समीप आवें तब उठकर, मान्यपूर्वक अपने आसन पर बैठावे (च) और (कृत+अञ्जलिः उपासीत) हाथ जोड़ के आप समीप बैठे, पूछे वह उत्तर देवे (गच्छतः पृष्ठतः अन्वियात्) और जब जाने लगें तब थोड़ी दूर पीछे-पीछे जाकर नमस्ते कर, विदा करे ॥ १५४ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

सदाचार की प्रशंसा एवं फल—

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ १५५ ॥ (४२)

गृहस्थ सदा (अतन्द्रितः) आलस्य को छोड़कर (श्रुति-स्मृति+उदितम्) वेद और मनुस्मृति में वेदानुकूल कहे हुए (स्वेषु कर्मसु सम्यङ् निबद्धम्) अपने कर्मों में निबद्ध (धर्ममूलं सदाचारं निषेवेत) धर्म का मूल सदाचार अर्थात् जो सत्य और सत्पुरुष आप्त धर्मात्माओं का आचरण है, उसका सेवन सदा किया करें ॥ १५५ ॥

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥ (४३)

(आचारात् हि आयुः) धर्माचरण से दीर्घायु (आचारात् ईप्सिताः प्रजाः) आचार से उत्तम सन्तान (आचारात् अक्षय्यं धनम्) आचार से अक्षय धन (लभते) प्राप्त होता है (आचारः अलक्षणं हन्ति) धर्माचरण बुरे अधर्मयुक्त लक्षणों का नाश कर देता है ॥ १५६ ॥

"धर्माचरण ही से दीर्घायु, उत्तम प्रजा और अक्षय धन मनुष्य को प्राप्त होता है और धर्माचरण बुरे अधर्मयुक्त लक्षणों का नाश कर देता है।"
(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"इसलिये मिथ्याभाषणादि रूप अधर्म को छोड़ जो धर्माचार अर्थात् ब्रह्मचर्य जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु और धर्माचार से उत्तम प्रजा तथा अक्षय धन को प्राप्त होता है तथा जो धर्माचार में वर्त्तकर दुष्ट लक्षणों का नाश करता है उसके आचरण को सदा किया करे।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १५७ ॥ (४४)

(दुराचारः हि पुरुषः) जो दुष्टाचारी पुरुष है वह (लोके निन्दितः) संसार में सज्जनों के मध्य में निन्दा को प्राप्त (दुःखभागी) दुःखभागी (च)

और (सततं व्याधितः) निरन्तर व्याधियुक्त होकर (अल्पायुः एव भवति) अल्पायु का भी भोगने हारा होता है ॥ १५७ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

"और जो दुष्टाचारी पुरुष होता है वह सर्वत्र निन्दित दुःखभागी और व्याधि से अल्पायु सदा हो जाता है।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८ ॥ (४५)

(यः) जो (सर्वलक्षणहीनः अपि सदाचारवान्) सब अच्छे लक्षणों से हीन भी होकर सदाचारयुक्त (श्रद्दधानः) सत्य में श्रद्धा (च) और (अनसूयः) निन्दा आदि दोष रहित होता है (शतं वर्षाणि जीवति) वह सुख से सौ वर्ष पर्यन्त जीता है ॥ १५८ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५९ ॥ (४६)

मनुष्य (यत्-यत् परवशं कर्म) जो पराधीन कर्म हो (तत्-तत् यत्नेन वर्जयेत्) उस-उस को प्रयत्न से सदा छोड़े (तु) और (यत्-यत् आत्मवशं स्यात्) जो-जो स्वाधीन कर्म हो (तत्-तत् यत्नतः सेवेत) उस-उस का सेवन प्रयत्न से किया करे ॥ १५९ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"जो-जो पराधीन कर्म हो उस-उस का प्रयत्न से त्याग और जो-जो स्वाधीन कर्म हो उस-उस का प्रयत्न के साथ सेवन करे।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

सुख-दुःख का लक्षण—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥ (४७)

क्योंकि (परवशं सर्वं दुःखम्) जितना परवश होना है वह सब दुःख, और (आत्मवशं सर्वं सुखम्) जितना स्वाधीन रहना है वह सब सुख कहाता है (एतत् समासेन सुखदुःखयोः लक्षणं विद्यात्) यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानो ॥ १६० ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"क्योंकि जो-जो पराधीनता है वह-वह सब दुःख और जो-जो स्वाधीनता है वह-वह सब सुख, यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानना चाहिए।"
(स० प्र० चतुर्थ समु०)

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य कर्म का मानदण्ड—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ १६१ ॥ (४८)

(यत् कर्म कुर्वतः) जिस कर्म के करने से (अस्य अन्तरात्मनः परितोषः स्यात्) मनुष्य की आत्मा को संतुष्टि एवं प्रसन्नता अनुभव हो (तत्-तत् प्रयत्नेन कुर्वीत) उस-उस कर्म को प्रयत्नपूर्वक करे (विपरीतं तु वर्जयेत्) जिससे संतुष्टि एवं प्रसन्नता न हो उस कर्म को न करे ॥ १६१ ॥

निषिद्ध कर्म—

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान्गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥ १६२ ॥ (४९)

(आचार्यं प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुं ब्राह्मणान् गाः च सर्वान् तपस्विनः) वेद को पढ़ाने वाला, वेद का प्रवचन करने वाला, पिता, माता, गुरु, ब्राह्मण, गाय और सभी तपस्वी इनको (न हिंस्यात्) प्रताड़ित न करे अर्थात् इनके प्रतिकूल आचरण न करे ॥ १६२ ॥

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥ १६३ ॥ (५०)

(नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां कुत्सनम्) नास्तिकता, वेद की निन्दा और विद्वानों की निन्दा (द्वेषं दम्भं मानं क्रोधं च तैक्ष्ण्यं वर्जयेत्) द्वेष, पाखण्ड, अभिमान, क्रोध, उग्रता=तेजी, इनको छोड़देवे ॥ १६३ ॥

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत् ।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्टचर्थं ताडयेत्तु तौ ॥ १६४ ॥ (५१)

(पुत्रात् वा शिष्यात् अन्यत्र) पुत्र और शिष्य से भिन्न (परस्य दण्डं न उद्यच्छेत्) अन्य किसी व्यक्ति पर दण्डा न उठाये अर्थात् दण्डे से न मारे (क्रुद्धः एव न निपातयेत्) और क्रोधित होकर भी किसी को न मारे वध न करे, (तौ तु शिष्टचर्थं ताडयेत्) केवल उन—पुत्र और शिष्य को शिक्षा देने के लिये ही ताड़ना करे ॥ १६४ ॥

"परन्तु माता, पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष से ताड़न न करें किन्तु ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रखें" । (स० प्र० द्वितीय समु०)

अधर्म-निन्दा एवं फल—

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७० ॥ (५२)

(यः अधार्मिकः नरः) जो अधार्मिक मनुष्य है (च) और (यस्य हि अनृतं धनम्) जिसका अधर्म से संचित किया हुआ धन है (च) और (यः नित्यं हिंसारतः) जो सदा हिंसा में अर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है (असौ) वह (इह) इस लोक और

परलोक अर्थात् परजन्म में (सुखं न एधते) सुख को कभी नहीं प्राप्त हो सकता ॥ १७० ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥ १७१ ॥ (५३)

(अधार्मिकाणां पापानां आशु विपर्ययम्) अधार्मिक पापियों का [यदि पापों से उनकी उन्नति और समृद्धि हो गई है तो भी] शीघ्र ही उलटा विनाश होता है (पश्यन्) यह समझते हुए (धर्मेण सीदन् अपि) धर्माचरण से कष्ट उठाता हुआ भी (अधर्मे मनः न निवेशयेत्) अधर्म में मन को न लगावे अर्थात् धर्म का ही पालन करता रहे ॥ १७१ ॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १७२ ॥ (५४)

मनुष्य निश्चय करके जाने कि (लोके) इस संसार में (गौः इव) जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र प्राप्त नहीं होता वैसे ही (चरितः अधर्मः सद्यः न फलति) किये हुए अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता (तु) किन्तु (शनैः कर्त्तुः आवर्त्तमानः) धीरे-धीरे अधर्मकर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ (मूलानि कृन्तति) सुख के मूलों को काट देता है पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता है ॥ १७२ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता परन्तु जिस समय अधर्म करता है, उसी समय फल भो नहीं होता; इसलिए अज्ञानी लोग अधर्म से नहीं डरते तथापि निश्चय जानो कि वह अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है।" (स० प्र० चतुर्थ प्र०)

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥ (५५)

(यदि न आत्मनि) यदि अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में न हो तो (पुत्रेषु) पुत्रों (पुत्रेषु न चेत् नप्तृषु) यदि पुत्रों के समय में न हो तो नातियों—पोतों के समय में अवश्य प्राप्त होता है (तु) किन्तु (न एवं तु) यह कभी नहीं हो सकता कि (कर्त्तुः अधर्मः निष्फलः भवति) कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे ॥ १७३ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥ (५६)

(तावत् अधर्मेण एधते) जब अधर्मात्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़

(जैसा तालाब के बंध को तोड़ जल चारों ओर फैला जाता है वैसे) मिथ्या-भाषण, कपट, पाखण्ड अर्थात् रक्षा करने वाले वेदों का खण्डन, और विश्वास-घात आदि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर, प्रथम बढ़ता है (ततः) पश्चात् (भद्राणि पश्यति) धनादि ऐश्वर्य से खान, पान, वस्त्र, आभूषण, यान, स्थान, मान, प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है (सपत्नान् जयति) अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है (ततः) पश्चात् (समूलः तु विनश्यति) शीघ्र नष्ट हो जाता है, जैसे जड़ काटा हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है, वैसे अधर्मी नष्ट हो जाता है ।। १७४ ।।

(स० प्र० चतुर्थ समु०)

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ।। १७५ ।। (५७)

इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि (सत्यधर्म+आर्य-वृत्तेषु) सत्यधर्म और आर्य अर्थात् उत्तम पुरुषों के आचरणों (च) और (शौचे) भीतर-बाहर की पवित्रता में (सदा आरमेत्) सदा रमण करें (वाक्+बाहु+उदर+संयतः च धर्मेण) अपनी वाणी, बाहू, उदर को नियम और सत्यधर्म के साथ वर्त्तमान रखके (शिष्यान्-शिष्यात्) शिष्यों को सदा शिक्षा किया करें ।। १७५ ।।

(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"जो वेदोक्त सत्यधर्म अर्थात् पक्षपातरहित होकर सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग, न्यायरूप, वेदोक्त धर्मादि आर्य अर्थात् धर्म में चलते हुए के समान धर्म से शिष्यों को शिक्षा किया करें ।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

"सत्य, धर्म, आर्य अर्थात् आप्त पुरुषों के व्यवहार और शौच=पवित्रता ही में सदा गृहस्थ लोग प्रवृत्त रहें और सत्यवाणी भोजनादि के लोभ रहित हस्तपादादि की कुचेष्टा छोड़कर धर्म से शिष्यों और सन्तानों को उत्तम शिक्षा सदा किया करें ।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोमविक्रुष्टमेव च ।। १७६ ।। (५८)

(अर्थकामौ यौ धर्मवर्जितौ स्यातां परित्यजेत्) यदि बहुत-सा धन, राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होती हो तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवें (च) और (धर्मम् अपि असुखोदर्कम्) वेदविरुद्ध धर्माभास जिसके करने से उत्तरकाल में दुःख (च) और (लोकविक्रुष्टम् एव) संसार की उन्नति का नाश हो वैसा नाममात्र धर्म और कर्म कभी न किया करें ।। १७६ ।। (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"जो धर्म से वर्जित धनादिपदार्थ और काम हों उनको सर्वथा शीघ्र

छोड़देवे और जो धर्माभास अर्थात् उत्तरकाल में दुःखदायक कर्म हैं और जो लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करने वाले कर्म हैं उनसे भी दूर रहें।"

(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः।
न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥ १७७ ॥ (५९)

(पाणि-पाद-चपलः न) हाथ-पैरों से चंचलता के कार्य न करे (नेत्रचपलः न) आंखों से चंचलतायुक्त काम न करे (अनृजुः) कुटिलता न करे (वाक्-चपलः एव न) वाणी से चपलता न करे (च) और (परद्रोहकर्मधीः न स्यात्) दूसरों की हानि या द्वेष के कर्मों में मन लगाने वाला न बने ॥ १७७ ॥

येनास्य पितरो याता तेन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ १७८ ॥ (६०)

(येन अस्य पितरः) जिस मार्ग से इसके पिता (पितामहाः याताः) पितामह चले हों (तेन यायात्) उस मार्ग में सन्तान भी चले, परन्तु (सतां मार्गम्) जो सत्पुरुष पिता, पितामह हों उन्हीं के मार्ग में चलें और जो पिता, पितामह दुष्ट हों तो उनके मार्ग में कभी न चलें (तेन गच्छन् न रिष्यते) क्योंकि उत्तम धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख कभी नहीं होता ॥१७८॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

विवाद न करने योग्य व्यक्ति—

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥ १७९ ॥ (६१)

मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥ (६२)

(ऋत्विक्) यज्ञ का कराने हारा (पुरोहित) सदा उत्तम चाल-चलन की शिक्षा कारक (आचार्य) विद्या पढ़ाने हारा (मातुल) मामा (अतिथि) अर्थात् जिसकी कोई आने की निश्चित तिथि न हो (संश्रित) अपने आश्रित (बाल) बालक (वृद्ध) बुढ्ढे (आतुर) पीड़ित (वैद्य) आयुर्वेद का ज्ञाता (ज्ञाति) स्वगोत्रस्थ वा स्ववर्णस्थ (सम्बन्धी) श्वसुर आदि (बान्धव) मित्र (माता) माता (पिता) पिता (यामि) बहन (भ्राता) भाई (भार्या) स्त्री (दुहित्रा) पुत्री * (दासवर्गेण) और सेवक लोगों से (विवादं न समाचरेत्) विवाद अर्थात् विरुद्ध लड़ाई-बखेड़ा कभी न करे ॥ १७९, १८० ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

*(पुत्रेण) पुत्र के साथ...........

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत् ।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ १८६ ॥ (६३)

ब्राह्मण (प्रतिग्रहः समर्थः अपि) दान लेने का अधिकारी होते हुए भी (तत्र प्रसंगं वर्जयेत्) दान प्राप्ति में आसक्तिभाव को छोड़ देवे (हि) क्योंकि (प्रतिग्रहेण) दान लेते रहने से (अस्य ब्राह्मं तेजः) इसका ब्राह्मतेज (आशु प्रशाम्यति) शीघ्र शान्त होने लगता है ॥ १८६ ॥

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे ।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ १८७ ॥ (६४)

(प्राज्ञः) बुद्धिमान् ब्राह्मण को चाहिए कि (द्रव्याणां प्रतिग्रहे धर्म्यं विधिम् अविज्ञाय) द्रव्यों के दान लेने में धर्म की विधि को बिना जाने (क्षुधा अवसीदन् अपि) भूख से पीड़ित होताहुआ भी (प्रतिग्रहं न कुर्यात्) दानग्रहण न करे ॥ १८७ ॥

दान लेने के अनधिकारी —

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १९० ॥ (६५)

एक—(अतपाः) ब्रह्मचर्य-सत्यभाषणादि तपरहित, दूसरा—(अनधीयानः) विना पढ़ा हुआ, तीसरा—(प्रतिग्रहरुचिः) अत्यन्त धर्मार्थ दूसरों से दान लेने वाला, ये तीनों (अश्मप्लवेन अम्भसि इव) पत्थर की नौका से समुद्र में तैरने के समान (तेन सह एव मज्जति) अपने दुष्ट कर्मों के साथ ही दुःखसागर में डूबते हैं ॥ १९० ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाऽप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३ ॥ (६६)

(विधिना अर्जितं धनम् एतेषु त्रिषु दत्तं हि) जो धर्म से प्राप्त हुए धन का उक्त तीनों को देना है वह दान (दातुः अनर्थाय भवति) दाता का नाश इसी जन्म (च) और (अदातुः परत्र एव) लेने वाले का नाश परजन्म में करता है ॥ १९३ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ १९४ ॥ (६७)

(यथा उपलेन प्लवेन) जेसे पत्थर की नौका में बैठकर (उदके तरन् निमज्जति) जल में तरने वाला डूब जाता है (तथा) वैसे (अज्ञौ दातृ-प्रति+इच्छकौ) अज्ञानी दाता और गृहीता दोनों (अधस्तात् निमज्जतः) अधोगति अर्थात् दुःख को प्राप्त होते हैं ॥ १९४ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

बैडाल व्रतिक का लक्षण—

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः ।
बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥ १९५ ॥ (६८)

(धर्मध्वजी) धर्म कुछ भी न करे परन्तु धर्म के नाम से लोगों को ठगे (सदालुब्धः) सर्वदा लोभ से युक्त (छाद्मिकः) कपटी (लोकदम्भकः) संसारी मनुष्यों के सामने अपने बड़ाई के गपोड़े मारा करे (हिंस्रः) प्राणियों का घातक अन्य से वैर बुद्धि रखने वाला (सर्व+अभिसन्धकः) सब अच्छे और बुरों से भी मेल रखे उसको (बैडालव्रतिकः ज्ञेयः) बैडालव्रतिक अर्थात् बिड़ाल के समान धूर्त्त और नीच समझो ॥ १९५ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

बकव्रतिक का लक्षण—

अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥ १९६ ॥ (६९)

(अधोदृष्टिः) कीर्त्ति के लिए नीचे दृष्टि रखे (नैष्कृतिकः) ईर्ष्यक, किसी ने उस का पैसा भर अपराध किया हो तो उसका बदला प्राण तक लेने को तत्पर रहे (स्वार्थसाधनतत्परः) चाहे कपट, अधर्म, विश्वासघात क्यों न हो अपना प्रयोजन साधने में चतुर (शठः) चाहे अपनी बात झूठी क्यों न हो परन्तु हठ कभी न छोड़े (मिथ्याविनीतः) झूठ-मूंठ ऊपर से शील, सन्तोष और साधुता दिखलावे, उस को (बकव्रतचरः द्विजः) बगुले के समान नीच समझो ॥ १९६ ॥
(स० प्र० चतुर्थ समु०)

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन ।
निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ २०१ ॥ (७०)

(परकीयनिपानेषु कदाचन न स्नायात्) दूसरों के हौज या टप में कभी न नहाये (तु) क्योंकि (स्नात्वा) वहां नहाकर (निपानकर्त्तुः दुष्कृतांशेन लिप्यते) हौज या टप वाले की गन्दगी या बीमारी से नहाने वाला लिप्त हो जाता है अर्थात् उसको बीमारियां लग जाती हैं ॥ २०१ ॥

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च ।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥ २०३ ॥ (७१)

(नदीषु) नदियों में (देवखातेषु) प्राकृतिक जलाशयों में (तडागेषु) तालाबों में (सरःसु) झरनों में (च) और (गर्तप्रस्रवणेषु) ऐसे गड्ढों में जिनका बहता पानी हो (नित्यं स्नानं समाचरेत्) सदा स्नान करना चाहिए ॥ २०३ ॥

यम-सेवन की प्रधानता—

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः ।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥ २०४ ॥ (७२)

(यमान् सततं सेवेत) यमों का सेवन नित्य करे (नित्यं नियमान् न) केवल नियमों का नहीं, क्योंकि (यमान् अकुर्वाणः) यमों*को न करता हुआ और (केवलान् नियमान् भजन्) केवल नियमों**का सेवन करता हुआ भी (पतति) अपने कर्त्तव्य से पतित हो जाता है, इसलिए यमसेवनपूर्वक नियम-सेवन नित्य किया करे ॥ २०४ ॥ (सं० वि० वेदारम्भ संस्कार)

* अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ (योग०)

निर्वैरता, सत्यबोलना, चोरीत्याग, वीर्यरक्षण और विषयभोग में घृणा ये ५ यम हैं ।

** शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ (योग०)

शौच, सन्तोष, तपः (हानि-लाभ आदि द्वन्द्व का सहना), स्वाध्याय, वेद का पढ़ना, ईश्वरप्रणिधान=सर्वस्व ईश्वरार्पण, ये ५ नियम कहाते हैं । (सं० वि० वेदारम्भ संस्कार में ऋ० दया० की टिप्पणी)

दानधर्म के पालन का कथन—

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम् ।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥ (७३)

द्विज (पात्रम् आसाद्य) सुपात्र को देखकर (परितुष्टेन भावेन) प्रसन्न मन से (शक्तितः) शक्ति के अनुसार (नित्यम्) सदैव (ऐष्टिक-पौर्तिकम्) यज्ञों के आयोजनसम्बन्धी और उपकारार्थ कूआ, तालाब आदि निर्माणसम्बन्धी (दानधर्मं निषेवेत) दानधर्म का पालन करे अर्थात् दान दिया करे ॥ २२७ ॥

वेद-दान की सर्वश्रेष्ठता—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ २३३ ॥ (७४)

(सर्वेषाम् एव दानानाम्) संसार में जितने दान हैं अर्थात् (वारि-अन्न-गो-मही-वासः-तिल-कांचन-सर्पिषाम्) जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों से (ब्रह्मदानं विशिष्यते) वेदविद्या का दान अति-श्रेष्ठ है ॥ २३३ ॥ (स० प्र० तृतीय समु०)

धर्मसंचय का विधान एवं धर्मप्रशंसा—

धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८ ॥ (७५)

(पुत्तिका वल्मीकम् इव) जैसे पुत्तिका अर्थात् दीमक वल्मीक अर्थात् बांबी को बनाती है वैसे (सर्वलोकानि अपीडयन्) सब भूतों को पीड़ा न देकर (परलोक-सहायार्थम्) परलोक अर्थात् परजन्म के सुखार्थ (शनैः धर्मं संचिनुयात्) धीरे-धीरे धर्म का संचय करे ॥ २३८ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

"जैसे दीमक धीरे-धीरे बड़े भारी घर को बना लेती हैं, वैसे मनुष्य परजन्म के सहाय के लिए सब प्राणियों को पीड़ा न देकर धर्म का संचय धीरे-धीरे किया करे।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

यहाँ 'धीरे-धीरे' से अभिप्राय सावधानी पूर्वक धर्मपालन करने से है। जैसे दीमक अपनी बांबी को बनाते हुए सावधानी बरतती है और उसे गिरने नहीं देती इसी प्रकार मनुष्य भी अपने को कभी धर्म से गिरने न दे। कहीं कोई अधर्म न हो जाये, इस बात की सावधानी रखे। (सं०)

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥ (७६)

(हि) क्योंकि (अमुत्र) परलोक में (न पिता-माता, न पुत्र-दारं न ज्ञातिः सहायार्थं तिष्ठतः) न माता, न पिता, न पुत्र, न स्त्री, न ज्ञाति सहाय कर सकते हैं, किन्तु (केवलः धर्मः तिष्ठति) एक धर्म ही सहायक होता है ॥ २३९ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥ (७७)

(एकः जन्तुः प्रजायते एकः एव प्रलीयते) अकेला ही जीव जन्म और मरण को प्राप्त होता है (एकः सुकृतम् एकः एव च दुष्कृतम् अनुभुङ्क्ते) एक ही धर्म का फल सुख और अधर्म का दुःखरूप फल को भोगता है ॥ २४० ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥ (७८)

(मृतं शरीरं काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ उत्सृज्य) जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है उसको❋मट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़कर पीठ दे (बान्धवाः विमुखाः यान्ति) बन्धुवर्ग विमुख होकर चले जाते हैं, कोई उसके साथ जाने वाला नहीं होता, किन्तु (धर्मः तम् अनुगच्छति) एक धर्म ही उसका संगी होता है ॥ २४१ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

❋(काष्ठ) लकड़ी और......

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥ (७९)

(तस्मात्) उस हेतु से (सहायार्थम्) परलोक अर्थात् परजन्म में सुख और जन्म के सहायार्थं (नित्यं धर्मं शनैः संचिनुयात्) नित्य धर्म का संचय धीरे-धीरे करता जाये (हि) क्योंकि (धर्मेण सहायेन) धर्म ही के सहाय से (दुस्तरं तमः तरति) बड़े-बड़े दुस्तर दुःखसागर को जीव तर सकता है ॥ २४२ ॥

(स० प्र० चतुर्थ समु०)

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्विषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥ २४३ ॥ (८०)

(धर्मप्रधानम् पुरुषम्) किन्तु जो पुरुष धर्म ही को प्रधान समझता (तपसा हतकिल्विषम्) जिसका धर्म के अनुष्ठान से कर्त्तव्य पाप दूर हो गया, उस को (भास्वन्तम्) प्रकाशस्वरूप (खशरीरिणम्) और आकाश जिसका शरीरवत् है उस (परलोकम् आशु नयति) परलोक अर्थात् परम-दर्शनीय परमात्मा को धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है ॥ २४३ ॥

(स० प्र० चतुर्थ समु०)

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४ ॥ (८१)

(कुलम् उत्कर्षं निनीषुः) जो मनुष्य अपने कुल को उत्तम करना चाहे (अधमान् अधमान् त्यजेत्) वह नीच-नीच पुरुषों का सम्बन्ध छोड़कर (नित्यम् उत्तमैः उत्तमैः सह सम्बन्धान् आचरेत्) नित्य अच्छे-अच्छे पुरुषों से सम्बन्ध बढ़ाता जावे ॥ २४४ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन्।
अहिंस्रोदमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥ २४६ ॥ (८२)

(दृढकारी) सदा दृढ़कारी (मृदुः) कोमल स्वभाव (दान्तः) जितेन्द्रियः (क्रूराचारैः असंवसन्) हिंसक, क्रूर, दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहने हारा* (तथा व्रतः) धर्मात्मा (दम-दानाभ्यां स्वर्गं जयेत्) मन को जीत और विद्यादि दान से सुख को प्राप्त होवे ॥ २४६ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

* (अहिंस्रः) हिंसा के स्वभाव से रहित............

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥ २५५ ॥ (८३)

(यः) जो व्यक्ति (अन्यथा सन्तम् आत्मानम्) स्वयं अन्यथा होते हुए (सत्सु) सज्जनों में (अन्यथा भाषते) अन्यथा=कुछ का कुछ बतलाता है (सः) वह (लोके) लोके में (पापकृत्तमः) पापी माना जाता है, क्योंकि वह (आत्मा+अपहारकः स्तेनः) अपनी आत्मा को चुराने वाला चोर है ॥ २५५ ॥

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २५६ ॥ (८४)

(वाचि सर्वे अर्थाः नियताः) जिस वाणी में सब व्यवहार निश्चित हैं (वाङ्मूलाः) वाणी ही जिनका मूल और (वाग् विनिःसृताः) जिस वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं (यः नरः) जो मनुष्य (तां वाचं स्तेनयेत्) उस वाणी को चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है (सः सर्वस्तेयकृत्) वह जानो सब चोरी आदि पाप ही को करता है, इसलिए मिथ्याभाषण को छोड़के सदा सत्यभाषण ही किया करे ॥ २५६ ॥

"परन्तु यह भी ध्यान में रखे कि जिस वाणी में अर्थ अर्थात् व्यवहार निश्चित होते हैं, वह वाणी ही उन का मूल और वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, उस वाणी को जो चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है, वह सब चोरी आदि पापों का करने वाला है ।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

योग्य पुत्र में गृह-कार्यों का समर्पण—

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि ।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः ॥ २५७ ॥ (८५)

(यथाविधि) उक्त विधि के अनुसार (महर्षि-पितृ-देवानाम् आनृण्यं गत्वा) व्यक्ति (ब्रह्मचर्य-पालन एवं अध्ययन-अध्यापन से) ऋषि-ऋण को, (माता-पिता आदि बुजुर्गों की सेवा एवं सन्तानोत्पत्ति से) पितृ-ऋण को (यज्ञों के अनुष्ठान से) देवऋण को चुकाकर (सर्वं पुत्रे समासज्य) घर की सारी जिम्मेदारी पुत्र को सौंपकर (तत्पश्चात् वानप्रस्थ लेने से पूर्व जब तक घर में रहे तब तक) (माध्यस्थम् आश्रितः) उदासीन भाव के आश्रित होकर अर्थात् सांसारिक मोह माया के प्रति विरक्त भाव रखते हुए (वसेत्) घर में निवास करे ॥ २५७ ॥

आत्मचिन्तन का आदेश एवं फल—

एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः ।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति ॥ २५८ ॥ (८६)

(नित्यम्) प्रतिदिन (विविक्ते) एकान्त में बैठकर (एकाकी) अकेला अर्थात् स्वयं अपनी आत्मा में (आत्मनः हितं चिन्तयेत्) अपने कल्याण की बातों का चिन्तन करे (हि) क्योंकि (एकाकी चिन्तयानः) एकाकी चिन्तन करने वाला व्यक्ति (परं श्रेयः अधिगच्छति) अधिकाधिक कल्याण को प्राप्त करता जाता है ॥ २५८ ॥

उपसंहार—

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिविप्रस्य शाश्वती ।
स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥ २५९ ॥ (८७)

(एषा) यह (गृहस्थस्य विप्रस्य) गृहस्थ द्विज की (शाश्वती वृत्तिः) नित्य की वृत्ति या दिनंचर्या (उदिता) कही (च) और (सत्त्ववृद्धिकरः शुभः) सतोगुण की बृद्धिकरने वाला श्रेष्ठ (स्नातकव्रतकल्पः) स्नातकगृहस्थ के व्रतों के विधान को भी कहा ॥ २५९ ॥

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित् ।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥ (८८)

(वेदशास्त्रवित् विप्रः) वेदशास्त्र का ज्ञाता द्विज (अनेन वृत्तेन वर्तयन्) इस जीविका या व्यवहार से वर्ताव करता हुआ (व्यपेतकल्मषः) पापरहित होकर (नित्यं ब्रह्मलोके महीयते) सदा ब्रह्मलोक में रहकर आनन्द को प्राप्त करता है ॥ २६० ॥

चतुर्थाध्याय के 'गृहस्थान्तर्गत आजीविका' विषय में प्रक्षिप्त-श्लोकों का सहेतुक विवरण

ये ४ । ४–१० तक पाञ्च श्लोक निम्न-कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

इन श्लोकों में जिन आजीविकाओं का वर्णन किया गया है, उनका मनु की मौलिक मान्यताओं से स्पष्ट विरोध है। मनु ने १ । ८७-९१ श्लोकों में चारों वर्णों के जिन कर्मों का परिगणन किया है, उनमें कुछ कर्म तो वर्णों की आजीविकायें ही हैं। किन्तु यहाँ सभी द्विजों के लिये उनसे भिन्न आजीविकाओं का वर्णन किया गया है और सब के लिये एक सी व्यवस्था देना मनुसम्मत कैसे हो सकती है ? मनु का अभिप्राय यहाँ आजीविकाओं का परिगणन कराना नहीं, प्रत्युत 'स्वैः कर्मभिरगर्हितैः' (४ । ३) अपने-अपने वर्णानुसार कर्म करते हुए ऐसी आजीविका का प्रतिषेध करना है कि जिससे

दूसरे प्राणियों की हिंसा होती हो, छल कपट का आश्रय करना पड़ता हो अथवा अत्यधिक शारीरिक श्रम करना पड़े। इसका मनु ने ४। २-३ तथा ४। ११-१२ में स्पष्ट निर्देश किया है। यहाँ ४। ३ श्लोक की ४। ११ श्लोक से पूर्ण संगति भी है। इनके मध्य में जो वर्णन मिलता है वह प्रसंग-विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता।

इन श्लोकों में 'सेवा' भी एक आजीविका है। मनु ने 'सेवा करना' शूद्र का कर्त्तव्य माना है, द्विजातियों का नहीं। 'सेवा' को श्ववृत्ति कहकर परित्याज्य कहना असंगत है, क्योंकि द्विजों का सेवा करना कर्म ही नहीं है। इसी प्रकार मनु का निर्देश तो ऐसी आजीविका से है जो छलकपटादि व्यवहार से शून्य हो, किन्तु यहाँ 'सत्यानृतं तु वाणिज्यम्' (४। ६) सत्यासत्य को वाणिज्य माना है और वाणिज्य-कर्म वैश्य का है, यहाँ उसे द्विजमात्र का माना है। और इसी प्रकार ४। ४-५ श्लोकों में लिखा है—मृत=भिक्षा मांग कर तथा प्रमृत=खेती करके द्विज आजीविका करे। मनु ने गृहस्थी को भिक्षा मांगने का कहीं निर्देश नहीं किया है, प्रत्युत ३। १०४ श्लोक में उस गृहस्थी की घोर निन्दा की है, जो दूसरे के अन्न खाने की नियत रखता है। और मनु ने कृषि करना वैश्य का कर्म माना है। किन्तु कृषि करने को यहाँ भिक्षा मांगने से भी निकृष्ट बताना क्या मनु के विरुद्ध नहीं है? अतः ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध तथा मनु की मौलिक मान्यताओं से विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

चतुर्थाध्याय के 'व्रत-विधान' विषय में प्रक्षिप्त-श्लोकों का सहेतुक विवरण

यह ४। १८ वां श्लोक निम्न-कारणों से प्रक्षिप्त है—

यह श्लोक प्रसङ्गविरुद्ध है। ४। १७ श्लोक में स्वाध्याय के विषय में कहा गया है कि स्वाध्याय के विरोधी अर्थ का परित्याग कर देना चाहिये। और ४। १९ श्लोक में भी नित्य स्वाध्याय पर बल दिया गया है। इनके बीच में इस श्लोक में क्रम-भंग तथा विषय-विरुद्ध वर्णन है। और 'सतोगुण-वर्धक व्रतों के प्रकरण से भी इस श्लोक का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस श्लोक में आयु, कर्म, धन, वेद तथा अपने कुल के अनुरूप वेषादि धारण की बात भी मनु की नहीं हो सकती। मनु ने कुल-परम्परा के वेष न मानकर वर्णानुसार ब्रह्मचारियों के वेषों का तो वर्णन किया है। और यहाँ सतोगुणवर्धन से वेषादि का क्या सम्पर्क है? मनु लिङ्ग को धर्म का कारण नहीं मानते। और वे कर्म-

प्रधान वर्णव्यवस्था के पक्षपाती हैं, किन्तु यहाँ कुलपरम्परा के वेषादि से जन्म-मूलक व्यवस्था का स्पष्ट संकेत मिलता है, अतः यह श्लोक प्रसंगविरुद्ध तथा अलौकिक होने से प्रक्षिप्त है।

ये (४।२२-२४) तीन श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध हैं। ४।२१ श्लोक में कहा है कि गृहस्थियों को पञ्चमहायज्ञ अवश्य करने चाहियें। और ४।२५ में अग्निहोत्रादि के करने का समय बताया है। किन्तु इन श्लोकों में यज्ञों के विकल्प दिये गये हैं, जिन विकल्पों के साथ मनुविहित पञ्चमहायज्ञों की कोई संगति नहीं है। यदि इन विकल्पों को स्वीकार किया जाये तो पञ्चमहायज्ञों की अनिवार्य व्यवस्था गलत सिद्ध हो जायेगी।

ये (४।२६-२८) तीन श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

इन श्लोकों में कहा गया है—उत्तरायण-दक्षिणायन के प्रारम्भ में पशु से यज्ञ करे। दीर्घजीवन का इच्छुक द्विज यज्ञ में आहुति दिये बिना नवान्न और मांस को न खाये। जो अग्नि की तृप्ति नवान्न तथा पशुमांस से नहीं करता, उसके प्राणों को ही अग्नि खाना चाहती है। इससे दो बातों का स्पष्टीकरण होता है कि यज्ञ में पशुवलि तथा मांस खाने का विधान है। ये दोनों हीं बातें मनु की मान्यताओं से विरुद्ध हैं। मनु ने सर्वत्र अहिंसा को परम धर्म तथा हिंसावृत्ति 'को पापमूलक माना है। और पञ्चमहायज्ञों का विधान तो इसीलिये किया है कि गृहस्थ में रहते हुए चूल्हा, चक्की, बुहारी, ऊखलादि से बिना जाने भी जो हिंसा हो जाती है, उस पाप से निवृत्त हो, (३।६८—७१)। क्या मनु जैसा अहिंसक आप्तपुरुष यज्ञ जैसे पवित्र-कर्म में पशुबलि का विधान कर सकता है ? ऐसी कल्पना ही नहीं की जा सकती क्योंकि मनु वेद को परम प्रमाण मानते हैं और पशुबलि वेद से सर्वथा विरुद्ध है। और जो हिंसा की पद-पद पर निन्दा कर रहा है, क्या वह हिंसा का आदेश दे सकता है ? देखिये मनु के कतिपय उद्धरण—

(१) हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ (४।१७०)

(२) यो अहिंसकानि भूतानि हिनस्ति………… ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते ॥ (५।४५)

(३) अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥ (१२।८३)

(४) अहिंसा सत्यवचनं………यमाश्चोपव्रतानि च ॥ (४।२०६)

(५) नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते……… ।

न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः................ । (५ । ४८)

(६) अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकः ।। (५ । ५१)

(७) वर्जयेन्मधु मांसं च प्राणिनां चैव हिंसनम् ।। (२ । १७७)

इत्यादि मनु की अन्तःसाक्षी से स्पष्ट है कि मनु न केवल माँसभक्षण के ही विरोधी थे प्रत्युत वे माँसप्राप्ति को बिना हिंसा के नहीं मानते और हिंसकों में सलाह देने वाले को भी परिगणित किया है। हिंसा करने वाला कभी स्वर्ग-प्राप्त नहीं कर सकता। और स्वर्ग-प्राप्ति के साधनभूत महायज्ञ में हिंसामूलक पशुबलि को कैसे कल्याणकारक मनु मान सकते थे ?

और यज्ञ, जिसका एक नाम 'अध्वर' (ध्वरति हिंसकर्मा तत्प्रतिषेधोऽध्वरः) है। जिसका अर्थ ही हिंसारहित है, उसमें पशुहिंसा हो, यह कितने आश्चर्य की बात है। जिस समय इस देश में वाममार्ग ने जोर पकड़ा, तो किसी माँसाहारी ने इन श्लोकों का प्रक्षेप किया है। और मांस-भक्षण से दीर्घ-जीवन का प्रलोभन देना भी निर्मूल है। मांसाहार से आयुक्षीण ही होती है। 'आचाराल्लभते ह्यायुः०' इत्यादि श्लोकों में मनु ने आयुवृद्धि का कारण सदाचारादि को माना है।

ये (४ । ३३—३४) दोनों श्लोक निम्न-कारण से प्रक्षिप्त हैं—

इस अध्याय के विषय का निर्देश ४ । १३ में किया है कि स्नातक इन व्रतों को धारण करे। और इस प्रकरण की समाप्ति पर ४ । २५९ श्लोक द्वारा निर्देश दिया है—स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ।। अर्थात् वे व्रत सत्त्व को बढ़ाने वाले हों। सत्त्व का लक्षण मनु के अनुसार यह है—सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः ।। (१२ । ३८) अर्थात् धर्म को ही सत्त्व का लक्षण माना है। और सत्त्व का लक्षण करते हुए एक अन्य स्थान पर लिखा है—

वेदाभ्यासः तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ।। (१२ । ३१)

अर्थात् वेदाभ्यास करना, तप, ज्ञान, शौच=शुद्धि, इन्द्रियसंयम, धर्माचरण और आत्मा-परमात्मा का चिन्तन करना, ये सतोगुण के लक्षण हैं। क्योंकि इन दोनों श्लोकों की विषयवस्तु प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध नहीं है, अतः ये प्रक्षिप्त हैं।

और इन श्लोकों में आपत्कालीनधर्मों का वर्णन किया है। मनु ने आपत्कालीन विधानों का वर्णन दशमाध्याय में किया है। फिर यहाँ आपद्धर्म

कथन की कोई आवश्यकता कैसे हो सकती है ? और ये श्लोक पूर्वापरप्रसंग के भी विरुद्ध हैं। इनसे पूर्व अतिथियज्ञ, तथा बलिवैश्वदेवयज्ञ का वर्णन किया गया है। और इनसे आगे भी ४। ३५ में ब्रह्मयज्ञ का वर्णन है। यज्ञों के इस प्रकरण में भूख से पीड़ित स्नातक के कर्त्तव्यों का वर्णन अप्रासंगिक ही है।

ये (४। ३६—३९) चार श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

इस सतोगुणवर्धक व्रत-प्रकरण से इन चार श्लोकों का कोई सम्बन्ध न होने से ये अप्रासंगिक श्लोक हैं। इनमें वर्णित विषय को व्रत भी नहीं कह सकते। बाँस की लाठी धारण करना, जलपात्र रखना, सोने के कुण्डल धारण करनादि मनुसम्मत व्रत नहीं है। यथार्थ में किसी प्रक्षेपक ने यहाँ कल्पित बातों का समावेश किया है। अन्यथा मनु ऐसी बुद्धिहीनता की बातों को कैसे कह सकता था कि सूर्य को उदय होते हुए, छिपते हुए तथा मध्य आकाश में न देखे। जबकि इससे पूर्व २। ४८ तथा २। १०१ श्लोकों में सूर्य को देखने का विधान किया है। और ४। ३९ में मिट्टी, गाय, ब्राह्मण, देवमूर्त्ति, घी, मधु, चौराहा तथा पीपलादि वृक्षों की प्रदक्षिणा करने का विधान करके तो प्रक्षेपक का रहस्य ही प्रत्यक्ष हो गया है। क्योंकि ये सभी बातें पौराणिक युग से सम्बद्ध होने से अर्वाचीन हैं। मनु ने अपने समस्त शास्त्र में कहीं जड़-पूजा का तथा ऐसी प्रदक्षिणाओं का विधान नहीं किया है। ऐसी अयुक्ति युक्त, बुद्धि-विरुद्ध तथा अव्यावहारिक बातें धर्मशास्त्र से सम्बद्ध भी नहीं हो सकतीं, जिनके परिणाम में किसी भी प्रकार कारण-कार्यभाव न हो। और जो निर्धन है, क्या वह सोने के कुण्डल आदि न होने पर धर्माचरण कर ही न सके ? धर्मशास्त्र में इस प्रकार की गरीब-अमीर की दिवारें खड़ी करना अर्वाचीन ढोंगी व्यक्तियों के कार्य हैं, मनु के नहीं।

ये (४। ४३—६६) श्लोक निम्नलिखित-कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

इन श्लोकों में वर्णित बातें विषय से बाह्य होने से असंगत हैं। प्रस्तुत सतोगुण वर्धन से इन बातों का कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे स्त्री-पुरुष का जीवनभर का सम्बन्ध है, किन्तु पति स्त्री के साथ भोजन न करे, स्त्री को खाते हुए भी न देखे, छींकती हुई, जम्भाई लेती हुई तथा सुख पूर्वक बैठी हुई स्त्री को न देखे, इस प्रकार की बातें अव्यावहारिक ही हैं। इकट्ठे रहते हुए स्त्री-पुरुष इनका पालन कैसे कर सकते हैं ? और ४। ४८ में वायु, अग्नि, सूर्य, जल को देखते हुए मल-मूत्र का त्याग न करे, यह भी असम्भव ही है। वायु तथा सूर्य का परित्याग कैसे सम्भव है ? और जल के बिना मल-मूत्र का विसर्जन कैसे कर सकेगा ? और जिस ओर का वायु चलता हो, उस ओर

मुंह करके मल-त्याग करना तो ठीक है, क्योंकि इससे दुर्गन्ध से बचा जा सकता है। किन्तु वायु चाहे किधर का भी हो, दिन में उत्तर मुख होकर और रात में दक्षिणमुख होकर (४। ५०) मल-त्याग की बात कल्पना पर ही आश्रित है। और ४। ५२ में अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, हवादि की ओर मुख करके मल-मूत्र करने से बुद्धि नष्ट हो जाती है। यदि ऐसा हो तो सभी बुद्धिहीन हो जाने चाहियें, क्योंकि ऐसी जगह कौन-सी होगी, जहाँ हवा, सूर्य, अग्नि आदि न होंगे। और ४। ६१ में शूद्र के राज्य में निवास का निषेध मनुसम्मत कैसे हो सकता है? मनु ने सब व्यवस्थाओं का आधार कर्म को माना है, जन्म को नहीं। जो राजा के कार्य करता है, वह शूद्र कैसे हो सकता है? और जो कर्मानुसार शूद्र है, वह राजा कैसे बनेगा? इसी प्रकार ४। ६३ में अञ्जलि से जल पीने का निषेध करना, ४। ६४ में नाचने, गाने, बजाने का निषेध करना, इत्यादि इस प्रकार की बातें हैं, जिनका धर्म-अधर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसी बातों के पिटारे को ही क्या धर्म-शास्त्र कहा जा सकता है? इस प्रकार की अमौलिक तथा अव्यावहारिक बातें मनु की कदापि नहीं हो सकतीं। अतः मनु की शैली से विरुद्ध होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये (४। ६९—७८) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

ये सभी श्लोक विषयबाह्य हैं। इनमें वर्णित बातों को न तो व्रत ही कहा जा सकता और नहीं इनका सतोगुणवर्धन से कोई सम्बन्ध ही है। और इन श्लोकों में ऐसी बातों का स्पष्ट वर्णन है, जो मनुप्रोक्त बातों का स्पष्ट विरोध करती हैं। जैसे—२। ४८ वें श्लोक में निकलते हुए सूर्य-दर्शन का विधान है, किन्तु यहां ४। ६९ में बाल सूर्य की धूप का निषेध किया है। ४। ३५ वें श्लोक में नाखूनादि को काटने का विधान लिखा है, किन्तु ४। ६९ में नाखून काटने का ही निषेध किया गया है। इसी प्रकार पुनरुक्त बातें भी कम नहीं हैं, जैसे—४। ७५ में 'न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्' यह पहले कही गई २। ५६ श्लोक के चरण की पुनरावृत्ति मात्र ही है। और इनमें ऐसी अयुक्तियुक्त तथा अमौलिक बातों की भरमार है जो मनु की नहीं हो सकतीं। जैसे ४। ७० में मिट्टी के ढेले को हाथ से न मसलना, अंगुलियों से तिनका न तोड़ना ४। ७१ में मिट्टी के ढेले को हाथ से तोड़ने वाला तथा तिनकों को तोड़ने वाला शीघ्र नष्ट हो जाता है। और ४। ७२ में बाहर माला-धारण करने का निषेध करना, ४। ७६ में गीले पैर करके भोजन करने से दीर्घायु का होना और ४। ७८ में बाल, राख, भुसादि पर न बैठने से आयु का बढ़ जानादि। ऐसी अतिशयोक्तिपूर्ण बातें मौलिक न होने से मनु की कदापि नहीं हो सकतीं।

ये (४। ८०—९१) श्लोक निम्नलिखितकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

मनु ने सर्वत्र वर्णव्यवस्था का आधार कर्म को माना है, जन्म को नहीं। किन्तु ४। ८०—८१ श्लोकों से जन्ममूलक वर्णव्यवस्था का स्पष्ट बोध हो रहा है। मनु के अनुसार शूद्र वह है कि जो बौद्धिक-कार्य करने में असमर्थ होने से शारीरिकश्रम करके आजीविका करता है। किन्तु उसके लिये धर्माचरण का प्रतिषेध नहीं है। मनु ने 'न धर्मात् प्रतिषेधनम्' (१०। १२६) और 'अन्त्यादपि परं धर्मम्' (२। २३८) कहकर शूद्र को भी धर्माचरण करने का पूर्ण अधिकार दिया है। और १२। ५२ में स्पष्ट लिखा है कि जो धर्माचरण नहीं करता, वह मनुष्य पापाचरण-रत रहता है। मनु ने इन्द्रियों का संयम करना, अहिंसा का पालन करना, वेदाभ्यास करना, तपस्या करनादि मानवधर्म माने हैं। और चारों वर्णों के लिये जिन विवाहों का वर्णन किया है, उनमें यज्ञादि धर्मक्रियाओं का मनु ने शूद्रों के लिये भी द्विजों के समान ही विधान किया है। अतः शूद्र को धर्मोपदेश न करने की बात मनुसम्मत कदापि नहीं हो सकती।

और ४। ८४—८७ तक श्लोकों में ऐसे राजा से दान लेने का निषेध किया है, जो क्षत्रिय से उत्पन्न न हुआ हो। यह मान्यता भी जन्ममूलक होने से मनु की नहीं हो सकती। जो गुण, कर्म, स्वभाव से क्षत्रिय-कर्म करने वाला होता है, वह राजा है, चाहे वह जन्म से किसी भी वर्ण का हो, उससे दान लेने में कोई हानि नहीं है। क्योंकि दान करना क्षत्रिय के धर्मों में परिगणित है। ४। ८५—८६ श्लोकों में राजा की निरर्थक निन्दा की गई है। जो राजा धार्मिक है, धर्म से प्रजा की रक्षा करता है, और धर्मपूर्वक प्रजा से कर ग्रहण करता है, उसको मनु ने धर्म का प्रतिभू (७। १७) कहा है। क्या उस राजा को ही मनु वेश्या, भांड तथा वधिक से भी निकृष्ट कह सकता है? अतः राजा की निन्दा यहां पक्षपातपूर्ण तथा मिथ्या ही की है।

और ४। ८७—९० श्लोकों में इक्कीस नरकों की परिगणना भी कपोल-कल्पित होने से मिथ्या ही है। क्योंकि मनु की मान्यता के अनुसार स्वर्ग-नरक कोई स्थान-विशेष नहीं हैं। अन्यथा कर्मफलगति वर्णन में स्वर्ग-नरक का अवश्य वर्णन करते। मनु ने 'नरक' शब्द का प्रयोग 'स्वर्ग' के विलोम शब्द के रूप में प्रयोग किया है। और 'स्वर्ग' को लौकिक सुख तथा मोक्षसुख के लिये प्रयुक्त किया है। जब मनु लिखते हैं—'दाराधीनस्तथा स्वर्गः' (९। २८) तथा 'स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता' (३। ७९) अर्थात् गृहस्थ का सुख स्त्री के आधीन है, तो यहां 'स्वर्ग' शब्द सुखविशेष का ही वाचक है, स्थानविशेष का नहीं। इसी प्रकार दुःखविशेष वाचक 'नरक' शब्द है। जिसकी व्याख्या निरुक्त में इस प्रकार का है—'नरकं न्यरकं नीचैर्गमनमिति वा ॥' अर्थात् मनुष्य

की अधोगति होना ही नरक है। मनु ने १२ वें अध्याय में अपनी मान्यता स्पष्ट लिखी है कि जीव कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाकर सुख-दुःख भोगता है। अतः नरकों की परिगणना अथवा मान्यता मनु की कदापि नहीं है। यह पौराणिक युग में ही प्रक्षेप किया गया मत है।

और ये श्लोक विषयबाह्य होने से भी प्रक्षिप्त हैं। इनमें वर्णित विषय का व्रत अथवा सतोगुणवर्धन से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन श्लोकों की वर्णन-शैली भी पक्षपातपूर्ण, अतिशयोक्तिपूर्ण तथा अयुक्तियुक्त है। अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त-कोटि में आते हैं।

ये (४। ९५—१२७) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये सभी श्लोक विषयबाह्य होने से प्रक्षिप्त हैं। इनका 'सतोगुण-वर्धन' विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(ख) इन श्लोकों में ४। १०३ में तो 'मनुरब्रवीत्' कहकर प्रक्षेपक ने इन्हें मनुप्रोक्त कहने का दुष्प्रयास ही किया है। क्योंकि मनु ने स्वयं अपना नाम लेकर कोई प्रवचन नहीं किया।

(ग) ४। १०४ श्लोक में शिष्यों को पढ़ाते समय विशेष अवकाशों का संकेत किया है, इनका गृहस्थ के व्रतों से क्या सम्बन्ध है? इनका वर्णन तो पठन-पाठन विषय में (द्वितीयाध्याय में) तो संगत था, यहाँ नहीं। और वेदादि के पढ़ने में अवकाशों का निर्धारण मनु की दूसरी मान्यताओं से विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। मनु के अनुसार वेद का स्वाध्याय करना दैनिक कर्त्तव्य है। एतदर्थ १। ८७—९०, २। १५, २। १०६, २। १०७, ४। १६, ४। ३५ तथा ३। ७५ श्लोक द्रष्टव्य हैं। किन्तु यहां वर्ष में साढ़े चार मास ही वेद पढ़ने का विधान किया है। और शुक्लपक्ष में वेद पढ़ना, कृष्णपक्ष में न नहीं। बिजली चमक रही हो, गरज गरजकर वर्षा हो रही हो (४।१०३) तो वर्षा से भिन्न ऋतुओं में भी वेदों को न पढ़े। ४।१०५ में आकाश में उत्पातसूचक शब्द हो रहा हो, ग्रहों का परस्पर संघर्ष हो रहा हो, अथवा भूकम्प हो, तो वेदों को न पढ़े। ४।१०६ में होम की अग्नि प्रज्वलित करते समय, सूर्य की ज्योति रहने पर, वेदों को न पढ़े। इस प्रकार के अवकाशों का विधान मनुसम्मत कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि इनका दैनिक महायज्ञों से विरोध तो है ही साथ ही दैनिक वेदाध्ययन की मान्यता का भी खण्डन हो रहा है। और सूर्य की ज्योति रहने पर वेदों को न पढ़ने की बात तो वेद-पाठ में सबसे बड़ी बाधा है। दिन और रात दोनों में निषेध होने से वेदों को पढ़ा ही न जा सकेगा?

(घ) इसी प्रकार ४।९९, १०८ श्लोकों में शूद्र के पास वेद न पढ़ने की बात

भी अवैदिक है। क्योंकि जब स्वयं वेदों में शूद्रों को भी वेद पढ़ने का समान अधिकार दिया है, तो उनके पास न पढ़ने की बात मिथ्या ही है। यह भावना शूद्रों को वेद न पढ़ाने की मान्यता से अनुप्राणित एवं पक्षपातपूर्ण होने से मान्य नहीं हो सकती।

(ङ) ४।१०९-१११, ११७, १२४ श्लोकों में मृतकश्राद्ध खाकर वेद न पढ़ने की बात भी मनु से विरुद्ध है। क्योंकि मनु ने दैनिक (जीवित पितरों का) श्राद्ध ही करने का ३। ८२ में विधान किया है।

(च) ४।११२ में मांस तथा सूतकान्न खाकर वेद न पढ़ने की बात मनु की नहीं है। क्योंकि मनु ने मांसभक्षण का 'तस्मान्मांसं विवर्जयेत्' (५।४८) सर्वथा निषेध किया है। और सूतकान्न की मान्यता भी सत्य नहीं है, इसके लिये पञ्चमाध्याय के ५८—१०४ श्लोकों पर टिप्पणी द्रष्टव्य है।

(छ) और ४।११३ में दोनों सन्ध्याओं के समय तथा अमावस्यादि पर्वों पर वेद न पढ़ने की बात मनु से विरुद्ध है। क्योंकि मनु के अनुसार दोनों समय ब्रह्मयज्ञ व देवयज्ञ का विधान सन्ध्याकालों में ही किया है। और पर्वों पर विशेष यज्ञों का विधान किया है। क्या विना वेद-मन्त्रों के ही यह याज्ञिक क्रियाकलाप सम्भव हो सकता है?

(ज) और ४। ११६ में श्मशान में वेद न पढ़ने की बात भी असंगत है। क्योंकि अन्त्येष्टि संस्कार तो वेद-मन्त्रों से श्मशान में ही किया जाता है। अतः ये सभी श्लोक मनु की मान्यताओं से विरुद्ध एवं विषय-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

ये (४।१२९—१३२) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

ये चारों श्लोक विषय-विरुद्ध होने से असंगत हैं। इनका इस अध्याय के सतोगुणवर्धन व्रतविषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। और ४।१३१ में मृतकश्राद्ध में खाने तथा मांसभक्षण की बात मनु की मान्यता[1] से विरुद्ध है। और ४। १३० में देव, गुरु, स्नातक, आचार्य तथा यज्ञ में दीक्षित पुरुष की छाया का न लांघना भी अयुक्तियुक्त है। छाया के लांघने अथवा न लांघने से क्या पाप-पुण्य सम्भव है? ४।१३१ में सन्ध्याकाल में चौराहों पर जाने का निषेध भी निरर्थक ही है। क्योंकि इसमें भी कोई पाप-पुण्य की बात नहीं है। इस प्रकार के निरर्थक तथा मनु की मान्यताओं से विरुद्ध होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये दो (४। १३५१-३६) श्लोक निम्न आधार पर प्रक्षिप्त हैं—

---

१. मनु ने ११। ९५ में मांस और मद्य को राक्षसों का भोजन बताया है वेदपाठियों का नहीं।

'सतोगुणवर्धन व्रत' विषय से सम्बद्ध न होने से ये श्लोक प्रकरण-विरुद्ध हैं। इन श्लोकों में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा सर्प के अपमान न करने का विधान तथा अपमानित द्वारा भस्म करने की बात पक्षपातपूर्ण ही है। यद्यपि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय समाज की विशिष्ट शक्तियाँ होती हैं, उनके निरादर करने से समाज की अवनति ही होगी। किन्तु श्लोक में प्रक्षेपक की भावना जन्ममूलक भावों को द्योतित कर रही है। जो कि कर्ममूलक मनु की वर्णव्यवस्था से सर्वथा विरुद्ध है। जिस ब्राह्मण के लिये २।१६२ में मनु ने अपमान को अमृत के तुल्य बताया है, क्या वही मनु भस्म करने का भय दिखा सकते हैं? और काल की रस्सी सर्प का अपमान न करने की बात तो सर्वथा ही एक पौराणिक मान्यता है। सर्पादि मानव मात्र के शत्रु हैं, उनको देखकर भी यदि इनको नष्ट न किया जाये, तो मानव की सुरक्षा कैसे सम्भव होगी? जो मनु आततायी गुरु अथवा ब्राह्मण को भी विना विचारे (८।३५०) मारने का आदेश दे रहे हैं, क्योंकि उससे समाज दूषित होता है, क्या वे मानव के प्राणान्तक सांपों को मारने का निषेध कर सकते हैं? अतः इस प्रकार के श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हो सकते।

यह (४।१४०) श्लोक निम्न कारण से प्रक्षिप्त है—

यह श्लोक सतोगुणवर्धन व्रत से सम्बद्ध न होने से असंगत है। और जिस शूद्र को मनु ने द्विजों की सेवा का कार्य सौंपा है, उसके साथ कार्यवश जाना भी पड जाये, तो क्या दोष या पाप हो सकता है? यह अर्वाचीन पक्षपातपूर्ण वर्णन ही है। और बहुत सबेरे, बहुत शाम को, दोपहर के समय, तथा अकेले जाने का निषेध करना भी अव्यावहारिक विधान है। मनुष्य के कार्य प्रातः, सायं तथा दोपहर भी हो सकते हैं और आजकल जबकि मनुष्य रात्रि में भी शान्त नहीं है, उसको यह उपदेश कैसे ग्राह्य हो सकता है? अतः इस प्रकार की अयुक्तियुक्त बातें मनु की कदापि नहीं हो सकतीं।

ये (४।१४२-१४४) श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

ये प्रस्तुत सतोगुणवर्धन व्रत विषय से सम्बद्ध न होने से असंगत हैं। और इनमें अयुक्तियुक्त तथा अव्यावहारिक बातें होने से ये श्लोक मौलिक नहीं कहे जा सकते। जैसे—४।१४२ में स्वस्थ मनुष्य द्युलोक में ग्रह-तारों को न देखे, ४।१४३ में गो, ब्राह्मणादि को छूकर इन्द्रियों को छूये, ४।१४४ में स्वस्थ मनुष्य अपनी इन्द्रियों को भी न छुये। इस प्रकार की बातें निरर्थक, एवं निराधार ही हैं। यदि गो, ब्राह्मण, अग्नि पवित्र हैं, तो इनको छूकर इन्द्रियस्पर्श करने का क्या कारण है। और स्वस्थ मनुष्य अपनी इन्द्रियों को बिना छुये कैसे कार्य कर सकता है? अतः इन श्लोकों की शैली मनुसम्मत न होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये ४। १५०–१५३ तक ४ श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

इन श्लोकों का 'सतोगुणवर्धन व्रत' विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः ये असंगत श्लोक हैं। ४।१५० वाँ श्लोक मृतकश्राद्ध का प्रतिपादक होने से मनु का नहीं हो सकता। क्योंकि मनु तो दैनिक जीवित श्राद्ध का विधान करते हैं। और ४।१५३ में दैवत=देवप्रतिमा वाले पवित्र स्थानों पर पर्वों पर जाने की बात मनुप्रोक्त नहीं हो सकती। क्योंकि मनु ने पर्वों पर विशेष यज्ञों का विधान किया है और 'होमैर्देवान्' (३। ८१) कहकर हवन से ही देवपूजा मानी है। और ४। १५१ में मल-त्याग निवास स्थान से दूर करना तो ठीक है, किन्तु पैरों को दूर से कैसे धोयेगा ? यदि पैर अपवित्र हैं, तो उन्हें धोना ही चाहिये, दूर से घृणा करने से कार्य कैसे चल सकता है, पैर तो शरीर के अङ्ग हैं। अतः अमौलिक होने से ये श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हैं।

ये (४। १६५—१६९) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये पाञ्चों श्लोक पूर्वापर प्रसंग से विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। ४। १६४ वें श्लोक में हिंसा करने का निषेध किया है और ४। १७० में हिंसा करने का फल बताया है कि हिंसा करने वाला कभी सुख नहीं प्राप्त नहीं करता। इस प्रकार १६४ वें श्लोक की १७० वें श्लोक के साथ पूर्णतः संगति है। इस संगति को ये बीच के श्लोक भंग कर रहे हैं।

(ख) ४। १६५ में 'तामिस्र' नामक नरक का कथन भी मनु की मान्यता के विरुद्ध है। 'नरक' शब्द का प्रयोग मनु के अनुसार 'स्वर्ग=सुखविशेष' के विलोम अर्थ में है। इस विषय में विशेष टिप्पणी ४।८८—९० श्लोकों पर भी द्रष्टव्य है।

(ग) और ४।१६६ में ब्राह्मण को जानबूझकर तिनके से मारकर २१ जन्मों तक पापयोनियों में जन्म लेता है, यह कथन भी मनु की मान्यता के विरुद्ध है। मनु ने एक कर्म के आधार पर विभिन्नयोनियों में जाना कहीं नहीं माना है। मनु के अनुसार कर्मों के कारण सात्त्विकादि वृत्तियाँ बनती हैं और उन वृत्तियों के अनुसार विभिन्न योनियाँ प्राप्त होती हैं। और तिनके से मारना तथा २१ जन्मों तक पापयोनियों में जाना, यह कर्मफल-व्यवस्था भी अन्याययुक्त होने से मनु-सम्मत नहीं है। क्योंकि मनु ने कर्मफल-निर्णय में ऐसा निर्धारण कहीं नहीं किया कि कितनी योनियों तक दण्ड मिलता है।

(घ) और इन श्लोकों में पक्षपात पूर्ण वर्णन होने से ये मनु के श्लोक नहीं हो सकते। मनु ने सब वर्णों के लिये समान आचार-संहिता बनाई है। चाहे वह किसी वर्ण का क्यों न हो, यदि वह किसी मनुष्य को हो नहीं, किसी प्राण-

धारी को भी निरर्थक सताता है, तो वह हिंसा करने से सुख प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु यहाँ केवल ब्राह्मण को ताडना करने का फल दिखाया है, अन्य वर्णों का नहीं, अतः यह पक्षपातपूर्ण वर्णन होने से मान्य नहीं हो सकता। और जितने कण रुधिर से भीगें, उतने वर्षों तक हिंसक जीवों द्वारा खाने की बात भी अतिशयोक्तिपूर्ण ही है। क्योंकि मरने के बाद अन्त्येष्टि-संस्कार होता है, तो कुत्ते कैसे खायेंगे ? यदि हिंसक जीवों को भी मुर्दे को दिया जाता है, तो वे क्या अनेक वर्ष खाने में लगायेंगे ? अतः इस प्रकार का वर्णन प्रमत्त प्रलाप मात्र ही है। मनु ने ऐसी कर्म-फल व्यवस्था कहीं भी स्वीकार नहीं की है। और किस कर्म का कितना फल मिलेगा, यह ईश्वरीय व्यवस्था है, उसको जीव पूर्णतः जान भी कैसे सकता है ?

४।१८१–१८५ तक पाञ्च श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ४।१८१ श्लोक में कहा है कि माता, पिता, आचार्य मामादि से विवाद न करने वाला व्यक्ति सब पापों से छूट जाता है। यह पाप-मुक्ति की भावना अवैदिक होने से मनु-सम्मत कदापि नहीं है। क्योंकि जिस जीव ने जैसा कर्म किया है, वह उसका शुभाशुभ फल अवश्य प्राप्त करता है, उससे छुटकारा कभी नहीं हो सकता। इस विषय में मनु ने (४।२४० में) स्पष्ट कहा है—'एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकमेव च दुष्कृतम्।' और 'न त्वेव............ अधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः' (४।१७३) किया हुआ अधर्म कभी निष्फल नहीं होता माना है, अतः पापकर्मों से मुक्ति की बात ही मनुविरुद्ध है। और कुछ व्यक्ति विशेषों से विरुद्ध न करने मात्र से पापों से यदि मुक्ति सम्भव है, तो मनु-प्रोक्त सारा ही धर्म-विधान निरर्थक हो जायेगा।

(ख) और यदि मनु ने पापों से मुक्ति नहीं मानी, तो (११।२१०–२३२ में) प्रायश्चित्तों का विधान किसलिये किया है ? इसका उत्तर मनु के विधान को पढ़ने से स्पष्ट मिल जाता है कि कृत-कर्मों का तो शुभाशुभ फल अवश्य ही मिलेगा, परन्तु पापकर्म करने से जो मन में वासनायें अथवा संस्कार बन जाते हैं, उनकी शुद्धि प्रायश्चित्त से होती है, जिससे जीव भविष्य में दुष्कर्म करने से बच जाता है।

(ग) और ४।१८२–१८४ श्लोकों में ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक देवलोकादि की कल्पना भी भ्रान्तिमूलक है। क्योंकि ये कोई लोकविशेष नहीं हैं। जब आचार्य, अतिथि, ऋत्विक् आदि इसी लोक में हैं, और इनका हमारे से सम्बन्ध है, तो ये अन्य किस लोक के स्वामी हो सकते हैं। और मनु ने मरने के बाद जीव की दो गतियाँ ही मानी हैं। एक कर्मनुसार जन्म-जन्मान्तरों में जाना, दूसरी ब्रह्मप्राप्ति अथवा मोक्ष। अतः इनसे भिन्न लोकों की कल्पना निरर्थक है, अथवा आलंकारिक वर्णनों को न समझना मात्र ही है।

(घ) और मान्य व्यक्तियों से निरर्थक विवाद तो नहीं करना चाहिए, किन्तु ज्ञानवर्धन के लिए प्रश्नोत्तर रूप संवाद करना अथवा उनकी बातों को केवल अन्धभक्त होकर ही न मानलेना तो अच्छी बात है अथवा उन्नति का कारण है। और अपने से छोटे नौकरों अथवा बीमार व्यक्तियों को हित-दृष्टि से समझाना कोई बुरी बात नहीं है। अतः 'एतैः अधिक्षिप्तः' (४। १८५) इनसे तिरस्कृत होकर भी सहता रहे, यह मान्यता मनुसम्मत कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि मनु ने तो 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मो वेद नेतरः' कहकर तर्क अथवा बुद्धिपूर्वक बातों ही को मानने का आदेश दिया है।

ये दो (४।१८८-१८९) श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

इन श्लोकों में अयुक्तियुक्त तथा अतिशयोक्तिपूर्ण कथन करने से ये श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हैं। जो विद्याव्यसनी नहीं है, पठन-पाठनादि कार्य भी नहीं करता, उसे दान नहीं लेना चाहिये। क्योंकि प्रत्युपकार न करने से दान का धन अनिष्ट ही करता है इसका ४।१८६ में कथन कर ही दिया, फिर ४।१८९ में किस दान से क्या अनर्थ होता है, यह कथन निरर्थक ही है क्योंकि इन बातों में कोई कारण-कार्य भाव सम्बन्ध नहीं है। और प्रतिग्रहरुचि वाले ब्राह्मण का ब्राह्म-तेज नष्ट हो जाता है, इसी बात की ४। १८८ में पुनरुक्ति होने से यह श्लोक भी मौलिक नहीं है।

४। १९७-२०० तक चार श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ४।१९७ में पापकर्म से 'अन्धतामिस्र' नामक नरक में गिरने की बात मनुसम्मत नहीं है। मनु के अनुसार नरक कोई स्थानविशेष नहीं है। इस विषय में ४।८०-९१ श्लोकों पर विशेष टिप्पणी द्रष्टव्य है।

(ख) ४।१९८वाँ श्लोक में 'स्त्री-शूद्रदम्भनम्' कहकर यह भाव प्रकट किया कि स्त्रियों व शूद्रों को व्रताचरण का अधिकार नहीं है, अथवा वे व्रतों से अनभिज्ञ होने चाहियें। क्योंकि उनके सामने व्रतों के बहाने पापकर्म को छिपाया जा सकता है। यह भावना पौराणिकयुग की देन है। शुभकर्मों के संकल्प को व्रत, कहते हैं और उसका अधिकार वेद-पठन की भांति मानवमात्र को है।

(ग) जो व्रत छलकपट से किया जाता है, वह राक्षसों को पहुँचता है, यह बात भी अयुक्तियुक्त होने से मनुसम्मत नहीं है। जैसे कोई किसी को अन-जाने मार देता है, अथवा भूलकर मद्य पी लेता है, उसको उस दुष्कर्म का फल भी अवश्य मिलता है। वैसे ही जो अच्छा व्रत किया है, चाहे वह छल से किया है, उसका बुरा फल कैसे होगा? और कर्म किसी दूसरे ने किया, और उसका फल राक्षसों को प्राप्त होना बिल्कुल ही असंगत तथा मनु की मान्यता से

विरुद्ध है। मनु ने तो कर्त्ता को ही शुभाशुभ कर्मफल का (४।२४० में) भोक्त माना है।

(घ) इसी प्रकार ४।२०० वें श्लोक में भी दिखावा करने वाला लिंगी पुरुषों के पाप का भागीदार होता है, यह बात भी मनु की मान्यता से विरुद्ध है। अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

यह ४।२०२ वां श्लोक निम्नलिखितकारणों से प्रक्षिप्त है—

(क) यह श्लोक पूर्वप्रसंग से विरुद्ध है। ४।२०१ में कहा है कि कहाँ स्नान करना चाहिये? और ४।२०३ में भी स्नान करने के स्थानों का परिगणन किया गया है। किन्तु २०२ वां श्लोक बीच में प्रसंग को भंग कर रहा है।

(ख) इस श्लोक का विषय भी 'सतोगुणवर्धनव्रत' विषय के अन्तर्गत नहीं आता। अतः यह विषयबाह्य होने से प्रक्षिप्त है।

(ग) और इसका वर्ण्यविषय भी अयुक्तियुक्त है। क्योंकि जिसने दूसरे की वस्तु का बिना स्वामी की आज्ञा से उपयोग किया है, उसने चोरी की है। अतः चोरीरूप पापकर्म के कर्त्ता को पूर्ण-फल मिलेगा। उसको केवल चतुर्थ-भाग का भागीदार कहना मनु की मान्यता से विरुद्ध है।

४।२०५—२२६ तक के श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) इन सभी श्लोकों के आधार-भूत (४।२०५—२०६) दो श्लोक हैं। और इनमें ऐसी बातों के कथन हैं कि जो मनु की मौलिक बातों का विरोध करती हैं। मनु के अनुसार यज्ञकर्म, देवकर्म है और यह द्विज-मात्र का कर्म माना है। इसमें वेद-मन्त्रों का पाठ होता है, अतः जो वेद-पढ़ना नहीं जानता, न तो वह ब्राह्मण ही है और न वह यज्ञ कर सकता है। फिर अश्रोत्रिय=जो वेद-पाठी नहीं है, उसका यज्ञ करना ही सम्भव नहीं है। और मनु के धर्म-शास्त्र में यज्ञकर्म में भोजन-खाने की बात कहीं नहीं कही है, फिर यज्ञ में भोजन खाने या न खाने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। हाँ! मृतक-श्राद्ध में भोजन करने की चर्चा अवश्य मिलती है, किन्तु वह मनु की जीवित श्राद्ध की मान्यता से विरुद्ध होने से माननीय नहीं हो सकती। और यज्ञ कराना तो ब्राह्मण के गुण-कर्मस्वभावानुसार ही मनु ने माना है, जन्मना नहीं। अतः ब्राह्मण और अवेदपाठी ये दोनों शब्द परस्पर विरोधी हैं। अतः किसी जन्ममूलक वर्णव्यवस्था के मानने वाले ने इन श्लोकों का प्रक्षेप किया है।

(ख) स्त्री और नपुंसक के द्वारा आहुति जिस यज्ञ में दी जाये, उसमें भी भोजन का निषेध (४।२०५ में) किया है। इसमें भी पौराणिक युग की यही

भावना कार्य कर रही है कि स्त्रियों को यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म करने का अधिकार नहीं है। जबकि विवाहादि संस्कार यज्ञ के सामने ही होते हैं और मनु ने धर्म-कार्यों में स्त्री को मुख्य माना है। फिर स्त्री आहुति न करे, यह कैसे सम्भव है?

(ग) और ४। २०५ में जो ऋत्विक् बहुतों को यज्ञ कराता है, उसके यज्ञ में खाने का भी निषेध किया है। बहुतों को अथवा सामूहिक यज्ञ कराना कोई दुष्कम नहीं है, फिर उसकी निन्दा करना निरर्थक ही है।

(घ) और उसी प्रकार ब्याज लेने वाले का अन्न अभक्ष्य बताना, जबकि ब्याज लेना वैश्यों का कर्म मनु ने माना है, और ४। २१३ में माँस-भक्षण को उचित मानना, जबकि मनु ने माँस-भक्षण को राक्षसों का भोजन माना है, और लुहार, सुनार, चमार आदि उपजातियों का (४। २१४—२१८ में) मानना मनु-सम्मत नहीं है, क्योंकि मनु ने चार ही वर्ण माने हैं और इन शिल्प-कर्मों को वैश्यकर्मों के अन्तर्गत माना है; और इन शिल्प-कर्म करने वालों के अन्न को अभक्ष्य बताना मनुसम्मत नहीं हो सकता, क्योंकि ये शिल्प-कर्म तो वैश्य के हैं और वैश्य का कर्म है कि समाज के अभाव को दूर करना। फिर इन शिल्प-कर्म करने वालों के अन्न को मनु अभक्ष्य कैसे कह सकते हैं? अतः इस प्रकार के उपजातिबोधक तथा पौराणिकभावों के बोधक श्लोक बहुत ही अर्वाचीन हैं, इनका मनु की मान्यताओं से स्पष्ट विरोध है, इसलिये ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इनकी शैली अयुक्तियुक्त तथा अतिशयोक्तिपूर्ण है। इन श्लोकों के प्रक्षेपक ने इन श्लोकों को प्रामाणिक बनाने के लिये (४।२२५ में) प्रजापति=ब्रह्मा का भी नाम लिया है। इस मनुप्रोक्त शास्त्र का ब्रह्मा से सम्बन्ध बताना स्वतः ही अमौलिकता को सिद्ध करता है।

ये (४। २२८—२३२ तक) पाँच श्लोक निम्नलिखितकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) इन श्लोकों में मनु की मान्यताओं सेविरुद्ध कल्पनायें की गई हैं जैसे मनु की मान्यता है कि (४।२४० के अनुसार) कर्त्ता जीवात्मा पुण्यापुण्यकर्मों का शुभाशुभ फल स्वयं भोगता है। दूसरे के कर्मों का फल दूसरे को नहीं मिलता। परन्तु यहाँ ४। २२८ में कहा है कि दान लेने वाला दानदाता के कुल में उत्पन्न सुपात्र व्यक्ति को दुःखों से पार कर देता है। यह एक मिथ्या मान्यता है कि दान कोई दे रहा है और दुःखों से पार कोई दूसरा ही हो रहा है। इसी प्रकार ४। २२९ तथा ४। २३२ में कहा है कि अन्न देनेवाला अक्षयसुख= मोक्ष को प्राप्त करता है। यदि केवल धान्य-दान से ही मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है, तो मनुप्रोक्त सब मानवधर्म और नैश्श्रेयसकर कर्मों का मोक्ष के लिये विधान निरर्थक ही है। फिर तो पापी से पापी व्यक्ति भी अधर्म से अर्जित धन

से धान्य-दान करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इतने सरल एवं सुगम मार्ग को छोड़कर यम-नियमों वाले तपस्या के मार्ग को कौन अपनायेगा? इसी प्रकार ४।२३१ में विभिन्न दानों से चन्द्र, सूर्य आदि लोकों की प्राप्ति कहना भी निरर्थक ही है। क्योंकि मनु ने मृत्यु के बाद जीव की दो ही गतियाँ बताई है— संसार में पुनर्जन्म, अथवा मोक्षप्राप्ति। मनु के अनुसार यह एक मिथ्या मान्यता है कि वस्त्रदान करने से चन्द्रलोक और गोदान करने से सूर्यलोक की प्राप्ति होती है। यद्यपि चन्द्रादि लोक भी वसु हैं जिनमें जीव जन्म लेते हैं, किन्तु सर्वत्र परमेश्वर की व्यवस्था से जीव कर्मानुसार जाता आता है, उसमें वस्त्रदान तथा धान्यदान ही कोई विशेष कारण नहीं है।

(ख) और इन श्लोकों में अयुक्तियुक्त, असंगत तथा अतिशयोक्तिपूर्ण बातें हैं, जो मनु जैसे आप्तपुरुष की शैली से विरुद्ध हैं। जैसे—४।२२९—२३२ तक श्लोकों में परिगणित पदार्थों के दान से जो उनका फल दिखाया गया है, उनमें कोई संगति नहीं है। अन्नदान से मोक्ष का मिलना, तिलदान में संतान-प्राप्ति, दीपदान से चक्षु की प्राप्ति, स्वर्ण-दान से दीर्घ जीवन[1] का मिलना, चाँदी के दान से सुन्दर रूप का मिलना, बैल के दान से लक्ष्मी का मिलना, वस्त्रदान से चन्द्र तथा गोदान से सूर्यलोक की प्राप्ति का मानना, इत्यादि बातें केवल काल्पनिक ही हैं। क्योंकि मनु ने तो किसी एक कर्म का ऐसा फल नहीं माना। उनके अनुसार तो मानव को सात्त्विक, राजसि तथा तामसिक प्रवृत्तियों के कारण विभिन्न उत्तम, मध्यम व अधम योनियों में जाना पड़ता है। अतः ये श्लोक मनु-प्रोक्त नहीं हो सकते।

ये चार (४।२३४—२३७) श्लोक निम्नलिखितकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) इन श्लोकों में मनु की मान्यताओं से स्पष्ट विरोध है। यहाँ ४।२३५ में दान देने वाले और लेने वाले को सत्कार पूर्वक स्वर्ग और असत्कार-पूर्वक नरक की प्राप्ति लिखी है। जिससे ये स्थानविशेष माने गये हैं। किन्तु मनु के अनुसार स्वर्ग=सुख और नरक=दुःख का नाम है। एतदर्थ ४।८७—९१ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है। इसी प्रकार ४।२३७ में यज्ञ, तप, आदि कर्मों के फल का नष्ट होना माना है, जबकि मनु के अनुसार बिना भोगे कर्म-फल नष्ट नहीं होता। शुभ कर्म का शुभफल और अशुभकर्म का अशुभफल जीव को अवश्य मिलता है। और इसी प्रकार यह मान्यता भी (४।२३४) मिथ्या है कि दानदाता जिस भाव से दान देता है, वह उसी वस्तु को प्राप्त कर

---

१. मनु जी ने 'आचाराल्लभते ह्यायुः०' इत्यादि में आयु-वृद्धि का कारण सदाचारादि को माना है।

लेता है। यदि किसी को सन्तान की इच्छा है, तो दान करने से सन्तान कैसे मिल सकती है? क्योंकि उनका कोई कार्य-कारण भाव सम्बन्ध नहीं है। और मनु जी ने तो ४। २४६ में दान का फल स्वर्ग=सुख प्राप्ति लिखा है। इस प्रकार मनु-विरुद्ध बातें होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

(ख) इन श्लोकों में अयुक्तियुक्त तथा अतिशयोक्तिपूर्ण बातें भी मनु की शैली से विरुद्ध हैं। जैसे ४। २३७ में दान का फल कहने से नष्ट होना, ब्राह्मण की बुराई से आयु का कम होना, तप का फल विस्मय करने से नष्ट होना, और यज्ञ का फल झूठ बोलने से नष्ट होना, इत्यादि बातें अयुक्तियुक्त, कार्य-कारण भाव सम्बन्ध से रहित तथा अतिशयोक्तिपूर्ण होने से मनुप्रोक्त नहीं हैं। क्योंकि यज्ञादि श्रेष्ठकर्मों का फल अवश्य मिलेगा और झूठ बोलने आदि दुष्कर्मों का फल पृथक् मिलेगा। कोई भी शुभाशुभ कर्म किसी अन्य शुभाशुभ कर्मफल को नष्ट नहीं कर सकते।

ये सात (४। २४७—२५३) श्लोक निम्नलिखितकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) इन श्लोकों में मनु की मान्यताओं से विरुद्ध बातें कहीं गई हैं। जैसे—मनु ने जीवित पितरों के दैनिक श्राद्ध को (३। ८२ में) माना है। किन्तु यहाँ ४। २४९ में मृत-पितरों के श्राद्ध का स्पष्ट वर्णन है। और मनु जी ने माँस-भक्षण को राक्षसों का भोजन माना है और ५। ४८ तथा ५। ५१ में माँस-भक्षण का निषेध किया है, किन्तु यहाँ (४। २५० में) मांस-भक्षण का उल्लेख किया गया है। और मनु जी ने मानव-समाज को चार वर्णों में कर्मानुसार विभक्त किया हैं, नापित, रजक आदि उपजातियों में नहीं। किन्तु यहाँ ४। २५३ में 'नापित' जाति का उल्लेख किया गया है। और मनु जी ने खेती करना तथा गो-पालन वैश्य के कर्म माने हैं, किन्तु यहां ४। २५३ में खेती करने वाले तथा गो-पालन करने वाले को शूद्रों में माना है। और मनु जी ने बुरे लोगों से (२। १८५ में) भिक्षा लेने का निषेध किया है, किन्तु यहां ४। २४८ में सबसे भिक्षा लेने का विधान किया है, चाहे वह अच्छा हो अथवा बुरा। मनु जी ने २। ४८—४९ आदि श्लोकों में याचित को भिक्षा माना है, परन्तु यहां ४। २४८ में बिना मांगी हुई को (अयाचित को) भी भिक्षा कहा है। इस प्रकार इन श्लोकों में अन्तर्विरोध भरा पड़ा है।

(ख) इन श्लोकों के प्रक्षेपक ने अपने श्लोकों को प्रामाणिक बनाने के लिये (४। २४८ में) प्रजापति=ब्रह्मा का नाम भी जोड़ा है, जिससे स्पष्ट है कि ये श्लोक परवर्त्ती किसी मनुष्य के बनाये हुए हैं।

(ग) मनु जी ने सभी वर्णों के आपत्कालीन धर्मों का वर्णन दशमाध्याय

में किया है। यहाँ तो धारणीय व्रतों का ही प्रकरण है। किन्तु यहां ४।२५२ में आपद्धर्म का वर्णन किया है, जो कि इस प्रकरण से विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

(घ) और इस अध्याय में सतोगुणवर्धक व्रतों का प्रकरण चल रहा है। इनके बीच में इन श्लोकों में वर्णित बातों का व्रतों से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः ये श्लोक विषयविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

इति महर्षिमनुप्रोक्तायां मनुस्मृतौ प्राकृत-भाष्यसमन्वितायाम्
प्रक्षेपश्लोक-समीक्षाविभूषितायाञ्च गृहस्थवृत्ति-व्रतात्मक-
श्चतुर्थोऽध्यायः॥

ओ३म्

पञ्चमोऽध्यायः

[हिन्दीटीका-प्रक्षेपश्लोकसमीक्षाभ्यां सहितः]

(गृहस्थान्तर्गत-भक्ष्याभक्ष्य-प्रेतशुद्धि-द्रव्यशुद्धि-स्त्रीधर्म-विषय)

[भक्ष्याभक्ष्य १।१ से १।५६ तक]

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च॥५॥ (१)

(लशुनं गृञ्जनं पलाण्डुं च कवकानि) लहसुन, सलगम, प्याज, कुकुरमुत्ता [छत्राक या कुम्हठा] (च) और (अमेध्यप्रभवाणि) अशुद्ध स्थान में होने वाले सभी पदार्थ (द्विजातीनाम् अभक्ष्याणि) द्विजातियों के लिये अभक्ष्य हैं॥ ५॥

"द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को मलीन, विष्ठा, मूत्रादि के संसर्ग से उत्पन्न हुए शाक, फल-मूलादि न खाना।" (स० प्र० दशम समु०)

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा।
आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः॥ ८॥ (२)

(अनिर्दशायाः गोः क्षीरम्) ब्याई हुई गौ का पहले दश दिन का दूध (औष्ट्रम्) ऊंटनी का (तथा ऐकशफम्) घोड़ी का (आविकम्) भेड़ का (संधिनीक्षीरम्) सांड के संसर्ग को चाहने वाली गौ का दूध (च) और (विवत्सायाः गोः पयः) जिसका बछड़ा या बछिया मर गई हो उस गौ के दूध को भी छोड़ देवे।

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि॥ ९॥ (३)

(माहिषं विना) भैंस को छोड़कर (सर्वेषां आरण्यानां मृगाणाम्) सब जंगली पशुओं का दूध (च) और (स्त्रीक्षीरम्) स्त्री का दूध (वर्ज्यानि) वर्जित हैं (च एव) तथा (सर्वशुक्तानि) सब प्रकार के खट्टे पदार्थ भी वर्जित हैं ॥ ९ ॥

दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम् ।
यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥ १० ॥ (४)

(शुक्तेषु) खट्टे पदार्थों में (दधि च सर्वं दधिसंभवम् भक्ष्यम्) दही और दही से बनने वाले सभी छाछ, मक्खन आदि पदार्थ खाने योग्य हैं (च) और (यानि) जितने पदार्थ (शुभैः) हितकारी या गुणकारक (पुष्प-मूल-फलैः अभिषूयन्ते) फूल, मूल, फलों से तैयार किये जाते हैं वे भी खाने योग्य हैं ॥१०॥

यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं भोज्यं भोज्यमगर्हितम् ।
यत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥ २४ ॥ (५)

(अगर्हितम्) दोषरहित या अनिन्दित (यत् किंचित् भोज्यं स्नेह-संयुक्तम्) जो कोई खाने की वस्तु चिकनाई अर्थात् घृत आदि से मिलाकर बनायी गयी हो (तत् पर्युषितम् अपि) वह बासी भी (भोज्यम्) खा लेनी चाहिए (च) तथा (यत् हविःशेषं भवेत्) जो यज्ञ की हवि से बची खाद्यवस्तु हो वह भी (आद्यम्) खा लेनी चाहिए ॥ २४ ॥

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः ।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥ २५ ॥ (६)

(द्विजातिभिः) द्विजातियों को (यव-गोधूमजं सर्वम्) जौ और गेहूं से बने पदार्थ (च) तथा (पयसः विक्रिया एव) दूध के विकार से बने खोया, मिठाई आदि पदार्थ (अस्नेहाक्तम्) घृत आदि चिकनी वस्तु के मेल से न बने हों तो भी (चिरस्थितम् अपि) देर से बने हुए भी (आद्यम्) खा लेने चाहिए ॥ २५ ॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ ४५ ॥ (७)

(यः) जो व्यक्ति (आत्मसुख+इच्छया) अपने सुख की इच्छा से (अहिंसकानि भूतानि) कभी न मारने योग्य प्राणियों की (हिनस्ति) हत्या करता है (सः) वह (जीवन् च मृतः) जीते हुए और मरकर भी (क्वचित् सुखं न एधते) कहीं भी सुख को प्राप्त नहीं करता ॥ ४५ ॥

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥ (८)

(यः) जो व्यक्ति (प्राणिनां बन्धन-वध-क्लेशान् न चिकीर्षति) प्राणियों

के बन्धन में डालने, वध करने, उनको पीड़ा पहुँचाने की इच्छा नहीं करता (सः) वह (सर्वस्य हितप्रेप्सुः) सब प्राणियों का हितैषी (अत्यन्तं सुखम् अश्नुते) बहुत अधिक सुख को प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥ ४७ ॥ (६)

(यः) जो व्यक्ति (किंचन न हिनस्ति) किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता वह (यत् ध्यायति) जिसका ध्यान करता है (यत् कुरुते) जिस काम को करता है (च) और (यत्र धृतिं बध्नाति) जहां धैर्य से मन लगाता है (तत्) उसको (अयत्नेन) सुगमता से (अवाप्नोति) प्राप्त कर लेता है ॥ ४७ ॥

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥ (१०)

(प्राणिनां हिंसाम् अकृत्वा क्वचित् न मांसं न उत्पद्यते) प्राणियों की हिंसा किये बिना कभी मांस प्राप्त नहीं होता (च) और (प्राणिवधः) जीवों की हत्या करना (न स्वर्ग्यः) सुखदायक नहीं है (तस्मात्) इस कारण (मांसं विवर्जयेत्) मांस नहीं खाना चाहिए ॥ ४८ ॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४६ ॥ (११)

(च) और (मांसस्य समुत्पत्तिम्) मांस की उत्पत्ति जैसे होती है उसको (देहिनां वध-बन्धौ) प्राणियों की हत्या और बन्धन के कष्टों को (प्रसमीक्ष्य) देखकर (सर्वमांसस्य भक्षणात्) सब प्रकार के मांसभक्षण से (निवर्तेत) दूर रहे ॥ ४६ ॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकः ॥ ५१ ॥ (१२)

(अनुमन्ता) मारने की आज्ञा देने वाला (विशसिता) मांस को काटने, वाला (निहन्ता) पशु को मारने वाला (क्रय-विक्रयी) पशुओं को मारने के लिए मोल लेने और बेचने वाला (संस्कर्त्ता) पकाने वाला (उपहर्त्ता) परोसने वाला (च) और (खादकः) खाने वाला (इति घातकाः) ये सब हत्यारे और पापी हैं ॥ ५१ ॥

"अनुमति=मारने की आज्ञा देने, मांस के काटने, पशु आदि के मारने, उनको मारने के लिए लेने और बेचने, मांस के पकाने, परोसने और खाने वाले, आठ मनुष्य घातक=हिंसक अर्थात् ये सब पापकारी हैं"। (द० ल० गो० ४११)

(गृहस्थान्तर्गत प्रेतशुद्धि विषय)

[५ । ५७ से ५ । ११० तक]

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥ (१३)

(चतुर्णाम् अपि वर्णानाम्) अब मैं चारों वर्णों की (अनुपूर्वशः) क्रमशः [पहले] (प्रेतशुद्धिम्) मृत्यु के बाद की जाने वाली शुद्धि (च) और [फिर] (तथैव) उसी प्रकार चारों वर्णों के लिए (द्रव्यशुद्धिम्) पदार्थों की शुद्धि को (प्रवक्ष्यामि) कहूंगा— ॥ ५७ ॥

शुद्धिकारक पदार्थ—

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् ॥ १०५ ॥ (१४)

(ज्ञानं तपः अग्निः आहारः मृद् मनः वारि उपाञ्जनं वायुः कर्म अर्ककालौ) ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, जल, लेप करना, वायु, कर्म, सूर्य और काल (देहिनां शुद्धेः कर्तॄणि) ये प्राणियों की शुद्धि करने वाले पदार्थ हैं ॥ १०५ ॥

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ १०६ ॥ (१५)

(अर्थशौचं सर्वेषाम् एव शौचानां परं स्मृतम्) जो धर्म ही से पदार्थों का संचय करना है वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता अर्थात् (यः अर्थे शुचिः सः शुचिः) जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता वही पवित्र है, किन्तु (मृद्-वारि-शुचिः न शुचिः) जल, मृत्तिका आदि से जो पवित्रता होती है, वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं होती ॥ १०६ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

पदार्थों से शुद्धि—

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ १०७ ॥ (१६)

(विद्वांसः क्षान्त्या) विद्वान् लोग क्षमा से (अकार्यकारिणः दानेन) दुष्टकर्मकारी सत्संग और विद्यादि शुभगुणों के दान से (प्रच्छन्नपापा जप्येन) गुप्त पाप करने हारे विचार से त्याग कर (तपसा वेदवित्तमाः) और ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषणादि से वेदवित् उत्तम विद्वान् (शुध्यन्ति) शुद्ध होते हैं ॥ १०७ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥१०९॥ (१७)

(अद्भिः गात्राणि शुद्धयन्ति) जल से शरीर के बाहर के अवयव (सत्येन मनः) सत्याचरण से मन (विद्यातपोभ्यां भूतात्मा) विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्ट भी सहके धर्म ही के अनुष्ठान करने से जीवात्मा (ज्ञानेन बुद्धिः शुद्धयति) ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि दृढ़ निश्चय पवित्र होती है ॥ १०९ ॥ (स० प्र० तृतीय समु०)

"किन्तु जल से ऊपर के अंग पवित्र होते हैं आत्मा और मन नहीं, मन तो सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध और जीवात्मा विद्या, योगाभ्यास और धर्माचरण ही से पवित्र तथा बुद्धि ज्ञान से ही शुद्ध होती है, जल मृत्तिकादि से नहीं" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः ।
नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ॥ ११० ॥ (१८)

(एषः) यह (शारीरस्य शौचस्य विनिर्णयः) शरीर की शुद्धि का निर्णय (वः प्रोक्तः) तुमसे कहा, अब (नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः निर्णयं शृणुत) विभिन्न प्रकार के पदार्थों की शुद्धि का निर्णय सुनो— ॥ ११० ॥

(द्रव्य-शुद्धि विषय)

[५ । १११ से ५ । १४६ तक]

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ।
भस्मनाऽद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥ १११ ॥ (१९)

(तैजसाम्) तैजस पदार्थ अर्थात् चमकीले सोना आदि की (च) और (मणीनाम्) मणियों के पात्रों की (च) और (सर्वस्य अश्ममयस्य) सब प्रकार के पत्थरों के पात्रों की (शुद्धिः) शुद्धि (मनीषिभिः) विद्वानों ने (भस्मना अद्भिः च मृदा एव उक्ता) भस्म=राख, जल, और मिट्टी से कही है ॥ १११ ॥

निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति ।
अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ११२ ॥ (२०)

(निर्लेपम्) जिसमें किसी चिकनाई झूठन आदि का लेप न लगा हो ऐसा (काञ्चनम् भाण्डम्) सोने का पात्र (अब्जम्) जल में उत्पन्न होने वाले मोती शंख आदि से बना पात्र (च) और (अश्ममयम्) पत्थरों के पात्र (अनुपस्कृतं राजतम्) चित्रकारी की खुदाई से रहित चांदी का पात्र (अद्भिः एव विशुद्धयति) केवल जल से ही शुद्ध हो जाता है ॥ ११२ ॥

ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च ।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥ ११४ ॥ (२१)

(ताम्र+अयः-कांस्य-रैत्यानां त्रपुणः च सीसकस्य शौचम्) तांबा, लोहा, कांसा, पीतल, रांगा और सीसा, इनके बर्तनों की शुद्धि (यथार्हम्) यथा आवश्यक (क्षार+अम्ल+उदक वारिभिः) राख, खट्टा, पानी और जल से (कर्त्तव्यम्) करनी चाहिए ॥ ११४ ॥

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम् ।
प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥ ११५ ॥ (२२)

(सर्वेषां द्रवाणाम्) सब घी, तैल आदि द्रव पदार्थों की (शुद्धिः) शुद्धि (उत्पवनम्) छान लेने से (च) और (संहतानां प्रोक्षणम्) ठोस वस्तु जैसे लकड़ी की चौकी आदि की पोंछने से (च) तथा (दारवाणाम् तक्षणम्) लकड़ी के पात्रों की शुद्धि छीलने से (स्मृतम्) मानी है ॥ ११५ ॥

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ।
चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥ ११६ ॥ (२३)

(यज्ञकर्मणि) यज्ञ करते समय प्रयुक्त (यज्ञपात्राणाम्) यज्ञ के पात्रों (चमसानां च ग्रहाणां शुद्धिः) चमचों और कटोरों की शुद्धि (पाणिना मार्जनं तु प्रक्षालनेन) हाथ से रगड़कर मांजने और धोने से होती है ॥ ११६ ॥

चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ।
स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥ (२४)

[घृत आदि की चिकनाई लगे पात्रों की शुद्धि की विधि है—] (चरूणां स्रुक्-स्रुवाणां स्फ्य-शूर्प-शकटानां च मुसल+उलूखलस्य शुद्धिः) चरु, स्रुक्, स्रुव, स्फ्य, छाज, शकट और मूसल-ऊखल नामक यज्ञपात्रों की शुद्धि (उष्णेन वारिणा) गर्म जल से धोने से होती है ॥ ११७ ॥

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥ ११८ ॥ (२५)

(बहूनां धान्यवाससां शौचम् अद्भिः प्रोक्षणम्) बहुत-से अन्नों और वस्त्रों की शुद्धि जल से पोंछने अर्थात् डुबाने मात्र से हो जाती है (तु) किन्तु (अल्पानाम्) कुछ अन्न एवं वस्त्रों की (शौचम्) शुद्धि (अद्भिः प्रक्षालनेन विधीयते) जल से मलकर धोने से होती है ॥ ११८ ॥

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च।
शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११९ ॥ (२६)

(चर्मणां शुद्धिः चैलवत्) चमड़े के बर्तनों की शुद्धि वस्त्रों के समान होती है (वैदलानां तथैव) बांस के पात्रों की शुद्धि भी उसी प्रकार होती है (च) और (शाक-मूल-फलानां शुद्धिः धान्यवत् इष्यते) शाक, कन्दमूल और फलों की शुद्धि अन्नों के समान जल में धोने से होती है ॥ ११९ ॥

कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥ (२७)

(कौशेय+आविकयोः) रेशमी और ऊनी वस्त्रों की शुद्धि (ऊषैः) क्षारमिश्रित पदार्थों से (कुतपानाम्) कम्बलों की शुद्धि (अरिष्टकैः) रीठों से (अंशुपट्टानां श्रीफलैः) सन आदि से बने कपड़ों की शुद्धि बेलफलों से (क्षौमाणां गौरसर्षपैः) छाल से बने वस्त्रों की शुद्धि सफेद सरसों से होती है ॥१२० ॥

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च।
शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥ (२८)

(शंख-शृङ्गाणां अस्थि-दन्तमयस्य शुद्धिः) शंख, सींग, हड्डी, दांत, इन से बने पदार्थों की शुद्धि (विजानता) बुद्धिमान् व्यक्ति को (क्षौमवत्) छाल के वस्त्रों के समान (वा) अथवा (गोमूत्रेण+उदकेन) गोमूत्र और पानी से (कार्या) करनी चाहिए ॥ १२१ ॥

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुध्यति।
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥ (२९)

(तृण-काष्ठं च पलालम्) घास, काष्ठ और पुआल से बने पदार्थ (प्रोक्षणात् शुद्धयति) जल में डुबाकर पोंछने से शुद्ध होता है (वेश्म) घर की शुद्धि (मार्जन+उपाञ्जनैः) धोने-बुहारने और लीपने से होती है (मृद्+मयं पुनः पाकेन) मिट्टी का पात्र या पदार्थ फिर आग में पकाने से शुद्ध होता है ॥ १२२ ॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥ (३०)

(मद्यैः मूत्रैः पुरीषैः ष्ठीवनैः पूयशोणितैः) शराब, मूत्र, मल, थूक, राद, खून इनसे (संस्पृष्टं मृन्मयम्) लिपा हुआ मिट्टी का बर्तन (पुनः पाकेन नैव शुद्धयेत) फिर पकाने से भी शुद्ध नहीं होता ॥ १२३ ॥

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।
गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ।। १२४ ।। (३१)

(संमार्जन+उपाञ्जनेन सेकेन+उल्लेखनेन च गवां परिवासेन पञ्चभिः) बुहारना, लीपना, छिड़काव करना या धोना, खुरचना और गौओं का निवास— इन पांच कामों से (भूमिः शुद्धचति) भूमि शुद्ध होती है ।। १२४।।

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद् गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।
तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ।। १२६ ।। (३२)

(यावत्) जब तक (अमेध्य+अक्तात्) अशुद्ध वस्तु से (तत्कृतः गन्धः च लेपः) उस अशुद्ध वस्तु की गन्ध और लेप [=लगा होना] (न अपैति) नहीं दूर हो जाता है (सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु) मिट्टी और जल से धोये जाने वाले सब पदार्थों की शुद्धि के लिए उन्हें (तावत्) तबतक (मृत्+वारि आदेयम्) मिट्टी और जल से धोते रहना चाहिए ।। १२६ ।।

एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च ।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ।। १४६ ।। (३३)

(एषः) यह (सर्ववर्णानां कृत्स्नः शौचविधिः) सब वर्णों के लिए सम्पूर्ण शरीर-शुद्धि (च) और (तथा+एव) उसी प्रकार (द्रव्यशुद्धिः) पदार्थों की शुद्धि (वः उक्तः) तुम्हें कही (स्त्रीणां धर्मान् निबोधत) अब स्त्रियों के धर्मों=कर्त्तव्यों को सुनो—।। १४६ ।।

(गृहस्थान्तर्गत पत्नीधर्म विषय)

[५ । १४७ से ५ । १६६ तक]

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः ।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे ुले ।। १४९ ।। (३४)

(स्त्री) कोई भी स्त्री (पित्रा भर्त्रा वा सुतैः अपि) पिता, पति अथवा पुत्रों से (आत्मनः विरहं न इच्छेत्) अपना बिछोह=अलग रहने की इच्छा न करे (हि) क्योंकि (एषां विरहेण) इनसे अलग रहने से (उभे कुले गर्ह्ये कुर्यात्) यह आशंका रहती है कि कभी कोई ऐसी बात न हो जाये जिससे दोनों—पिता तथा पति के कुलों की निन्दा या बदनामी हो जाये । अभिप्राय यह है कि स्त्री को सर्वदा पुरुष की सहायता अपेक्षित रखनी चाहिए, उसके बिना उसकी असुरक्षा की आशंका बनी रहती है ।। १४९ ।।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥ (३५)

स्त्री को योग्य है कि (सदा प्रहृष्टया) अतिप्रसन्नता से (गृहकार्येषु दक्षया) घर के कामों में चतुराई युक्त (सुसंस्कृत+उपस्करया) सब पदार्थों के उत्तम संस्कार, घर की शुद्धि (च) और (व्यये अमुक्तहस्तया भाव्यम्) व्यय में अत्यन्त उदार रहे ॥ अर्थात् सब चीजें पवित्र और पाक इस प्रकार बनावे जो औषधरूप होकर शरीर वा आत्मा में रोग को न आने देवे । जो-जो व्यय हो उसका हिसाब यथावत् रखके पति आदि को सुना दिया करे । घर के नौकर-चाकरों से यथायोग्य काम लेवे, घर के किसी काम को बिगड़ने न देवे ॥ १५० ॥
(स० प्र० चतुर्थ समु०)

"स्त्री को योग्य है कि सदा आनन्दित होके चतुरता से गृहकार्यों में वर्तमान रहे तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र, वस्त्र, गृह आदि के संस्कार और घर के भोजनादि में जितना नित्य धन आदि लगे उस के यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे ॥ (स० वि० गृहाश्रम प्र०)

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमतेः पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥ १५१ ॥ (३६)

(पिता तु एनां यस्मै दद्यात्) पिता इस स्त्री को जिसे दे दे अर्थात् जिसके साथ विवाह करे (वा) अथवा (पितुः अनुमतेः भ्राता) पिता की सहमति से भाई जिससे विवाह कर दे (तं जीवन्तं शुश्रूषेत) उसकी जीते हुए सेवा करे (च) और (संस्थितं न लङ्घयेत्) मरने के बाद पतिव्रत-धर्म का व्यभिचार आदि से उल्लंघन न करे ॥ १५१ ॥

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥ (३७)

(विवाहेषु) विवाहों में (स्वस्त्ययनं च प्रजापतेः यज्ञः) जो स्वस्तिपाठ[= शुभकामना के लिए मन्त्रपाठ] और प्रजापति-यज्ञ किया जाता है वह (आसां मङ्गलार्थं प्रयुज्यते) इनके कल्याण की भावना से ही किया जाता है (प्रदानं स्वाम्यकारणम्) विवाह में स्त्रियों को पति के लिए सौंप देना ही इन पर पति का अधिकार होने का कारण है अर्थात् विवाह संस्कारपूर्वक जो स्त्री को पति के लिए दे दिया जाता है तो इस दान के पश्चात् ही उन पर पति का अधिकार हो जाता है, उससे पूर्व नहीं ॥ १५२ ॥

पतिं हित्वाऽपकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते ।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते ॥ १६३ ॥ (३८)

[विवाह होने के बाद तुलनात्मक रूप में] किसी अच्छे व्यक्ति के मिलने की संभावना होने पर (या अपकृष्टं पतिं हित्वा उत्कृष्टं पतिं निषेवते) जो स्त्री निम्न कुल या गुणों वाले पति को छोड़कर उत्तम कुल या गुणों वाले पति का सेवन करती है (सा) वह (लोके निन्द्या एव भवेत्) लोगों में निन्दा ही प्राप्त करती है (च) और (परपूर्वा इति उच्यते) 'पहले इसका दूसरा पति था' यह उसके विषय में व्यंग्य किया जाता है ॥ १६३ ॥

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ १६५ ॥ (३९)

(या) जो स्त्री (मनः-वाक्-देह-संयता) मन, वाणी और शरीर को संयम में रखकर (पतिं न अभिचरति) पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती (सा) वह (भर्तृ लोकम् आप्नोति) पतिलोक अर्थात् पति के हृदय में आदर का स्थान प्राप्त करती है (च) और (सद्भिः 'साध्वी' इति उच्यते) श्रेष्ठ लोग उसकी 'पतिव्रता या अच्छी पत्नी' कहकर प्रशंसा करते हैं ॥ १६५ ॥

एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ १६७ ॥ (४०)

(एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीम्) इस पूर्वोक्त आचरण का पालन करने वाली स्त्री को (पूर्वमारिणीम्) यदि वह पति से पहले ही मर जाये तो (धर्म-वित्) धर्म का जानने वाला व्यक्ति (यज्ञपात्रैः) यज्ञपात्रों का प्रयोग करके (अग्निहोत्रेण दाहयेत्) उसी प्रकार अग्निहोत्र विधि से उसका दाहसंस्कार करे ॥ १६७ ॥

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १६९ ॥ (४१)

(अनेन विधिना) इस [४।१ से ५।१६८ तक] पूर्वोक्त विधि से रहते हुए (पञ्चयज्ञान् न हापयेत्) पंचयज्ञों को कभी न छोड़े और (आयुषः द्वितीयं भागम्) आयु के दूसरे भाग तक (कृतदारः) स्त्री-सहित (गृहे वसेत्) घर में निवास करे ॥ १६९ ॥

पञ्चमाध्याय के 'भक्ष्याभक्ष्य' विषय में प्रक्षिप्त श्लोकों का सहेतुक विवरण

ये (५।१-४) चार श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) मनुस्मृति महर्षि मनु-प्रोक्त है, और इसी नाम से प्रसिद्ध है किन्तु यहाँ ५।१ तथा ५।३ में स्पष्ट रूप से भृगु-प्रोक्त सिद्ध की गई है कि महर्षि लोग महात्मा भृगु जी के पास गये और उन्होंने वेदशास्त्रवेत्ताओं की मृत्यु के विषय में पूछा। किन्तु यह बात मनुस्मृति के १।१ श्लोक से विरुद्ध है। क्योंकि वहाँ कहा है कि महर्षि मनु के पास गये और उन्होंने वर्णाश्रमधर्म के विषय में जिज्ञासा की। और ५।१ श्लोक से यह भी स्पष्ट है कि ये श्लोक भृगु से भिन्न किसी व्यक्ति ने बनाये हैं। यह किसी ने मनुप्रोक्त शास्त्र को भृगुप्रोक्त सिद्ध करने का दुष्प्रयास-मात्र ही किया है।

(ख) सम्पूर्ण-मनुस्मृति के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु जी की एक प्रवचन-शैली निश्चित है कि वे विषयों का निर्देश प्रारम्भ और समाप्ति पर अवश्य करते हैं। इस प्रकार बीच में प्रश्नोत्तर रूप से नहीं। अतः यह प्रश्नोत्तर की शैली मनु की नहीं है।

(ग) इन चारों श्लोकों की संगति इस अध्याय के अग्रिम भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी श्लोकों से भी नहीं मिलती। मनु जी की शैली के अनुसार अग्रिम श्लोकों का विषय-निर्देशक श्लोक भी इस मनुस्मृति में नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रक्षेप करने वाले ने विषय निर्देशक श्लोक को हटाकर इन श्लोकों को मिलाया है। मनुस्मृति के १२ वें अध्याय के प्रारम्भ में भी ऐसा ही किया गया है। परन्तु वहाँ का विषय-निर्देशक मूल श्लोक कुछ प्रतियों में उपलब्ध है। किन्तु 'भक्ष्याभक्ष्य' विषय का निर्देशक श्लोक किसी भी प्रति में नहीं मिलता।

(घ) इस अध्याय के 'अभक्ष्याणि द्विजातीनाम्०' (५।५) 'स्नेहाक्तं द्विजातिभिः' (५।२५) इत्यादि श्लोकों से स्पष्ट है कि यहाँ वर्ण्यविषय (भक्ष्या-भक्ष्य) सभी द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) के लिये है। किन्तु यहाँ (५।२ में) केवल वेदशास्त्रवेत्ताओं की मृत्यु के विषय में ही पूछा गया है। अतः प्रक्षेपक को यह भी ध्यान नहीं रहा कि अगले श्लोकों से तो संगति मिलाने का प्रयत्न करता। इससे प्रक्षेपक की विवेकशून्यता ही प्रकट होती है।

(ङ) मनु जी के भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों के वर्णन से स्पष्ट है कि उन्होंने सतोगुण, रजोगुण, तथा तमोगुण के आधार पर ही भक्ष्याभक्ष्य का निर्धारण

किया है, मृत्युकारक की दृष्टि से नहीं। अथवा अमेध्यप्रभवाणि च' कहकर पवित्रता तथा अपवित्रता की ओर ध्यान दिलाया है। किन्तु किसके खाने से मृत्यु और किसके खाने से अमरता होती है, यह नहीं दिखाया। और भक्ष्याभक्ष्य से अमरता का कोई सम्बन्ध भी नहीं है। अतः ५।१-२ में किये प्रश्न के अनुरूप अग्रिम वर्णन भी न होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

(च) इन श्लोकों में परस्पर अन्तर्विरोध भी है। ५।२ में प्रश्न किया गया है कि अपने धर्म में स्थित वेदशास्त्रवेत्ताओं की मृत्यु का कारण क्या है और ५।४ में कारण अर्थात् वेद का अभ्यास न करनादि बताये हैं। क्या वेदशास्त्रवेत्ता वेदों के पठन-पाठनादि के विना ही अपने धर्म में स्थित कहे जा सकते हैं? अथवा जो वेदशास्त्रों का अभ्यास अथवा पठन-पाठन ही नहीं करते क्या वे वेदशास्त्रवेत्ता कहलाने के अधिकारी हैं? अतः यह परस्पर विरोधी कथन है।

(छ) ५।३ में यह पूछा गया है कि किस दोष से वेदशास्त्रवेत्ताओं की मृत्यु होती है? और ५।४ में उन दोषों का स्पष्टीकरण कर दिया गया, जिन में अन्नदोष से भिन्न भी दोष हैं। किन्तु यह अग्रिम श्लोकों से संगत नहीं है। क्योंकि आगे तो भक्ष्याभक्ष्य का वर्णन होने से अन्नदोष ही कहा गया है। यदि मनु को अन्नदोष से भिन्न भी दोष दिखाने होते तो अन्यत्र भी अवश्य कहते। और मृत्यु=(दुःख) के कारण क्या इनसे भिन्न नहीं हैं? अतः इन श्लोकों की अगले श्लोकों से बिल्कुल भी संगति नहीं है।

ये दो (५।६–७) श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये दोनों श्लोक परस्पर-सम्बद्ध हैं क्योंकि दोनों 'विवर्जयेत्' क्रिया से जुड़े हुए हैं। ५।७ में देवों के उद्देश्य के विना बनाये मांसभक्षण का निषेध किया है। इससे स्पष्ट है कि देवों के उद्देश्य से मांस-भक्षण किया जा सकता है। यह मान्यता मनु जी की नहीं है। क्योंकि उन्होंने मद्य व मांस को राक्षसों का भोजन माना है और ५।४८, ४६, ५१ श्लोकों में मांस-भक्षण का स्पष्ट रूप से निषेध किया है। अतः मांसभक्षण के श्लोक अन्तर्विरोध होने से मनु जी के नहीं हो सकते।

(ख) और इन श्लोकों में बिना किसी कारण के ऐसे भक्ष्य पदार्थों का भी निषेध किया है, जो मानव के लिए आवश्यक हैं और मनु ने ५।१० में जिन्हें (दूध से बनने वाली दही, मक्खनादि और फूल, फलादि को) भक्ष्य कहा है। अतः ५।६ में वृक्षों के गोंद, वृक्षों के रस, गाय का खीस, और ५।७ में हलवा, खीर, मालपूआ, खिचड़ी आदि भक्ष्य पदार्थों को भी अभक्ष्य कहना निरर्थक हो

है। यदि इनके खाने में कोई दोष होते, तो मनु जी अवश्य दिखाते। और देवों के उद्देश्य की बात भी ठीक नहीं, क्योंकि ये चीजें खाने के लिए भी बनाई जाती हैं।

ये तेरह (५। ११–२३) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ५। ११–२१ श्लोकों में जानकर अथवा अनजाने मांसभक्षण करने पर 'सान्तपन' आदि उपवासों का विधान किया है। जब मनु जी ने मांसभक्षण को राक्षसों का भोजन माना है और मांस-भक्षण का सर्वथा निषेध किया है फिर यह मांसभक्षण की व्यवस्था मनुसम्मत कैसे हो सकती है?

(ख) और यज्ञ, जिसको वेदों में अध्वर=हिंसा से रहित माना है, क्या वेदों को परमप्रमाण मानने वाले मनु यज्ञों में हिंसापूर्ण पशुओं के वध का आदेश दे सकते हैं? यह तो बिल्कुल ही असम्भव है। इसलिये ये श्लोक वाममार्गी लोगों ने बाद में मिलाये हैं। एतदर्थ ४। २६–२८ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

(ग) ये श्लोक पूर्वापर-प्रसंग को भंग करने के कारण भी प्रक्षिप्त हैं। ५। १० में कहा है—दही और दही से बने पदार्थ भक्ष्य हैं और ५। २४ में भी दही से बने घृत अथवा घृत मिश्रित पदार्थों के भक्षण का विधान किया है। इनके बीच में मांसभक्षणादि का वर्णन प्रसंग को भंग कर रहा है। कोई भी लेखक ऐसा नहीं कर सकता कि किसी विषय को प्रारम्भ करके बीच में उससे भिन्न विषय का वर्णन करने लगे और बाद में फिर पूर्ववर्णित विषय को कहे। अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

(घ) और प्रक्षेपक ने अपनी बात की पुष्टि के लिए ५।२२ वें श्लोक में अगस्त्य मुनि का भी नाम लिया है, जो कि स्पष्ट रूप में इनको प्रक्षिप्त सिद्ध करता है। क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ में होने वाले मनु बाद में होने वाले ऋषियों के उदाहरण कैसे दे सकते हैं?

(ङ) और ५। २३ में 'पुराणेषु' कहकर तो प्रक्षेपक ने यह स्पष्ट ही कर दिया है कि ये श्लोक भागवतादि पुराणों की रचना के बाद में ही मिलाये गये हैं।

ये (५। २६–४२) सतरह श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) जिस मांस के विषय में मनु ने बहुत ही स्पष्ट लिखा है—

(१) यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्॥ (११। ९५)

(२) नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ (५। ४८)

अर्थात् मांस राक्षसों का भोजन है। यह प्राणियों की हिंसा के विना नहीं प्राप्त होता। और प्राणियों की हिंसा से सुख नहीं मिल सकता, इसलिये मांस-भक्षण कभी न करे। और ५। ५१ में मांस खाने वाले को घातक=आठ पापियों में गिना है। क्या वही विद्वान्-मनु मांसभक्षण का विधान कर सकता है? इसलिये ५। २६-३८ तक के मांसभक्षण के प्रतिपादक श्लोक मनु की मान्यता से सर्वथा विरुद्ध हैं। क्योंकि मनु ने अहिंसा को परमधर्म माना है, फिर वह हिंसा का विधान कैसे कर सकता है।

(ख) और यज्ञ में पशुबलि का विधान ५। ३९-४२ में मनु की मान्यता के विरुद्ध है। जिस यज्ञ का एक 'अध्वर=हिंसारहित' सार्थक नाम शास्त्रों में बताया है और जिसे 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' कहकर सबसे उत्तमकर्म माना है, क्या उसमें प्राणियों की बलि करना कदापि संगत हो सकता है? और यज्ञ का उद्देश्य है—वायु, जलादि की शुद्धि करना। इसलिये उसमें रोगनाशक, कीटाणु-नाशक, पौष्टिक, सुगन्धित द्रव्यों की आहुति दी जाती है। यदि मांस की आहुति से यज्ञ के उद्देश्य की पूर्ति होती हो तो मनुष्य की अन्त्येष्टि के समय सुगन्धित घृत, सामग्री चन्दनादि के प्रक्षेप की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि उनके मत से तो मांस से ही उद्देश्य पूर्ति हो जायेगी। किन्तु यह प्रत्यक्षविरुद्ध है। अग्नि में मांस डालने से दुर्गन्ध ही फैलती है, सुगन्ध नहीं। और जिस मनु ने गृहस्थी के लिये पञ्चमहायज्ञों का इसलिये विधान किया है कि (३। ६८-६९) घर में चूल्हा, चक्की, बुहारी, ऊखल तथा जल-कलशादि के द्वारा अनजाने में भी जो हिंसा हो जाती है, उनके प्रायश्चित्त के लिये दैनिक महायज्ञों द्वारा परिहार हो। क्या वह मनु जानबूझकर यज्ञों में पशुओं के वध का विधान कर सकता है? और उस पशु-वध का कोई प्रायश्चित्त भी नहीं लिखा।

और मनु जी ने वेद को परम प्रमाण माना है। 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' यह मनु जी का निश्चित सिद्धान्त है। जब वेदों में पशुओं की हिंसा के निषेध का स्पष्ट विधान[1] किया गया है, तो मनु वेद-विरुद्ध पशुवध को कैसे कह सकते हैं? वास्तव में ऐसी मिथ्या मान्यतायें वाममार्गी लोगों की हैं, जिन्होंने मनुस्मृति जैसी प्रामाणिक स्मृति में भी अपनी मान्यता

१. देखिये कतिपय वैदिक प्रमाण—पशून् पाहि॥ (य० १। १) पशूंस्त्रा-येथाम्॥ (य० ६। ११) चतुष्पात् पाहि॥ (य० १४। ८) गां मा हिंसीः॥ (य० १३। ४३)
इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्॥ (य० १३। ४७) इमं मा हिंसीरेकशफं पशुम्॥ (य० १३। ४८)

की पुष्टि में प्रक्षेप किया है। क्योंकि उनकी मान्यता है कि मद्य, मांस, मीन, मुद्रा तथा मैथुन ये पाञ्चमकार मोक्ष देनेवाले हैं।

(ग) ५।४२ में 'अब्रवीन्मनुः' वाक्य से भो इन श्लोकों की प्रक्षिप्तता स्पष्ट हो रही है कि इन श्लोकों का रचयिता मनु से भिन्न ही है। क्योंकि मनु की यह शैली नहीं है कि वह अपना नाम लेकर स्वयं प्रवचन करें।

(घ) ५।४२ में यज्ञ से भिन्न मधुपर्क तथा श्राद्ध में भी पशुओं की हिंसा लिखी है, यह भी मनु की मान्यता के विरुद्ध है। मधुपर्क, जिसमे मधु=शहद, घृत अथवा दही का ही मिश्रण होता है, उसमें भी मांस की बात कहना मधुपर्क को ही नहीं समझना है। और जिस श्राद्ध के लिये (३।८२ में) मनु ने अन्न, दूध फल, मूल, जलादि से विधान किया है, क्या वह अपने वचन के ही विरुद्ध श्राद्ध में मांस का विधान कर सकते हैं? यथार्थ में यह मृतकश्राद्ध की कल्पना करने वालों का अयुक्तियुक्त प्रक्षेप है।

(ङ) इन श्लोकों में अवान्तर विरोध भी कम नहीं हैं, जिससे स्पष्ट है कि इनके बनाने वाले भिन्न २ व्यक्ति थे। क्योंकि एक व्यक्ति के लेख में ऐसे सामान्य विरोध नहीं हो सकते। जैसे—(१) ५।३१ श्लोक में यज्ञ के लिये मांस का खाना देवों की विधि बताई है और यज्ञ से अन्यत्र शरीर-पुष्टि के लिये मांस खाना राक्षसों का कार्य माना है। यदि मांस खाने में दोष है, तो चाहे यज्ञ के निमित्त से खाये अथवा अन्य निमित्त से, दोष कैसे हटाया जा सकता है? और देवता व राक्षस का इससे क्या भेद हुआ? मांस तो दोनों ही खा रहे हैं। (२) और ५।१४-१५ में मछलियों के खाने का सर्वथा निषेध किया है और ५।१६ में हव्य-कव्य में मछलियों के खाने का विधान किया है। (३) ५।२२ में कहा है कि सेवकों की आजीविका के लिये पशु-पक्षियों का वध करना चाहिये और ५।३८ में कहा है कि यज्ञ से अन्यत्र पशुओं का वध करने वाला जितने पशुओं को मारता है, उतने जन्मों तक वह बदले में मारा जाता है। (४) और ५।११-१९ वें श्लोकों में कुछ पशुओं को भक्ष्य और कुछ को अभक्ष्य कहा है और ५।३० में कहा है कि ब्रह्मा ने सारे पशुओं व पक्षियों को खाने के लिये बनाया है। अतः इस प्रकार के परस्पर-विरोधी वचन किसी विद्वान् व्यक्ति के भी नहीं हो सकते, मनु के कहना तो अनर्गल प्रलाप ही है।

यह (५।५०) श्लोक निम्न लिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

(क) यह श्लोक प्रसंगविरुद्ध है। ५।४९ में सब प्रकार के मांस खाने का निषेध किया है और ५।५१ में मांस की प्राप्ति से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों को घातक माना है। फिर इनके मध्य में विधि और अविधि के आधार पर मांस-भक्षण की प्रशंसा अथवा निन्दा करना पूर्वापर प्रसंग के विरुद्ध है।

(ख) यह श्लोक मनु की मान्यता के विरुद्ध है। मनु ने मांस-भक्षण का सर्वथा निषेध किया है और मांस को राक्षसी भोजन बताया है। एतदर्थ ५। २६–४२ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

(ग) मनुस्मृति मनुप्रोक्त है। मनु जी के प्रवचन में अयुक्तियुक्त बातों का सर्वथा अभाव है। किन्तु इसमें अयुक्तियुक्त बात अर्थात् जो विधिरहित मांस खाता है, वह रोगों से पीड़ित होता है, विधि से खाने से नहीं। मांस यदि रोग-कारक है, तो विधि या अविधि को कारण मानना निरर्थक ही है।

ये (५। ५२–५६) पाँच श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) इन श्लोकों में मनु की मान्यता से विरुद्ध कथन है। मनु की मान्यता है कि मांस-भक्षण राक्षसों का भोजन है और यह हिंसाजन्य है। हिंसा करने वाला व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता (५।४५-४६)। किन्तु ५। ५६ में मांस-भक्षण में कोई दोष न मानते हुए उसे भक्ष्य बताया गया है। एतदर्थ ५। २६–४२ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

५। ५६ में मद्य=शराब पीने में भी दोष नहीं माना है, जबकि मनु जी ने ६। २३५ तथा ११। ५४ में मद्य-पान को महापाप माना है। इसी प्रकार मैथुन=व्यभिचार का विधान करना भी मनु के विरुद्ध है। क्योंकि मनु जी ने यम-नियमों के पालन पर विशेष बल दिया है। उनके प्रवचन में मैथुन के लिये कोई स्थान नहीं है।

(ख) इन श्लोकों में परस्पर विरोधी बातें भी भरी पड़ी हैं, जिससे स्पष्ट है कि इनको बनाने वाला कोई विद्वान् न था। (१) जैसे—५। ५२ में विधिपूर्वक मांसभक्षण का विधान है, और ५। ५६ में सब प्रकार के मांसभक्षण का। (२) ५। ५३–५४ श्लोकों में मांस-भक्षण का खण्डन किया है और ५। ५६ में मांस का विधान किया है। क्या ऐसा परस्पर विरोधी कथन कोई विद्वान् कर सकता है?

(ग) ५। ५२ में मृतकश्राद्ध का कथन भी मनु की मान्यता से विरुद्ध है। जिन जीवित पितरों के श्राद्ध के लिये मनु जी ने (३। ८२ में) अन्न, फलादि का विधान किया है, क्या वे यहां मांस का विधान कर सकते हैं। मांस को तो मनु जी ने राक्षसों का भोजन माना है, क्या वह पितरों का भोजन हो सकता है? क्या पितर और राक्षस एक श्रेणी में माने जा सकते हैं?

(घ) ५। ५५ में यह मान्यता भी निराधार है कि इस शरीर में जिसका जो मांस खाता है, अगले जन्म में उसका मांस वह (जिसका मांस खाया है) खायेगा। अगला जन्म कर्मानुसार ईश्वर की व्यवस्था से मिलता है, पता नहीं

कौन कहाँ और किस योनि में जन्म लेगा? फिर कौन किसका मांस कैसे खा सकेगा, यह निर्धारण करना असम्भव ही है।

(ङ) इन श्लोकों में निराधार एवं अयुक्तियुक्त बातों का वर्णन भी मनु की शैली से विरुद्ध है। जैसे—५। ५३ में सौ वर्ष तक अश्वमेधयज्ञ करने तथा मांस न खाने का फल बताना अतिशयोक्तिपूर्ण ही है। क्योंकि इनमें समानता का निश्चय करना असम्भव ही है।

पञ्चमाध्याय के गृहस्थान्तर्गत प्रेत-शुद्धि विषय में प्रक्षिप्त-श्लोकों का सहेतुक-विवरण

ये ५।५८-१०४ तक के श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये सभी श्लोक प्रसंग-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। ५।५७ श्लोक में कहा है कि 'प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च'। अर्थात् इसके आगे प्रेत=मृत शरीर के सम्पर्क से होने वाली अशुद्धि को दूर करने का उपाय कहा जायेगा। और ५।१०५-१०६ श्लोकों में शुद्धि करने वाले पदार्थों का परिगणन किया। तत्पश्चात् ५।१०९ श्लोक में मृतक के सम्पर्क से होने वाली शारीरिक अशुद्धि का उपाय, मृत्यु के वियोग से दुःखी मानसिक शुद्धि का उपाय बताये गये। इस प्रकार ५।५७ श्लोक की संगति ५।१०५ से ११० तक श्लोकों से ठीक लग जाती है। परन्तु ५।५८-१०४ तक के श्लोकों ने उस क्रम को भंग कर दिया है और इनमें मृतक के सम्पर्क से होने वाली अशुद्धि को एक धार्मिक कृत्य के रूप में मनाने की एक ऐसी व्यवस्था लिखी है कि जिससे पूर्वापर का क्रम त्रुटित हो गया है। अन्यथा आवश्यक तो यह था कि अशुद्धि के उपाय बताने के लिये प्रथम शुद्धिकारक पदार्थों का परिगणन करके फिर यह लिखना चाहिये था कि किससे किसकी शुद्धि होती है। और शुद्धि के विषय में कार्यकारण सम्बन्ध का भी ध्यान रखना चाहिये था। अतः ये श्लोक एक भिन्न व्यवस्था के प्रतिपादक हैं और प्रसंग को भंग कर रहे हैं।

(ख) मनु जी ने प्रेतशुद्धि की बात ५।५७ में कही है और उसकी परिसमाप्ति ५।११० श्लोक में 'एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः' कहकर की है। अतः इन के बीच में शारीरिक-शुद्धि के उपाय ही बताने आवश्यक थे। परन्तु ५।५८ से ५।१०४ तक श्लोकों में शुद्धि के उपाय न बताकर 'आशौच' को एक धार्मिक कृत्य मानकर उसके मनाने की अवधियों का निर्धारण किया गया है, जो कि प्रतिज्ञात तथा समाप्तिसूचक वचन से सर्वथा असंगत ही है।

(ग) और मृतक के सम्पर्क से जो अशुद्धि होती है, उसमें सपिण्ड, असपिण्ड का भेद क्यों ? जो भी मृतक से सम्पर्क में आया है, वह अशुद्धि से पृथक् नहीं हो सकता, चाहे वह सपिण्ड हो अथवा असपिण्ड। इनकी अशुद्धियों में अन्तर बताना निष्कारण ही है। और यह कैसी निरर्थक बात है कि जो मृतक के सम्पर्क में आया ही नहीं है और बहुत दूर किसी दूसरे स्थान में रहता है, वह भी अपनी जाति वालों की दश दिन बाद भी (५।७७ में) मृत्यु की बात सुनकर अशुद्ध हो जाता है। यदि इस प्रकार मृतक की बात सुनने से ही अशुद्धि हो सकती है, तो इसमें सपिण्ड या असपिण्ड का क्या सम्बन्ध है ? फिर तो जो भी किसी की मृत्यु का समाचार सुने, वह ही अशुद्ध होना चाहिये। यदि यहाँ यह कहे कि मृत्यु के वियोग का दुःख तो सपिण्ड को ही होगा, दूसरों को नहीं, तो हमारा उनसे यह प्रश्न है कि मानसिक दुःख से मन की शुद्धि ही बतानी चाहिये, शारीरिक नहीं। अतः शरीर की अशुद्धि की अवधि बताना निरर्थक ही है। और ५।७६ श्लोक में कहा है कि एक वर्ष के पश्चात् भी मृतक का समाचार सुनकर जलस्पर्श करने से शुद्धि हो जाती है। क्या इस भौतिक जल से मानसिक शुद्धि हो सकती है ? जबकि स्वयं मनु ने ५।१०९ वें श्लोक में जल से केवल शरीर की शुद्धि मानी है। इसलिये दूरस्थ व्यक्ति की मृतक-समाचार सुनने से ही शारीरिक-अशुद्धि बताना निष्कारण ही है।

(घ) और ५।५७ में प्रेतशुद्धि की प्रतिज्ञा करके प्रेत-शुद्धि ही कहनी चाहिये थी, परन्तु ५।७७ में पुत्र-जन्म से होने वाली अशुद्धि का कथन करना नितान्त असंगत ही है। इसी प्रकार ५।६१, ५।६२ श्लोकों में जन्मसम्बन्धी अशुद्धि कही है। (५।६३) में गर्भाधान से होने वाली अशुद्धि का कथन, ५।६६ में गर्भपातज अशुद्धि और रजस्वला स्त्री की अशुद्धि की बात असंगत ही है। और प्रेतशुद्धि की प्रतिज्ञा करके ५।६८-७० श्लोकों में किसको जलाना चाहिये, किसको नहीं, यह एक भिन्न प्रसंग ही कहा गया है। और ५।७२ में अविवाहित स्त्रियों के मरने पर एक विशेष अवधि का कथन युक्तियुक्त नहीं है। मृतक कोई भी हो, चाहे वह विवाहित हो या अविवाहित उसमें भेद करना निरर्थक ही है।

(ङ) और चारों वर्णों के शरीरों में परमात्मा ने कोई अन्तर नहीं रक्खा है। चाहे ब्राह्मण हो अथवा शूद्र, सबके शरीर पञ्चभौतिक ही हैं। अतः मृतक के सम्पर्क से जो अशुद्धि होगी, उसमें वर्णों के भेद से (५।८३) अन्तर मानकर १० दिन, १२ दिन, १५ दिन तथा एक मास में शुद्धि बताना निष्कारण ही है। यह किसी जन्म-परक वर्णव्यवस्था को मानने वाले की दुराग्रह-कल्पना ही है। क्योंकि मनु ने तो कर्मानुसार वर्णव्यवस्था को मानी है।

(च) और इसी प्रकार ५। ८०–८२ तक श्लोकों में आचार्य, आचार्य-पुत्र, आचार्य की पत्नी, वेदपाठी, मामा, शिष्य, ऋत्विक् तथा बान्धवों की मृत्यु पर भिन्न २ आशौच की अवधियों का निर्धारण भी निष्कारण ही है। क्योंकि जब इनके पञ्चभौतिक शरीरों में कोई अन्तर नहीं, तो इनके सम्पर्क से होने वाली अशुद्धियों में अन्तर क्यों ?

(छ) घर में मृतक पड़ा हो और कोई व्यक्ति किसी व्रत विशेष को कर रहा हो, तो उसके लिये ५। ८८ में यह व्यवस्था देना कि व्रत-समाप्ति तक प्रेतोदकक्रिया न करे, व्रत-समाप्ति पर करे, निरर्थक एवं अव्यावहारिक ही है। यदि उदकक्रिया का कोई महत्त्व है, तो उसे समस्त कार्य छोड़कर तत्काल ही करना चाहिये। इसी प्रकार ५।८९, ५९० में वर्णसंकर, संन्यासी, आत्महत्यारा, पाखण्डी, स्वैरिणी, गर्भपाती, पतिघाती, शराबी स्त्रियों की उदक क्रिया के निषेध में भी कोई कारण नहीं है। यथार्थ में प्रेत-शुद्धि प्रकरण में यह उदक-क्रिया की बात ही निरर्थक है।

(ज) और ५। ९२ में कहा है कि चारों वर्णों के मृतकों को नगर के भिन्न-भिन्न द्वारों से ले जायें। यह कथन भी निराधार तथा पक्षपातपूर्ण है। यह जन्म-मूलकवर्णव्यवस्था को मानने वाले ने निरर्थक कल्पना की है। क्योंकि मृतकों को ले जाने में दिशा-विशेष का कोई महत्त्व नहीं है। और यह कथन अव्यावहारिक भी है! आज कल बड़े-बड़े महानगरों में प्रथम तो द्वार ही नहीं हैं, और दिशा के आधार पर ले जाने में अत्यधिक व्यर्थ परेशानी ही होगी।

(झ) और ५। ९३ में मृतक-अशुद्धि से राजा, व्रती तथा यज्ञ करने वाले को मुक्त ही करदिया है। यह भी निष्कारण ही है, क्या इनके शरीर पञ्च-भूतों के नहीं हैं; जो अशुद्ध (मृतक सम्पर्क से) नहीं होते ? और ५। ९५ में युद्ध में मृतक, विद्युत् से मरे, गो ब्राह्मण के लिये मरे, और जिसको राजा चाहे, उसका आशौच तुरन्त बताना भी निराधार ही है। और ५। ९९ में फिर जन्म-मूलकवर्णव्यवस्था को मानकर कहा है कि ब्राह्मण जल को छूकर, क्षत्रिय सवारी व शस्त्र को छूकर, वैश्य रास को छूकर और शूद्र छड़ी को छूकर ही शुद्ध हो जाता है। मृतक के सम्पर्क से होने वाली अशुद्धि का रथ, शस्त्र, छड़ी रासादि से क्या सम्बन्ध है, जो ये स्पर्शमात्र से ही शुद्ध कर देते हैं ? इसे आपद्धर्म भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मनु जी ने आपद्धर्मों का एक पृथक् अध्याय में वर्णन किया है।

(ञ) और ५। ९६, ९७ श्लोकों में चन्द्रादि आठ लोकपालों का कथन भी मिथ्या ही किया है। क्योंकि इन्द्र, कुबेरादि लोकपालों की कल्पना निरर्थक ही

है यथार्थ नहीं। इन्द्रादि शब्दों से सूर्यादि भौतिक शक्तियों के ग्रहण से यदि अभिप्राय माना जाये, तो भी ठीक नहीं। क्योंकि इन लोकपालों की कल्पना करने वाले इन के स्थान-विशेष मानकर शरीरधारी देवविशेष मानते हैं। यथार्थ में भौतिक देव तो जड़ हैं, वे ईश्वर की व्यवस्था से कार्य कर रहे हैं, उनकी शुद्धि व अशुद्धि से मुक्ति नहीं माना जा सकता है। और इनके आश्रय से राजा को अशुद्धि का प्रश्न ही नहीं होता। क्योंकि राजा का शरीर भी दूसरे मनुष्यों की भांति ही है, अतः राजा भी मृतक के सम्पर्क से अशुद्धि से नहीं वच सकता। इस प्रकार इन श्लोकों की शैली अयुक्तियुक्त, पक्षपातपूर्ण, निराधार तथा असंगत है, अतः ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये दो (५। १०७–१०८) श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) मन से दूषित स्त्री का रजस्वला से कोई सम्वन्ध नहीं है अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

(ख) इन श्लोकों की शैली भी अयुक्तियुक्त तथा मनु की मान्यता से विरुद्ध है। जैसे ५। १०७ में कहा है कि जो दुष्कर्म करने वाले हैं, वे दान करने से शुद्ध हो जाते हैं। दान करने से दुष्कर्मों की शुद्धि का क्या सम्बन्ध है? फिर तो मनुष्य को छूट ही मिल जायेगी, विशेषकर धनी पुरुषों को, कि वे कितने भी दुष्कर्म करते रहें, दान करने से शुद्ध हो जायेंगे। इसी प्रकार मन से दूषित स्त्री की शुद्धि का रज से क्या सम्बन्ध है? रजस्वला होने से शरीरिक शुद्धि हो सकती है किन्तु मन की नहीं। मनु जी ने ५। १०९ में मन की शुद्धि सत्य से मानी है।

यह (५। ११३ वाँ) श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त है—

(क) स्वर्ण आदि द्रव्यों की शुद्धि का उल्लेख ५। १११–११२ श्लोकों में कर दिया है, पुनः उनकी शुद्धि की वात कहना अनावश्यक है। ५। १२ में स्वर्ण-पात्र की शुद्धि जल से कही है, पुनः उसकी शुद्धि का कहना पिष्ट-पेषण करना ही है।

(ख) और इस श्लोक की शैली भी अयुक्तियुक्त है। इसमें स्वर्ण व चाँदी की शुद्धि स्वयोनि=अपने कारण जल और अग्नि से कही है। जव सभी धातुओं की उत्पत्ति जल और अग्नि के संयोग से होती है, तो क्या उनकी शुद्धि अपने कारण से नहीं होगी? केवल स्वर्ण-चाँदी को ही पृथक्ता से क्यों कहा गया? और ५।१४ में ताम्बा आदि की शुद्धि के उपाय बताये हैं, क्या उनकी शुद्धि उनके कारण=जल व अग्नि से नहीं होती? यदि होती है तो फिर दुवारा ५।११४ में शुद्धि के कारण दिखाने की क्या आवश्यकता है?

(ग) इस श्लोक में परस्पर विरोध भी है। ५।११२ में काञ्चन=स्वर्ण की शुद्धि अद्भिरेव=जल से ही मानी है किन्तु इस ५।११३ में स्वयोन्यैव= अपने कारण से ही शुद्धि कही है। यदि दोनों का एक ही आशय है तो दुबारा क्यों कहा गया ? और यदि भिन्न है तो 'एव' लगाने का क्या तात्पर्य रहा ? क्योंकि 'एव' शब्द तो निर्धारण के लिये होता है।

यह (५।१२५) श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त है—

(क) यह श्लोक प्रसंगविरुद्ध है। क्योंकि यहाँ प्रसंग ५।११० तथा ५।१४६ श्लोकों के अनुसार द्रव्यशुद्धि का है। किन्तु इस श्लोक में पक्षी से खाये फलादि की शुद्धि का कथन प्रसंगविरुद्ध है द्रव्यशुद्धि में भक्ष्य पदार्थों की शुद्धि का कहना अप्रासंगिक वर्णन है।

(ख) और इस श्लोक की शैली भी अयुक्तियुक्त है। इसमें कहा है कि जिस फलादि को पक्षी ने खा लिया है, वह मिट्टी डालने से शुद्ध हो जाता है। यह निराधार कथन ही है। क्योंकि मिट्टी डालने से फलादि की शुद्धि सम्भव ही नहीं है। और जिस गाय के पञ्चगव्यों का औषधरूप में प्रयोग होता है, उसके सूंघने मात्र से प्रथम तो वस्तु अशुद्ध ही नहीं होती और यदि अशुद्ध हो भी जाती है तो मिट्टी डालने मात्र से कैसे शुद्ध हो सकती है। और किसी फल में कीडे पड़ जाते हैं, तो क्या वह मिट्टी डालने से भक्ष्य हो सकता है ? अतः ऐसी निरर्थक बातों के कथन से यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

५।१२७–१४५ तक श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

इन श्लोकों में प्रसंग-विरुद्ध बातें हैं। ५।११० श्लोक के अनुसार यहाँ प्रकरण द्रव्य-शुद्धि का है और ५।१४६ वाँ समाप्ति सूचक श्लोक से भी इसी प्रकरण की पुष्टि हो रही है। किन्तु इन श्लोकों में न तो द्रव्यों की शुद्धि का वर्णन है प्रत्युत क्या शुद्ध है और क्या अशुद्ध, यह वर्णन किया गया है। जैसे ५।१२७ कहा है—अदृष्ट, जल से शुद्ध तथा ब्राह्मण की वाणी से प्रशंसनीय वस्तु शुद्ध होती है। यह प्रकरण से विरुद्ध बात है। क्योंकि द्रव्यों की अशुद्धि दूर करने का इसमें कोई उपाय नहीं बताया गया है।

(ख) द्रव्यों की शुद्धि के उपाय ५।१११ से प्रारम्भ हुए हैं और ५।१२६ वें श्लोक में द्रव्य-शुद्धि की सामूहिकरूप से अवधि बताकर इस प्रकरण की समाप्ति कर दी है। इससे स्पष्ट रूप में प्रकरण के समाप्त होने पर भी ५।१२७ से ५।१४५ तक श्लोकों में शुद्ध व अशुद्ध का वर्णन अप्रासंगिक है। यदि यह पूर्ववर्ती विषय से भिन्न कहा जाये तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि मनु विषय

का निर्देश अवश्य करते हैं। इन श्लोकों का वर्णन विषयनिर्देश के बिना किया गया है अतः ये परवर्ती सिद्ध होते हैं।

(ग) इन श्लोकों में मनु की मान्यताओं का स्पष्ट विरोध किया गया है। जैसे—मनु ने मांस-भक्षण का सर्वथा निषेध किया है, किन्तु यहाँ ५। १३०–१३१ श्लोकों में मांस की प्राप्ति के कुछ प्रकारों को शुद्ध बताकर उसे भक्ष्य माना है। और 'नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यात्' (२। ५६) अर्थात् किसी को झूठा भोजन न देना चाहिये, मनु की इस मान्यता के विरुद्ध ५। १४० में शूद्रों को झूठा भोजन खाने का वर्णन परस्पर विरुद्ध है। और जब ५। १२७ के अनुसार ब्राह्मण की वाणी से ही वस्तु पवित्र हो जाती है, तो ५। १११–१२६ तक श्लोकों में वर्णित व्यवस्था तो निरर्थक ही सिद्ध होती है। और वाणी मात्र से पवित्रता की बात अयुक्तियुक्त होने से मनुसम्मत नहीं है।

(घ) और इन श्लोकों में अयुक्तियुक्त तथा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन होने से ये श्लोक मनु के नहीं हैं। जैसे ५। १२७ में ब्राह्मण की वाणी से 'शुद्ध' कहने मात्र से किसी वस्तु को पवित्र मान लेना, और जिसकी अपवित्रता नहीं देखी है, उसको पवित्र मानना, ५। १२९ में कारीगर के हाथ को सदा शुद्ध मानना, और बाजार में विक्रय के लिये रखी प्रत्येक वस्तु को पवित्र मानना, ५। १३० में स्त्रियों के मुख को सदा शुद्ध मानना, और हिरणादि को पकड़ने वाले कुत्ते के मुख को पवित्र मानना, ५। १३१ में कुत्तों से मारे गये, कच्चा मांस खानेवाले सिंहादि पशुओं से मारे गये, और चाण्डालादि द्वारा मारे गये पशु के माँस को पवित्र मानना, ५। १३७ में शौच के बाद हाथों की शुद्धि चालीस-चालीस बार मिट्टी लगाने से मानना और गृहस्थादि आश्रमियों की शुद्धि में अन्तर मानना अर्थात् गृहस्थ की अपेक्षा ब्रह्मचारी को द्विगुणी शुद्धि, वानप्रस्थिओं को तीन गुणी तथा संन्यासियों को चार गुणी शुद्धि का विधान करना अयुक्तियुक्त है, क्योंकि भौतिक शरीर के अङ्गों की शुद्धि में अन्तर करना निराधार कल्पना ही है, ५। १३९ में शौचादि के पश्चात् शरीर की शुद्धि के लिये तीन आचमनों का विधान किया है, किन्तु स्त्रियों और शूद्रों के लिये एक बार ही आचमन से शुद्धि कही है, यह अन्तर भी निराधार ही है, ५। १४० में केवल शूद्रों के मासिक-मुण्डन का विधान और द्विजों के झूठे भोजन का विधान मनु की मान्यता के विरुद्ध और पक्षपातपूर्ण है, ५। १४१ में दान्तों के बीच में लगे अन्न से झूठा मुख न मानना और मुख से निकलने वाली बूंदों को पवित्र कहना, ५। १४२ में झूठे पानी की बूंदों को पवित्र कहना, ५। १४३ में झूठे हाथों से छुये हुये भोजन को आचमन करने से शुद्ध कहना, इत्यादि बातें

निराधार तथा अयुक्तियुक्त होने से मनु की नहीं हैं। अतः ये श्लोक परवर्त्ती होने से प्रक्षिप्त हैं।

(ङ) और इन श्लोकों को मिलाने वाले ने अपनी बात को मनुसम्मत वनाने के लिये ५।१३१ में 'मनुरब्रवीत्' कहकर स्पष्ट कर दिया है कि ये श्लोक मनु के नहीं हैं। मनु अपना नाम लेकर कहीं भी नहीं कहते। जहाँ-जहाँ मनु का नाम लेकर बातें कहीं गई हैं, वे सब प्रक्षिप्त हैं।

पञ्चमाध्याय के स्त्री-धर्म विषय में प्रक्षिप्त श्लोकों का सहेतुक-विवरण

ये दोनों (५।१४७–१४८) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये दोनों श्लोक प्रसङ्ग-विरुद्ध हैं। यहाँ प्रकरण विवाहित स्त्रियों के धर्मवर्णन का है। इसका संकेत 'द्वितीयमायुषोभागं कृतदारो गृहे वसेत्' (५।१६९) इस विषयसमाप्तिसूचक श्लोक से तथा ५।१६५ श्लोक में 'साध्वी' स्त्री के कर्त्तव्यों से स्पष्ट है। परन्तु इन दोनों श्लोकों में अविवाहित स्त्रियों के विषय में भी कथन करने से ये श्लोक अप्रासंगिक हैं।

(ख) इन श्लोकों में पक्षपातपूर्ण वर्णन है। क्योंकि जैसे बाल्यकाल में बालिकाओं को माता-पिता या गुरुजनों के आधीन रहना पड़ता है, वैसे बालकों को भी रहना पड़ता है। फिर बालिकाओं के विषय में ही स्वतन्त्रता का निषेध करना निरर्थक है। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि ये श्लोक किसी ऐसे व्यक्ति के मिलाये हुए हैं, जो स्त्रियों को पुरुषों के सर्वथा आधीन रखने के पक्ष से ग्रस्त था।

(ग) मनु की मान्यता में स्त्री-पुरुष का समान दर्जा है। कोई किसी का दास या दासी नहीं है। विवाह से पूर्व घर पर पिता-पुत्री का सम्बन्ध होता है विवाह के बाद पति के घर में पति-पत्नी का सम्बन्ध होता है। और पति के मरने की दशा में माता-पुत्रादि का सम्बन्ध होता है। इन सभी सम्बन्धों में दमनात्मक या परतन्त्रता के लिये कोई स्थान नहीं है। मनु ने तो स्त्रियों को सदा पूज्य बताते हुए लिखा है—'तस्मादेताः सदा पूज्याः' (३।५९)। जिनके प्रति सदा पूजा-भाव=सत्कार भावना रहती हो, क्या उन्हें परतन्त्र कहा जा सकता है? और मनु ने 'सर्वं परवशं दुःखम्' कहकर जिस परतन्त्रता को सबसे बड़ा दुःख माना है, क्या वे स्त्रियों के लिये इस दुःख का विधान कर सकते हैं। और मनु जी ने स्त्रियों के सत्कार का फल बताते हुए कहा है—

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।" (३।५६)

'सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता.........कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ।" (३ । ६०)

अर्थात् स्त्रियों के सत्कार से देवता=दिव्य गुणों का वास होता है, और स्त्रियों को सन्तुष्ट रखने से घर में कल्याण होता है। क्या स्त्रियों के प्रति इतनी उदात्त भावना रखने वाला मनु उन्हें परतन्त्रता रूपी (परम दुःख के) पाश से बान्ध सकता है ? क्या जिसे हम पूज्य मानते हैं, उसे परतन्त्र कह सकते हैं ? अतः ये श्लोक मनु की मान्यता का स्पष्ट विरोध करने से प्रक्षिप्त हैं।

५ । १५३–१६२ तक ये श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

इन श्लोकों में मनु की मान्यताओं का स्पष्ट विरोध है, अतः ये श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हैं। जैसे—(१) मनु जी ने पति-पत्नी आदि के सम्बन्ध शारीरिक होने से इस जन्म के ही माने हैं, दूसरे जन्मों के नहीं। इस विषय में ४ । २३९ वां श्लोक द्रष्टव्य है। परन्तु ५ । १५३ में पति को स्त्रियों के लिये परलोक में सुख देने वाला माना है। मरने के वाद इस जन्म के सब सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं, परलोक में केवल धर्म ही सहायक होता है, तो पति दूसरे जन्म में कैसे सुख दे सकता है ? इसी प्रकार ५ । १५६ में भी 'पतिलोकमभीप्सन्ती' कह कर 'पतिलोक' की किसी स्थानविशेष या स्थिति-विशेष की कल्पना मिथ्या की है।

(२) इन श्लोकों में पति की अनावश्यक अतिशयोक्तिपूर्ण महिमा प्रदर्शित की गई है। स्त्रियों के लिये ही समस्त कर्त्तव्य बताकर पति को मुक्त रखा गया है, जो कि एक पक्षीय पूर्वाग्रहवद्ध वर्णन है। मनु की मान्यता में पति-पत्नी का समान दर्जा है, उनमें छोटा बड़ा कोई नहीं होता। दोनों के लिये मनु जी ने एक समान आचार-संहिता बनाई है। इस विषय में (३।५५–६२) तथा (९ । २८, ९ । १०१, ९ । १०२) श्लोक द्रष्टव्य हैं। परन्तु यहाँ ५ । १५४ में गुणहीन, कामुक=परस्त्रीगमन करने वाले, दुश्शील पति को भी देववत् मानने के लिये स्त्री को वाध्य किया गया है। जब मनु चे अनुसार गुण, कर्म, स्वभाव मिलाकर विवाह करने का विधान है, तो यह गुणादि की विषमता क्यों ? अतः इससे परवर्त्ती पौराणिक भावना की ही गन्ध आ रही है कि माता-पिता ने जिसके साथ भी विवाह कर दिया हो, उसी की पूजा करनी चाहिये। परन्तु मनु जी तो स्वयंवर-विवाह को मानते हैं। स्त्री की इच्छा के विरुद्ध अथवा उससे विना पूछे ही विवाह करना शास्त्रीय नहीं है।

(३) और ५ । १५५ में स्त्रियों के लिये पति-सेवा के अन्तर्गत ही सब कर्त्तव्यों की समाप्ति मानकर यज्ञादि श्रेष्ठ कार्यों का निषेध करना मनु की मान्यता के विरुद्ध है। क्योंकि मनु जी ने तो ९ । २८ में 'अपत्यं धर्मकार्याणि ....दाराधीनः' कहकर यज्ञादि धर्मकार्य स्त्री के आधीन बताये हैं। और

९। ११ में स्पष्ट कहा है कि धर्म-कार्यों में स्त्रियों को लगावें। और ९। ९६ में कहा है—

'तस्मात् साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः'

अर्थात् पति-पत्नी के लिये धर्मकार्य एकसमान कहे हैं। इनसे स्पष्ट है कि मनु जी यज्ञादि धर्म कार्यों में स्त्रियों का भी समान अधिकार मानते हैं। किन्तु यहाँ यज्ञादि के अधिकार का स्त्रियों के लिये निषेध दुराग्रहपूर्ण ही है।

(४) ५। १५५ में 'स्वर्गे महीयते' कहकर 'स्वर्ग' एक स्थानविशेष की कल्पना की गई है। यह मनु की मान्यता के विरुद्ध है। क्योंकि मनु जी तो स्वर्ग का अर्थ सुख-विशेष ही मानते हैं, स्थानविशेष नहीं।

(५) ५। १५६ में कहा है कि साध्वी स्त्री जीवित तथा मृत पति का अप्रियाचरण न करे। जीवित के साथ तो इसकी संगति है, परन्तु मृत-पति की प्रियता अथवा अप्रियता का बोध कैसे होगा ? अतः यह कल्पना भी निराधार तथा मिथ्या ही है।

(६) ५। १५७—१६२ तक के श्लोकों में वर्णित बातें मनु की मान्यता के विरुद्ध हैं। क्योंकि मनु जी ने ९। ५६—६३ श्लोकों में सन्तानादि न होने पर नियोगविधि से सन्तान प्राप्ति लिखी है। परन्तु यहाँ (५। १५७ में) पति के मरने पर और ५। १६१ में सन्तान प्राप्ति के लिये भी विवाहित पति से भिन्न पुरुष का निषेध किया है। और ५। १६२ में अन्य पुरुष से उत्पन्न सन्तान को सन्तान ही नहीं माना तो ९। ६० इत्यादि श्लोकों में वर्णित नियोग विधि से प्राप्त सन्तान का क्या होगा ? जबकि इस विधि का विधान तो सन्तान प्राप्ति के लिये ही किया गया है। इस प्रकार इन अन्तर्विरोधों के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

यह ५। १६४ वां श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

(क) यह श्लोक पूर्वापर के प्रसंग से विरुद्ध है। ५। १६३ में कहा है कि जो स्त्री पति को छोड़कर उससे उत्कृष्ट पति को अपनाती है वह लोक में निन्दनीय होती है और ५। १६५ में कहा है कि जो स्त्री अपने पति के अनुकूल रहती है, वह 'साध्वी' रूप में प्रशंसित होती है। इन दोनो के मध्य में स्त्री के व्यभिचार के फल का कथन असंगत है।

(ख) और मनुजी ने किसी एक कर्म से किसी योनि-विशेष में जाना नहीं माना है। इस विषय में मनुजी के १२। ९, ३९—५२ तथा ७४ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

किन्तु इस श्लोक में एक कर्म के फलस्वरूप शृगालयोनि में जाना माना है। अतः यह श्लोक मनु की मान्यता से विरुद्ध है।

(ग) और इस श्लोक की शैली निराधार तथा अपशब्द-युक्त है, यह मनु की शैली नहीं हो सकती।

यह (५। १६६ वां) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

(क) मनु जी की स्पष्ट मान्यता है कि पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदि के सम्बन्ध शारीरिक होने से इस शरीर के नष्ट होने पर समाप्त हो जाते हैं। जन्म-जन्मान्तरों में पहले शरीरों के सम्बन्ध नहीं रहते। इसलिये मनु जी ने कहा है—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिधर्मस्तिष्ठति केवलः॥ (४। २३९)

अर्थात् परलोक=मरने के बाद दूसरे जन्म में माता, पिता, पुत्र, स्त्री तथा सम्बन्धी कोई भी सहायक नहीं होते, केवल धर्म ही सहायक होता है। अतः इस श्लोक का यह कथन मनु से विरुद्ध है कि स्त्री संयम से रहकर मरने के बाद पति-लोक को प्राप्त करती है। क्यों कि 'पतिलोक' कोई स्थान विशेष नहीं है। इसी मिथ्या मान्यता ने सतिप्रथा, जैसी बुराइयों को जन्म दिया है। मनु जी ने तो कर्म-फल व्यवस्था में जीवों की दो ही स्थिति मानी है—एक कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाना, और दूसरी मोक्षप्राप्ति।

(ख) और यह श्लोक प्रसंग को भी भंग कर रहा है। मनु जी ने तो स्त्रियों के धर्म वताकर ५। १६७ में 'एवं वृत्ताम्' कहकर प्रकरण की समाप्ति की है। इनके मध्य में फलकथनपरक यह (५। १६६ वां) श्लोक अप्रासंगिक ही है।

(ग) और इस श्लोक में पुनरुक्ति भी की है। जब ५। १६५ में स्त्री के लिये, मनोवाग्देहसंयता, कह दिया है, तो फिर ५। १६६ में उसी विशेषण की क्या आवश्यकता थी? मनुसदृश आप्तपुरुष इस प्रकार का पिष्टपेषण नहीं करते। अतः यह श्लोक परवर्त्ती सिद्ध होता है।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां मनुस्मृतौ प्राकृत-भाष्य-समन्वितायाम्,
प्रक्षेप-श्लोकसमीक्षाविभूषितायाञ्च गृहस्थान्तर्गत-भक्ष्याभक्ष्य-
प्रेतशुद्धिद्रव्यशुद्धि-स्त्रीधर्मविषयात्मकः पञ्चमोऽध्यायः॥

षष्ठोऽध्यायः

[हिन्दीटीका-प्रक्षेपश्लोकसमीक्षाभ्यां सहितः]

(वानप्रस्थ-संन्यास-धर्मविषयौ)

(वानप्रस्थ-विषय)

[६ । १ से ६ । ३२ तक]

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥ (१)

(एवम्) पूर्वोक्त प्रकार (विधिवत् स्नातकः द्विजः) विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़के समावर्त्तन के समय स्नानविधि करने हारा द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (विजितेन्द्रियः नियतः यथावत् गृहाश्रमे स्थित्वा) जितेन्द्रिय, जितात्मा होके, यथावत् गृहाश्रम करके (वने वसेत्) वन में वसे ॥ १ ॥

(सं० वि० वानप्रस्थाश्रम सं०)

"इस प्रकार स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहाश्रम का कर्त्ता द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, गृहाश्रम में ठहर कर, निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीतके वन में वसे"। (स० प्र० पञ्चम समु०)

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥ (२)

(गृहस्थः तु) गृहस्थ लोग (यदा) जब (आत्मनः वली-पलितं पश्येत्) अपनी देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें (च) और (अपत्यस्य एव अपत्यम्) पुत्र का भी पुत्र हो जाये (तदा) तब (अरण्यं समाश्रयेत्) वन का आश्रय लेवे ॥ २ ॥ (सं० वि० वानप्रस्थाश्रम सं०)

"परन्तु जब गृहस्थ शिर के केश श्वेत और त्वचा ढीली हो जाये और लड़के का लड़का भी हो गया हो तब वन में जाके बसे"। (स० प्र० पञ्चमसमु०)

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥ (३)

जब वानप्रस्थ-आश्रम की दीक्षा लेवें तब (ग्राम्यम् आहारम्) गांव में उत्पन्न हुए पदार्थों का आहार (च) और (सर्वम् एव परिच्छदम्) घर के सब पदार्थों को (संत्यज्य) छोड़के (पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य) पुत्रों में अपनी पत्नी को छोड़ (वा सह एव) अथवा संग में लेके (वनं गच्छेत्) वन को जावे ॥ ३ ॥

(सं० वि० वानप्रस्थाश्रम सं०)

"सब ग्राम के आहार और वस्त्र आदि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़ पुत्रों के पास स्त्री को रख वा अपने साथ लेके वन में निवास करे"।

(स० प्र० पञ्चम समु०)

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥ (४)

जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब (अग्निहोत्रं च गृह्यम् अग्निपरिच्छदं समादाय) अग्निहोत्र को सामग्री-सहित लेके (ग्रामात् निःसृत्य) गांव से निकल (अरण्यं जितेन्द्रियः निवसेत्) जंगल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे ॥ ४ ॥ (सं० वि० वानप्रस्थाश्रम सं०)

"साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र को लेकर ग्राम से निकल दृढ़ेन्द्रिय होकर अरण्य में जाकर बसे"। (स० प्र० पञ्चम समु०)

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥ (५)

(विविधैः मुन्यन्नैः) नाना प्रकार के सामा [=नीवार] आदि अन्न (मेध्यैः शाक-मूल-फलेन) सुन्दर-सुन्दर शाक, मूल, फल, फूल, कंदादि से (एतान् एव महायज्ञान् विधिपूर्वकं निर्वपेत्) पूर्वोक्त महायज्ञों को❀ करे ॥ ५ ॥

❀ (विधिपूर्वकम्) पूर्वोक्त विहित विधि के अनुसार......(स० प्र० पञ्चम समु०)

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥ (६)

(यत् भक्ष्यं स्यात्) जो भी खाने का पदार्थ हो (ततः) उससे ही (बलिं दद्यात्) बलिवैश्वदेव यज्ञ करे (च शक्तितः भिक्षाम्) और यथाशक्ति भिक्षा भी दे (आश्रम+आगतान्) आश्रम में आये अतिथियों को (अप्+मूल-फलभिक्षाभिः) जल, कन्दमूल, फल आदि प्रदान करके (अर्चयेत्) उनका सत्कार करे ॥ ७ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥ (७)

(स्वाध्याये) स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में (नित्ययुक्तः) नियुक्त (समाहितः) जितात्मा (मैत्रः) सब का मित्र (दान्तः) इन्द्रियों का दमनशील (दाता) विद्या आदि का दान देने हारा (सर्वभूत+अनुकंपकः) सब पर दयालु (अनादाता) किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे (नित्यं स्यात्) इस प्रकार सदा वर्तमान रहे ॥८॥

(स० प्र० पञ्चम समु०)

"वहां जंगल में वेदादि शास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने में नित्ययुक्त मन और इन्द्रियों को जीतकर यदि स्व-स्त्री भी समीप हो तथापि उससे सेवा के सिवाय विषयसेवन अर्थात् प्रसंग कभी न करे, सब से मित्रभाव, सावधान, नित्य देने हारा और किसी से कुछ भी न लेवे, सब प्राणीमात्र पर अनुकंपा=कृपा रखने हारा होवे।" (सं० वि वानप्रस्थाश्रम सं०)

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।
दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥ (८)

(च) और (वैतानिकम् अग्निहोत्रं यथाविधि) वैतानिक अर्थात् वानप्रस्थ अवस्था में किया जाने वाला अग्निहोत्र विधि-अनुसार (दर्शं च पौर्णमासं पर्व अस्कन्दयन्) अमावस्या और पूर्णिमा के पर्वयज्ञों को न छोड़ते हुए (योगतः-जुहुयात्) निष्ठापूर्वक हवन करे ॥ ९ ॥

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत् ।
तुरायणं च क्रमशो दक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥ (९)

(ऋक्षेष्टि) नक्षत्रयज्ञ (आग्रयणम्) नये अन्न का यज्ञ (च) और (चातुर्मास्यानि) चातुर्मास्य यज्ञ (च) तथा (क्रमशः तुरायणं च दक्षस्यायनं एव आहरेत्) क्रमशः उत्तरायण और दक्षिणायन यज्ञों को भी करे ॥ १० ॥

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥ (१०)

(वासन्त-शारदैः मेध्यैः स्वयम् आहृतैः अन्नैः) वसन्त और शरद् ऋतु में प्राप्त होने वाले पवित्र और स्वयं लाये हुए नीवार आदि मुनि-अन्नों से (पुरोडाशान् च चरून् विधिवत् पृथक् निर्वपेत्) पुरोडाश और चरु नामक यज्ञीय हव्यों को विधि अनुसार अलग-अलग तैयार करे ॥ ११ ॥

देवताभ्यस्तु तद्हुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः ।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥ १२ ॥ (११)

(तत् मेध्यतरं वन्यं हविः देवताभ्यः हुत्वा) उस पवित्र वन के अन्नों से निर्मित हवि को देवताओं के लिए होम कर—आहुति देकर (शेषम्) शेष भोजन को (च) और (स्वयं कृतं लवणम्) अपने लिए बनाये गये लवणयुक्त पदार्थों को (आत्मनि युञ्जीत) अपने खाने के लिए प्रयोग में लाये ॥ १२ ॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसम्भवान् ॥ १३ ॥ (१२)

(स्थलज+औदक-शाकानि) भूमि और जल में उत्पन्न शाकों को

(मेध्यवृक्ष+उद्भवानि पुष्प-मूल-फलानि) पवित्र वृक्षों से उत्पन्न होने वाले फूल, कन्दमूल और फलों को (च) और (फलसंभवान् स्नेहान्) फल से उत्पन्न होने वाले तैलों या अर्कों को (अद्यात्) खाये ॥ १३ ॥

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥ १४ ॥ (१३)

(मधु मांसं भौमानि कवकानि भूस्तृणं शिग्रुकं च श्लेष्मातकफलानि वर्जयेत्) शराब, मांस, भूमि में उत्पन्न होने वाला छत्राक=कुकुरमुत्ता, भूस्तृण नामक शाकविशेष सहिजन और लसौड़े का फल, इन्हें न खाये ॥ १४ ॥

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसञ्चितम्।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥ (१४)

(पूर्वसंचितं मुन्यन्नम्) पहले इकट्ठे किये हुए मुनि-अन्नों को (च) और (जीर्णानि वासांसि) पुराने वस्त्रों को (च) तथा (शाक-मूल-फलानि) पूर्वसंचित शाक, कन्दमूल, फलों को (आश्वयुजे मासि त्यजेत्) आश्विन के महीने में छोड़ देवे ॥ १५ ॥

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥ (१५)

(फालकृष्टम्) हल से जोती हुई भूमि में उत्पन्न पदार्थों को (केनचित् उत्सृष्टम् अपि) किसी के द्वारा दिये जाने पर भी (च) और (ग्रामजातानि मूलानि च फलानि) ग्राम में उत्पन्न किये गये मूल और फलों को (आर्त्तः अपि न अश्नीयात्) भूख से पीड़ित होते हुए भी न खाये ॥ १६ ॥

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥ १६)

(सुखार्थेषु अप्रयत्नः) शरीर के सुख के लिए अतिप्रयत्न न करे, किन्तु (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी अर्थात् अपनी स्त्री साथ हो तथापि उससे विषयचेष्टा कुछ न करे (धराशयः) भूमि में सोवे (शरणे+अममः+च+एव) अपने आश्रित वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे (वृक्षमूलनिकेतनः) वृक्ष के मूल में वसे ॥
॥ २६ ॥ (स० प्र० पञ्चम समु०)

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥ (१७)

(तापसेषु एव विप्रेषु) जो जंगल में पढ़ाने और योगाभ्यास करने हारे तपस्वी, धर्मात्मा विद्वान् लोग रहते हों (अन्येषु गृहमेधिषु द्विजेषु वनवासिषु)

जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों, उनके घरों में से ही ❀ (भैक्ष्यम् आहरेत्) भिक्षा ग्रहण करे ॥ २७ ॥ (सं० वि० वानप्रस्थाश्रम सं०)

❀ (यात्रिकम्) जीवनयात्रा चलाने योग्य...............

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥ (१८)

(वने वसन्) इस प्रकार वन में वसता हुआ (एताः च अन्याः दीक्षाः सेवेत) इन और अन्य दीक्षाओं का सेवन करे (च) और (आत्मसंसिद्धये) आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिए (विविधाः औपनिषदीः श्रुतीः) नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे ॥ २९ ॥ (सं० वि० वानप्रस्थाश्रम सं०)

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः ।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥ (१९)

(ऋषिभिः ब्राह्मणैः गृहस्थैः) अनेक ऋषियों, ब्राह्मणों और गृहस्थों ने (विद्या+तपः विवृद्ध्यर्थम्) विद्या और तप की वृद्धि के लिए (च) और (शरीरस्य शुद्धये) शरीर की शुद्धि के लिए (सेविताः) इन श्रुतियों का सेवन किया है ॥ ३० ॥

(संन्यासधर्म-विषय)

[६ । ३३ से ६ । ९७ तक]

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥ (२०)

(एवं वनेषु आयुषः तृतीयं भागं विहृत्य) इस प्रकार जंगलों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् अधिक से अधिक पच्चीस वर्ष अथवा न्यून से न्यून बारह वर्ष तक विहार करके (आयुषः चतुर्थं भागम्) आयु के चौथे भाग अर्थात् सत्तर वर्ष के पश्चात् (संगान् त्यक्त्वा) सब मोह आदि संगों को छोड़कर (परिव्रजेत्) संन्यासी हो जावे ॥ ३३ ॥ (सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

"इस प्रकार वन में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ हो के आयु के चौथे भाग में संगों को छोड़के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी हो जावे" । (स० प्र० पञ्चम समु०)

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ ३८ ॥ (२१)

(प्राजापत्यां सर्ववेदसदक्षिणाम् इष्टिं निरूप्य) प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है (अग्नीन् आत्मनि समारोप्य) आहवनीय, गार्हपत्य और दाक्षिणात्य संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके (ब्राह्मण: गृहात् प्रव्रजेत्) ब्राह्मण गृहाश्रम से ही संन्यास लेवे ।। ३८ ।। (सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

"प्रजापति अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञादिशिखाचिह्नों को छोड़ आहवनीयादि पांच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच प्राणों में आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकलकर संन्यासी हो जावे ।। ३९ ।।" (स० प्र० पञ्चम समु०)

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ।। ३९ ।। (२२)

(यः सर्वभूतेभ्यः अभयं दत्त्वा) जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान सत्योपदेश देकर (गृहात् प्रव्रजति) गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेता है (तस्य ब्रह्मवादिनः तेजोमया लोकाः भवन्ति) उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी को मोक्षलोक और सब लोक-लोकान्तर तेजोमय (ज्ञान से प्रकाशमय) हो जाते हैं ।। ३९ ।। (स० वि० संन्यासाश्रम सं०)

"जो सब भूत प्राणिमात्र को अभयदान देकर, घर से निकलके संन्यासी होता है उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वर-प्रकाशित वेदोक्त धर्म आदि विद्याओं के उपदेश करने वाले संन्यासी के लिए प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है ।" (स० प्र० पञ्चम समु०)

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ।। ४० ।। (२३)

(यस्मात् द्विजात्) जिस द्विज से (भूतानाम् अणु+अपि भयं न उत्पद्यते) प्राणियों को थोड़ा-सा भी भय नहीं होता (तस्य) उसको (देहात् विमुक्तस्य) देह से मुक्त होने पर (कुतश्चन भयं न अस्ति) कहीं भी भय नहीं रहता ।। ४० ।।

अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ।। ४१ ।। (२४)

(कामेषु समुपोढेषु निरपेक्षः) जब सब कामों को जीत लेवे और उनकी अपेक्षा न रहे (पवित्र+उपचितः) पवित्रात्मा और पवित्रान्तःकरण (मुनिः) मननशील हो जावे (आगारात् अभिनिष्क्रान्तः) तभी गृहाश्रम से निकलकर

(परिव्रजेत्) संन्यासाश्रम का ग्रहण करे अथवा ब्रह्मचर्य ही से संन्यास का ग्रहण कर लेवे ॥ ४१ ॥ (सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

एक एव चरेन्नित्यं सिद्धयर्थमसहायवान् ।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥ (२५)

(संपश्यन् एकस्य सिद्धिम्) यह जानकर कि अकेले की ही मुक्ति होती है (सिद्धयर्थम्) मोक्षसिद्धि के लिए (असहायवान्) किसी के सहारे या आश्रय की इच्छा से रहित होकर (नित्यम्) सर्वदा (एकः एव चरेत्) एकाकी ही विचरण करे अर्थात् किसी पुत्र-पौत्र, सम्बन्धी, मित्र आदि का आश्रय न ले और न उनका साथ करे, इस प्रकार रहने से (न जहाति न हीयते) न वह किसी को छोड़ता है, न उसे कोई छोड़ता है अर्थात् मृत्यु के समय बिछुड़ने के दुःख की भावना समाप्त हो जाती है ॥ ४२ ॥

अनग्निरनिकेतः स्यात् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥ (२६)

वह संन्यासी (अनग्निः) आहवनीयादि अग्नियों से रहित (अनिकेतः) और कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बांधे (अन्नार्थं ग्रामम् आश्रयेत्) और अन्न-वस्त्र आदि के लिए ग्राम का आश्रय लेवे (उपेक्षकः) बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता (असंकुसुकः) और स्थिरबुद्धि (मुनिः) मननशील होकर (भावसमाहितः) परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ (स्यात्) विचरे ॥ ४३ ॥ (सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ४५ ॥ (२७)

(न जीवितं अभिनन्देत) न तो अपने जीवन में आनन्द और (न मरणम् अभिनन्देत) न मृत्यु में दुःख माने, किन्तु (यथा) जैसे (भृतकः निर्देशम्) क्षुद्र भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है वैसे ही (कालम् एव प्रतीक्षेत) काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे ॥४५॥ (सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥ (२८)

(दृष्टिपूतं पादं न्यसेत्) जब संन्यासी मार्ग में चले तब इधर-उधर न देखकर नीचे पृथिवी पर दृष्टि रखके चले (वस्त्रपूतं जलं पिबेत्) सदा वस्त्र से छानके जल पिये (सत्यपूतां वाचं वदेत्) निरन्तर सत्य ही बोले (मनःपूतं समा-

चरेत्) सर्वदा मन से विचारके सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे ॥ ४६ ॥
(स० प्र० पञ्चम समु०)

"चलते समय आगे-आगे देखके पग धरे, सदा वस्त्र से छानकर जल पीवे, सबसे सत्य वाणी बोले अर्थात् सत्योपदेश ही किया करे, जो कुछ व्यवहार करे वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे।" (सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥ (२९)

(अतिवादान् तितिक्षेत) अपमानजनक वचनों को सहन करले (कंचन न अवमन्येत) कभी किसी का अपमान न करे (च) और (इमं देहम् आश्रित्य) इस शरीर का आश्रम लेकर अर्थात् अपने शरीर—मन, वाणी, कर्म से (केनचित् वैरं न कुर्वीत) किसी से वैर न करे ॥ ४७ ॥

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥ (३०)

(क्रुद्ध्यन्तं) जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा (आक्रुष्टः) निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि (न प्रतिक्रुद्ध्येत्) उस पर आप क्रोध न करे (कुशलं वदेत्) किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे (च) और (सप्तद्वार+अवकीर्णां वाचम् अनृतां न वदेत्) मुख के, दो नासिका के, दो आंख के और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी मिथ्या कारण से कभी न बोले ॥ ४८ ॥ (स० प्र० पञ्चम समु०)

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥ (३१)

(इह अध्यात्मरतिः आसीनः) इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित (निरपेक्षः) सर्वथा अपेक्षारहित (निरामिषः) माँस, मद्य आदि का त्यागी (आत्मनः एव सहायेन) आत्मा के सहाय से ही (सुखार्थी) सुखार्थी होकर (विचरेत्) विचरा करे और सबको सत्योपदेश करता रहे ॥ ४९ ॥ (सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

"अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर, अपेक्षारहित, मद्यमांसादिवर्जित होकर, आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर, इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिए सदा विचरता रहे।" (स० प्र० पञ्चम समु०)

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥ (३२)

(क्लृप्त-केश-नख-श्मश्रुः) केश, नख, दाढ़ी, मूंछ को छेदन करवावे (पात्री दण्डी कुसुम्भवान्) पात्र, दण्ड और कुसुम्भ आदि से रंगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके (नियतः) निश्चितात्मा (सर्वभूतानि अपीडयन्) सब भूतों को पीड़ा न देकर (विचरेत्) सर्वत्र विचारे ॥ ५२ ॥ (स० प्र० पञ्चम समु०)

"सब शिर के बाल, दाढ़ी, मूंछ और नखों को समय-समय पर छेदन कराता रहे। पात्री, दण्डी और कुसुंभ के रंगे हुए+ वस्त्रों को धारण किया करे। सब भूत=प्राणिमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढ़ात्मा होकर नित्य विचरा करे"।

(सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥ (३३)

संन्यासी (एककालं भैक्षं चरेत्) एक ही समय भिक्षा मांगे (विस्तरे न प्रसज्जेत) भिक्षा के अधिक विस्तार अर्थात् लालच में न पड़े (हि) क्योंकि (भैक्षे प्रसक्तः यतिः) भिक्षा के लालच में या स्वाद में मन लगाने वाला संन्यासी (विषयेषु अपि सज्जति) विषयों में भी फंस जाता है ॥ ५५ ॥

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥ ५७ ॥ (३४)

(अलाभे विषादी न स्यात्) भिक्षा के न मिलने पर दुःखी न हो (च) और (लाभे न हर्षयेत्) मिलने पर प्रसन्नता अनुभव न करे (मात्रासंगात् विनिर्गतः) अधिक-कम, अच्छी-बुरी भिक्षा की मात्रा का मोह न करके अर्थात् जैसी भी भिक्षा मिल जाये उसे ग्रहण करके (प्राणयात्रिकमात्रः स्यात्) केवल अपनी प्राणयात्रा को चलाने योग्य भिक्षा प्राप्त कर ले ॥ ५७ ॥

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्धयते ॥ ५८ ॥ (३५)

(तु) और (अभिपूजितलाभान्) बहुत अधिक आदर-सत्कार से मिलने वाली भिक्षा या अन्य लाभों से (सर्वशः एव जुगुप्सेत) सर्वथा उपेक्षा बरते, क्योंकि (अभिपूजितलाभैः मुक्तः अपि यतिः बद्धयते) बहुत अधिक आदर-सत्कार से प्राप्त होने वाली भिक्षा से अथवा लाभों से मुक्त संन्यासी भी विषयों के बंधन में फंस जाता है ॥ ५८ ॥

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥ (३६)

+ "अथवा गेरू से रंगे वस्त्रों को पहने"। (सं० वि० २०१ पर टिप्पणी)

(अल्प+अन्न+अभ्यवहारेण) थोड़ा भोजन करके (च) और (रहः स्थान+आसनेन) एकान्त स्थान में निवास करके (विषयैः ह्रियमाणानि इन्द्रियाणि निवर्तयेत्) विषयों की ओर खिंचने वाली इन्द्रियों को वश में करे ।।५९ ।।

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।। ६० ।। (३७).

(इन्द्रियाणां निरोधेन) इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक (रागद्वेषक्षयेण) राग, द्वेष को छोड़ (च) और (भूतानाम् अहिंसया) सब प्राणियों से निर्वैर वर्त्तकर (अमृतत्वाय कल्पते) मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाया करे ।।६० ।।

(स० प्र० पञ्चम समु०)

"जो संन्यासी बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध, राग-द्वेषादि दोषों के क्षय और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है ।" (सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

अवेक्षेत गतीर्नॄणां कर्मदोषसमुद्भवाः ।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ।। ६१ ।। (३८)

(कर्मदोषसमुद्भवाः नृणां गतीः) कर्मों के दोष से होने वाली मनुष्यों की बुरी गतियों (च) और (निरये पतनम्) कष्टों का भोगना (च) तथा (यमक्षये यातनाः) मृत्यु के समय होने वाली पीड़ाओं को (अवेक्षेत) विचारे और विचारकर मुक्ति के लिए प्रयत्न करे ।।६१ ।।

विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च यथाऽप्रियैः ।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।। ६२ ।। (३९)
देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे सम्भवम् ।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ।। ६३ ।। (४०)

(च) और (प्रियैः विप्रयोगम्) प्रियजनों से वियोग हो जाना (तथा अप्रियैः संयोगम्) तथा शत्रुओं से संपर्क होना और उससे फिर कष्टप्राप्ति होना (च) और (जरया अभिभवनम्) बुढ़ापे से आक्रान्त होना (च) तथा (व्याधिभिः उपपीडनम्) रोगों से पीड़ित होना (च) और (अस्मात् देहात् उत्क्रमणम्) फिर इस शरीर से जीव का निकल जाना (गर्भे पुनः संभवम्) गर्भ में पुनः जन्म लेना (च) और इस प्रकार (अस्य अन्तरात्मनः) इस जीव का (योनिकोटिसहस्रेषु सृतीः) करोड़ों-सहस्रों अर्थात् अनेकों योनियों में आवागमन होना—इनको विचारे और इनके कष्टों को देखकर मुक्ति में मन लगावे ।। ६२,६३ ।।

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ।। ६४ ।। (४१)

(शरीरिणां दुःखयोगं अधर्मप्रभवं एव) यह निश्चित है कि प्राणियों को सभी प्रकार के दुःख अधर्म से ही मिलते हैं (च) और (अक्षयं सुखसंयोगं धर्मार्थप्रभवम् एव) अक्षयसुखों की प्राप्ति केवल धर्म से ही होती है। इसको भी विचारे ॥ ६४ ॥

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥ (४२)

(च) और (योगेन परमात्मनः सूक्ष्मताम्) योगाभ्यास से परमात्मा की सूक्ष्मता को (च) तथा (उत्तमेषु च अधमेषु देहेषु समुत्पत्तिम्) उत्तम तथा अधम शरीरों में जन्मप्राप्ति के विषय में (अवेक्षेत) विचारे ॥६५ ॥

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥ (४३)

(दूषितः अपि धर्मं चरेत्) यदि संन्यासी को मूर्ख संसारी लोग निन्दा आदि से दूषित वा अपमान भी करें तथापि धर्म ही का आचरण करे (यत्र तत्र आश्रमे रतः) ऐसे ही अन्य ब्रह्मचर्याश्रमादि के मनुष्यों को करना उचित है (सर्वेषु भूतेषु समः) सब प्राणियों में पक्षपात रहित होकर समबुद्धि रखे, इत्यादि उत्तम काम करने ही के लिये संन्यासाश्रम का विधि है, किन्तु (लिङ्गं धर्मकारणं न) केवल दण्डादि चिह्न धारण करना ही धर्म का कारण नहीं हैं ॥ ६६ ॥

(सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

"कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे तो भी जिस किसी आश्रम में वर्तता हुआ पुरुष अर्थात् संन्यासी सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे। और यह अपने मन में निश्चित जानें कि दण्ड, कमण्डलु और कषायवस्त्र आदि चिह्नधारण धर्म का कारण नहीं है, सब मनुष्यादि प्राणियों के सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है।" (स० प्र० पञ्चम समु०)

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥ (४४)

"(यद्यपि कतकवृक्षस्य फलम्) यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल(अम्बुप्रसादकम्) पीस के गदले जल में डालने से जल का शोधक होता है तदपि (तस्य नामग्रहणात् एव) बिना डाले उसके नाम कथन वा श्रवणमात्र से (वारि न प्रसीदति) उसका जल शुद्ध नहीं हो सकता" ॥ ६७ ॥ (स० प्र० पञ्चम समु०)

"यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करने वाला है तथापि उसके

नामग्रहणमात्र से जल शुद्ध नहीं होता किन्तु उसको ले, पीस, जल में डालने ही से उस मनुष्य का जल शुद्ध होता है; वैसे नाम मात्र आश्रम से कुछ भी नहीं होता किन्तु अपने-अपने आश्रम के धर्मयुक्त कर्म करने ही से आश्रमधारण सफल होता है, अन्यथा नहीं।" (सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥ (४५)

(ब्राह्मणस्य व्याहृति-प्रणवैः युक्ताः विधिवत्कृताः प्राणायामाः) ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओंकारपूर्वक सप्तव्याहृतियों से विधि-पूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो उतने करे (त्रयः अपि) परन्तु तीन से तो न्यून प्राणायाम कभी न करे (परमं तपः विज्ञेयम्) यही संन्यासी का परम तप है ॥
॥ ७० ॥ (स० प्र० पञ्चम समु०)

"इस पवित्र आश्रम को सफल करने के लिए संन्यासी पुरुष विधिवत् योग-शास्त्र की रीति से सात व्याहृतियों के पूर्व सात प्रणव लगाके जैसा कि पृष्ठ १५९ में प्राणायाम का मन्त्र❀ लिखा है, उसको मन से जपता हुआ तीन भी प्राणायाम करे तो जानो अत्युत्कृष्ट तप करता है।" (सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

❀ वह प्राणायाम मन्त्र इस प्रकार है—
"ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम्।"

"इस रीति से कम से कम तीन और अधिक से अधिक इक्कीस प्राणायाम करे।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७१ ॥ (४६)

(हि) क्योंकि (यथा ध्मायमानानां धातूनां मलाः दह्यन्ते) जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं (तथा प्राणस्य निग्रहात्) वैसे ही प्राणों के निग्रह से (इन्द्रियाणां दोषाः दह्यन्ते) मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत हो जाते हैं ॥ ७१ ॥ (स० प्र० पञ्चम समु०)

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ७२ ॥ (४७)

इसलिए संन्यासी लोग (प्राणायामैः दोषान्) प्राणायामों से दोषों को (धारणाभिः किल्बिषम्) धारणाओं से अन्तःकरण के मैल को (प्रत्याहारेण संसर्गान्) प्रत्याहार से संग से हुए दोषों (च) और (ध्यानेन अनीश्वरान् गुणान्) ध्यान से अविद्या, पक्षपात आदि अनीश्वरता के दोषों को छुड़ाके पक्षपातरहित

आदि ईश्वर के गुणों को धारण कर (दहेत्) सब दोषों को भस्म कर देवे ।।७२।।

(सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

"इसलिए संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा, अन्त:करण और इन्द्रियों के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से संगदोष, ध्यान से अनीश्वर के गुणों अर्थात् हर्ष, शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करें ।

(स० प्र० पञ्चम समु०)

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥ (४८)

(उच्च+अवचेषु भूतेषु) बड़े छोटे प्राणी और अप्राणियों में (अकृतात्मभिः दुर्ज्ञेयाम् अस्य+अन्तरात्मनः गतिम्) जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति को (ध्यानयोगेन संपश्येत्) ध्यान योग से ही संन्यासी देखा करे ।। ७३ ।। (सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्धचते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ।। ७४ ।। (४९)

(सम्यक् दर्शनसंपन्नः) जो संन्यासी यथार्थज्ञान वा षड्दर्शनों से युक्त है (कर्मभिः न निबद्धचते) वह दुष्टकर्मों से बद्ध नहीं होता (तु) और (दर्शनेन विहीनः)जो ज्ञान, विद्या, योगाभ्यास सत्संग, धर्मानुष्ठान वा षड्दर्शनों से रहित विज्ञानहीन होकर संन्यास लेता है वह संन्यास पदवी और मोक्ष को प्राप्त न होकर (संसारं प्रतिपद्यते) जन्म-मरण रूप संसार को प्राप्त होता है ।। ७४ ।।

(सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ।। ७५ ।। (५०)

(अहिंसया) सब भूतों से निर्वैर (इन्द्रिय+असंगैः) इन्द्रियों के विषयों का त्याग (वैदिकैः कर्मभिः) वेदोक्त कर्म (च) और (उग्रैः तपश्चरणैः) अत्युग्र तपश्चरण से (इह) इस संसार में (तत्पदं साधयन्ति) मोक्षपद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सकते हैं, अन्य नहीं ।। ७५ ।। (स० प्र० पञ्चम समु०)

"और जो निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों के बंधन से पृथक्, वैदिक कर्माचरणों और प्राणायाम सत्यभाषणादि उत्तम उग्र कर्मों से सहित संन्यासी लोग होते हैं, वे इसी जन्म इसी वर्तमान समय में परमेश्वर की प्राप्तिरूप पद को प्राप्त होते हैं, उनका संन्यास लेना सफल और धन्यवाद के योग्य है" ।

(सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥ (५१)

(यदा) जब संन्यासी (सर्वभावेषु भावेन निःस्पृहः भवति) सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह होता है (तदा) तभी (इह च प्रेत्य शाश्वतं सुखम् अवाप्नोति) इस लोक=इस जन्म और मरण पाकर=परलोक और मुक्ति में परमात्मा को प्राप्त होके निरन्तर* सुख को प्राप्त होता है ॥ ८० ॥
(सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

"जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निस्पृह, कांक्षारहित और सब बाहर-भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है, तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है।" (स० प्र० सञ्चम समु०)

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥ (५२)

(अनेन विधिना) इस विधि से (शनैः शनैः) धीरे-धीरे (सर्वान् संगान् त्यक्त्वा) सब संग से हुए दोषों को छोड़ के (सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः) सब हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से विशेषकर निर्मुक्त होके (ब्रह्मणि एव अवतिष्ठते) विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है ॥ ८१ ॥ (सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम् ।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ ८२ ॥ (५३)

(यत् एतत् अभिशब्दितम्) यह जो कुछ पहले कहा गया है (एतत् सर्वम् एव ध्यानिकम्) यह सब ही ध्यानयोग के द्वारा सिद्ध होने वाला है (अन्+अध्यात्मवित् कश्चित्) अध्यात्मज्ञान से रहित कोई भी व्यक्ति (क्रियाफलं न हि उपाश्नुते) उपर्युक्त कर्मों के फल को नहीं पा सकता ॥ ८२ ॥

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥ (५४)

"जो विविदिषा अर्थात् जानने की इच्छा करके गौण संन्यास लेवे, वह भी विद्या का अभ्यास, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास और ओंकार का जप और उसके अर्थ परमेश्वर का विचार भी किया करे।

(इदम् अज्ञानां शरणम्) यही अज्ञानियों का शरण अर्थात् गौणसंन्यासियों और (इदम् एव विजानताम्) यही विद्वान् संन्यासियों का (इदं स्वर्गम् इच्छताम्)

* "निरन्तर शब्द का इतना ही अर्थ है कि मुक्ति के नियत समय के मध्य में दुःख आकर विघ्न नहीं कर सकता।" (सं० वि० संन्यासाश्रम प्रकरण में टि०)

यही सुख का खोज करने हारे, और (इदम् आनन्त्यम् इच्छताम्) यही अनन्त* सुख की इच्छा करने हारे मनुष्यों का आश्रय है" ॥ ८४ ॥

(सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥ (५५)

(अनेन क्रमयोगेन) इस क्रमानुसार संन्यास-योग से (यः द्विजः परिव्रजति) जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य संन्यास ग्रहण करता है (सः इह) वह इस संसार और शरीर में (पाप्मानं विधूय) सब पापों को छोड़-छुड़ाके (परं ब्रह्म अधिगच्छति) परब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ८५ ॥ (सं० वि० संन्यासाश्रम सं०)

आश्रम-धर्मों के बाद उपसंहार—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥ (५६)

(ब्रह्मचारी गृहस्थः वानप्रस्थः तथा यतिः) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास (एते चत्वारः पृथक् आश्रमाः) ये चारों अलग-अलग आश्रम (गृहस्थप्रभवः) गृहस्थाश्रम से ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ८७ ॥

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥ (५७)

(एते सर्वे अपि क्रमशः यथाशास्त्रं निषेविताः) इन सबका क्रमानुसार शास्त्रोक्त विधानों के अनुसार पालन करने पर (यथोक्तकारिणं विप्रम्) कर्त्तव्यों का यथोक्त विधि से पालन करने वाले द्विज को (परमां गतिं नयन्ति) उत्तम गति की ओर ले जाते हैं ॥ ८८ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥ ८९ ॥ (५८)

(वेद-स्मृतिविधानतः) वेदों और स्मृतियों में कहे अनुसार (एषां सर्वेषाम् अपि) इन सब आश्रमों में (गृहस्थः श्रेष्ठः उच्यते) गृहस्थ सबसे महत्त्वपूर्ण या श्रेष्ठ है (हि) क्योंकि (सः) वह (एतान् त्रीन् विभर्ति) इन तीनों को ही धारण करता है अर्थात् उत्पत्ति और जीवनयापन की दृष्टि से ये तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम पर आश्रित हैं ॥ ८९ ॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ९० ॥ (५९)

---

*"अनन्त इतना ही है कि मुक्ति-सुख के समय में अन्त अर्थात् जिसका नाश न हो ।

(सं० वि० संन्यासाश्रम प्रकरण में टिप्पणी)

(यथा सर्वे नदी-नदाः सागरे संस्थितिं यान्ति जैसे सब बड़े-बड़े नद और नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं (तथैव) वैसे ही (सर्वे आश्रमिणः) सब आश्रमी (गृहस्थे संस्थितिं यान्ति) गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थिर होते हैं । ॥ ९० ॥

(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं, जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते; वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं। बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता"।

(स० प्र० चतुर्थ समु०)

चतुर्भिरपि चैवतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥ (६०)

(एतैः चतुर्भिः आश्रमिभिः द्विजैः) इसलिए ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियों को योग्य है कि (प्रयत्नतः) प्रयत्न से (दशलक्षणकः धर्मः सेवितव्यः) दश लक्षणयुक्त निम्नलिखित धर्म का सेवन नित्य करें ॥ ९१ ॥

(स० प्र० पञ्चम समु०)

धर्म के दश लक्षण—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥ (६१)

पहिला लक्षण-(धृति) सदा धैर्य रखना, दूसरा-(क्षमा) जो कि निन्दा-स्तुति मान-अपमान, हानि-लाभ आदि दुःखों में भी सहनशील रहना; तीसरा-(दम) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे, चौथा-(अस्तेय) चोरीत्याग अर्थात् बिना आज्ञा वा छल-कपट, विश्वास-घात वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से पर-पदार्थ का ग्रहण करना, चोरी और इसको छोड़ देना साहुकारी कहाती है, पांचवां—(शौच) राग-द्वेष पक्षपात छोड़के भीतर और जल, मृत्तिका, मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी, छठा—(इन्द्रियनिग्रह) अधर्माचरणों से रोक के इन्द्रियों को धर्म ही में सदा चलाना, सातवां—(धीः) मादकद्रव्य बुद्धिनाशक अन्य पदार्थ, दुष्टों का संग, आलस्य, प्रमाद आदि को छोड़के श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास से बुद्धि बढ़ाना; आठवां—(विद्या) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त यथार्थ ज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना; सत्य जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्तना इससे विपरीत अविद्या है, नववां- (सत्य) जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना, वैसा ही करना भी;

तथा दशवां—(अक्रोध) क्रोधादि दोषों को छोड़ के शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना (धर्मलक्षणम्) धर्म का लक्षण है ॥ ९२ ॥ (स० प्र० पञ्चम समु०)

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्रा समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥(६२)

(धर्मस्य दशलक्षणानि) धर्म के दश लक्षणों का (ये विप्राः) जो द्विज (सम्+अधीयते) अध्ययन-मनन करते हैं (च) और (अधीत्य) पढ़कर-मनन करके (अनुवर्तन्ते) इनका पालन करते हैं (ते) वे (परमां गतिं यान्ति) उत्तम गति को प्राप्त करते हैं ॥ ९३ ॥

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥ (६३)

मनु जी महाराज कहते हैं कि हे ऋषियो ! (एषः चतुर्विधः ब्राह्मणस्य धर्मः) यह चार प्रकार अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है (पुण्यः प्रेत्य अक्षयफलः) यहां वर्तमान में पुण्य-स्वरूप और शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देनेवाला संन्यासधर्म है ❀ (राज्ञां धर्मं निबोधत) इसके आगे राजाओं का धर्म मुझसे सुनो—॥ ९७ ॥
(स० प्र० पञ्चम समु०)

❀ (अभिहितः) वह कह दिया है.................

षष्ठाध्याय में वानप्रस्थधर्म में प्रक्षिप्त श्लोकों का सहेतुक विवरण

यह (६।६) श्लोक पूर्वापर प्रसंग से विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है । ६।५ में कहा है कि—'एतान् एव महायज्ञान् निर्वपेत् विधिपूर्वकम्' अर्थात् वानप्रस्थी इन (आगे वर्णित) पञ्चमहायज्ञों को करे । इस श्लोक के अनुसार अग्रिम श्लोकों में वानप्रस्थी के पञ्चयज्ञों का ही विधान होना चाहिये । और वह (६।७—१२) तक श्लोकों में विधान किया है । इस प्रकार इनके मध्य में यह श्लोक पूर्वापरक्रम को भंग करने से प्रक्षिप्त है । क्योंकि ६।६ में कथित मृगचर्म या वल्कल धारण करना, सायंप्रातः स्नान करना और जटायें मूछें आदि रखना पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत नहीं आते ।

ये (६।१७—२५) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं । इनसे पूर्व के श्लोकों

में (६।१३-१६) वानप्रस्थी के लिए भक्ष्य-अभक्ष्य का वर्णन किया है और इसी प्रसंग का वर्णन ६।२६—२७ श्लोकों में है। ६।१६ श्लोक में वानप्रस्थी को ग्राम्य-भोजन का निषेध किया गया है और उसका कारण ६।२६ में स्पष्ट किया है कि ग्राम्य-भोजन से सुखों में आसक्ति तथा मोह-ममता का दोष उत्पन्न हो सकता है। अतः ६।१६ के बाद ६।२६ श्लोक की संगति लगती है। और भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण के पूर्ण हो जाने पर तत्संबन्धी विकल्प भी ६।२७ में दिया है कि फलादि प्राप्त न होने पर वनवासी तपस्वियों से भिक्षा कर सकता है, ग्रामादि से नहीं। इनके बीच में ६।१७-२५ तक के श्लोकों में भक्ष्याभक्ष्य का विषय न होकर उससे भिन्न विषय का वर्णन करने से प्रसंग-भंग हो गया है। क्योंकि इन श्लोकों में (६।१७ में) खाने के विविध प्रकार, (६।१८ में) संचय करने की विभिन्न अवधियों का वर्णन, (६।१९-२० में) खाने के समयों का वर्णन, (६।२१ में) पुष्प, मूलफलों का पुनः वर्णन (क्योंकि ६।१३ में इनको कह दिया है), और (६।२२-२५) तक श्लोकों में अनावश्यक हठ-योग की तपस्या का वर्णन किया है।

(ख) मनु जी की यह शैली है कि वे विषय को एकत्र ही पूर्ण करके तत्पश्चात् दूसरे विषय को कहते हैं। इसी प्रकार यहां भी (६।१३ में) भक्ष्य-पदार्थों का वर्णन करके उसके बाद (६।१४-१६ में) अभक्ष्य पदार्थों का वर्णन किया। किन्तु यहाँ उस शैली के विरुद्ध (६।२१ में) भक्ष्य पदार्थों का वर्णन है और वह भी पुनरुक्त होने से अनावश्यक है। एक प्रसंग के समाप्त होने पर पुनः उसे दुबारा कहना अप्रासंगिक है। इसी प्रकार ६।१५ में नीवारादि धान्य-संचय की बात कह दी गई है, किन्तु ६।१८ में पुनः संचय की चर्चा करना अप्रासंगिक है।

(ग) इन श्लोकों में परस्पर-विरुद्ध बातें भी हैं। जैसे—(१) ६।१५ में कहा है कि वानप्रस्थी एक वर्ष के लिए धान्य-संचय करे और पूर्वसंचित के शेष धान्यादि को आश्विन मास में परित्याग कर देवे। किन्तु यहां (६।१८ में) एक दिन, एकमास, छः मास और एक वर्ष तक धान्यादि संचय के विकल्प दिए हैं। जो पूर्वोक्त कथन से विरुद्ध एवं अनावश्यक हैं। और नीवारादि धान्यों पर यह व्यवस्था लागू भी नहीं हो सकती, क्योंकि ये धान्यादि ऋतु-विशेष में ही उपलब्ध हो सकते हैं, सदा नहीं। जो एक दिन का ही संचय करेगा अथवा एक मास का तो उसका निर्वाह कैसे होगा? क्योंकि नीवारादि प्रतिदिन या प्रतिमास तो प्राप्त ही न होंगे। (२) वानप्रस्थी के लिये सातवें और बारहवें श्लोक में कहा है कि यज्ञों के बाद वे शेष भोजन करें। किन्तु

६।१९ श्लोक में भोजन के चार विकल्प बताये हैं। क्या इन विकल्पों में पञ्च-यज्ञों का कर्त्तव्य पूरा हो सकता है। जो रात को ही भोजन करेगा, वह किस प्रकार अतिथि आदि यज्ञ कर सकता है ? और रात को खाना तथा दिन में न खाना यह कोई मनुष्य की दिनचर्या नहीं है। यह तो राक्षसी वृत्ति है और इन विकल्पों में समन्वय कैसे होगा ? जो रात या दिन में खायेगा, वह चार या आठ प्रहर के अन्तर्गत ही होगा, फिर इनको पृथक्-पृथक् कहने का क्या प्रयोजन होगा ? ऐसी अयुक्तियुक्त बातें मनुप्रोक्त नहीं हो सकतीं। (३) और मनु जी ने २।१३९[१६४], १४१ [१६६], १४२, [१६७], १५० [१७५], तथा ६।७०-७२ इत्यादि श्लोकों में प्राणायाम, वेदाध्ययन, जितेन्द्रियता आदि को तप माना है। परन्तु यहाँ उसके विरुद्ध (६।२२-२५) में भूमि पर लेटे रहना, दिन में पैरों पर खड़े रहना, ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नितप करना, वर्षा में नग्न होकर बैठना, हेमन्त ऋतु में गीले कपड़े धारण करना और कठोर तपस्या से शरीर को सुखाना इत्यादि हठयुक्त तपस्या का विधान किया है। मनु ऐसे निरर्थक तपों का विधान कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि उन्होंने तो (२।७५[१०० में]) स्पष्ट कहा है—'अक्षिण्वन् योगतः तनुम्' अर्थात् योग का अभ्यास (तप) ऐसा होना चाहिए, जिससे शरीर का क्षय या हानि न हो। (४) और ६।२४ में मृतपितरों के तर्पण का विधान भी मनु की मान्यता से विरुद्ध है। क्योंकि मनु तो जीवित पितरों का ही तर्पण मानते हैं। एतदर्थ ३।८२ तथा ३।११९—२८४ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है। इन अन्तर्विरोधों के कारण ये श्लोक मनु-प्रोक्त नहीं हो सकते।

यह (६।२८) श्लोक निम्नलिखितकारण से प्रक्षिप्त हैं—

इस श्लोक में वानप्रस्थी के लिए ग्राम से भिक्षा का विधान किया है। यह मान्यता मनु की व्यवस्था से विरुद्ध है। मनु ने ६।३ में ग्राम के भोजन को छोड़ने का विधान किया है। और ६।१६ में लिखा हैं कि पीडित-दशा में भी वानप्रस्थी ग्राम के अन्न फलादि को न खावे। और वानप्रस्थी को भिक्षा की आवश्यकता भी हो तो ६।२७ के अनुसार वनवासी तपस्वियों से ही भिक्षा का विधान किया है। अतः पूर्वोक्त-विधान का विरोधी होने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

ये (६।३१-३२) दोनों श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये श्लोक पूर्वापर प्रसंग-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। मनु ने इस शास्त्र में चार आश्रमों का वर्णन करते हुए वानप्रस्थी के लिये निरन्तर वन में रहने के लिये ही लिखा है। इसकी पुष्टि ६।१ श्लोक से तथा 'वनेषु विहृत्यैवं

तृतीयं भागमायुषः" ६।३३ श्लोक से होती है। ६।२९ श्लोक में भी 'वने वसन्' कहकर और दृढ़ता दिखाई है और ६।२९-३० श्लोकों का ६।३३ से सम्बन्ध भी स्पष्ट होता है। किन्तु इनके बीच में (६।३१-३२) श्लोकों का वर्णन उस क्रम को भंग कर रहा है। क्योंकि इनमें वानप्रस्थी रहते हुए शरीर त्याग करने तथा उसके फल मोक्षप्राप्ति का वर्णन है। जब वानप्रस्थ आश्रम का समय मनु जी ने आयु का तृतीय-भाग ही माना है, फिर यहाँ मृत्युपर्यन्त का कथन मनु की मान्यता से विरुद्ध है।

(ख) और इन श्लोकों में अन्तर्विरोध भी है। जैसे (१) मनु ने वानप्रस्थी के लिए ६।१३ में नीवारादि धान्य, वन्य फल मूलादि भक्ष्य बताये हैं। किन्तु यहाँ (६।३१ में) वार्यनिलाशनः=जल और वायु को ही उसका भक्ष्य बताया है। यह जहां पूर्वोक्त मनु की मान्यता से विरुद्ध है वहां अयुक्तियुक्त भी है। क्योंकि यह भौतिक शरीर केवल वायु-जल के आश्रय से जीवित नहीं रह सकता। (२) और ६।३३ में मानव-जीवन का तृतीयभाग ही वानप्रस्थ के लिये रक्खा है, किन्तु यहां (६।३१-३२ में) जीवनपर्यन्त वानप्रस्थी बने रहने की बात परस्पर विरुद्ध मान्यता है। और मनु के चारों आश्रमों की व्यवस्था भी फिर नहीं बन सकेगी। अतः तृतीयभाग तक ही वानप्रस्थ का समय मनुसम्मत है। (३) इसी प्रकार ६।३१ में 'अपराजितां दिशम्' शब्द भी भ्रान्त है। क्योंकि ब्रह्म की प्राप्ति किसी दिशा विशेष में जाने से नहीं होती। क्योंकि ब्रह्म तो सर्वव्यापक चेतनसत्ता है। (४) और 'आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वा अन्यतमया तनुम्' (अर्थात् वानप्रस्थी इन महर्षियों की दिनचर्याओं में से किसी एक दिनचर्या से शरीर को छोड़कर) इस ६।३२ श्लोक की यह बात भी कल्पित है। यहां प्रथम तो महर्षियों की विभिन्न दिनचर्यायें ही नहीं दिखाई हैं, अतः यह कथन असंगत है। और किसी एक से ही मोक्षप्राप्ति हो जाती है, तो क्या उन विभिन्न दिनचर्याओं में परस्पर विरोध है, अथवा अविरोध ? विरोध है, तो वे एक लक्ष्य को प्राप्त नहीं करा सकतीं और अविरोध है, तो उनमें विभिन्नता का क्या कारण है ? अतः ये श्लोक अप्रासंगिक, मनु के आशय से विरुद्ध तथा कल्पित होने से प्रक्षिप्त हैं।

षष्ठाध्याय के 'संन्यासधर्मविषय' में प्रक्षिप्त श्लोकों का सहेतुक-विवरण

यह (६।३५) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है।

(क) यह श्लोक प्रसंगविरुद्ध है। इसमे पूर्व ६।३४ में आश्रम परम्परा से

संन्यास की सामान्य विधि का कथन है और इससे अगले ६।३६ में भी क्रमिक संन्यास की ही चर्चा है इनके मध्य में यह श्लोक उस क्रम को भंग कर रहा है।

(ख) और जब संन्यास की सामान्यविधि में आश्रमों में प्रवेश क्रमशः ही है, तो तीन ऋणों से मुक्त स्वयं ही हो जाता है। फिर इस श्लोक में जो 'तीन ऋणों को न चुकाने वाला संन्यासी पतित हो जाता है' बात कही है, वह निरर्थक है। और तीन प्रथम आश्रमों को बिना किए ही संन्यासाश्रम में जाने की वात कहना मनु की मान्यता से सर्वथा विरुद्ध है।

यह (६।३७) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

(क) यह श्लोक मनु की मान्यता के विरुद्ध है। क्योंकि मनु ने ब्राह्मण को ही (६।३८ में) संन्यास का अधिकार दिया है। और मनु के अनुसार ब्राह्मण वह है जो गुण, कर्म, स्वभाव से धर्माचरण करने वाला, वेद, वेदांगों का पठन-पाठन करने वाला हो अथवा ६।४० के अनुसार द्विज को अधिकार दिया है। और द्विज भी वेदादि शास्त्रों का विद्वान् होता है। इसलिए 'वेदादिशास्त्रों को विना पढ़े मोक्ष=संन्यासाश्रम में प्रवेश करने वाला पतित हो जाता है' यह कथन निरर्थक ही है।

(ख) और संन्यासाश्रम में प्रवेश की सामान्य विधि (६।३३—३४, ३६) यही बतायी है कि वह सभी आश्रमों में क्रमशः प्रवेश करे फिर इस श्लोक की ये बातें निरर्थक ही हैं कि—'वेदों को न पढ़ने वाला, पुत्रों की उत्पत्ति न करने वाला और यज्ञ न करने वाला संन्यासाश्रम में प्रवेश करके पतित हो जाता है।' और जो ब्रह्मचर्य से अथवा गृहस्थ से ही संन्यासाश्रम में प्रवेश का (६।३८ में) विकल्प कहा है, वह विशेष-अवस्था के लिए ही है।

(ग) और जो बातें ६।३६ में कही हैं—वेद पढ़कर, पुत्रोत्पत्ति करके और यज्ञ करके संन्यासाश्रम में प्रवेश की इच्छा करे। ठीक इनके विपरीत बातें ही (६।३७ में) कहीं है। इन बातों का बोध तो मनुष्य अर्थापत्ति से ही कर लेता है। और मनु की शैली से इस प्रकार का वर्णन विरुद्ध है। जैसे मनु ने धर्म के दश लक्षण बताये हैं, किन्तु अधर्म के नहीं। अतः शैली के विरुद्ध होने से भी यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

यह (६।४४) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है।

(क) यह श्लोक प्रसङ्गविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है। क्योंकि यहाँ पूर्वापर श्लोकों में संन्यासी के धर्मों का वर्णन चल रहा है। ६।४३ में संन्यासी को मुनिभाव से समाहित होकर रहने के लिए कहा है और इसी वात को प्रकारान्तर से (६।४५ में) कहा है कि संन्यासी सुख और दुःख में समता से रहे। न तो

वह सुख म आनन्दित हो और नहीं दुःख में दुःखी होवे। परन्तु इस प्रकरण के मध्य में इस श्लोक में मुक्त पुरुष का जो लक्षण किया गया है, वह उस क्रम को भंग कर रहा है।

(ख) जब यहाँ मुक्त का प्रसंग ही नहीं है तो यह श्लोक असंबद्ध तो है ही, साथ ही मुक्त के लक्षण की उपयुक्तता भी यहाँ नहीं है। इसकी उपयोगिता प्रसंग के प्रारम्भ अथवा अन्त में तो उचित हो सकती थी, यहाँ नहीं। अतः यह श्लोक मौलिक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मनु इस प्रकार का असम्बद्ध वर्णन कहीं नहीं करते।

ये (६।५०-५१) दोनों श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये श्लोक प्रसंग-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। इन श्लोकों में संन्यासी के लिये निषेधात्मक-विधान किया गया, किन्तु भिक्षा के विषय में मनु ने (६।५५ में) कहा है कि भिक्षा कब और किस प्रकार लेवे। और विधि के बाद ही निषेध की संगति उचित होती है। यहाँ तो संन्यासी के लिए सदाचार की शिक्षाओं का, प्राणियों के साथ सद्व्यवहार का तथा उसकी दिनचर्या का वर्णन है। यद्यपि दैनिकचर्या में भिक्षा भी आ जाती हैं, किन्तु ६।५५ में भिक्षा का पृथक् विधान कहने से यहां इन श्लोकों से कोई संगति नहीं है। और श्लोकों की वर्णनशैली से भी इनकी संगति नहीं है। जैसे ६।४९ में 'विचरेदिह' और ६।५२ में 'विचरेन्नियतो नित्यम्' के शब्दों से स्पष्ट है कि यह समान वर्णन होने से क्रम से पठित होने चाहिए। इनके मध्य में ये दोनों श्लोक उस क्रम को भंग कर रहे हैं।

(ख) और मनु ने संन्यासी के धर्मों में 'पवित्रोपचितः'=पवित्रता से बढ़ा हुआ पवित्रान्तःकरण वाला' (६।४१) सत्यपूतां वदेद्वाचम्=सत्य से पवित्र वाणी का उपदेश करने (६।४६) 'न वाचमनृतां वदेत्=अनृत=मिथ्या छल कपट पूर्ण वाणी को न बोलने' (६।४८) का उपदेश दिया है। क्या ऐसा सत्योपदेष्टा विद्वान् संन्यासी अपने स्वार्थवश मिथ्याडम्बरों का आश्रय करके भिक्षार्जन कर सकता है? और मनु ने ६।५५ में संन्यासी के लिए एक समय भिक्षा करने का विधान किया है, फिर ६५० में लिखे आडम्बरों से भिक्षा मांगना कैसे सम्भव है? क्योंकि इस श्लोक में वर्णित सभी उपाय असत्य कल्पनाओं पर ही आश्रित हैं। ऐसे मिथ्या साधनों को वही व्यक्ति अपना सकता है, जो लोभ, मोहादि दोषों से ग्रस्त होगा, किन्तु संन्यासी के लिए तो मनु ने कहा है कि वह 'प्राणयात्रिकमात्रः=जीवन यात्रा के लिए ही भिक्षा लेवे' (६।५७), 'संगान् परिव्रजेत्=विषयों के संग से सर्वथा पृथक् रहे' (६।३३)

और 'सर्ववेदसदक्षिणम्=प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के लिए संन्यासी सर्वस्व-त्याग कर देता है' (६।३८)। अतः ऐसा विरक्त संन्यासी भिक्षा के लिए ऐसे मिथ्याडम्बरों का आश्रय कदापि नहीं कर सकता। इस प्रकार के ये श्लोक उस समय के प्रक्षेप हैं कि जब मनु की मान्यताओं का परित्याग करके संन्यास आश्रम में मनुष्य प्रवेश करने लगे और उन्हें भिक्षा के लिए ऐसे साधनों का आश्रय करता देख किसी विद्वान् ने इन श्लोकों की रचना की है।

(ग) और दैवी उत्पात भूकम्पादि का बताना, आंख के फड़कने आदि का फल बताना, राहु केतु आदि नक्षत्र तारों का शुभाशुभ फल बताना हस्त-रेखादि देखकर भविष्य बताना इत्यादि बातों का सम्बन्ध फलित ज्योतिष से है और यह वेद-विरुद्ध मिथ्या सिद्धान्त है। मनु के समय ऐसी बातों का जन्म ही नहीं हुआ था, क्योंकि फलित ज्योतिष बहुत ही परवर्ती है। अतः इस प्रकार की कल्पनाओं का मिश्रण किसी स्वार्थी नाममात्र के ब्राह्मण ने किया है कि कहीं हमारी आजीविका में कोई बाधा न हो सके।

(घ) और यदि फलितज्योतिष की बातें मनु के समय में होतीं, तो जैसे मनु ने सभी वर्णों के कर्मों का परिगणन किया है, उनमें अनेक कर्म आजीविका भी हैं, तो मनु इनको भी किसी वर्ण की आजीविका में अवश्य गिनते। अतः फलित विद्या की बातें मनु के समय की कदापि नहीं हैं।

(ङ) और ६।५१ का यह कथनभी असत्य है कि 'जिस घरमें अन्य तपस्वी, ब्राह्मण, पक्षी, कुत्ते, भिक्षुकादि हों वहाँ से भिक्षा न मांगे।' प्रथम तो ऐसा कौन सा घर है कि जहाँ पक्षी, कुत्ते तथा भिक्षुकादि न जाते हों? और यह मान्यता मनु की व्यवस्था से विरुद्ध है क्योंकि मनु ने पशु-पक्षियों के भाग तथा अतिथि, भिक्षुकादि के लिए भिक्षा का विधान प्रत्येक गृहस्थी के लिए किया है। यदि पशु-पक्षी भिक्षा में बाधक होते तो मनु की यह व्यवस्था कैसे संगत हो सकती है? क्योंकि पञ्चमहायज्ञों के वर्णन में इनका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। अतः ये दोनों श्लोक असंगत, मनु की मान्यताओं से विरुद्ध, कल्पित तथा परवर्त्ती होने से प्रक्षिप्त हैं।

ये (६।५३-५४) दोनों श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ६।५४ में 'मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्' पदों से स्पष्ट है कि यह श्लोक मनु से भिन्न किसी दूसरे ने बनाया है। क्योंकि मनु ने अपना नाम लेकर कोई प्रवचन नहीं किया है। अतः यह श्लोक परवर्ती होने से प्रक्षिप्त है। ६।५३ वाँ श्लोक भी इस से सम्बद्ध होने से स्वतः ही प्रक्षिप्त हो जाता है।

(ख) मनु ने संन्यासी के पात्र, दण्ड, वस्त्रादि का वर्णन ६।५२ में

कर दिया है। यदि मनु का आशय पात्र की विशद व्याख्या का होता तो वे दण्ड तथा वस्त्र की भी अवश्य व्याख्या करते। दण्ड किस वृक्ष की लकड़ी का हो, वस्त्र कैसा हो सिला हुआ हो अथवा बिना सिला ? इत्यादि प्रश्न दण्ड, वस्त्र के विषय में भी उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु मनु ने पात्रादि का संन्यासी के लिए विधान तो किया, किन्तु उनका स्पष्टीकरण नहीं किया। क्योंकि संन्यासी जिसने अपना सर्वस्व त्याग ही कर दिया है वह इस चक्र में कहां पड़ेगा कि पात्र कैसा हो, दण्ड व वस्त्र कैसे हों ? वह तो जैसा भी दानादि में उपलब्ध होगा, वैसा ही अपने प्रयोग में लाएगा। सम्भव है मनु जी ने यह विचारकर ही ब्रह्मचारी की तरह दण्डादि का स्पष्टीकरण नहीं किया।

(ग) इन श्लोकों से यह भी स्पष्ट होता है कि ये श्लोक उस समय की रचना हैं जब संन्यासियों के प्रति ऐसी भावना बनायी कि—'यतीनां काञ्चनं दद्यात् ....स नरो नरकं व्रजेत्' अर्थात् संन्यासियों को सुवर्ण देने से दाता नरक में जाता है इसलिए यहां (६।५३ में) संन्यासी के लिए सुवर्ण पात्रों का निषेध किया है किन्तु यह मान्यता मनु से विरुद्ध है। मनु जी ने लिखा है— 'विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्' अर्थात् संन्यासियों को नाना प्रकार के रत्न सुवर्णादि देवे इस विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"यह बात भी वर्णाश्रमविरोधी सम्प्रदायी और स्वार्थसिन्धु वाले पौराणिकों की कल्पी हुई है। क्योंकि संन्यासियों को धन मिलेगा तो वे हमारा खण्डन बहुत कर सकेंगे और हमारी हानि होगी तथा वे हमारे आधीन न रहेंगे।" (स० प्र० पञ्चमसमु०)

यह (६।५६) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

(क) यह श्लोक मनु की मान्यता के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है। मनु ने गृहस्थी को पञ्चमहायज्ञों के पश्चात् भोजन करने का निर्देश किया है। और ३।९४ में बलिवैश्वदेवयज्ञ के पश्चात् ही भिक्षा देने को लिखा है। और ३।११६–११७ श्लोकों में ऐसा विधान किया है कि अतिथि आदि को खिलाकर तत्पश्चात् गृहस्थी भोजन करें। और जो ऐसा नहीं करते वे ३।११८ के अनुसार) पाप के भागी होते हैं। किन्तु यहां कहा है कि संन्यासी भिक्षा लेने तब जावे, जब भोजन पकाने वाली अग्नि शान्त हो गयी हो और परिवार के सब लोगों ने भोजन कर लिया हो। यह कथन पूर्वोक्त कथन से विरुद्ध होने से मनुप्रोक्त नहीं हो सकता।

(ख) यह श्लोक पूर्वापरप्रसंग से भी सम्बद्ध नहीं है। क्योंकि ६।५५ में

कहा है कि संन्यासी एक समय भिक्षा मांगे, किन्तु भिक्षा मांगने में आसक्त न हो। और ६।५७ में कहा है कि भिक्षा न मिलने पर दुःखी और भिक्षा मिलने पर प्रसन्न भी न हो, जो आसक्त न होने वाले कथन की व्याख्या के रूप में होने से परस्पर संबद्ध है। किन्तु इनके मध्य में यह श्लोक उस क्रम को भंग करने से असंगत है।

ये (६।६८-६९) दो श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) इन श्लोकों में मनु की मान्यता का विरोध है। क्योंकि मनु ने ६।७०-७२ श्लोकों में प्राणायाम करना संन्यासी की दिनचर्या में लिखा है और प्राणायाम का फल भी बताया है कि प्राणायाम करने से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं। किन्तु यहां भूमि पर चलते हुए क्षुद्र प्राणियों की हिंसा से पाप के प्रायश्चित्तस्वरूप प्राणायाम की व्यवस्था लिखी है प्रथम तो प्राणायाम करने का हिंसाकृत पाप के प्रायश्चित्त से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। और प्राणायाम करना यति की दिनचर्या में विधान किया है। अतः प्राणायाम तो यति को करने ही हैं, तो पृथक् से प्राणायाम से प्रायश्चित्त कैसा? मनु अयुक्तियुक्त बात कभी नहीं कहते। प्राणायाम का इन्द्रिय-शुद्धि से प्राणनिग्रह होने से तो सम्बन्ध है किन्तु पाप-निवृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे मनु ने गृहस्थी के लिए चूल्हे आदि के द्वारा हिंसाकृत पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप पञ्च-महायज्ञों का विधान किया है, क्योंकि पञ्चमहायज्ञों से प्राणियों का उपकार होने से पुण्य होता है। ऐसा कोई सम्बन्ध हिंसाकृत पाप का प्राणायाम से नहीं है। और प्राणायाम के फल (इन्द्रियदोष-शुद्धि) से इस कथन का विरोध होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

(ख) मनु की प्रवचनशैली में अयुक्तियुक्त बातों के लिये कोई स्थान नहीं है। क्योंकि उनकी धर्माधर्म अथवा पाप-पुण्य के विषय में यह स्पष्ट घोषणा है कि—'यस्तर्केण अनुसन्धत्ते स धर्मो वेद नेतरः।' इसलिये तर्कविरुद्ध बात मनु कदापि नहीं कह सकते। परन्तु यहाँ कहा है कि रात-दिन भूमि पर चलने से जो प्राणियों की हिंसा होती है, अतः प्राणायाम करे। किन्तु भूमि पर चलते समय क्षुद्र जन्तुओं का तो दिन में भी ध्यान रखना अत्यधिक कठिन है, क्योंकि अनेक बार तो शीघ्रता वश मनुष्य इतनी तेजी से चलता है कि वह ध्यान रख ही नहीं सकता। और रात के समय अन्धकार में तो कोई भी ध्यान नहीं रख सकता। और क्षुद्र जन्तुओं की हिंसा का प्राणायाम करने से कोई सम्बन्ध भी नहीं है।

(ग) और मनु जी ने प्रायश्चित्तों का विधान ११ वें अध्याय में किया

है। यदि मनु का आशय भिन्न-भिन्न आश्रमियों के लिये इस प्रकार प्रायश्चित्त कहने का आशय होता तो पृथक् अध्याय बनाने की क्या आवश्यकता थी ? अतः यहां प्रायश्चित्त का वणन सर्वथा अयुक्त है।

(घ) और भूमि पर चलने से जो हिंसा होती है, क्या वह संन्यासी से भिन्न पुरुषों से नहीं होती ? यदि ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी के लिए इस हिंसाकृत पाप के प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया है तो संन्यासी के लिएं ही क्यों ? हिंसा का होना तो सब के लिये सामान्य है। एक आश्रमी के लिए प्रायश्चित्त कहना औरों के लिये नहीं, यह मनु की व्यवस्था से संगत नहीं है। क्योंकि मनु ने सर्वसामान्य के लिये दश लक्षण वाले धर्म की भांति विशेष व्यवस्थाओं का भी विधान पृथक् से किया है।

(ङ) और इन श्लोकों में पुनरुक्ति भी है। ६।४६ में संन्यासी के धर्मों में कहा है कि—'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्' संन्यासी देखकर पैर रखे। उसी बात को ६।६८ में 'समीक्ष्य वसुधां चरेत्' देखकर पृथिवी पर चले, दुबारा कहा गया है ऐसी पुनरुक्ति मनुप्रोत नहीं हो सकती। अतः ये दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये (६।७६-७९) चार श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(क) ये श्लोक पूर्वापर प्रसंग को भंग करने के कारण प्रक्षिप्त हैं। क्योंकि ६।७५ में 'असंगैः' पद से विषयों की आसक्ति से दूर (निःस्पृह) रहने को कहा गया है। और ६।८० में निःस्पृह रहने का फल बताया है कि आसक्ति रहित पुरुष लौकिक सुखों तथा पारलौकिक सुखों को प्राप्त करता है। और ६।८१ में 'त्यक्त्वा संगान्' कहकर इस बात का उपसंहार किया गया है। इस प्रकार ६।७५ श्लोक की संगति ६।८० से ठीक लगती है। किन्तु इन श्लोकों ने उस क्रम को भंग कर दिया है अतः ये श्लोक अप्रासंगिक हैं।

(ख) इन श्लोकों में शरीर की नश्वरता, जरा, शोक, रोगादि से पीडित दशा, मल-मूत्रादि दुर्गन्धों से पूर्ण बताकर घृणाभाव पैदा किया गया है। इसलिए यह शरीर त्याज्य बताया है और इस शरीर के त्याग से ही दुःखों से मुक्ति बताई है। यह बात प्रथम तो प्रसंग से ही असम्बद्ध है। क्योंकि प्रसंग आसक्ति-रहित होकर जीवनयापन का है। और यह मनु की मान्यता से भी विरुद्ध है। मनु केवल शरीर-त्याग से ही दुखों से मुक्ति नहीं मानते। मनु ने ६।६३-६४ श्लोकों में स्पष्ट कहा है कि धर्माचरण से दुखों से मुक्ति होती है और अधर्माचरण से कर्मानुसार विभिन्न योनियों में आवागमन होता रहता है। और मनु की व्यवस्था के अनुसार धर्माचरण से (६।८०) इस जन्म में भी

सुख मिलता है। अतः शरीर को हेय अथवा घृणित वर्णन करना मनु से विरुद्ध है।

(ग) और यहाँ पूर्वापर के श्लोकों में संन्यासी के कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है। उनके मध्य में कर्त्तव्यों की समाप्ति से पूर्व ही शरीर त्यागकर ब्रह्म प्राप्ति की बात अथवा कर्त्तव्यों के फलकथन की बात अयुक्ति-युक्त है। कर्त्तव्यों के पूर्ण होने पर तो फलकथन की बात संगत कही जा सकती है।

(ङ) और मनु की मान्यता है कि (४।२४०) कर्म करने वाला स्वयं ही अपने शुभाशुभ कर्मों का फल भोगता है। परन्तु यहाँ (६।७९ श्लोक में) उससे विरुद्ध बात कही गई है कि अच्छे कर्मों को प्रियजनों के लिए और दुष्कर्मों को शत्रुजनों के लिए छोड़कर संन्यासी मोक्ष को प्राप्त करे। क्या इस प्रकार कर्मों का आदान-प्रदान जीव कर सकता है? कर्म-फल तो ईश्वर की व्यवस्था से मिलता है, जीव स्वयं नहीं ले दे सकता। अतः यह कथन मनु से विरुद्ध है। और जिस संन्यासी के धर्मों में सभी प्राणियों के प्रति समता की भावना रखने को कहा गया है, और राग-द्वेष से पृथक् रहने की बात (६।६० में) कही है उसके लिए प्रियजन अथवा शत्रुजन कौन हो सकते हैं? अतः यह कथन निरर्थक ही है।

(च) इन श्लोकों में नवीन वेदान्त तथा पौराणिक मान्यता होने से भी ये श्लोक परवर्ती सिद्ध होते हैं। इस सृष्टि में मानवयोनि ही सर्वश्रेष्ठ और मोक्ष प्राप्ति का साधन है। फिर इस शरीर को हेय व घृणित बताकर निष्क्रिय बनाने की मान्यता नवीन वेदान्तियों की है। किन्तु मनु की मान्यता यह नहीं है। उनके शास्त्र का ही नाम धर्मशास्त्र है जिसमें पत्येक मानव के धर्मों का वर्णन किया है और धर्माचरण के विना मुक्ति नहीं मानी। किन्तु यहां (६।७८ में) नदी के तटवर्ती वृक्ष से उपमा देकर शरीर को विना प्रयोजन त्याग ने की बात शास्त्र के विरुद्ध मान्यता है। और ६।७७ श्लोक में इस शरीर को 'भूतावासम्= भूतों का डेरा' कहा गया है। इस सर्वश्रेष्ठ मानव शरीर को भूतों का डेरा बताना निष्क्रिय मनुष्यों का ही काम है, पुरुषार्थियों का नहीं। और भूत' क्या है? यह पौराणिकों के अनुसार एक योनि विशेष है जो मरने के बाद मिलती है। प्रथम जो योनि मरने के बाद मिले, उसे इस वर्त्तमान शरीर में ही मानना परस्पर विरोधी बात है और मनु ने तो मरने के बाद दो ही गति मानी है—(१) कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाना, (२) परम-धाम मोक्ष प्राप्त करना। इसलिये कर्मफलगति मनु ने कहीं भी 'प्रेत' अथवा "भूत' योनि में जाना नहीं लिखा। अतः भूतों की बात अयुक्तियुक्त, पौराणिक

मिथ्या मान्यता ही है, मनु की नहीं। अतः ये श्लोक पूर्वापर क्रम से असंगत और मनु की मान्यता से विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

यह (६।८३) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

(क) यह पूर्वापर-प्रसंग को भंग करने से प्रक्षिप्त है। ६।८२ श्लोक मे संन्यासी के लिए परमेश्वर का ध्यान लगाने और ध्यानयोग को भलीभांति जानने की बात कही है। और इस ध्यानयोग का फल-कथन ६।८४ में किया है। इनके मध्य में यज्ञ, देवतासम्बन्धी मन्त्रों के जपने तथा वेदान्त में कहे अध्यात्मविषयक मन्त्रों के जपने की बात क्रम को भंग कर रही है।

(ख) यह मनुस्मृति धर्मशास्त्र है, ध्यानयोगशास्त्र नहीं। अतः ध्यानयोग के संकेत से ही 'योगदर्शन में कही बातों का संकेत मिल जाता है। और योग-दर्शन में योगांगों में स्वाध्याय' के अन्तर्गत ही मन्त्रों के जपने की बात कही है, अतः मन्त्र-जपने की बात का इसमें पिष्टपेषणमात्र ही किया है।

(ग) और 'वेदान्ताभिहितम्' कहने से नवीन-वेदान्त का संकेत मिल रहा है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि किसी नवीन वेदान्ती ने अपनी मान्यता दिखाने के लिए ही यह श्लोक क्रमभंग करके मिलाया है।

(घ) और ६।८४ श्लोक के शब्द-प्रयोग से ऐसी यह श्लोक असंगत है। क्योंकि इस श्लोक में 'इदम्' शब्द एकवचनान्त है और वह ६।८२ में कहे ध्यानयोग का संकेत कर रहा है। यद्यपि इस सर्वनाम से ६।८३ में कहे ब्रह्म=मन्त्र के साथ भी संगति सम्भव है, किन्तु पूरे श्लोक की नहीं। क्योंकि श्लोक में कहा है—'इदं शरणमज्ञानाम्'। क्या अज्ञानियों के लिए ब्रह्म=मन्त्रों का जप सम्भव है ? अतः ध्यानयोग का ही ग्रहण सुसंगत होता है। ध्यानयोग से ही अविद्या का नाश होके विवेकख्याति और ज्ञान दीप्ति होती है।

यह (६।८६) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

(क) यह श्लोक प्रसंग-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है। ६।८५ वें श्लोक से स्पष्ट है कि मनु जी ने संन्यासियों के धर्मों का उपसंहार कर दिया है। और उन धर्मों का फलकथन भी कर दिया कि इस प्रकार संन्यासी धर्माचरण करता हुआ पापवृत्तियों को नष्ट करके परमब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। किन्तु इस श्लोक में संन्यासियों के दो भेद करके कहा है कि अब तक जितेन्द्रिय संन्यासियों के धर्म कहे हैं और अब आगे वेदसंन्यासियों के कर्म कहे जायेंगे। मनु ने ऐसे कोई भेद नहीं किये हैं, अन्यथा संन्यासधर्म के प्रारम्भ में ही भेद बताकर वर्णन

१. 'स्वाध्यायः=प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा'॥ (योगभाष्य-२।१)

करते। और इस (६। ८६ वें) श्लोक से आगे वेद-संन्यासिकों के धर्मों का कोई वर्णन ही नहीं है। क्योंकि अग्रिम श्लोकों में तो सभी आश्रमों के विषय में अपेक्षाकृत बातें तथा सामान्य धर्मों का कथन किया गया है। अतः यह श्लोक सर्वथा असंगत एवं मिथ्या है। और यदि मौलिक होता तो वेद-संन्यासिकों के कर्मों का वर्णन आगे अवश्य होता।

(ख) यह श्लोक मनु की मान्यता से विरुद्ध भी है। मनु जी ने चार आश्रमों को माना है और चारों के लिए वेद-विहित कर्मों का वर्णन किया है। किन्तु यहाँ वेद-संन्यासिकों की पृथक् कल्पना मनु से विरुद्ध है। क्या जो इससे पहले संन्यासियों के धर्मों का वर्णन किया गया है, वे वेदविहित नहीं हैं? अथवा 'वेद-संन्यासिक' का अर्थ यह माना जाये जिन्होंने वेदधर्मों का संन्यास=परित्याग कर दिया है? कुछ तो दोनों में भेद मानना ही होगा? और जो वेद-धर्मों को छोड़ देता है, उसे मनु ने संन्यासी तो क्या, द्विज भी नहीं माना और २। १६८ के अनुसार शूद्रों की श्रेणी में माना है। क्योंकि मनु ने तो वेद को परमप्रमाण और सभी धर्मों का आधार माना है। अतः वेदसंन्यासिकों की कल्पना मनु की मान्यता के विरुद्ध है।

ये (६। ९४–९६) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

इन श्लोकों की बातें मनु के कहे विधानों से विरुद्ध हैं। जैसे—(१) ६। ९१ में कहा है कि द्विज इन चारों आश्रमों में रहता हुआ दश लक्षण वाले धर्म का पालन यत्न से करे। किन्तु ६। ९४ वें श्लोक में कहा है कि द्विज इस धर्म का पालन करता हुआ संन्यास लेवे। जब संन्यास के धर्म पहले कह दिये और एक प्रसंग पूरा हो गया, फिर उसको यहाँ निरर्थक प्रारम्भ किया गया है। और जो सामान्य धर्म हैं, उन्हें करता हुआ ही गृहस्थ में जायेगा तथा वानप्रस्थाश्रम में जायेगा, उनका यहाँ कथन करना निरर्थक ही है। क्योंकि यहाँ तो विशेषधर्म ही बताने चाहिए। (२) और मनु ने ६। ३८ में संन्यासी को सर्वस्य त्यागकर घर छोड़ने को कहा है। किन्तु यहाँ (६। ९५ में) 'पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत्' कहने से संन्यासी को घर में रहने और मोह-पाश में ग्रस्त होने की बात मनु से विरुद्ध है। जिस मनु ने वानप्रस्थी को भी घर से बाहर वन में रहने तथा ग्राम्यभोजन का भी निषेध किया है कि कहीं मोहासक्त न हो जाये, क्या वह संन्यासी को पुत्र के ऐश्वर्य को भोगने की बात कह सकते हैं? अतः यह मनु की मान्यता से विरुद्ध कथन मान्य नहीं हो सकता। (३) मनु ने संन्यासी को घर छोड़कर तथा सर्वस्व त्यागकर संन्यास लेने का विधान तो किया है, किन्तु निष्क्रिय बनाने की व्यवस्था नहीं दी है। अन्यथा संन्यासी

के लिये ६ । ६६ इत्यादि श्लोकों में धर्माचरण का निर्देश तथा दशलक्षण वाले धर्म को संन्यासी का धर्म न मानते। परन्तु यहाँ ६ । ६५-६६ श्लोकों में संन्यासी को श्रेष्ठ धर्माचरणरूप कर्मों के परित्याग की बात कहना मनु की व्यवस्था के विरुद्ध है। और यह परस्पर विरोधी कथन भी है। क्योंकि इसी श्लोक में 'संन्यस्य कर्माणि' तथा 'स्वकार्यपरमः' कहा गया है। यदि संन्यासी अपने धर्मरूप कार्यों में लगा रहता है, तो उसको कर्म छोड़ने की बात कहना निरर्थक है। (४) और मनु ने ६ । ३३ में संन्यास का विधान करके फिर संन्यास के धर्मों का वर्णन किया है, किन्तु ६ । ६४ में पुनः संन्यास की बात लिखना एक ही लेखक की नहीं हो सकती। अतः मनुविरुद्ध होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां प्राकृतभाषाभाष्यसमन्वितायाम् प्रक्षेपश्लोक-
समीक्षाविभूषितायाञ्च मनुस्मृतौ वानप्रस्थसंन्यास-
धर्मविषयकः षष्ठोऽध्यायः ॥

ओ३म्

सप्तमोऽध्यायः

[प्राकृतभाषाभाष्य-प्रक्षेपश्लोक-समीक्षाभ्यां सहितः]

(राजधर्म-विषय)

[७ । १ से ९ । ३३६ तक]

राजा की उत्पत्ति, व्यवहार एवं सिद्धि—

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥ (१)

अब मनु जी महाराज ऋषियों से कहते हैं कि चारों वर्ण और चारों आश्रमों के व्यवहार कथन के पश्चात् (राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि) राजधर्मों को कहेंगे कि (यथावृत्तः नृपः भवेत्) जिस प्रकार का राजा होना चाहिए (च) और (तस्य यथा संभवः) जैसे उसका संभव=बनना (च) तथा (यथा परमा सिद्धिः) जैसे उसको परमसिद्धि प्राप्त होवे उसको सब प्रकार कहते हैं ॥ १ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥ (२)

(ब्राह्मं संस्कारं प्राप्तेन क्षत्रियेण) जैसा परम विद्वान् ब्राह्मण होता है वैसा विद्वान्* सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है कि (अस्य सर्वस्य) इस सब राज्य की (परिरक्षणम्) रक्षा (यथान्यायं कर्तव्यम्) न्याय से यथावत् करे ॥ २ ॥
(स० प्र० षष्ठ समु०)

* (यथाविधि) पूर्ण विधि के अनुसार अर्थात् उपनयन में दीक्षित होकर समावर्तनकाल तक ब्रह्मचर्य पालन करते हुए ....

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥ (३)

(हि) क्योंकि (अराजके अस्मिन् लोके) राजा के बिना इस जगत् में (सर्वतः भयात् विद्रुते) सब ओर भय के कारण व्याकुलता फैल जाने पर (अस्य सर्वस्य रक्षार्थम्) इस सब राज्य की सुरक्षा के लिए (प्रभुः राजानम् असृजत्) प्रभु ने 'राजा' के पद को बनाया है अर्थात् राजा बनाने की प्रेरणा मानवों के मस्तिष्क में दी है ।।३।।

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥ (४)

यह सभेश राजा (इन्द्र) इन्द्र अर्थात् विद्युत् के समान शीघ्र ऐश्वर्यकर्त्ता (अनिल) वायु के समान सबको प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जानने हारा (यम) यम-पक्षपातरहित न्यायाधीश के समान वर्त्तने वाला (अर्काणाम्) सूर्य के समान न्याय धर्म विद्या का प्रकाशक, अंधकार अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक (अग्नेः) अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने हारा (वरुणस्य) वरुण अर्थात् बांधने वाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला (चन्द्र-वित्तेशयोः) चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष के समान कोशों का पूर्ण करने वाला सभापति होवे * ॥ ४ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

* (शाश्वतीः मात्रा निर्हृत्य च) इनकी स्वाभाविक मात्राओं=अंशों का सार लेकर 'राजा' के व्यक्तित्व का निर्माण किया है । ('च' से पूर्वश्लोक की क्रिया की अनुवृत्ति है) ।

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥ (५)

(यस्मात्) क्योंकि (एषां सुरेन्द्राणाम्) इन [७।४] शक्तिशाली देवशक्तियों

के (मात्राभ्यः) सारभूत अंश से (नृपः निर्मितः) 'राजा' के पद को बनाया है (तस्मात्) इसीलिए (एषः) यह राजा (तेजसा) अपने तेज (=शक्ति-प्रभाव) से (सर्वभूतानि अभिभवति) सब प्राणियों को वशीभूत एवं पराजित रखता है ॥ ५ ॥

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥ (६)

(एषः) जो (आदित्यवत्) सूर्यवत् प्रतापी (मनांसि) सबके बाहर और भीतर मनों को+ (तपति) अपने तेज से तपाने हारा है (एनं भुवि) जिसको पृथिवी में (अभिवीक्षितुम्) कड़ी दृष्टि से देखने को (कश्चित् अपि न शक्नोति) कोई भी समर्थ नहीं होता ॥ ६ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

+(च चक्षूंषि) और देखने वालों की आंखों को·········

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥ (७)

"और जो अपने से अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्म, प्रकाशक, धनवर्द्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्य वाला हो वही सभाध्यक्ष सभेश होने योग्य होवे।"
(स० प्र० षष्ठ समु०)

(सः) वह राजा (प्रभावतः) अपने प्रभाव के कारण (अग्निः) कभी अग्नि के समान गुणों वाला [७।४] (च) और (वायुः) वायु के गुणों वाला (अर्कः) सूर्य के समान (सोमः) चन्द्र के समान (धर्मराट्) यम के समान न्यायकारी (कुवेरः) ऐश्वर्य-सम्पन्न (वरुणः) वरुण के समान (च) और कभी (सः) वह (महेन्द्रः) इन्द्र के समान (भवति) स्वरूप धारण करता है ॥ ७ ॥

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥ (८)

(तस्मात्) इसलिए (सः नराधिपः) वह राजा (यं धर्मम्) जिस धर्म अर्थात् कानून का (इष्टेषु व्यवस्येत्) पालनीय विषयों में निर्धारण करे (च) और (अनिष्टेषु अपि अनिष्टम्) अपालनीय विषयों में जिसका निषेध करे (तं धर्मं न विचालयेत्) उस धर्म अर्थात् कानून का उल्लंघन न करे ॥ १३ ॥

दण्ड की सृष्टि एवं उपयोग—

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥ (९)

(तस्य अर्थे) उस राजा के लिए (पूर्वम्) सृष्टि के प्रारम्भ में ही (ईश्वरः) ईश्वर ने (सर्वभूतानां गोप्तारम्) सब प्राणियों की सुरक्षा करने वाले (ब्रह्मतेजो-

मयम्) ब्रह्मतेजोमय अर्थात् शिक्षाप्रद और अपराधनाशक गुण वाले (धर्मात्मजम्) धर्मस्वरूपात्मक (दण्डम् असृजत्) दण्ड [=सज़ा] को रचा ॥ १४ ॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥ १६ ॥ (१०)

(देशकालौ शक्ति च विद्याम्) देश, समय, शक्ति और विद्या अर्थात् अपराध के अनुसार उचित दण्ड का ज्ञान, इन बातों को (तत्त्वतः अवेक्ष्य) ठीक-ठीक विचार कर (अन्यायवर्तिषु) अन्याय का आचरण करने वाले (नरेषु) लोगों में (तम्) उस दण्ड को (यथार्हतः संप्रणयेत्) यथायोग्य रूप में प्रयुक्त करे ॥१६॥

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ १७ ॥ (११)

(सः दण्डः पुरुषः राजा) जो दण्ड है वही पुरुष, राजा (सः नेता) वही न्याय का प्रचारकर्त्ता (च) और (शासिता) सब का शासनकर्त्ता (सः) वही (चतुर्णाम् आश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः) चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् जामिन् [=जिम्मेदार] है ॥१७॥ (स० प्र० ६ समु०)

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥ (१२)

(दण्डः सर्वाः प्रजाः शास्ति) वही दण्ड प्रजा का शासनकर्त्ता (दण्डः एव अभिरक्षति) सब प्रजा का रक्षक है (सुप्तेषु जागर्ति) ❋ सोते हुए प्रजास्थ जनों में जागता है, इसीलिए (बुधाः) बुद्धिमान् लोग (दण्डं धर्मं विदुः) दण्ड को ही धर्म कहते हैं ॥ १८ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

❋ (दण्डः) वह दण्ड ही..................

"और जैसा विद्वान् लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं, वैसा सब लोग जानें। क्योंकि दण्ड ही प्रजा का शासन अर्थात् नियम में रखने वाला, दण्ड ही सब का सब ओर से रक्षक, और दण्ड ही सोते हुओं में ज़ागता है। चोरादि दुष्ट भी दंड ही के भय से पाप कर्म नहीं कर सकते"। (सं० वि० गृहाश्रम प्रक०)

समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १९ ॥ (१३)

(सम्यक् समीक्ष्य धृतः) जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाये तो (सः) वह (सर्वाः प्रजाः रञ्जयति) सब प्रजा को आनन्दित कर देता (असमीक्ष्य प्रणीतः तु) और जो बिना विचारे चलाया जाये तो (सर्वतः विनाशयति) सब ओर से राजा का विनाश कर देता है ॥१९॥ (स० प्र० ६ समु०)

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ २४ ॥ (१४)

(सर्ववर्णाः दुष्येयुः) बिना दण्ड के सब वर्ण दूषित (च) और (सर्वसेतवः भिद्येरन्) सब मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न हो जायें (दण्डस्य विभ्रमात्) दण्ड के यथावत् न होने से (सर्वलोकप्रकोपः भवेत्) सब लोगों का प्रकोप [=आक्रोश] हो जावे ॥ २४ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ २५ ॥ (१५)

(यत्र) जहां (श्यामः लोहिताक्षः पापहा) कृष्णवर्ण, रक्तनेत्र भयंकर पुरुष के समान पापों का नाश करने हारा (दण्डः चरति) दण्ड विचरता है (तत्र प्रजाः न मुह्यन्ति) वहां प्रजा मोह को प्राप्त न होके आनन्दित होती है (नेता साधु पश्यति चेत्) परन्तु जो दण्ड का चलाने वाला पक्षपातरहित विद्वान् हो तो ॥ २५ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥ (१६)

(तस्य संप्रणेतारं राजानम् आहुः) उस दण्ड को अच्छे प्रकार चलाने हारे उस राजा को कहते हैं कि (सत्यवादिनं समीक्ष्यकारिणम्) जो सत्यवादी, विचार ही करके कार्य का कर्त्ता (प्राज्ञम्) बुद्धिमान् विद्वान् (धर्म-काम-अर्थ-कोविदम्) धर्म, काम और अर्थ का यथावत् जानने हारा हो ॥ २६ ॥
(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"जो उस दण्ड का चलाने वाला-सत्यवादी, विचार के करने हारा, बुद्धिमान्, धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि करने में पण्डित राजा है, उसी को उस दण्ड का चलाने हारा विद्वान् लोग कहते हैं" । (स० प्र० षष्ठ समु०)

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥ (१७)

(तं सम्यक् राजा प्रणयन्) जो दण्ड को अच्छे प्रकार राजा चलाता है (त्रिवर्गेण अभिवर्द्धते) वह धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि को बढ़ाता है, और जो (कामात्मा) विषय में लंपट (विषमः) टेढ़ा, ईर्ष्या करने हारा (क्षुद्रः) क्षुद्र नीचबुद्धि न्यायाधीश राजा होता है (दण्डेन एव निहन्यते) वह दण्ड से ही मारा जाता है ॥ २७ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥ (१८)

(दण्डः हि सुमहत् तेजः) दण्ड बड़ा तेजोमय है (अकृतात्मभिः दुर्धरः) उसको अविद्वान् अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता (धर्मात् विचलितं नृपम् एव) तब वह दण्ड धर्म से रहित राजा ही का ॐ (हन्ति) नाश कर देता है ॥ २८ ॥
ॐ (सबान्धवम्) कुलसहित.................. (स० प्र० षष्ठ समु०)

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥ (१६)

(असहायेन मूढेन) जो राजा उत्तम सहायरहित, मूढ़ (लुब्धेन) लोभी (अकृतबुद्धिना) जिसने ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मों से विद्या और बुद्धि की उन्नति नहीं की (विषयेषु सक्तेन) जो विषयों में फंसा हुआ है (सः) उससे वह दण्ड (न्यायतः नेतुं न शक्यः) कभी न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ॥ ३० ॥

(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"क्योंकि जो आप्तपुरुषों के सहाय, विद्या सुशिक्षा से रहित, विषयों में आसक्त मूढ़ है, वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकता।"

(स० प्र० षष्ठ समु०)

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥ (२०)

और (शुचिना) जो पवित्र (सत्यसन्धेन) सत्याचार और सत्पुरुषों का संगी (यथाशास्त्र+अनुसारिणा) यथावत् नीतिशास्त्र के अनुकूल चलने हारा (सुसहायेन) श्रेष्ठ पुरुषों के सहाय से युक्त (धीमता) बुद्धिमान् है (दण्डः प्रणेतुं शक्यते) वही न्यायरूपी दण्ड के चलाने में समर्थ होता है ॥ ३१ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

"इसलिए जो पवित्र, सत्पुरुषों का संगी, राजनीतिशास्त्र के अनुकूल चलने हारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त, बुद्धिमान् राजा हो, वही इस दण्ड को धारण करके चला सकता है।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ ४३ ॥ (२१)

राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं कि जब वे (त्रैविद्येभ्यः) चारों वेदों की कर्म, उपासना, ज्ञान विद्याओं के जानने वालों से (त्रयीं विद्याम्)

तीनों विद्या (शाश्वतीं दण्डनीतिम्) सनातन दण्डनीति (आन्वीक्षिकीम्) न्यायविद्या (आत्मविद्याम्) आत्मविद्या अर्थात् परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभावरूप को यथावत् जानने रूप ब्रह्मविद्या (च) और (लोकतः वार्त्तारम्भान्) लोक से वार्त्ताओं का आरम्भ (कहना और सुनना) सीखकर— सभासद् या सभापति हो सकें ॥ ४३ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

राजा का जितेन्द्रिय होना आवश्यक—

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥ ४४ ॥ (२२)

जब सभासद् और सभापति (इन्द्रियाणां जये समातिष्ठेत्) इन्द्रियों को जीतने अर्थात् अपने वश में रखके सदा धर्म में वर्तें और अधर्म से हटे-हटाए रहें, इसलिए (दिवानिशं योगम्) रात-दिन नियत समय में योगाभ्यास भी करते रहें (हि) क्योंकि (जितेन्द्रियः) जो जितेन्द्रिय कि अपनी इन्द्रियों- जो मन, प्राण और शरीर प्रजा है इसको जीते बिना (प्रजाः वशे स्थापयितुं शक्नोति) बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता ॥ ४४ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

व्यसनों की गणना--

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥ (२३)

दृढ़ोत्साही होकर (दश कामसमुत्थानि च अष्टौ क्रोधजानि) जो काम से दश और क्रोध से आठ (व्यसनानि) दुष्ट व्यसन (दुरन्तानि) कि जिनमें फंसा हुआ मनुष्य कठिनता से निकल सके उनको (प्रयत्नेन विवर्जयेत्) प्रयत्न से छोड़ और छुड़ा देवे ॥ ४५ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥ (२४)

(हि) क्योंकि (महीपतिः) जो राजा (कामजेषु व्यसनेषु प्रसक्तः) काम से उत्पन्न हुए दश दुष्ट व्यसनों में फंसता है (अर्थ-धर्माभ्यां वियुज्यते) वह अर्थ अर्थात् राज्य-धन-आदि और धर्म से रहित हो जाता है। (तु) और क्रोधजेषु) जो क्रोध से उत्पन्न हुए आठ बुरे व्यसनों में फंसता है (आत्मना एव) वह शरीर से भी रहित हो जाता है ॥ ४६ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाटचा च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥ (२५)

काम से उत्पन्न हुए व्यसन गिनाते हैं ······ (मृगया) मृगया [=शिकार] खेलना (अक्षः) अक्ष अर्थात् चोपड़ खेलना, जूआ खेलना आदि (दिवास्वप्नः) दिन में सोना (परिवादः) काम कथा वा दूसरे की निंदा किया करना (स्त्रियः) स्त्रियों का अति संग (मदः) मादक द्रव्य अर्थात् मद्य, अफीम, भांग, गांजा, चरस आदि का सेवन (तौर्य-त्रिकम्) गाना, बजाना, नाचना व नाच कराना सुनना और देखना [ये तीन बातें] (वृथाट्या) (वृथा इधर-उधर घूमते रहना (दशकः कामजः गणः) ये दश कामोत्पन्न व्यसन हैं ॥ ४७ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ४८ ॥ (२६)

क्रोध से उत्पन्न व्यसनों को गिनाते हैं– (पैशुन्यम्) पैशुन्य अर्थात् चुगली करना (साहसम्) बिना विचारे बलात्कार से किसी स्त्री से बुरा काम करना (द्रोहः) द्रोह रखना (ईर्ष्या) ईर्ष्या अर्थात् दूसरे की बड़ाई वा उन्नति देखकर जला करना (असूया) असूया—दोषों में गुण, गुणों में दोषारोपण करना (अर्थदूषणम्) अर्थ-दूषण अर्थात् अधर्मयुक्त बुरे कामों में धन आदि का व्यय करना (वाग् दण्डजम्) कठोर वचन बोलना और बिना अपराध का कड़ा वचन (च) वा (पारुष्यम्) विशेष दंड देना (अष्टकः क्रोधजः अपि गणः) ये आठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं ॥ ४८ ॥ (स० प्र० षष्ट समु०)

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ४९ ॥ (२७)

और (एतयोः द्वयोः अपि मूलं यं लोभम्) जो इन कामज और क्रोधज अठारह दोषों के मूल जिस लोभ को (सर्वे कवयः विदुः) सब विद्वान् लोग जानते हैं (तं यत्नेन जयेत्) उसको प्रयत्न से राजा जीते, क्योंकि (तत्+जौ एतौ उभौ गणौ) लोभ ही से पूर्वोक्त अठारह और अन्य दोष भी वहुत से होते हैं ॥ ४९ ॥
(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"जो सव विद्वान् लोग कामज और क्रोधजों का मूल जानते हैं कि जिससे ये सव दुर्गुण मनुष्य को प्राप्त होते हैं. उस लोभ को प्रयत्न से छोड़े" ।
(स० प्र० षष्ठ समु०)

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥ (२८)

(कामजे गणे) काम के व्यसनों में वड़े दुर्गुण, एक (पानम्) मद्य आदि अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन, दूसरा—(अक्षाः) पासों आदि से जूआ खेलना,

तीसरा—(स्त्रियः एव) स्त्रियों का विशेष संग, चौथा—(मृगया) मृगया [=शिकार] खेलना (एतत्) ये ❀ (चतुष्कं कष्टतमं विद्यात्) चार महादुष्ट व्यसन हैं ॥ ५० ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

❀ (यथाक्रमम्) क्रम से पूर्व-पूर्व के अधिकाधिक..................

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥ ५१ ॥ (२९)

(च) और (क्रोधजे अपि गणे) क्रोधजो में (दण्डस्य पातनम्) बिना अपराध दण्ड देना (वाक् पारुष्य+अर्थदूषणे) कठोर वचन बोलना और धन आदि का अन्याय में खर्च करना (एतत् त्रिकं सदा कष्टं) ये तीन क्रोध से उत्पन्न हुए बड़े दुःखदायक दोष हैं + ॥ ५१ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)
+ (विद्यात्) ऐसा जाने ।

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषंगिणः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥ (३०)

"जो ये सात दुर्गुण दोनों कामज और क्रोधज दोषों में गिने हैं, इनमें से पूर्व-पूर्व अर्थात् व्यर्थव्यय से कठोर वचन, कठोर वचन से अन्याय से दंड देना, इससे मृगया खेलना, इससे स्त्रियों का अत्यन्त संग, इससे जूआ अर्थात् द्यूत करना और इससे भी मद्यादि सेवन करना बड़ा दुष्ट व्यसन है" । (स० प्र० षष्ठ समु०)

(अस्य सप्तकस्य वर्गस्य) इस [५०-५१ में वर्णित] सात प्रकार के दुर्गुणों के वर्ग में (सर्वत्र एव अनुषङ्गिणः) जो सब स्थानों पर सब मनुष्यों में पाये जाते हैं (आत्मवान्) आत्मा की उन्नति चाहने वाला राजा (पूर्वं पूर्वं व्यसनं गुरुतरं विद्यात्) पहले-पहले व्यसन को अधिक कष्टप्रद समझे ॥ ५२ ॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥ ५३ ॥ (३१)

"इसमें यह निश्चय है कि दुष्ट व्यसन में फंसने से मर जाना अच्छा है क्योंकि जो दुष्टाचारी पुरुष है वह अधिक जियेगा तो अधिक-अधिक पाप करके नीच-नीच गति अर्थात् अधिक-अधिक दुःख को प्राप्त होता जायेगा और जो किसी व्यसन में नहीं फंसा वह मर भी जायेगा तो भी सुख को प्राप्त होता जायेगा । इसलिये विशेष राजा को और सब मनुष्यों को उचित है कि कभी मृगया और मद्यपान आदि दुष्टकामों में न फंसे और दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर धर्मयुक्त, गुण-कर्म-स्वभावों में सदा वर्तके अच्छे-अच्छे काम किया करें" । (स० प्र० षष्ठ समु०)

(व्यसनस्य च मृत्योः च) व्यसन और मृत्यु में (व्यसनं कष्टम् उच्यते) व्यसन को ही अधिक कष्टदायक कहा गया है, क्योंकि (व्यसनी) व्यसन में फंसा रहने वाला व्यक्ति (अधः-अधः याति) दिन प्रतिदिन दुर्गुणों और कष्टों में गिरता ही जाता है या अवनति को ही प्राप्त होता जाता है, किन्तु (अव्यसनी) व्यसन से रहित व्यक्ति (मृतः) मरकर भी (स्वर्याति) स्वर्गसुख को प्राप्त करता है अर्थात् उसे परजन्म में सुख मिलता है ॥ ५३ ॥

मन्त्रियों की नियुक्ति—

मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान् ।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ५४ ॥ (३२)

(मौलान्) स्वराज्य-स्वदेश में उत्पन्न हुए (शास्त्रविदः) वेदादि शास्त्रों के जानने वाले (शूरान्) शूरवीर (लब्धलक्ष्यान्) जिनके लक्ष्य और विचार निष्फल न हों, और (कुल द्गतान्) कुलीन (परीक्षितान्) अच्छे प्रकार सुपरीक्षित (सप्त वा अष्टौ) सात वा आठ (सचिवान्) उत्तम, धार्मिक, चतुर मन्त्री (प्रकुर्वीत) करे ॥ ५४ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"और जो अपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जानने हारे, शूरवीर, जिनका विचार निष्फल न होवे, कुलीन, धर्मात्मा, स्वराज्यभक्त हों, उन सात या आठ पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा करके मन्त्री करे; और इन्हीं की सभा में आठवां वा नववां राजा हो। ये सब मिलके कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें"। (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"अपने राज्य और देश में उत्पन्न हुए, वेद वा शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, कवि, गृहस्थ, अनुभवकर्त्ता, सात अथवा आठ धार्मिक बुद्धिमान् मन्त्री राजा को रखने चाहिएं"। (पू० प्र० १११)

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥ (३३)

(अपि) क्योंकि (विशेषतः असहायेन) विशेष सहाय के बिना (यत् सुकरं कर्म) जो सुगम कर्म है (तत् अपि) वह भी (एकेन दुष्करम्) एक के करने में कठिन हो जाता है (किन्तु) जब ऐसा है तो (महोदयं राज्यम्) महान् राज्य कर्म एक से कैसे हो सकता है? इसलिए एक को राजा और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य्य को निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है ॥५५॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"क्योंकि सहायता बिना लिए साधारण काम भी एक को करना कठिन हो जाता है। फिर बड़े भारी राज्य का काम एक से कैसे हो सकता है? इसलिए

एक को राजा बनाना और उसी की बुद्धि पर सारे काम का बोझ रखना बुद्धिमत्ता नहीं है" । (पू० प्र० १११)

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ५६ ॥ (३४)

इससे सभापति को उचित है कि (नित्यम्) नित्यप्रति (तैः सार्धम्) उन राज्यकर्मों में कुशल विद्वान् मन्त्रियों के साथ (सामान्यम्) सामान्य करके किसी से (सन्धि-विग्रहम्) सन्धि=मित्रता, किसी से विग्रह=विरोध, (स्थानम्) स्थित समय को देखकर के चुपचाप रहना, अपने राज्य को रक्षा करके बैठे रहना (समुदयम्) जब अपना उदय अर्थात् वृद्धि हो तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना (गुप्तिम्) मूल राज, सेना, कोश आदि की रक्षा (लब्धप्रशमनानि) जो-जो देश प्राप्त हों उस-उस में शान्ति-स्थापना, उपद्रवरहित करना (चिन्तयेत्) इन छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करे ॥ ५६ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"महाराजा को उचित है कि मन्त्रियों समेत छः बातों पर विचार करें—१. मित्र, और २. शत्रु में चतुरता, ३. अपनी उन्नति, ४. अपना स्थान, ५. शत्रु के आक्रमण से देश की रक्षा, ६. विजय किये हुए देशों की रक्षा, स्वास्थ्य आदि प्रत्येक विषय पर विचार करके यथार्थ निर्णय से जो कुछ अपनी और दूसरों की भलाई की बात विदित हो उसे करना" । (पू० प्र० १११)

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ ६० ॥ (३५)

(अन्यान् अपि) अन्य भी (शुचीन्) (प्राज्ञान्) बुद्धिमान् (अवस्थितान्) निश्चित बुद्धि (सम्यक्-अर्थ-समाहर्तॄन्) पदार्थों के संग्रह करने में अतिचतुर (सुपरीक्षितान्) सुपरीक्षित (अमात्यान् प्रकुर्वीत) मंत्री करे ॥ ६० ॥
(स० प्र० षष्ठ समु०)

"इसी प्रकार अन्य भी राज्य और सेना के अधिकारी जितने पुरुषों से राज्यकार्य सिद्ध हो सके उतने ही पवित्र, धार्मिक, विद्वान् चतुर, स्थिरबुद्धि पुरुषों को राज्यसामग्री के वर्धक नियत करे ।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलोद्गतान् ।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥ (३६)

(तेषां अर्थे) इनके अधोन (शूरान्) शूरवीर (दक्षान्) बलवान् (कुलोद्-गतान्) कुलोत्पन्न (शुचीन्) पवित्र भृत्यों को (आकरकर्मान्ते) बड़े-बड़े कर्मों में, और (भीरून् अन्तर्निवेशने) भीरु=डरने वालों को भीतर के कर्मों में (नियुञ्जीत) नियुक्त करे ॥ ६२ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

दूतों की नियुक्ति—

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥ (३७)

(कुलोद्गतम्) जो प्रशंसित कुल में उत्पन्न (दक्षम्) चतुर (शुचिम्) पवित्र (इङ्गित+आकार+चेष्टज्ञम्) हावभाव और चेष्टा से भीतर हृदय और भविष्यत् में होने वाली बात को जानने हारा (सर्वशास्त्रविशारदम्) सब शास्त्रों में विशारद चतुर है (दूतम् एव प्रकुर्वीत) उस दूत को रक्खे ॥ ६३ ॥
(स० प्र० षष्ठ समु०)

"तथा जो सब शास्त्र में निपुण नेत्रादि के संकेत, स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जानने हारा, शुद्ध, बड़ा स्मृतिमान्, देश, काल जाननेहारा, सुन्दर, जिसका स्वरूप बड़ा, वक्ता और अपने कुल में मुख्य हो, उस और स्वराज्य और परराज्य के समाचार देने हारे अन्य दूतों को भी नियत करे।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् ।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥ (३८)

वह ऐसा हो कि (अनुरक्तः) राज-काम में अत्यन्त उत्साह प्रीतियुक्त (शुचिः) निष्कपटी, पवित्रात्मा (दक्षः) चतुर (स्मृतिमान्) बहुत समय की बात को भी न भूलने वाला (देशकालवित्) देश और कालानुकूल वर्तमान का कर्त्ता (वपुष्मान्) सुन्दररूपयुक्त (वीतभीः) निर्भय, और (वाग्मी) बड़ा वक्ता (राज्ञः दूतः प्रशस्यते) वही राजा का दूत होने में प्रशस्त है ॥ ६४ ॥
(स० प्र० षष्ठ समु०)

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया ।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ॥ ६५ ॥ (३९)

(अमात्ये दण्डः) अमात्य को दण्डाधिकार (दण्डे वैनयिकी क्रिया) दण्ड में विनय=अनुशासित क्रिया अर्थात् जिससे अन्यायरूप दण्ड न होने पावे (नृपतौ कोशराष्ट्रे) राजा के अधीन कोश और राष्ट्र (च) तथा सभा के अधीन सब कार्य, और (दूते संधिविपर्ययौ) दूत के अधीन किसी से मेल वा विरोध करना (आयत्तः) अधिकार देवे ॥ ६५ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

दूतएव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥ ६६ ॥ (४०)

"दूत उसको कहते हैं जो फूट में मेल और मिले हुए दुष्टों को फोड़-तोड़ देवे, दूत वह कर्म करे जिससे शत्रुओं में फूट पड़े।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

(हि) क्योंकि (दूतः एव) दूत ही ऐसा व्यक्ति होता है जो (संधत्ते) मेल करा देता है (च) और (संहतान् भिनत्ति एव) मिले हुए शत्रुओं में फूट भी डाल देता है (दूतः तत् कर्म कुरुते) दूत वह काम कर देता है (येन मानवाः भिद्यन्ते) जिससे शत्रुओं के लोगों में भी फूट पड़ जाती है ॥ ६६ ॥

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥ ६७ ॥ (४१)

(सः) वह दूत (अस्य) शत्रु राजा के (कृत्येषु) असंतुष्ट या विरोधी लोगों में (च) और (भृत्येषु) राजकर्मचारियों में (निगूढ+इङ्गित+चेष्टितैः) गुप्त संकेतों एवं चेष्टाओं से (आकारम्) उनके आकार=भाव (इङ्गितम्) संकेत=हाव (चेष्टाम्) चेष्टा को तथा (चिकीर्षितम्) उनके अभिलषित कार्य को (विद्यात्) जाने ॥ ६७ ॥

बुद्ध्वा सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम्।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथाऽऽत्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥ (४२)

वह सभापति और सब सभासद् वा दूत आदि (तत्त्वेन) यथार्थ से (परराजचिकीर्षितम्) दूसरे विरोधी राजा के राज्य का अभिप्राय (बुद्ध्वा) जानकर (तथ प्रयत्नम् आतिष्ठेत्) वैसा यत्न करे (यथा) कि जिससे (आत्मानं न पीडयेत्) अपने को पीड़ा न हो ॥ ६८ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

राजा के निवास योग्य देश एवं दुर्ग—

जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम्।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ६९ ॥ (४३)

राजा (जाङ्गलम्) जांगल प्रदेश [जहां उपयुक्त पानी बरसता हो, बाढ़ न आती हो, खुली हवा और सूर्य का पर्याप्त प्रकाश हो, धान्य आदि बहुत उत्पन्न होता हो] (सस्यसंपन्नम्) हरा-भरा (आर्यप्रायम्) श्रेष्ठ लोगों का बाहुल्य (अनाविलम्) रोगरहित (रम्यम्) रमणीय (आनतसामन्तम्) विनम्रता का व्यवहार करने वाले निवासी (स्व+आजीव्यम्) आजीविकाओं से सम्पन्न जो हो (देशम् आवसेत्) ऐसे देश में निवासस्थान करे ॥ ६९ ॥

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥ (४४)

(धन्वदुर्गम्) धन्वदुर्ग—मरुस्थल में बना किला जहां मरुभूमि के कारण

जाना दुर्गम हो (महीदुर्गम्) महीदुर्ग—पृथिवी के अन्दर तहखाने या गुफा के रूप में बना किला या मिट्टी की बड़ी-बड़ी मेढों से घिरा हुआ (अप्+दुर्गम्) जलदुर्ग—जिसके चारों ओर पानी हो (वा) अथवा (वार्क्षम्) वृक्षदुर्ग—जो घने वृक्षों के वन से घिरा हो (नृदुर्गम्) नृदुर्ग—जो सेना से घिरा रहे, जिसके चारों ओर सेना का निवास हो (वा) अथवा (गिरिदुर्गम्) गिरिदुर्ग—पहाड़ के ऊपर बना या पहाड़ों से घिरा किला (समाश्रित्य) बनाकर और उसका आश्रय करके (पुरं वसेत्) अपने निवास में रहे ॥ ७० ॥

महर्षि दयानन्द ने 'धन्वदुर्गम्' के स्थान पर 'धनुर्दुर्गम्' पाठ लेकर इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—

"इस लिए सुन्दर जंगल धन-धान्य युक्त देश में (धनुर्दुर्गम्) धनुर्धारी पुरुषों से गहन (महीदुर्गम्) मट्टी से किया हुआ (अब्दुर्गम्) जल से घेरा हुआ (वार्क्षम्) अर्थात् चारों ओर वन (नृदुर्गम्) चारों ओर सेना रहे (गिरिदुर्गम्) अर्थात् चारों ओर पहाड़ों के बीच में कोट बनाके इस के मध्य में नगर बनावे।"
(स० प्र० षष्ठ समु०)

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥ (४५)

राजा (सर्वेण तु प्रयत्नेन) सब प्रकार से प्रयत्न करके (गिरिदुर्गं समाश्रयेत्) 'पर्वतदुर्ग' का ही आश्रय करे—बनाकर रहे (हि) क्योंकि (बाहुगुण्येन) सबमें अधिक विशेषताओं के कारण (गिरिदुर्गं विशिष्यते) पर्वतदुर्ग ही सर्वश्रेष्ठ है ॥ ७१ ॥

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दशसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥ (४६)

(प्राकारस्थः) नगर के चारों ओर प्राकार=प्रकोट बनावे क्योंकि उस में स्थित हुआ (एकः धनुर्धरः) एक वीर धनुर्धारी शस्त्रयुक्त पुरुष (शतम्) सौ के साथ, और (शतं दशसहस्राणि) सौ दशहजार के साथ (योधयति) युद्ध कर सकते हैं (तस्मात् दुर्गं विधीयते) इसलिए अवश्य दुर्ग का बनाना उचित है ॥ ७४ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥ (४७)

(तत्) वह दुर्ग (आयुधः) शस्त्रास्त्र (धन-धान्येन वाहनैः) धन, धान्य, वाहन (ब्राह्मणैः) ब्राह्मण, जो पढ़ाने, उपदेश करने हारे हों (शिल्पिभिः) कारीगर (यन्त्रैः) यन्त्र—नाना प्रकार की कला (यवसेन) चारा-घास (वा)

और (उदकेन) जल आदि से (सम्पन्नं स्यात्) सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण हो ॥ ७५ ॥
(स० प्र० षष्ठ समु०)

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः ।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥ (४८)

(तस्य मध्ये) उसके मध्य में (जल-वृक्ष-समन्वितम्) जल, वृक्ष,-पुष्पादिक युक्त (गुप्तम्) सब प्रकार से रक्षित (सर्व+ऋतुकम्) सब ऋतुओं में सुखकारक (शुभ्रम्) श्वेतवर्ण (आत्मनः गृहम्) अपने लिए घर (सुपर्याप्तम्) जिसमें सब राजकार्य का निर्वाह हो वैसा (कारयेत्) बनवावे ॥७६॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥ (४९)

इतना अर्थात् ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़के यहां तक राज-काम करके पश्चात् (रूपगुण+अन्विताम्) सौन्दर्यरूप गुणयुक्त (हृद्याम्) हृदय को अतिप्रिय (महति कुले संभूताम्) बड़े उत्तम कुल में उत्पन्न (लक्षण+अन्विताम्) सुन्दर लक्षणयुक्त (सवर्णां भार्याम् उद्वहेत्) अपने क्षत्रिय कुल की कन्या जो कि अपने सदृश विद्यादि गुण-कर्म-स्वभाव में हो उस एक ही स्त्री के साथ विवाह करे। दूसरी सब स्त्रियों को अगम्य समझकर दृष्टि से भी न देखे ॥ ७७ ॥
(स० प्र० षष्ठ समु०)

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥ ७८ ॥ (५०)

(पुरोहितं च ऋत्विजं वृणुयात् एव प्रकुर्वीत) पुरोहित और ऋत्विक् का स्वीकार इसलिये करे कि (ते) वे (गृह्याणि च वैतानिकानि अस्य कर्माणि कुर्युः) अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब राजघर के कर्मों को करें और आप सर्वदा राजकार्य में तत्पर रहे ॥ ७८ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ७९ ॥ (५१)

(राजा) राजा (आप्तदक्षिणैः विविधैः क्रतुभिः) बहुत दक्षिणा वाले अनेक यज्ञों को (यजेत) किया करे (च) तथा (धर्मार्थम्) धर्म के लिए (विप्रेभ्यः) विद्वान् ब्राह्मणों को (भोगान् च धनानि दद्यात्) भोग्यवस्तुओं एवं धनों का दान करे ॥ ७९ ॥

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम् ।
स्याच्चाम्नायपरो लोको वर्तेत हितवन्नृषु ॥ ८० ॥ (५२)

(सांवत्सरिकं बलिम्) वार्षिक कर + (आप्तैः आहारयेत्) आप्त पुरुषों के द्वारा ग्रहण करे (च) और जो सभापतिरूप राजा आदि प्रधान पुरुष हैं वे सब (आम्नायपरः) सभा-वेदानुकूल होकर ❀ (नृषु पितृवत् वर्तेत) प्रजा के साथ पिता के समान वर्त्तें ॥ ८० ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

+ (राष्ट्रात्) राष्ट्र अर्थात् राज्यवासियों से..................

❀ (लोके) राज्य में......................

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१ ॥ (५३)

"उस राज्यकार्य में विविधप्रकार के अध्यक्षों को सभा नियत करे। इनका यही काम है—जितने-जितने, जिस–जिस काम में राजपुरुष होवें नियमानुसार वर्त्तकर यथावत् काम करते हैं वा नहीं। जो यथावत् करें तो उनका सत्कार और जो विरुद्ध करें तो उनको यथावत् दण्ड दिया करे"। (स० प्र० षष्ठ समु०)

राजा (विविधान्) अनेक (विपश्चितः अध्यक्षान्) योग्य विद्वान् अध्यक्षों को (तत्र-तत्र) आवश्यकतानुसार विभिन्न कार्यों में (कुर्यात्) नियुक्त करे (ते) वे सब अध्यक्ष (अस्य) इस राजा द्वारा नियुक्त (सर्वाणि) सब (कार्याणि कुर्वताम्) कार्य करते (नृणाम्) लोगों का (अवेक्षेरन्) निरीक्षण करें ॥ ८१ ॥

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ८२ ॥ (५४)

(नृपाणां ब्राह्मः एषः अक्षयः निधिः विधीयते) सदा जो राजाओं को वेद-प्रचाररूप अक्षय कोश है (गुरुकुलात् आवृत्तानां पूजकः भवेत्) इसके प्रचार के लिए कोई यथावत् ब्रह्मचर्य से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर गुरुकुल से आवे, उसका सत्कार, राजा और सभा यथावत् करें (विप्राणाम्) तथा उनका भी जिनके पढ़ाये हुए विद्वान् होवें। इस बात के करने से राज्य में विद्या की उन्नति होकर अत्यन्त उन्नति होती है ॥ ८२ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

युद्ध के लिए गमन तथा युद्धसम्बन्धी व्यवस्थाएं—

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥ (५५)

(प्रजाः पालयन् राजा) जब कभी प्रजा का पालन करने वाले राजा को (सम-उत्तम-अधमैः आहूतः तु) अपने से तुल्य, उत्तम और छोटा संग्राम में आह्वान करे तो (क्षात्रं धर्मम् अनुस्मरन्) क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करके (संग्रामात् न निवर्तेत) संग्राम में जाने से कभी निवृत्त न हो अर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उनसे युद्ध करे, जिससे अपनी ही विजय हो ॥ ८७ ॥ (स० प्र० ६ समु०)

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥ ॥ ८९ ॥(५६)

(आहवेषु) जो संग्रामों में + (अन्यः+अन्यं जिघांसन्तः) एक दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए (महीक्षितः) राजा लोग (परं शक्त्या अपराङ्-मुखाः) जितना अपना सामर्थ्य हो विना डरे, पीठ न दिखा (युध्यमानाः) युद्ध करते हैं वे (स्वर्गं यान्ति) सुख को प्राप्त होते हैं ॥

इससे विमुख कभी न हो किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिए उनके सामने छिप जाना उचित है । क्योंकि, जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके वैसे काम करें । जैसे सिंह क्रोधाग्नि में सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट-भ्रष्ट न हो जावें ॥ ८९ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

+(मिथः) परस्पर ....

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ९१ ॥(५७)
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ (५८)
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥ (५९)

(न स्थलारूढम्) युद्ध समय में न इधर-उधर खड़े (न क्लीवम्) न नपुंसक (न कृताञ्जलिम्) न हाथ जोड़े हुए (न मुक्तकेशम्) न जिसके शिर के बाल खुल गये हों (न आसीनम्) न बैठे हुए (न "तव अस्मि" इति वादिनम्) न "मैं तेरे शरण हूं" ऐसे+को (नसुप्तम्) न सोते हुए (न विसन्नाहम्) न मूर्छा को प्राप्त हुए (न नग्नम्) न नग्न हुए (न निरायुधम्) न आयुध से रहित (न अयुध्यमानम् पश्यन्तम्) न युद्ध करते हुए को देखने वाले (न परेण समागतम्) न शत्रु के साथी (न आयुध-व्यसन-प्राप्तम्) न आयुध के प्रहार से पीड़ा को प्राप्त हुए (न आर्त्तम्) न दुःखी (न अतिपरिक्षतम्) न अत्यन्त घायल (न भीतम्) न डरे हुए और (न परावृत्तम्) न पलायन करते हुए पुरुष को (सतां धर्मम् अनुस्मरन्) सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए (हन्यात्) योद्धालोग कभी मारें ॥

+(वादिनम्) कहते हुए—

किन्तु उनको पकड़ के, जो अच्छे हों उन्हें बन्दीगृह में रखदे और भोजन आच्छादन यथावत् देवे । और जो घायल हुए हों उनको औषध आदि विधिपूर्वक

करे। न उनको चिढ़ावे, न दुःख देवे, जो उनके योग्य काम हो करावे। विशेष इस पर ध्यान रखें कि स्त्री, बालक वृद्ध और आतुर तथा शोकयुक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनमें लड़कों को अपने सन्तानवत् पाले और स्त्रियों को भी पाले, उनको अपनी बहन और कन्या के समान समझे. कभी विषयासक्ति की दृष्टि से भी न देखे। जब राज्य अच्छे प्रकार जम जाये और जिनमें पुनः-पुनः युद्ध करने की शंका न हो उनको सत्कारपूर्वक छोड़कर अपने-अपने घर वा देश को भेज देवे। और जिनसे भविष्यत् काल में विघ्न होना संभव हो उनको सदा कारागार में रखे॥ ९१, ९२, ९३॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः।
भर्तुर्यद् दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते॥ ९४॥ (९०)

(तु) और (यः) जो (परावृत्तः) पलायन अर्थात् भागे और × (भीतः परैः हन्यते) डरा हुआ भृत्य शत्रुओं से मारा जाये वह (भर्त्तुः दुष्कृतं प्रतिपद्यते) उस स्वामी के अपराध को प्राप्त होकर❀दण्डनीय होवे॥ ९४॥ (स० प्र० ६ समु०)

× (संग्रामे) युद्ध में······

❀ (यत् किंचित् तत्) जैसा कुछ दण्ड देवे उससे·········

यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु॥ ९५॥ (९१)

(च) और (यत् किंचित् अस्य सुकृतम्) जो उसकी प्रतिष्ठा है (अमुत्रार्थम् उपार्जितम्) जिससे इस लोक और परलोक में सुख होने वाला था (तत् सर्वं भर्त्ता आदत्ते) उसको उसका स्वामी ले लेता है (परावृत्तहतस्य तु) जो भागा हुआ मारा जाये उसको कुछ भी सुख नहीं होता, उसका पुण्यफल नष्ट हो जाता और उस प्रतिष्ठा को वह प्राप्त हो जिसने धर्म से यथावत् युद्ध किया हो॥ ९५॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्॥ ९६॥ (९२)

इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि (यः यत्) लड़ाई में जिस-जिस अमात्य वा अध्यक्ष ने (रथ+अश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः) रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन, धान्य, गाय आदि पशु और स्त्रियां (च) तथा (सर्वद्रव्याणि) अन्य प्रकार के सब द्रव्य (कुप्यम्) और घी, तेल आदि के कुप्पे (जयति) जीते हों (तत् तस्य) वही उस-उस का ग्रहण करे॥ ९६॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥ (६३)

(च) परन्तु सेनास्थ जन भी उन जीते हुए पदार्थों में से (उद्धारं राज्ञः दद्युः) सोलहवां भाग राजा को देवें (च) और (राज्ञा) राजा भी (सर्वयोधेभ्यः) सेनास्थ योद्धाओं को (अपृथक्जितम्) उस धन में से जो सब ने मिलकर जीता हो (दातव्यम्) सोलहवां भाग देवे ॥

और जो कोई युद्ध में मर गया हो उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे और उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करें। जब उसके लड़के समर्थ हो जावें तब उनको यथायोग्य अधिकार देवे। जो कोई अपने राज्य की वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय और आनन्दवृद्धि की इच्छा रखता हो, वह इस मर्यादा का उल्लंघन कभी न करे ॥ ९७ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः ।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥ ९८ ॥ (६४)

(एषः) यह [८७-९७] (अनुपस्कृतः) अनिन्दित (सनातनः) सर्वदा मान्य (योधधर्मः प्रोक्तः) योद्धाओं का धर्म कहा, (क्षत्रियः) क्षत्रिय व्यक्ति (रणे रिपून् घ्नन्) युद्ध में शत्रुओं को मारते हुए (अस्मात् धर्मात् न च्यवेत) इस धर्म से विचलित न होवे ॥ ९८ ॥

राजा की चिन्तनीय बातें—

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ९९ ॥ (६५)

राजा और राजसभा (अलब्धं च एव लिप्सेत) अलब्ध की प्राप्ति की इच्छा (लब्धं प्रयत्नतः रक्षेत्) प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करे (रक्षितं वर्धयेत्) रक्षित को बढ़ावें (च) और (वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्) बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगावे ॥९९॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥ (६६)

(एतत् चतुर्विधम्) यह चार प्रकार का (पुरुषार्थप्रयोजनम्) राज्य के लिए पुरुषार्थ करने का उद्देश्य (विद्यात्) समझना चाहिए, राजा (अतन्द्रितः) आलस्य रहित होकर (अस्य नित्यं सम्यक् अनुष्ठानं कुर्यात्) इस उद्देश्य का सदैव पालन करता रहे ॥ १०० ॥

"इस चार प्रकार के पुरुषार्थ के प्रयोजन को जाने, आलस्य छोड़कर इसका भलीभांति नित्य अनुष्ठान करे।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्धचा वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ १०१ ॥ (६७)

(दण्डेन अलब्धम् इच्छेत्) दण्ड से अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा (अवेक्षया) नित्य देखने से (लब्धं रक्षेत्) प्राप्त की रक्षा (रक्षितं वृद्धचा वर्धयेत्) रक्षित की वृद्धि अर्थात् व्याजादि से बढ़ावे (वृद्धम्) और बढ़े हुए धन को पूर्वोक्त [९९] मार्ग में नित्य व्यय करे :०: ॥ १०१ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

:०: अर्थात् (पात्रेषु निःक्षिपेत्) सुपात्रों एवं योग्य कर्मों में व्यय करे।

"राजाधिराजपुरुष अलब्ध राज्य की प्राप्ति की इच्छा दण्ड से, और प्राप्त राज्य की रक्षा देखभाल करके, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और ब्याज से बढ़ा और सुपात्रों के द्वारा सत्यविद्या और सत्यधर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढ़े हुए धन आदि पदार्थों का व्यय करके सबकी उन्नति सदा किया करें॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥ १०२ ॥ (६८)

राजा (नित्यम् उद्यतदण्डः स्यात्) सदैव दंड का प्रयोग करने में तत्पर रहे (नित्यं विवृतपौरुषः) सदैव पराक्रम दिखलाने के लिए तैयार रहे (नित्यं संवृत-संवार्यः) सदैव गोपनीय कार्यों को गुप्त रखे (नित्यम् अरेः छिद्रानुसारी) सदैव शत्रु के छिद्रों-कमियों को खोजता रहे॥ १०२ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत्।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥ (६९)

(नित्यम् उद्यतदण्डस्य) जिस राजा के राज्य में सर्वदा दण्ड के प्रयोग का निश्चय रहता है तो उससे (कृत्स्नं जगत् उद्विजते) सारा जगत् भयभीत रहता है (तस्मात्) इसीलिए (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियों को (दण्डेनैव प्रसाधयेत्) दण्ड से साधे अर्थात् दण्ड के भय से अनुशासन में रखे॥ १०३ ॥

अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया।
बुद्ध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥ (७०)

(कथंचन) कदापि (न मायया वर्तेत) किसी के साथ छल से न वर्ते (अमायया एव) किन्तु निष्कपट होकर सबसे बर्ताव रखे (च) और (नित्यं स्वसंवृतः) नित्यप्रति अपनी रक्षा करके (अरिप्रयुक्तां मायां बुध्येत) शत्रु के किये हुए छल को जान के निवृत्त करे॥ १०४ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥ (७१)

(परः अस्य छिद्रं न विद्यात्) कोई शत्रु अपने छिद्र अर्थात् निर्बलता को न जान सके (तु) और (परस्य छिद्रं विद्यात्) स्वयं शत्रु के छिद्रों को जानता रहे (कूर्म इव अङ्गानि) जैसे कछुआ अपने अंगों को गुप्त रखता है वैसे (आत्मनः विवरं गूहेत् रक्षेत्) शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र को गुप्त रखे ॥ १०५ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥ (७२)

(बकवत् अर्थान् चिन्तयेत्) जैसे बगुला ध्यानावस्थित होकर मच्छी के पकड़ने को ताकता है वैसे अर्थसंग्रह का विचार किया करे, द्रव्यादि पदार्थ और बल की वृद्धि कर शत्रु को जीतने के लिए (सिंहवत् पराक्रमेत्) सिंह के समान पराक्रम करे (वृकवत् अवलुम्पेत) चीते के समान छिपकर शत्रुओं को पकड़े (च) और समीप में आये बलवान् शत्रुओं से (शशवत् विनिष्पतेत्) सुस्से [=खरगोश] के समान दूर भाग जाये और पश्चात् उनको छल से पकड़े ॥ १०६ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ १०७ ॥ (७३)

(एवं विजयमानस्य) इस प्रकार विजय करने वाले सभापति के राज्य में (ये परिपन्थिनः स्युः) जो परिपंथी अर्थात् डाकू-लुटेरे हों (तान्) उनको (साम+आदिभिः) साम=मिला लेना, दाम=कुछ देकर, भेद=तोड़-फोड़ करके :०: (वशम् आनयेत्) वश में करे ॥ १०७ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

:०: (उपक्रमैः) इन उपायों से...............

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥ (७४)

(यदि) यदि (ते) वे शत्रु डाकू, चोर आदि (प्रथमैः त्रिभिः उपायैः न तिष्ठेयुः तु) पूर्वोक्त साम, दाम, भेद इन तीन उपायों से शान्त न हों या वश में न आयें तो राजा (एतान्) इन्हें (दण्डेन एव) दण्ड के द्वारा ही (प्रसह्य) बलपूर्वक (शनकैः वशम् आनयेत्) सावधानोपूर्वक वश में लाये ॥ १०८ ॥

"और जो इनसे वश में न हों तो अतिकठिन दण्ड से वश में करे।"

(स० प्र० षष्ठ समु०)

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥ (७५)

(यथा) जैसे (निर्दाता) धान्य का निकालने वाला (कक्षम् उद्धरति धान्यं च रक्षति) छिलकों को अलग कर धान्य की रक्षा करता अर्थात् टूटने नहीं देता है (तथा) वैसे (नृपः) राजा (परिपन्थिनः हन्यात्) डाकू-चोरों को मारे (च) और (राष्ट्रं रक्षेत्) राज्य की रक्षा करे ॥ ११० ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥ १११ ॥ (७६)

(यः राजा) जो राजा (मोहात् अनवेक्षया) मोह से, अविचार से (स्वराष्ट्रं कर्षयति) अपने राज्य को दुर्बल करता है (सः) वह (राज्यात्) राज्य से (च) और (सबान्धवः जीवितात्) बन्धुसहित जीने से पूर्व ही (अचिरात्) शीघ्र (भ्रश्यते) नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ॥ १११ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ११२ ॥ (७७)

(यथा) जैसे (प्राणिनां प्राणाः) प्राणियों के प्राण (शरीरकर्षणात् क्षीयन्ते) शरीरों को कृशित करने से क्षीण हो जाते हैं (तथा) वैसे ही (राष्ट्रकर्षणात्) प्रजाओं को दुर्बल करने से (राज्ञाम् अपि प्राणाः) राजाओं के प्राण अर्थात् बलादि बन्धुसहित (क्षीयन्ते) नष्ट हो जाते हैं ॥ ११२ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

राष्ट्रस्य सङ्ग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥ (७८)

"इसलिए राजा और राजसभा राजकार्य की सिद्धि के लिए ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राजकार्य यथावत् सिद्ध हों। जो राजा राज्यपालन में सब प्रकार तत्पर रहता है उसको सदा सुख बढ़ता है।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

इसलिए राजा (राष्ट्रस्य संग्रहे) राष्ट्र की रक्षा व्यवस्था एवं अभिवृद्धि के लिए (नित्यम्) सदैव (इदं विधानम् आचरेत्) इस निम्न वर्णित व्यवस्था [११४–१४४] को लागू करे (हि) क्योंकि (सुसंगृहीतराष्ट्रः पार्थिवः) सुरक्षित एवं समृद्ध तथा व्यवस्थित राष्ट्र वाला राजा ही (सुखम् एधते) सुखपूर्वक रहते हुए बढ़ता है– उन्नति करता है ॥ ११३ ॥

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥ (७९)

इसलिए (द्वयोः त्रयाणां पञ्चानां तथा ग्रामशतानां मध्ये) दो, तीन, पाँच

और सौ गांव के बीच में (गुल्मं अधिष्ठितम्) एक राज-स्थान [=राज्य सचिवालय] रख के जिसमें यथायोग्य भृत्य और कामदार आदि राजपुरुषों को रख कर (राष्ट्रस्य संग्रहं कुर्यात्) सब राज्य के कार्यों को पूर्ण करे ॥ ११४ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

ग्रामाध्यक्षों आदि की नियुक्ति—

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥ (८०)

(ग्रामस्य अधिपतिं कुर्यात्) एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधान पुरुष को रखे (तथा दशग्रामपतिम्) उन्हीं दश ग्रामों के ऊपर दूसरा (विंशति+ईशम्) उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा (शत+ईशम्) उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा (च) और (सहस्रपतिम् एव) उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पांचवां पुरुष रखे।

अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दशग्रामों में एक थाना और दो थानों पर एक बड़ा थाना और उन पांच थानों पर एक तहसील और दस तहसीलों पर एक जिला नियत किया है ॥११५॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥ ११६ ॥ (८१)

इसी प्रकार प्रवंध करे और आज्ञा देवे कि (ग्रामिकः) वह एक-एक ग्रामों के पति (ग्रामदोषान् समुत्पन्नान्) ग्रामों में नित्यप्रति जो-जो दोष उत्पन्न हों उन-उनको (शनकैः स्वयम्) गुप्तता से (ग्रामदशेशाय) दशग्राम के पति को (शंसेत्) विदित कर दे, और (दशेशः) वह दश ग्रामाधिपति उसी प्रकार (विंशति+ईशिने) बीस ग्राम के स्वामी को दशग्रामों का वर्तमान [=की स्थिति] नित्य प्रति जना देवे ॥ ११६ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥ (८२)

(तु) और (विंशतीशः) बोस ग्रामों का अधिपति (तत् सर्वम्) बीस ग्रामों के वर्तमान को [=बीस ग्रामों की स्थिति को] (शतेशाय निवेदयेत्) शतग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन करे (शतेशः तु) वैसे सौ-सौ ग्रामों के पति (स्वयम्) आप (सहस्रपतये) सहस्राधिपति अर्थात् हजार ग्रामों के स्वामी को (शंसेत्) सौ-सौ ग्रामों के वर्तमान को प्रतिदिन जनाया करें ॥ ११७ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥ १२० ॥ (८३)

"और एक-एक, दश-दश सहस्र ग्रामों पर दो सभापति वैसे करें जिनमें एक राजसभा में और दूसरा अध्यक्ष आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीश आदि राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहें"। (स० प्र० षष्ठ समु०)

(तेषाम्) उन पूर्वोक्त अध्यक्षों [११६–११७] के (ग्राम्याणि कार्याणि) गांवों से सम्बद्ध राजकार्यों को (च) और (पृथक् कार्याणि एव हि) अन्य भिन्न-भिन्न कार्यों को भी (राज्ञः अन्यः स्निग्धः सचिवः) राजा का एक विश्वासपात्र मन्त्री (अतन्द्रितः) आलस्यरहित होकर (पश्येत्) देखे ॥ १२० ॥

नगरों में राजभवन का निर्माण—

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥ (८४)

"बड़े-बड़े नगरों में एक-एक विचार करने वाली सभा का सुन्दर, उच्च और विशाल जैसा कि चन्द्रमा है, वैसा एक-एक घर बनावें। उसमें बड़े-बड़े विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठकर विचार किया करें। जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो वैसे-वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करें"। (स० प्र० षष्ठ समु०)

राजा (नगरे नगरे) बड़े-बड़े प्रत्येक नगर में (एकम्) एक-एक (नक्षत्राणां ग्रहम् इव) जैसे नक्षत्रों के बीच में चन्द्रमा है इस प्रकार विशाल और देखने में प्रभावकारी (घोररूपम्) भयकारी अर्थात् जिसे देखकर या जिसका ध्यान करके प्रजाओं में नियमों के विरुद्ध चलने में भय का अनुभव हो (सर्व+अर्थचिन्तकम्) जिसमें सब राजकार्यों के चिन्तन और व्यवस्था का प्रबन्ध हो ऐसा (उच्चैः स्थानम्) ऊंचा भवन अर्थात् सचिवालय (कुर्यात्) बनावे ॥ १२१ ॥

स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम्।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥ (८५)

"जो नित्य घूमने वाला सभापति हो उसके अधीन सब गुप्तचर और दूतों को रखे, जो राजपुरुष और भिन्न-भिन्न जाति के रहें, उन से सब राज और प्रजा पुरुषों के सब दोष और गुण गुप्तरीति से जाना करे। जिनका अपराध हो उनको दंड और जिनका गुण हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे"।
(स० प्र० षष्ठ समु०)

(सः) वह [७।१२० में वर्णित] सचिव=मन्त्री (तान् सर्वान् साद

स्वयम् अनुपरिक्रामेत्) उन निर्मित [७। १२१] सब न्चित्रालयों का सदा स्वयं घूम-फिरकर निरीक्षण करता रहे (च, और (राष्ट्रे) देश में (तत् चरैः) अपने दूतों के द्वारा (तेषां वृत्तं परिणयेत्) वहां नियुक्त राजपुरुषों के आचरण की गुप्तरीति से जानकारी प्राप्त करता रहे ॥ १२२ ॥

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १२३ ॥ (८६)

"राजा जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार देवे वे धार्मिक, सुपरीक्षित विद्वान्, कुलीन हों। उनके आधीन प्रायः शठ और परपदार्थ हरने वाले चोर-डाकुओं को भी नौकर रख के, उनको दुष्टकर्म से बचाने के लिए राजा के नौकर कर के, उन्हीं रक्षा करने वाले विद्वानों के स्वाधीन करके उनसे इस प्रजा की रक्षा यथावत् करे"। (स० प्र० षष्ठ समु०)

(हि) क्योंकि (प्रायेण) प्रायः (राज्ञः रक्षाधिकृताः भृत्याः) राजा के द्वारा प्रजा की सुरक्षा के लिए नियुक्त राजसेवक (परस्वादायिनः) दूसरों के धन के लालची अर्थात् रिश्वतखोर और (शठाः) ठग या धोखा करने वाले (भवन्ति) हो जाते हैं (तेभ्यः) ऐसे राजपुरुषों से (इमाः प्रजाः रक्षेत्) अपनी प्रजाओं की रक्षा करे अर्थात् ऐसे प्रयत्न करे कि वे प्रजाओं के साथ या राज्य के साथ ऐसा वर्ताव न कर पायें ॥ १२३ ॥

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४ ॥ (८७)

"जो राजपुरुष अन्याय से वादी-प्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करे उसका सर्वस्व हरण करके, यथायोग्य दण्ड देकर, ऐसे देश में रखे कि जहां से पुनः लौटकर न आ सके। क्योंकि यदि उसको दण्ड न दिया जाये तो उसको देखके अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करेंगे और दण्ड दिया जाये तो बचे रहेंगे।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

(पापचेतसः) पापी मन वाले (ते) वे रिश्वतखोर और ठग राजपुरुष (कार्यिकेभ्यः) यदि काम कराने वालों और मुकद्दमे वालों से (अर्थं गृह्णीयुः एव) धन अर्थात् रिश्वत ले ही लें तो (तेषां सर्वस्वम् आदाय) उनका सब कुछ अपहरण करके (राजा) राजा (प्रवासनम् कुर्यात्) उन्हें देशनिकाला दे दे ॥ १२४ ॥

कर्मचारियों के वेतन का निर्धारण—

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥ (८८)

(राजा) राजा (कर्मसु युक्तानाम्) राजकार्यों में नियुक्त राजपुरुषों (स्त्रीणाम्) स्त्रियों (च) और (प्रेष्यजनस्य) सेवकवर्ग की (कर्म+अनुरूपतः) पद और काम के अनुसार (प्रत्यहम्) प्रतिदिन की (स्थानं वृत्तिं कल्पयेत्) कर्मस्थान और जीविका निश्चित कर दे ॥ १२५ ॥

"जितने से उन राजपुरुषों का योगक्षेम भलीभांति हो और वे भलीभांति धनाढ्य भी हों, उतना धन वा भूमि राज्य की ओर से मासिक वा वार्षिक अथवा एक बार मिला करे। और जो वृद्ध हों उनको भी आधा मिला करे, परन्तु यह ध्यान में रखे कि जब तक वे जियें तब तक वह जीविका बनी रहे पश्चात् नहीं। परन्तु इनके सन्तानों का सत्कार वा नौकरी उनके गुण के अनुसार अवश्य देवे। और जिसके बालक जब तक समर्थ हों और उनकी स्त्री जीती हो तो उन सब के निर्वाहार्थ राज की ओर से यथायोग्य धन मिला करे। परन्तु जो उसकी स्त्री वा लड़के कुकर्मी हो जायें तो कुछ भी न मिले ऐसी नीति राजा बराबर रखे"।

(स० प्र० षष्ठ समु०)

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥ १२६ ॥ (८९)

(अवकृष्टस्य पणः) निम्नस्तर के नौकर को कम से कम एक पण और (उत्कृष्टस्य षट्) ऊंचे स्तर के भृत्य को छः पण (वेतनं देयः) वेतन प्रतिदिन देना चाहिए (तथा) तथा उन्हें (षाण्मासिकः आच्छादः) प्रति छः महीने पर ओढ़ने पहरने के वस्त्र [=वेशभूषा] (तु) और (मासिकः धान्यद्रोणः) एक महीने में एक द्रोण [६४ सेर] धान्य=अन्न, देना चाहिए ॥ १२६ ॥

कर-ग्रहण सम्बन्धी आवश्यक नियम—

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥ १२७ ॥ (९०)

(क्रय-विक्रयम्) खरीद और विक्री (भक्तम्) भोजन (च)तथा (सपरिव्ययम्) भरण-पोषण का व्यय (च) और (योगक्षेमम्) लाभ (संप्रेक्ष्य) इन सब बातों पर विचार करके (वणिजः करान् दापयेत्) राजा को व्यापारी से कर लेने चाहिएं ॥ १२७ ॥

यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥ १२८ ॥ (९१)

(यथा) जैसे (राजा) राजा (च) और (कर्मणां कर्त्ता) कर्मों का कर्त्ता राजपुरुष व प्रजाजन (फलेन युज्येत) सुखरूप फल से युक्त होवे (तथा) वैसे

(अवेक्ष्य) विचार करके (नृपः) राजा तथा राज्यसभा (राष्ट्रे करान् सततं कल्पयेत्) राज्य में कर-स्थापन करे ।। १२८ ।। (स० प्र० षष्ठ समु०)

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ।। १२९ ।। (९२)

(यथा) जैसे (वार्योकः-वत्स-षट्पदाः) जोंक, वछड़ा और भंवरा (अल्प+अल्पम् आद्यम् अदन्ति) थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं (तथा) वैसे (राज्ञा राष्ट्रात्) राजा प्रजा से (अल्पः+अल्पः) थोड़ा-थोड़ा (आब्दिकः करः गृहीतव्यः) वार्षिक कर लेवे ।। १२९ ।। (स० प्र० षष्ठ समु०)

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ।। १३० ।। (९३)

"जो व्यापार करने वाले वा शिल्पी को सुवर्ण और चांदी का जितना लाभ हो उसमें से पचासवां भाग, चावल आदि अन्नों में छठा आठवां वा बारहवां भाग लिया करे, और जो धन लेवे तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें ।"

(स० प्र० षष्ठ समु०)

(राज्ञा) राजा को (पशु-हिरण्ययोः) पशुओं और सोने के लाभ में से (पञ्चाशत् भागः) पचासवां भाग, और (धान्यानां षष्ठः, अष्टमः वा द्वादशः एव आदेयः) अन्नों का छठा, आठवां या अधिक से अधिक बारहवां भाग ही लेना चाहिए ।। १३० ।।

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ।। १३१ ।। (९४)

(अथ) और (द्रुमांस-मधु-सर्पिषाम्) गोंद, मधु, घी (च) और (गन्ध-औषधि-रसानाम्) गंध, औषधि, रस (च) तथा (पुष्प-मूल-फलस्य) फूल, मूल और फल, इनका (षड्भागम् आददीत) छठा भाग कर में लेवे ।। १३१ ।।

पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च ।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ।। १३२ ।। (९५)

(च) और (पत्र-शाक-तृणानाम्) वृक्षपत्र, शाक, तृण (चर्मणां वैदलस्य) चमड़ा, वांसनिर्मित वस्तुएं (मृण्मयानां भाण्डानाम्) मिट्टी के वने वर्तन (च) और (सर्वस्य अश्ममयस्य) सब प्रकार के पत्थर से निर्मित पदार्थ, इनका भी छठा भाग कर ले ।। १३२ ।।

यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७ ॥ (९६)

(राष्ट्रे) राज्य में (व्यवहारेण जीवन्तं पृथक्जनम्) व्यापार से जीविका करने वाले प्रत्येक व्यक्ति से (राजा) राजा को (यत् किंचित् अपि) थोड़ा-बहुत तो (वर्षस्य करसंज्ञितम्) वार्षिक कर के नाम से कुछ न कुछ (दापयेत्) लेना चाहिए ॥ १३७ ॥

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया ।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥ १३९ ॥ (९७)

(अतितृष्णया) अतिलोभ से (आत्मनः) अपने ❀ (परेषां मूलम्) दूसरों के सुख के मूल को (न उच्छिन्द्यात्) उच्छिन्न अर्थात् नष्ट कदापि न करे (हि) क्योंकि जो + (मूलम् उच्छिन्दन्) व्यवहार और सुख के मूल का छेदन करता है वह (आत्मानं च तान् पीडयेत्) अपने और उन को पीड़ा ही देता है ॥ १३९ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

❀ (च) और……

+ (आत्मनः) अपने………

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः ॥ १४० ॥ (९८)

(महीपतिः) जो महीपति (कार्यं वीक्ष्य) कार्य को देखकर (तीक्ष्णः च मृदुः एव स्यात्) तीक्ष्ण और कोमल भी होवे (तीक्ष्णः च एव) वह दुष्टों पर तीक्ष्ण (च) और (मृदुः एव) श्रेष्ठों पर कोमल रहने से (राजा संमतः भवति) अतिमाननीय होता है ॥ १४० ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम् ।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम् ॥ १४१ ॥ (९९)

(नृणां कार्येक्षणे खिन्नः) प्रजा के कार्यों की देखभाल करने में रुग्णता आदि के कारण अशक्त होने पर (तस्मिन् आसने) उस अपने आसन पर (धर्मज्ञम्) न्यायकारी धर्मज्ञाता (प्राज्ञम्) बुद्धिमान् (दान्तम्) जितेन्द्रिय (कुलोद्गतम्) कुलीन (अमात्यमुख्यम्) प्रधान अमात्य=मन्त्री को (स्थापयेत्) बिठा देवे अर्थात् रुग्णावस्था में प्रधान अमात्य को अपने स्थान की जिम्मेदारी देवे ॥ १४१ ॥

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः ।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥ (१००)

(एवम्) इस प्रकार (सर्वम् इतिकर्त्तव्यं विधाय) सब राज्य का प्रबन्ध करके (युक्तः) सदा इसमें युक्त (च) और (अप्रमत्तः) प्रमादरहित होकर (आत्मनः इमाः प्रजाः परिरक्षेत्) अपनी प्रजा का पालन निरन्तर करे ॥ १४२ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥१४३॥(१०१)

(यस्य सभृत्यस्य संपश्यतः) जिस भृत्यसहित देखते हुए राजा के (राष्ट्रात्) राज्य में से (दस्युभिः विक्रोशन्त्यः प्रजाः ह्रियन्ते) डाकू लोग रोती, विलाप करती प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हरते रहते हैं (सः मृतः) वह जानों भृत्य-अमात्यसहित मृतक है (न तु जीवति) जीता नहीं है और महादुःख पाने वाला है ॥ १४३ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ १४४ ॥ (१०२)

इसलिए (क्षत्रियस्य) राजाओं का (प्रजानाम् एव पालनम्) प्रजापालन ही करना (परः धर्मः) परम धर्म है (निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा) और जो मनुस्मृति के सप्तमाध्याय में कर लेना लिखा है और जैसा सभा नियत करे उसका भोक्ता राजा (धर्मेण युज्यते) धर्म से युक्त होकर सुख पाता है, इससे विपरीत दुःख को प्राप्त होता है ॥ १४४ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

राजा के दैनिक कर्त्तव्य—

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥ १४५ ॥(१०३)

(पश्चिमे यामे उत्थाय) जब पिछली प्रहर रात्रि रहे तब उठ (कृतशौचः) शौच और (समाहितः) सावधान होकर परमेश्वर का ध्यान (हुताग्निः) अग्नि-होत्र (ब्राह्मणान् अर्च्य) विद्वानों का सत्कार (च) और भोजन करके (शुभां सभां प्रविशेत्) भीतर सभा में प्रवेश करे ॥ १४५ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥१४६॥ (१०४)

(तत्र स्थितः) वहां खड़ा रहकर (सर्वाः प्रजाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्) जो प्रजाजन उपस्थित हों उन को मान्य दे (च सर्वाः प्रजाः विसृज्य) और उनको छोड़कर (मन्त्रिभिः सह मन्त्रयेत्) मुख्यमंत्री के साथ राज्य-व्यवस्था का विचार करे ॥ १४६ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

राज्यसम्बन्धी मन्त्रणायें—

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥१४७॥ (१०५)

(रहोगतः) पश्चात् उसके साथ घूमने को चला जाये (गिरिपृष्ठं वा प्रासादम्) पर्वत की शिखर अथवा एकान्त घर (वा) वा (अरण्ये निःशलाके) जंगल जिसमें एक शलाका भी न हो वैसे एकान्त स्थान में (समारुह्य) बैठकर (अविभाविताः) विरुद्ध भावना को छोड़ (मन्त्रयेत्) मन्त्री के साथ विचार करे ॥ १४७ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥१४८॥ (१०६)

(यस्य) जिस राजा के (मन्त्रम्) गूढ़ विचार को (पृथक् जनाः समागम्य न जानन्ति) अन्य जन मिलकर नहीं जान सकते अर्थात् जिसका विचार गम्भीर, शुद्ध, परोपकारार्थ सदा गुप्त रहे (सः कोशहीनः अपि पार्थिवः) वह धनहीन भी राजा (कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते) सब पृथिवी का राज्य करने में समर्थ होता है ॥ १४८ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् ।
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ १५२ ॥ (१०७)

(च) और (तेषां परस्परविरुद्धानां समुपार्जनम्) उस धर्म–अर्थ–काम में परस्परविरोध आ पड़ने पर उसे दूर करना और उनमें अभिवृद्धि करना (च) और (कन्यानां कुमाराणां सम्प्रदानं च रक्षणम्) कन्याओं और कुमारों का गुरुकुलों में भेजना और उनकी सुरक्षा तथा विवाह का भी विचार करे ॥ १५२ ॥

"राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना । जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें । किन्तु आचार्यकुल में रहें जब तक समावर्त्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावे" ।

(स० प्र० तृतीय समु०)

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च ।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ १५३ ॥ (१०८)

(च) और (दूतसंप्रेषणम्) दूतों को इधर–उधर भेजना (तथैव कार्यशेषम्)

उसी प्रकार अन्य शेष रहे कार्यों को पूर्ण करना (च) तथा (अन्तःपुर-प्रचारम्) अन्तःपुर=महल के आन्तरिक आचरण एवं स्थिति (च) और (प्रणिधीनां चेष्टितम्) नियुक्त गुप्तचरों के आचरण एवं चेष्टाएं, इन पर भी ध्यान रखे, विचार करे ॥ १५३ ॥

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः ।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १५४ ॥ (१०९)

(च) और (कृत्स्नम् अष्टविधं कर्म) सम्पूर्ण अष्टविध कर्म (च) तथा पञ्चवर्गदूतों की व्यवस्था (अनुराग-अपरागौ) अनुराग=लगाव और अपराग=स्नेह का अभाव=द्वेष (च) तथा (मण्डलस्य प्रचारम्) राज्यमण्डल की स्थिति एवं आचरण (तत्त्वतः) इन बातों पर ठीक ठीक चिन्तन करे ॥ १५४ ॥

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् ।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ १५५ ॥ (११०)

(च) और (मध्यमस्य प्रचारम्) 'मध्यम' राजा का आचरण का (च) तथा (विजिगीषोः चेष्टितम्) 'विजिगीषु' राजा के प्रयत्नों का (च) तथा (उदासीनप्रचारम्) 'उदासीन' राजा की स्थिति का (च) एवं (शत्रोः एव) शत्रु राजा के आचरण एवं स्थिति आदि का भी (प्रयत्नतः) प्रयत्नपूर्वक विचार करे अर्थात् विचार करके तदनुसार प्रयत्न भी करे ॥ १५५ ॥

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः ।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥१५६॥ (१११)

(समासतः) संक्षेप में (एताः मण्डलस्य मूलं प्रकृतयः) ये चार [मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु] राज्यमण्डल की मूल प्रकृतियाँ=मूल रूप से विचारणीय स्थितियां या विषय हैं (च) और (अष्टौ अन्याः समाख्याताः) आठ प्रकृतियां और कही गई हैं (ताः तु द्वादश एव स्मृताः) इस प्रकार वे कुल मिला-कर बारह होती हैं ॥ १५६ ॥

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः ।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥ (११२)

(अमात्य-राष्ट्र-दुर्ग-अर्थ-दण्ड-आख्याः) मन्त्री, राष्ट्र, किला, कोश, दण्ड नामक (अपराः पञ्च) और पाँच प्रकृतियां हैं (प्रत्येकं कथिता हि एताः) पूर्वोक्त [१५५-१५६] बारह प्रकृतियों के साथ ये मिलकर अर्थात् पूर्वोक्त प्रत्येक बारहों प्रकृतियों के पांच-पांच भेद होकर इस प्रकार (संक्षेपेण द्विसप्ततिः) संक्षेप से कुल ७२ प्रकृतियां [=विचारणीय स्थितियां या विषय] हो जाती हैं। १२ पूर्व -ी और १२ के ५-५ भेद से ६० इस प्रकार १२×५=६०+१२=७२ हैं ॥ १५७ ॥

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च ।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥ (११३)

(अनन्तरम्) अपने राज्य के समीपवर्ती राजा को (च) और (अरिसेविनम्) शत्रुराजा की सेवा-सहायता करने वाले राजा को (अरिं विद्यात्) 'शत्रु' ही समझे (अरेः अनन्तरं मित्रम्) अरि से भिन्न अर्थात् शत्रु से विपरीत आचरण करने वाले अर्थात् सेवा-सहायता करने वाले राजा को 'मित्र' और (तयोः परम्) इन दोनों से भिन्न को (उदासीनम्) जो न सहायता करे न विरोध करे, उसे 'उदासीन' राजा (विद्यात्) समझना चाहिए ॥ १५८ ॥

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥ (११४)

(तान् सर्वान्) उन सब प्रकार के राजाओं को (साम+आदिभिः उपक्रमैः) 'साम' आदि [साम, दाम, दण्ड, भेद] उपायों से (व्यस्तैः) एक-एक उपाय से (च) और (समस्तैः) सब उपायों का प्रयोग करके (पौरुषेण) वीरता से (च) तथा (नयेन) नीति से (अभिसंध्यात्) वश में रखे ॥ १५९ ॥

सन्धि, विग्रह आदि षड् गुणों का वर्णन—

संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ १६० ॥ (११५)

(सन्धिम्) सन्धि (विग्रहं यानं आसनं द्वैधीभावं च संश्रयं) विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय इन (षड्गुणान् एव) छः गुणों का भी (सदा चिन्तयेत्) राजा सदा विचार-मनन करे ॥ १६० ॥

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च ।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥ (११६)

सब राजादि राजपुरुषों को यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है जो (आसनम्) आसन=स्थिरता (यानम्) यान=शत्रु से लड़ने के लिए जाना (सन्धिम्) संधि=उनसे मेल कर लेना (विग्रहम्) दुष्ट शत्रुओं से लड़ाई करना (द्वैधम्) द्वैध=दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना (च) और (संश्रयम्) संश्रय=निर्बलता में दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लेना, ये छः प्रकार के कर्म (कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत) यथायोग्य कार्य को विचारकर उसमें युक्त करना चाहिए ॥
॥ १६१ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च ।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥ (११७)

(राजा) राजा, (सन्धि विग्रहं यान+आसने द्विविधः च संश्रयः) संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय (द्विविधं तु) दो-दो प्रकार के होते हैं, उनको (विद्यात्) यथावत् जाने ॥ १६२ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तदा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥ १६३ ॥ (११८)

"(संधिः) शत्रु से मेल अथवा उससे विपरीतता करे, परन्तु वर्तमान और भविष्यत् में करने के काम बराबर करता जाये; यह दो प्रकार का मेल कहाता है।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

(तदा तु आयतिसंयुक्तः) तात्कालिक फल देने वाली और भविष्य में फल देने वाली (सन्धिः द्विलक्षणः ज्ञेयः) सन्धि दो प्रकार की होती है—(१) (समानयानकर्मा) किसी राजा से मेल करके एक साथ शत्रुराजा पर चढ़ाई करना (तथैव) उसी प्रकार दूसरी (विपरीतः) उससे विपरीत अर्थात् किसी राजा से मेल करके अलग-अलग दिशाओं से शत्रुराजा पर आक्रमण करना ॥ १६३ ॥

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥ १६४ ॥ (११९)

"(विग्रह) कार्यसिद्धि के लिए उचित समय या अनुचित समय में स्वयं किया वा मित्र के अपराध करने वाले शत्रु के साथ विरोध दो प्रकार से करना चाहिए।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

(विग्रहः द्विविधः स्मृतः) विग्रह दो प्रकार का होता है—(काले) चाहे युद्ध के लिए निश्चित किये समय में (वा) अथवा (अकाले एव) अनिश्चित किसी भी समय में (१) (कार्यार्थम्) कार्य की सिद्धि के लिए (स्वयंकृतः) स्वयं किया गया विग्रह (च) और (मित्रस्य अपकृते) किसी के द्वारा मित्रराजा पर आक्रमण या हानि पहुंचाने पर मित्रराजा की रक्षा के लिए किया गया विग्रह ॥ १६४ ॥

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥ (१२०)

(आत्ययिके कार्ये प्राप्ते) अकस्मात् कोई कार्य प्राप्त होने में+ (एकाकिनः) एकाकी (च) वा (मित्रेण संहतस्य) मित्र के साथ मिल के शत्रु की ओर जाना [=चढ़ाई करना] (द्विविधं यानम् उच्यते) यह दो प्रकार का गमन [=यान] कहाता है ॥ १६५ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

+ (यदृच्छया) स्वतन्त्रतापूर्वक.....................

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ १६६ ॥ (१२१)

:o: (क्रमशः) स्वयं किसी प्रकार क्रम से (क्षीणस्य एव) क्षीण हो जायें अर्थात् निर्बल हो जाये (च) अथवा (मित्रस्य अनुरोधेन) मित्र के रोकने से अपने स्थान में बैठे रहना (द्विविधम् आसनं स्मृतम्) यह दो प्रकार का आसन कहाता है ॥ १६६ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

:o: (दैवात् वा पूर्वकृतेन) संयोग से अथवा पूर्वजन्म के पाप के कारण····

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥ १६७ ॥ (१२२)

"कार्यसिद्धि के लिए सेनापति और सेना के दो विभाग करके विजय करना दो प्रकार का द्वैध कहाता है।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

(षाड्गुण्य-गुणवेदिभिः) षड्गुणों के महत्त्व को जानने वालों ने (द्वैधं द्विविधं कीर्त्यते) द्वैधीभाव दो प्रकार का कहा है—(कार्यार्थसिद्धये) कार्य की सिद्धि के लिए १—(बलस्य स्थितिः) सेना के दो भाग करके एक भाग सेना को सेनापति के आधीन करना (च) और २—(स्वामिनः) सेना का एक भाग राजा द्वारा अपने आधीन रखना ॥ १६७ ॥

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥ (१२३)

"एक—किसी अर्थ की सिद्धि के लिए किसी बलवान् राजा वा किसी महात्मा की शरण लेना, जिससे शत्रु से पीड़ित न हो; दो प्रकार का आश्रय लेना कहाता है।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

(शत्रुभिः पीड्यमानस्य) शत्रुओं द्वारा पीड़ित होकर (अर्थसम्पादनार्थम्) अपने उद्देश्य की सिद्धि अथवा आत्मरक्षा के लिए किसी राजा का आश्रय लेना (च) और (व्यपदेशार्थं साधुषु) भावी हार या दुःख से बचने के लिए किसी श्रेष्ठ राजा का आश्रय लेना ये (द्विविधः संश्रयः स्मृतः) दो प्रकार का 'संश्रय' कहलाता है ॥ १६८ ॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधिं समाश्रयेत् ॥ १६९ ॥ (१२४)

(यदा अवगच्छेत्) जब यह जान ले कि (तदात्वे) इस समय युद्ध करने से (अल्पिकां पीडाम्) थोड़ी पीड़ा प्राप्त होगी (च) और (आयत्याम्) पश्चात् [=भविष्य] में करने से (आत्मनः आधिक्यं ध्रुवम्) अपनी वृद्धि और विजय

अवश्य होगी (तदा संधि समाश्रयेत्) तब शत्रु से मेल करके उचित समय तक धीरज रखे ॥ १६९ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीभृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथाऽऽत्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥ १७० ॥ (१२५)

(यदा सर्वाः प्रकृतीः) जब अपनी सब प्रजा वा सेना (भृशम्) अत्यन्त (प्रहृष्टाः) प्रसन्न (अत्युच्छ्रितम्) उन्नतिशील और श्रेष्ठ (मन्येत) जाने (तथा) वैसे (आत्मानम्) अपने को भी समझे (तदा विग्रहं कुर्वीत) तभी शत्रु से विग्रह= युद्ध कर लेवे ॥ १७० ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥ १७१ ॥ (१२६)

(यदा स्वकं बलम्) जब अपने बल अर्थात् सेना को (हृष्टं पुष्टं भावेन मन्येत) हर्ष और पुष्टियुक्त प्रसन्न भाव से जाने (च) और (परस्य) शत्रु का बल (विपरीतम्) अपने से विपरीत निर्बल हो जावे (तदा रिपुं प्रति यायात्) तब शत्रु की ओर युद्ध करने के लिए जावे ॥ १७१ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥ १७२ ॥ (१२७)

(यदा) जब (बलेन वाहनेन) सेना, बल, वाहन से (परिक्षीणः स्यात्) क्षीण हो जाये (तदा) तब (अरीन् शनकैः प्रयत्नेन सान्त्वयन्) शत्रुओं को धीरे-धीरे प्रयत्न से शान्त करता हुआ (आसीत) अपने स्थान में बैठा रहे ॥ १७२ ॥
(स० प्र० षष्ठ समु०)

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥ १७३ ॥ (१२८)

(यदा राजा) जब राजा (अरिं सर्वथा बलवत्तरं मन्येत) शत्रु को अत्यन्त बलवान् जाने (तदा) तब (द्विधा बलं कृत्वा) द्विगुणा वा दो प्रकार की सेना करके (आत्मनः कार्यं साधयेत्) अपना कार्य सिद्ध करे ॥ १७३ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ।
तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ १७४ ॥ (१२९)

(यदा) जब आप समझ लेवे कि अब (परबलानां तु गमनीयतमः भवेत्) शीघ्र शत्रुओं की चढ़ाई मुझ पर होगी (तदा तु) तभी (धार्मिकं बलिनं नृपं क्षिप्रं संश्रयेत्) किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय शीघ्र ले लेवे ॥ १७४ ॥
(स० प्र० षष्ठ समु०)

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च ।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥ १७५ ॥ (१३०)

(यः) जो (प्रकृतीनाम्) प्रजा और अपनी सेना (च) और शत्रु के बल का (निग्रहं कुर्यात्) निग्रह करे अर्थात् रोके (तं सर्वयत्नैः) उसकी सब यत्नों से (गुरुं यथा) गुरु के सदृश (नित्यम् उपसेवेत) नित्य सेवा किया करे ॥ १७५ ॥
(स० प्र० षष्ठ समु०)

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम् ।
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ १७६ ॥ (१३१)

(संश्रयकारितं यदि तत्र अपि दोषं संपश्येत्) जिसका आश्रय लेवे उस पुरुष के कर्मों में दोष देखे तो (तत्र अपि) वहाँ भी (सुयुद्धम् एव) अच्छे प्रकार युद्ध ही को (निर्विशङ्कः समाचरेत्) निःशंक होकर करे ॥१७६॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।
यथाऽस्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ १७७ ॥ (१३२)

(नीतिज्ञः पृथिवीपतिः) नीति का जानने वाला पृथिवीपति राजा (यथा) जिस प्रकार (अस्य) इसके (मित्र-उदासीन-शत्रवः) मित्र, उदासीन=मध्यस्थ और शत्रु (अधिकाः न स्युः) अधिक न हों (तथा सर्व+उपायैः कुर्यात्) ऐसे सब उपायों से वर्त्ते ॥ १७७ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १७८ ॥ (१३३)

(सर्वकार्याणां तदात्वम्) सब कार्यों का वर्तमान में कर्त्तव्य (च) और (आयतिम्) भविष्यत् में जो-जो करना चाहिए (च) और (अतीतानां सर्वेषाम्) जो-जो काम कर चुके, उन सबके (तत्त्वतः गुणदोषौ विचारयेत्) यथार्थता से गुण-दोषों को विचार करे। पश्चात् दोषों के निवारण और गुणों की स्थिरता में यत्न करे ॥ १७८ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥ (१३४)

(आयत्यां गुणदोषज्ञः) जो राजा भविष्यत् अर्थात् आगे करने वाले कर्मों में गुण-दोषों का ज्ञाता (तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः) वर्त्तमान में तुरन्त निश्चय का कर्त्ता, और (अतीते कार्यशेषज्ञः) किये हुए कार्यों में शेष कर्त्तव्य को जानता है (शत्रुभिः न अभिभूयते) वह शत्रुओं से पराजित कभी नहीं होता ॥ १७९ ॥
(स० प्र० षष्ठ समु०)

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ।। १८० ।। (१३५)

(सर्वं तथा विदध्यात्) सब प्रकार के राजपुरुष, विशेष सभापति राजा ऐसा प्रयत्न करे कि (यथा) जिस प्रकार (मित्र-उदासीन-शत्रवः) राजादि जनों के मित्र, उदासीन और शत्रु को वश में करके (न अभिसंदध्युः) अन्यथा न कर पावें, ऐसे मोह में न फंसे (एषः सामासिकः नयः) यही संक्षेप से नय अर्थात् राजनीति कहाती है ।। १८० ।। (स० प्र० षष्ठ समु०)

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि ।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ।। १८४ ।। (१३६)

जब राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करने को जावे तब (मूले विधानं तु) अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध (च) और (यात्रिकम्) यात्रा की सब सामग्री (यथाविधि कृत्वा) यथाविधि करके (आस्पदम् एव उपगृह्य) सब सेना, यान, वाहन, शस्त्र, अस्त्र आदि पूर्ण लेकर (चारान् सम्यक् विधाय) सर्वत्र दूतों अर्थात् चारों ओर के समाचारों को देने वाले पुरुषों को गुप्त स्थापन करके-शत्रुओं की ओर युद्ध करने को जावे ।। १८४ ।। (स० प्र० षष्ठ समु०)

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ।। १८५ ।। (१३७)

(त्रिविधं मार्गं संशोध्य) तीन प्रकार के मार्ग अर्थात् एक-स्थल=भूमि में, दूसरा-जल=समुद्र वा नदियों में, तीसरा-आकाशमार्गों को शुद्ध बनाकर, भूमिमार्ग में रथ, अश्व, हाथी; जल में नौका और आकाश में विमान आदि यानों से जावे (च) और (षड्विधम्) पैदल, रथ, हाथी, घोड़े, शस्त्र और अस्त्र, खान-पान आदि सामग्री को यथावत् साथ ले (बलं स्वकम्) बलयुक्त पूर्ण करके (सांपरायिककल्पेन) किसी निमित्त को प्रसिद्ध करके (अरिपुरं शनैः यायात्) शत्रु के नगर के समीप धीरे धीरे जावे ।। १८५ ।। (स० प्र० षष्ठ समु०)

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेद् ।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ।। १८६ ।। (१३८)

(शत्रुसेविनि गूढे मित्रे) जो भीतर से शत्रु से मिला हो और अपने साथ भी ऊपर से मित्रता रखे, गुप्तता से शत्रु को भेद देवे (गत-प्रत्यागते एव) उसके आने जाने में, उससे बात करने में (युक्ततरः भवेत्) अत्यन्त सावधानी रखे (हि) क्योंकि भीतर शत्रु ऊपर मित्र को (कष्टतरः रिपुः) बड़ा❀शत्रु समझना चाहिए ।। १८६ ।। (स० प्र० षष्ठ समु०)

❀ कष्टदायक..................

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा ।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥ १८७ ॥ (१३९)

+(दण्डव्यूहेन) दण्ड के समान सेना को चलावे (शकटेन) जैसा शकट अर्थात् गाड़ी के समान (वराह मकराभ्याम्) वराह जैसे सूअर एक दूसरे के पीछे दौड़ते जाते हैं और कभी कभी सब मिलकर झुण्ड हो जाते हैं वैसे; जैसे मगर पानी में चलते हैं वैसे सेना को बनावे (सूच्या वा गरुडेन वा) जैसे सूई का अग्रभाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है वैसी शिक्षा से सेना को बनावे; नीलकण्ठ [=गरुड़] ऊपर नीचे झपट्टा मारता है इस प्रकार सेना को बनाकर (यायात्) लड़ावे ॥ १८७ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

+(तत् मार्गम्) चढ़ाई करते समय मार्ग में..................

यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम् ।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥ १८८ ॥ (१४०)

(यतः भयम् आशंकेत्) जिधर भय विदित हो (ततः) उसी ओर (बलं विस्तारयेत्) सेना को फैलावे (पद्मेन एव व्यूहेन) सब सेना के पतियों को चारों ओर रखके पद्मव्यूह अर्थात् पद्माकार चारों ओर से सेनाओं को रख के (स्वयं निविशेत) मध्य में आप रहे ॥ १८८ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं च कल्पयेद्दिशम् ॥ १८९ ॥ (१४१)

(सेनापति-बलाध्यक्षौ) सेनापति और बलाध्यक्ष आज्ञा को देने और सेना के साथ लड़ने-लड़ाने वाले वीरों को (सर्वदिक्षु निवेशयेत्) आठों दिशाओं में रखें (यतः भयम् आशंकेत्) जिस ओर से लड़ाई होती हो (तां प्राचीं दिशं कल्पयेत्) उसी ओर सब सेना का मुख रखे ।

परन्तु दूसरी ओर भी पक्का प्रबंध रक्खे, नहीं तो पीछे वा पार्श्व से शत्रु की घात होने का सम्भव होता है ॥ १८९ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान्कृतसंज्ञान्समंततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥ १९० ॥ (१४२)

(गुल्मान्) जो गुल्म अर्थात् दृढ़स्तम्भों के तुल्य (आप्तान्) युद्धविद्या में सुशिक्षित, धार्मिक (स्थाने च युद्धे कुशलान्) स्थित होने और युद्ध करने में चतुर (अभीरून्) भयरहित (च) और (अविकारिणः) जिनके मन में किसी प्रकार का विकार न हो+उनको (समन्ततः स्थापयेत्) सेना के चारों ओर रखे ॥ १९० ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

+ (कृतसंज्ञान्) निश्चित संकेतों को समझने वाले............

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून् ।
सूच्या वज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥ १९१ (१४३)

(अल्पान् संहतान् योधयेत्) जो थोड़े पुरुषों से वहुतों के साथ युद्ध करना हो तो मिलकर लड़ावें (कामं विस्तारयेत् वहून्) और काम पड़े तो उन्हीं को झट फैला देवें, जब नगर, दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो तब (सूच्या वज्रेण व्यूहेन व्यूह्य) 'सूचीव्यूह' तथा 'वज्रव्यूह' जैसा दुधारा खड्ग, दोनों ओर युद्ध करते जायें और प्रविष्ट भी होते चलें वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को वनाकर (योधयेत्) लड़ावें ॥ १९१ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

स्यन्दनाश्वैः समे युद्धयेदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ १९२ ॥ (१४४)

(समे युध्येत् स्यन्दन+अश्वैः) जो समभूमि में युद्ध करना हो तो रथ, घोड़े और पदातियों से (अनूपे नौ-द्विपैः) जो समुद्र में युद्ध करना हो तो नौका और थोड़े जल में हाथियों पर (वृक्ष-गुल्म+आवृते) वृक्ष और झाड़ी में (चापैः) बाण (तथा) (स्थले) स्थल बालू में (असि-चर्म+आयुधैः) तलवार और ढाल से युद्ध करें-करावें ॥ १९२ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक्परीक्षयेत् ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥ १९४ ॥ (१४५)

(व्यूह्य बलं प्रहर्षयेत्) जिस समय युद्ध होता हो तो उस समय लड़ने वालों को उत्साहित और हर्षित करें, जब युद्ध बंद हो जाये तब जिससे शौर्य और युद्ध में उत्साह हो वैसे वक्तृत्वों [=वचनों] से सबके चित्त को खान-पान, अस्त्र-शस्त्र, सहाय और औषधादि से प्रसन्न रखे, व्यूह के बिना लड़ाई न करे, न करावे+(योधयताम् अपि चेष्टाः विजानीयात्) लड़ती हुई अपनी सेना की चेष्टा को देखा करे कि (सम्यक् परीक्षयेत्) ठीक-ठीक लड़ती है वा कपट रखती है ॥ १९४ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

+ (अरीन्) शत्रुओं से...............

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥ (१४६)

(किसी समय उचित समझे तो (अरिम् उपरुध्य आसीत) शत्रु को चारों ओर से घेरकर रोकरखे (च) और (अस्य राष्ट्रम् उपपीडयेत्) इसके राज्य को पीड़ित कर (अस्य) शत्रु के (यवस-अन्न-उदक-इन्धनम्) चारा, अन्न, जल और इन्धन को (सततं दूषयेत्) नष्ट दूषित कर दे ॥ १९५ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १६६ ॥ (१४७)

शत्रु के (तडागानि) तालाव (प्राकार) नगर के प्रकोट (तथा परिखाः) और खाई को (भिन्द्यात्) तोड़-फोड़दे (रात्रौ एनं वित्रासयेत्) रात्रि में उनको भय देवे (च) और (सम्+अवस्कन्दयेत्) जीतने का उपाय करे ॥ १६६ ॥
(स० प्र० षष्ठ समु०)

उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम् ।
युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १६७ ॥ (१४८)

(जपजप्यान्) शत्रु के वर्ग के जिन अमात्य सेनापति आदि में फूट डाली जा सके, उनमें (उपजपेत्) फूट डाल दे (च) और इस प्रकार (तत् कृतं बुध्येत) शत्रु राजा की योजनाओं की जानकारी ले ले (च) और (जयप्रेप्सुः) विजय का इच्छुक राजा इस प्रकार (अपेतभीः) भय छोड़कर (युक्ते दैवे) उचित अवसर पर (युध्येत) युद्ध-आक्रमण शुरू कर देवे ॥ १६७ ॥

साम्ना दामेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १६८ ॥ (१४६)

(साम्ना) 'साम' से (दामेन) 'दाम' से (भेदेन) 'भेद' से (समस्तैः) इन सब उपायों से एकसाथ (अथवा) अथवा (पृथक्) अलग-अलग एक-एक से (अरीन् विजेतुं प्रयतेत) शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करे (कदाचन युद्धेन न) कभी पहले युद्ध से जीतने का यत्न न करे ॥ १६८ ॥

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
तथा युध्येत सम्पन्नो विजयेत रिपून्यथा ॥ २०० ॥ (१५०)

(पूर्वोक्तानां त्रयाणाम् अपि उपायानाम् असंभवे) पूर्वोक्त साम, दाम, भेद तीनों ही उपायों में से किसी से भी विजय की संभावना न रहने पर (सम्पन्नः) सब प्रकार से तैयारी करके (तथा युध्येत) इस प्रकार युद्ध करे (यथा) जिससे कि (रिपून् विजयेत) शत्रुओं पर विजय कर सके ॥ २०० ॥

जित्वा सम्पूजयेद् देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् ।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥२०१॥(१५१)

(जित्वा) विजय प्राप्त करके (धार्मिकान् देवान् ब्राह्मणान् एव) जो धर्माचरणवाले विद्वान् ब्राह्मण हों उनको ही (संपूजयेत्) सत्कृत करे अर्थात् उनको अभिवादन करके उनका आशीर्वाद ले (च) और (परिहारान् प्रदद्यात्) जिन प्रजाजनों को युद्ध में हानि हुई है उन्हें क्षतिपूर्ति के लिए सहायता दे (च) तथा

(अभयानि ख्यापयेत्) सब प्रकार के अभयों की घोषणा करादे कि 'प्रजाओं को किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं दिया जायेगा अतः वे सब प्रकार से भय-आशंका-रहित होकर रहें' ॥ २०१ ॥

सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम् ।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥ २०२ ॥ (१५२)

(एषां सर्वेषाम्) विजित प्रदेश की इन सब प्रजाओं की (चिकीर्षितम्) इच्छा को (समासेन विदित्वा) संक्षेप से अर्थात् सरसरी तौर पर जानकर कि वे किसे अपना राजा बनाना चाहती हैं या कोई और विशेष आकांक्षा हो उसे भी जानकर (तत्र) उस राजसिंहासन पर (तत् वंश्यम्) उस प्रदेश की प्रजाओं में से उन्हीं के वंश के किसी व्यक्ति को (स्थापयेत्) बिठा देवे (च) और (समय-क्रियाम् कुर्यात्) उससे शर्तनामा लिखा लेवे [कि अमुक कार्य तुम्हें स्वेच्छानुसार करना है, अमुक मेरी इच्छा से। इसी प्रकार अन्य कर, अनुशासन आदि से सम्बद्ध बातें भी उसमें हों] ॥ २०२ ॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान् ।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥ (१५३)

(तेषां यथोदितान् धर्म्यान्) उन विजित प्रदेश की प्रजाओं या नियुक्त राज-पुरुषों द्वारा कही हुई उनकी न्यायोचित [=वैध] बातों को (प्रमाणानि कुर्वीत) प्रमाणित कर दे अर्थात् प्रतिज्ञापूर्वक स्वीकार कर ले। अभिप्राय यह है कि उनकी जो न्यायोचित बातों को मान लेवे और जो अमान्य बातें हों उनको न माने (च) और (प्रधानपुरुषैः सह एनम्) प्रधान राजपुरुषों के साथ बन्दीकृत इस राजा का (रत्नैः पूजयेत्) उत्तम वस्तुयें प्रदान करते हुए यथायोग्य सत्कार रखे ॥ २०३ ॥

"जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञा आदि लिखा लेवे और जो उचित समय समझे तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है, उसके अनुसार चल के न्याय से प्रजा का पालन करना होगा; ऐसे उपदेश करे। और ऐसे पुरुष उनके पास रखे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो। और जो हार जाये, उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्न आदि उत्तम पदार्थों के दान से करे और ऐसा न करे कि जिससे उसको योगक्षेम भी न हो। जो उसको बन्दीगृह करे तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रखे, जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् ।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥ (१५४)

क्योंकि (आदानम् अप्रियकरम्) संसार में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति (च) और (दानं प्रियकारकम्) देना प्रीति का कारण है, और (काले युक्तम्) समय पर उचित क्रिया करना (अभीप्सितानाम् अर्थानाम्) उस पराजित के मनोवाञ्छित पदार्थों का देना (प्रशस्यते) बहुत उत्तम है ॥ २०४ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

सह वाऽपि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः ।
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥ २०६ ॥ (१५५)

[यदि पूर्वोक्त कथनानुसार (७ । २०२—२०३) राजा को बन्दी न बनाकर उसके स्थान पर दूसरा राजा न बिठाकर उसे ही राजा रखे तो] (अपि वा) अथवा (सह युक्तः) उसी राजा के साथ मेल करके (प्रयत्नतः सन्धिं कृत्वा) बड़ी सावधानी पूर्वक उससे सन्धि करके अर्थात् सन्धिपत्र लिखाकर (मित्रं हिरण्यं वा भूमिं त्रिविधं फलं सम्पश्यन्) मित्रता, सोना अथवा भूमि की प्राप्ति होना इन तीन प्रकार के फलों को देखकर अर्थात् इनकी उपलब्धि करके (व्रजेत्) वापिस लौट आये ॥ २०६ ॥

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले ।
मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥ (१५६)

(मण्डले) अपने राज्य में (पार्ष्णिग्राहम्) 'पार्ष्णिग्राह' संज्ञक राजा का [१५६] (तथा) तथा (आक्रन्दं संप्रेक्ष्य) 'आक्रन्द' संज्ञक राजा का [१५६] ध्यान रखके (मित्रात् अथापि अमित्रात्) मित्र अर्थात् पराजित शत्रु से (यात्राफलम् अवाप्नुयात्) युद्धयात्रा का फल प्राप्त करे। अभिप्राय यह है कि अपने पड़ोसी राजाओं से सुरक्षा के लिए या उनको वश में करने के लिए कौन से फल की अधिक उपयोगिता होगी, यह सोचकर शत्रु या मित्र से वही-वही फल मुख्यता से प्राप्त करे ॥ २०७ ॥

हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।
तथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ २०८ ॥ (१५७)

(पार्थिवः) राजा (हिरण्य-भूमि-सम्प्राप्त्या) सुर्ण और भूमि की प्राप्ति से (तथा न एधते) वैसा नहीं बढ़ता (यथा) कि जैसे (ध्रुवम्) निश्चल प्रेमयुक्त (आयतिक्षमम्) भविष्यत् की बातों को सोचने और कार्य-सिद्ध करने वाले समर्थ मित्र (अपि कृशम्) अथवा दुर्बल मित्र को भी (लब्ध्वा) प्राप्त होके बढ़ता है ॥ २०८ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

धर्मज्ञं न कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥ (१५८)

(धर्मज्ञम्) धर्म को जानने (च) और (कृतज्ञम्) कृतज्ञ अर्थात् किये हुए उपकार को सदा मानने वाले (तुष्टप्रकृतिम्) प्रसन्नस्वभाव (अनुरक्तम्) अनुरागी (स्थिरारम्भम्) स्थिरारम्भी [=स्थिरता पूर्वक कार्य करने वाला] (लघुमित्रम्) लघु=छोटे मित्र को प्राप्त होकर (प्रशस्यते) प्रशंसित होता है।
॥ २०९ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ २१० ॥ (१५९)

सदा इस बात को दृढ़ रखे कि कभी (प्राज्ञम्) बुद्धिमान् (कुलीनम्) कुलीन (शूरम्) शूरवीर (दक्षम्) चतुर (दातारम्) दाता (कृतज्ञम्) कियेहुए को जाननेहारे (च) और (धृतिमन्तम्) धैर्यवान् पुरुष को (अरिम् कष्टम् आहुः) शत्रु न बनावे क्योंकि जो ऐसे को शत्रु बनावेगा वह दुःख पावेगा❀ ॥२१०॥ (स० प्र० ६ समु०)

❀ (बुधाः) विचारशील विद्वानों का ऐसा मत है।

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥ (१६०)

उदासीन का लक्षण—(आर्यता पुरुषज्ञानम्) जिसमें प्रशंसितगुणयुक्त अच्छे-बुरे मनुष्यों का ज्ञान (शौर्यम्) शूरवीरता (च) और (करुणवेदिता) करुणा भी (स्थौललक्ष्यं सततम्) स्थूल लक्ष्य अर्थात् ऊपर-ऊपर की बातों को निरन्तर सुनाया करे (उदासीनगुणोदयः) वह उदासीन कहाता है ॥ २११ ॥

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥ (१६१)

(नृपः) राजा (आत्मार्थम्) अपनी या अपने राज्य की रक्षा के लिए (क्षेम्याम्) आरोग्यता से युक्त (सस्यप्रदाम्) धान्य-घास आदि से उपजाऊ रहने वाली (नित्यं पशुवृद्धिकरीम्) सदैव जहाँ पशुओं की वृद्धि होती हो, ऐसी भूमि को भी (अविचारयन्) बिना विचार किये (परित्यजेत्) छोड़ देवे अर्थात् विजयी राजा को देनी पड़े तो दे दे, उसमें कष्ट अनुभव न करे ॥ २१२ ॥

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥ (१६२)

आपत्ति में पड़ने पर (आपत्+अर्थम्) आपत्ति से रक्षा के लिए (धनं रक्षेत्) धन की रक्षा करे, और (धनैः अपि) धनों की अपेक्षा (दारान् रक्षेत्) स्त्रियों की अर्थात् परिवार की रक्षा करे (दारैः अपि धनैः अपि) स्त्रियों से भी और धनों से भी बढ़कर (सततम् आत्मानं रक्षेत्) निरन्तर अपनी रक्षा अर्थात् राजा

के लिए आत्मरक्षा करना सबसे आवश्यक है। यदि उसकी रक्षा नहीं हो सकेगी तो वह न परिवार की रक्षा कर सकेगा और न धन की न राज्य की ।। २१३ ।।

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद् बुधः ।। २१४ ।। (१६३)

(सर्वाः आपदः भृशं सह समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्य) सब प्रकार की आपत्तियां तीव्ररूप में और एक सा उपस्थित हुई देखकर (बुधः) बुद्धिमान् (संयुक्तान्) सम्मिलित रूप से (च) और (वियुक्तान्) पृथक्-पृथक् रूप से अर्थात् जैसे भी उचित समझे (सर्व+उपायान् सृजेत्) सब उपायों को उपयोग में लावे ।।२१४।।

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्चकृत्स्नशः ।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ।। २१५ ।। (१६४)

(उपेतारम्) उपेता=प्राप्तकरनेवाला अर्थात् स्वयं (उपेयम्) उपेय=प्राप्त करने योग्य अर्थात् शत्रु (च) और (सर्व+उपायान्) सब विजय प्राप्त करने के साम, दाम, आदि उपाय (एतत् त्रयम्) इन तीन बातों को (कृत्स्नशः समाश्रित्य) सम्पूर्ण रूप से आश्रय करके अर्थात् विचार करके और अपनी क्षमता देखकर (अर्थ-सिद्धये प्रयतेत) राजा अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न करे, इन्हें बिना विचारे नहीं ।। २१५ ।।

सैनिकों एवं शस्त्रादि का निरीक्षण—

अलङ्कृतश्च सम्पश्येदायुधीयं पुनर्जनम् ।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ।। २२२ ।। (१६५)

(च) और (पुनः) फिर (अलंकृतः) कवच शस्त्रास्त्रों एवं राजचिह्नों से सुसज्जित होकर (आयुधीयं जनम्) शस्त्रधारी सैनिकों (च) और (वाह-नानि) रथ, हाथी-घोड़े आदि वाहनों (सर्वाणि शस्त्राणि) सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों (च) और (आभरणानि) उनकी सजावटों अर्थात् सम्भाल आदि का (संपश्येत्) निरीक्षण करे ।। २२२ ।।

भोजनार्थ अन्तःपुर में जाना—

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ।।२१६।। (१६६)

(एवम्) इस प्रकार (राजा) राजा (इदं सर्वम्) यह पूर्वोक्त [७।१४६—२१५] सब (मंत्रिभिः सह संमन्त्र्य) मन्त्रियों के साथ विचार-विमर्श करके (व्यायम्य) व्यायाम करके (आप्लुत्य) स्नान करके फिर (मध्याह्ने) दोपहर के

समय (भोक्तुम्) भोजन करने के लिए (अन्तःपुरं विशेत्) अन्तःपुर अर्थात् पत्नी के निवास-स्थान में प्रवेश करे ॥ २१६ ॥

"पूर्वोक्त प्रातःकाल समय में उठ, शौचादि संध्योपासन, अग्निहोत्र कर वा करा, सब मंत्रियों से विचारकर सभा में जा सब भृत्य और सेनाध्यक्षों के साथ मिल उनको हर्षित कर नानाप्रकार की व्यूह-शिक्षा अर्थात् कवायद कर-करा, सब घोड़े, हाथी, गाय आदि स्थान शस्त्र और अस्त्र का कोश तथा वैद्यालय, धन के कोशों को देख, सब पर दृष्टि नित्यप्रति देकर, जो कुछ उनमें खोट हों उनको निकाल, व्यायामशाला में जा व्यायाम करके, भोजन के लिए 'अन्तःपुर' अर्थात् पत्नी आदि के निवास-स्थान में प्रवेश करे।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

मनुस्मृति के सप्तमाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा

ये (७। ८–१२) पाञ्च श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(१) प्रसङ्गविरोध—ये श्लोक पूर्वापर प्रसङ्ग को भङ्ग करने से प्रक्षिप्त हैं। सातवें श्लोक में राजा के विशेष गुणों का वर्णन किया गया है, जैसे—'सोऽग्निर्भवति वायुश्च' इत्यादि। और १३ वें श्लोक में कहा है कि इन विशिष्ट गुणों के कारण राजा जिस धर्म (कानून) का निर्णय करे, उसका कोई उल्लंघन न करे। इस प्रकार ७ वें श्लोक के बाद १३ वें श्लोक की संगति ठीक लगती है। किन्तु ८–१२ श्लोकों में असंगत और अतिशयोक्तिपूर्ण राजा का वर्णन किया गया है, अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

(२) अन्तर्विरोध—इन श्लोकों में मनु की मान्यताओं का स्पष्ट विरोध है।

(क) मनु के अनुसार राजा का चयन जन्म-जात पद्धति से न होकर गुणों के आधार पर किया गया है। और ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णों का आधार भी कर्म हैं। किन्तु इस (७। ८) श्लोक में राजा के लड़के को ही राजा मानकर लिखा है कि बालक राजा का भी अपमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह बड़ी दैवी शक्ति है।

(ख) और मनु ने धर्माधर्म के अनुसार राजा को अधिकार या दण्ड देने का अधिकार दिया है, व्यक्तिगत द्वेषादि के कारण नहीं। किन्तु (७। ९) में कहा है कि राजा जिस पर क्रोध करता है, उसके कुल, पशु तथा धन को नष्ट

कर देता है। यह दण्ड धर्माधर्मानुसार नहीं, प्रत्युत व्यक्तिगत द्वेष को प्रकट करता है।

(ग) और राजा को अपराधी व्यक्ति को ही दण्ड देना चाहिये, न कि उसके निरपराध-परिवार को भी। यदि समस्त परिवार भी दोषी हो तो वह भी दण्डनीय है। किन्तु ऐसा न होकर एक व्यक्ति के दोष से पूरे परिवार को दण्डित करना न्याय-विरुद्ध है। और पशुओं का क्या दोष है, जो उनको भी नष्ट करने की बात लिखी है।

(घ) और मनु की व्यवस्था में चाटुकारिता अथवा अयोग्य व्यक्ति को अधिकार देने की कोई व्यवस्था नहीं है। किन्तु ७। ११ में कहा है कि राजा की प्रसन्नता में लक्ष्मी का वास और क्रोध में साक्षात् मृत्यु रहती है। यह मनु की व्यवस्था से विरुद्ध मौलिक बात नहीं है। चाटुकारिता का कार्य वही कर सकता है, जो अपने दोषों को क्षमा कराने के लिये निरर्थक मिथ्या गुण-गान करने में लगा रहता है, धर्मात्मा व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता।

(३) पुनरुक्ति—७। १० में जो बात कही है कि राजा देश, काल और शक्ति को देखकर कार्य करे, वही बात ७। १६ और ७। १९ में कही है। इन दोनों में ७। १० श्लोक का ही पिष्ट-पेषण किया गया है। क्योंकि पूर्वापर क्रम को भंग करने वाले श्लोकों के मध्य में है। और 'तस्माद्धर्मम्' (७। १३) में जो हेतु निर्देश किया है, वह भी राजा के विशिष्ट गुणों (७। ६–७ में कहे) का ही निर्देश करता है। अतः इनके बीच के श्लोक असंगत एवं पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त हैं।

यह (७। १५) श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त है—

(१) **प्रसङ्ग विरोध**—७। १४ वें श्लोक में 'दण्डमसृजत्' की संगति ७। १६ श्लोक (तं............संप्रणयेत्) से है। इन दोनों श्लोकों में दण्ड का विधान किया है। किन्तु इनके मध्य में (७। १५ में) ईश्वरीय-दण्ड का वर्णन उक्त वर्णन से विरुद्ध होने से असंगत है।

(२) **विषय-विरोध**—यह श्लोक पूर्वापर श्लोकों के विषय के अनुकूल भी नहीं है। क्योंकि यहाँ विषय राजा के द्वारा प्रजा को दिये जाने वाले दण्ड का है। यह बात ७। १४ में 'तस्यार्थे' कहकर और ७। १६ में 'अन्यायवर्त्तिषु' कहकर स्पष्ट की है। परन्तु इस (७। १५) श्लोक में स्थावरों (वृक्षादि) को भी दण्ड का विधान किया है। यह विषयविरुद्ध होने के साथ साथ राजा के सामर्थ्य से भी बाह्य वर्णन है। यह ईश्वरीय व्यवस्था है कि वह कर्मानुसार जीवों को स्थावर योनि में भेजता है। जैसे कि मनु ने स्वयं 'स्थावराः............ज घन्या

तामसी गतिः' (१२ । ४२) कहकर स्वीकार किया है। और दूसरे प्रणियों के विषय में भी यह व्यवस्था संगत नहीं होती। क्योंकि लौकिक राजा का अपने क्षेत्र में ही कानून चल सकता है, उससे बाहर नहीं। अतः 'सर्वाणि भूतानि............ भोगाय कल्पन्ते' सब प्राणी भोग के लिये समर्थ होते हैं, यह बात मिथ्या ही है। क्योंकि सब प्राणियों में देश-विशेष के राजा के राज्य से अन्यत्र रहने वाले प्राणी कैसे आ सकते हैं?

ये (७ । २०–२३) चार श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(१) **प्रसङ्ग-विरोध**—यहाँ राजा के द्वारा प्रजा को दिये जाने वाले दण्ड का प्रसंग है। और ७ । १९ श्लोक के बाद ७ । २४ श्लोक में उसका वर्णन होने से उसकी पूर्णतः संगति उचित है। राजा को दण्ड सोच विचार कर ही देना चाहिये। इस प्रकार दण्ड नीति के प्रसङ्ग में दण्ड के अभाव में होने वाली दुर्दशा का वर्णन करना पूर्वापर संगति के विरुद्ध है।

(२) **अन्तर्विरोध**=मनु ने दण्ड की उचित व्यवस्था के अभाव में अथवा अव्यवस्था में जो परिणाम हो सकता है, उसका वर्णन ७ । २४ में बहुत ही व्यापक किन्तु संक्षिप्त रूप में कहा है कि—'भिद्येरन् सर्वसेतवः' अर्थात् धर्म की सभी मर्यादायें भंग हो जायेंगी। किन्तु किसी वाममार्गी प्रक्षेपक ने इस अवसर का लाभ उठाकर यहाँ अपनी मांस पकाने की मान्यता का समावेश (७ । २० में) कर ही दिया कि 'जैसे मछलियों को लोहे की शलाकाओं से बींधकर भूनते हैं।' यद्यपि यह उपमा ही दी है, परन्तु मनु सदृश आप्त पुरुष ऐसी उपमा नहीं दे सकता। क्योंकि वे मांस-मद्य को राक्षसों का भोजन मानते हैं, मानवों का नहीं फिर मानवधर्म शास्त्र में ऐसी हीनोपमा भी वे कैसे दे सकते थे?

(३) **विषयविरोध**—मनुस्मृति एक मानवधर्मशास्त्र है। इसमें मनुष्यों के लिये धर्म-विधान का उल्लेख करना तो उचित है। और राजा को (७ । १७ में) मनु ने धर्म का "प्रतिभूः=जामिन्" कहा है। और इस शास्त्र में मानव-धर्म का वर्णन है। किन्तु इसके विरुद्ध ७ । १५ में पक्षी, सर्पादि पर भी दण्ड का प्रभाव ही बताना विषयविरुद्ध है। क्योंकि पशुपक्षियों पर ईश्वरीय व्यवस्था तो लागू होती है, मानवीय राजा की नहीं। और पक्षियों व सर्पों पर राजा दण्ड भी लागू नहीं कर सकता, अतः ७ । २३ में सर्पादि की दण्ड के कारण भोग करने की बात मिथ्या ही है। और ७ । २१ में कही बात भी मिथ्या ही है कि राजा के दण्ड देने में सावधान न रहने पर कौआ पुरोडाश को और कुत्ता हवि को खा जायेगा। इसमें राजा क्या व्यवस्था करेगा, यह तो उन मनुष्यों की असावधानी से होता है। अतः ये श्लोक उपर्युक्त कारणों से प्रक्षिप्त हैं।

यह (७ । २६) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

(१) **प्रसंग-विरोध**—(क) यहाँ पूर्वापर श्लोकों में राजा द्वारा प्रजा को दिये जाने वाले दण्डों का वर्णन है। किन्तु २६ वें श्लोक में राजा से असम्बद्ध दण्ड का वर्णन पूर्वापर प्रसंग के विरुद्ध है।

(ख) यहाँ पूर्वापर के श्लोकों में परस्पर अत्यन्त सम्बद्धता है। जैसे—२८ वें में 'दण्डो हि सुमहत्तेजः' का सम्बन्ध ३० वें श्लोक के '**सः असहायेन......**के साथ है। २६ वें श्लोक ने उस सम्बद्धता को भंग कर दिया है।

(२) **विषय-विरोध**—चराचर तथा अन्तरिक्षस्थ प्राणियों पर दण्ड का प्रभाव राजा के अधिकार में नहीं है, यह तो ईश्वरीय व्यवस्था के आधीन है। अतः इस राजधर्म विषय में उसका वर्णन असम्बद्ध है।

(३) **अन्तर्विरोध**—मनु की मान्यता के अनुसार मुनि और देव मनुष्यों के ही भेद हैं, अतः देवादि भी पृथिवी पर रहने वाले हैं। जैसे ३ । २१ में 'दैव विवाह' वर्णों में ही होता है। ३ । ८० में देव गृहस्थों के यहाँ भोजन करते हैं। और ६ । ५ में वानप्रस्थ के लिये मुन्यन्नों का विधान किया है। अतः देव और मुनि मनु के मत में भूमि पर रहने वाले मनुष्य ही हैं। किन्तु २६ वें श्लोक में अन्तरिक्ष में रहने वाले मुनि और देवों की मान्यता पौराणिक कल्पना है। और मनु के लेख से विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

७ । ३२–४२ तक श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(१) **प्रसङ्ग-विरोध**—(क) ३०–३१ श्लोकों में कहा गया है कि शासन-व्यवस्था को राजा अकेला नहीं चला सकता है। इसलिये कैसे पुरुषों का सहयोग राजा लेवे, इसका वर्णन ३१ वें श्लोक में (शुचिना सत्यसन्धेन०) किया है। और वे सहायक (सभासद् आदि) कैसी योग्यता वाले हों, यह वर्णन ७ । ४३ श्लोक में है। अतः ये श्लोक पूर्वापर प्रसंग से सम्बद्ध हैं। परन्तु इनके मध्य में आये श्लोक (३२–४२ तक) उस क्रम को भंग करने के कारण प्रक्षिप्त हैं।

(ख) और ३६ वें श्लोक में एक नये प्रसंग का ही वर्णन करने की प्रतिज्ञा कही है, जब कि ७ । १ में राज-धर्म कहने की प्रतिज्ञा कह चुके हैं। उसी बात को दुबारा दोहराना पुनरुक्ति मात्र है। और ३५ वें श्लोक में राजा को बनाने की बात कही है, जब कि यह बात ७ । ३ में 'राजानमसृजत्' कहकर कह दी गई है। और ३२–३४ श्लोकों में राजा के व्यवहार को बातें कहीं हैं, जबकि ये बातें प्रथम कह चुके हैं। और ४०–४२ श्लोकों में राजाओं के इतिहास का वर्णन अप्रासंगिक है। और ७ । ३७–३६ तक राजा की दिनचर्या का वर्णन है, यह भी

प्रसंगविरुद्ध और पिष्ट-पेषणमात्र हो है, क्योंकि राजा की दिनचर्या ७। १४५ से प्रारम्भ की है।

(२) अन्तर्विरोध—और इन श्लोकों में मनु की मान्यताओं से विरोध है। जैसे—३९-४२ तक श्लोकों में राजा को विनय की शिक्षा और उसका महत्त्व समझाया है। यह विनय को शिक्षा मनु की मान्यता से विरुद्ध है। क्योंकि मनु ने राजा की आवश्यकता भयाक्रान्त अराजकता से रक्षा के लिये बताई है। और राजा को ७। ४-६ श्लोकों में अग्निसूर्यादि को भांति तेजस्वी होने, ७। १७-१८ श्लोकों में राजा को दण्डरूप होने और ७। १०२ में राजा को 'नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः' कहकर सदैव दण्ड का प्रयोग करने में तत्पर कहा है। और विना तेजस्विता के राज्य-शासन की व्यवस्था चल भी नहीं सकती। अतः राजा के लिये विनय की शिक्षा अनावश्यक ही है। और ७। ४० में विनय के अभाव में राजाओं का नाश कहना और विनय=विनम्रता के कारण वन में रहने वालों का राज्य प्राप्त करनादि बातें निरर्थक ही हैं।

(३) शैलीगत-विरोध—(क) इन श्लोकों की शैलो अतिशयोक्तिपूर्ण एवं अयुक्तियुक्त होने से मनु की नहीं है। विनय की शिक्षा और उसका महत्त्व बताना राजा के लिये अयुक्तियुक्त है। राजा का न्यायोचित कार्य विनय से नहीं चल सकता। विनय के अभाव में वंशसहित राजाओं का नाश और विनय से वन्य-पुरुषों का राज्य प्राप्त करना अतिशयोक्ति मात्र है।

(ख) ७। ४०-४२ श्लोकों में ऐतिहासिक राजाओं के नाम लेकर विनय का महत्त्व बताया गया है, यह भो मनु की शैली से विरुद्ध है। क्योंकि मनु किसी भी विषय के वर्णन में ऐतिहासिक उदाहरण नहीं देते हैं।

(ग) मनु को शैलो इस प्रकार की है कि वे एक विषय का वर्णन पूर्ण करके तत्पश्चात् दूसरा विषय प्रारम्भ करते हैं। किन्तु यहाँ (७। ३६ में) राज-धर्म के पूर्ण हुए विना ही भृत्यों सहित राजा के कार्यों के वर्णन की बीच में ही प्रारम्भ करना मनु की शैली से विरुद्ध है।

(घ) और मनु सृष्टि के प्रारम्भ में सब से प्रथम राजा हुए हैं। वे अपने से बाद में होने वाले वेनादि राजाओं की बात कैसे कह सकते थे?

(ङ) और ७। ४२ श्लोक में मनु का भी उदाहरण दिया गया है, यह भी मनु की शैली से विरुद्ध है। क्योंकि मनु सदृश आप्त-पुरुष अपना नाम लेकर कहीं कुछ भी नहीं कहते। अतः ये श्लोक परवर्ती होने, प्रसंगविरुद्ध, अन्तर्विरोध, शैलीविरुद्ध और अयुक्तियुक्त होने से प्रक्षिप्त हैं।

७। ५७-५९ तक तीन श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त हैं—

(१) **प्रसंग-विरोध**—ये तीनों श्लोक पूर्वापर प्रसंग को भंग करने से प्रक्षिप्त हैं। ७। ५४–५६ श्लोकों में मन्त्रियों की नियुक्ति और उनके साथ मन्त्रणा करने की बात कही है। और उसी से सम्बद्ध बात ७। ६० में भी कही है। किन्तु इस प्रसंग के मध्य में किसी विशिष्ट ब्राह्मण के साथ मन्त्रणा की बात (जो कि मन्त्री नहीं है) उस पूर्वापर क्रम से भंग कर रही है। और ७। ५४ में सात या आठ मन्त्रियों की नियुक्ति की वात कही है। उनसे मन्त्रणा न करके ब्राह्मण से मन्त्रणा की बात किसी जन्ममूलक वर्णव्यवस्था के पक्षपाती ने मिलाई है।

(२) **अन्तर्विरोध**—(क) ७। ५६ में मन्त्रियों के साथ सन्धि, विग्रह आदि के विषय में मन्त्रणा करने की बात कही है। और ७। ६५ में राज्य के भिन्न-भिन्न कार्यों का वितरण करके कार्य करने की व्यवस्था है। किन्तु यहाँ ७। ५९ में एक ब्राह्मण पर सब राज्यभार सौंप देना और उसी की सलाह से कार्य करने की बात कही है। अतः उससे इनका विरोध है।

(ख) और ७। १४१ श्लोक में रुग्णादि की दशा में प्रधान मन्त्री को ही अपने स्थान पर राजा वनाये, ऐसा कहा गया है। किन्तु यहाँ स्वस्थ दशा में भी प्रतिदिन एक ब्राह्मण पर समस्त राज्य-भार सौंपने की बात परस्पर विरुद्ध है।

(ग) ७। १४६ श्लोक में मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा और ७। ५६ में षाड्गुण्य=सन्धि आदि के विषय में मन्त्रणा करने की वात मन्त्रियों के साथ कही है। किन्तु यहाँ ७। ५८ में एक ब्राह्मण के साथ कही है, अतः परस्पर विरोध है।

(ङ) ७।५७ वां श्लोक ७।५८–५९ श्लोकों की भूमिका के रूप में लिखा है। इसमें कोई विरोधी बात नहीं कही है, पुनरपि अगले दोनों श्लोकों से सम्बद्ध होने से पूर्वापर को भंग कर रहा है। यदि यह श्लोक ७। ६० के बाद में होता तो प्रसंग में बाधा भी नहीं आती। किन्तु यहाँ क्रम को भंग करने से प्रक्षिप्त है।

(७।६१) यह श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

(१) **प्रसंग-विरुद्ध**—७।६२ श्लोक में 'तेषामर्थे नियुञ्जीत' कहने से स्पष्ट है कि इसका संबन्ध ७।६० श्लोक में कहे मन्त्रियों से है। क्योंकि इसमें मन्त्रियों के सहायक व्यक्तियों के गुणों का वर्णन किया गया है। ६१ वां श्लोक उस पूर्वापर क्रम को भंग करने से प्रक्षिप्त है।

(२) **पुनरुक्त**—इस श्लोक में पुनरुक्ति या पिष्ट-पेषण भी हुआ है। क्यों कि ७।६२ में मन्त्रियों के सहायकों के दक्षतादि अनेक गुण बताये ही हैं फिर इस

६१ श्लोक में दक्षान् विशेषण क्यों दिया है। ऐसी पुनरुक्तियाँ मनुप्रोक्त कदापि नहीं हो सकतीं।

(७।७२–७३) ये दोनों श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(१) **प्रसंगविरोध**—७० वें श्लोक में राजा के निवास के लिये विभिन्न दुर्गों का कथन किया गया है। और सभी प्रकार के दुर्गों में गिरिदुर्ग को ७।७१ में सर्व-श्रेष्ठ माना है और दुर्ग का महत्त्व ७।७४ में बताया है। इनके बीच में ये दोनों श्लोक पूर्वापर क्रम को भंगकर रहे हैं। क्योंकि इनमें कहा है कि मनुष्यों के लिये केवल नृदुर्ग ही है अन्य दुर्ग तो अप्रासंगिक मृग, मूषकादि, मगरमच्छ, वानर देवों के लिये हैं। और ७१ श्लोक में गिरिदुर्ग का ही वर्णन है, इसके बाद ७२ वें में 'त्रीण्याद्यानि०' इत्यादि बातें प्रसंग को भंग कर रही हैं। यदि यह ७०वें श्लोक के बाद होता, तब तो प्रसंग तो नहीं टूटता किन्तु पूर्वापर-विरोध अवश्य रहता।

(२) **अन्तर्विरोध**—(क) ७० वें श्लोक में राजा को निर्देश दिया गया है कि वह निवास के लिये कितने प्रकार के दुर्ग बनावे। किन्तु ७२ वें में कहा है कि केवल मनुष्य या राजा के लिये नृदुर्ग ही है। अतः पहले कथन से यहाँ विरुद्ध बात कही है। (ख) और ७१ वें श्लोक में राजा के लिये गिरिदुर्ग सब से उत्तम माना है, परन्तु ७२वें में कहा है कि गिरिदुर्ग तो देवों के लिये हैं, जिन्हें मनुष्यों से भिन्न माना है। (ग) और मनु के इस शास्त्र में सात्त्विकादिगुणों तथा विद्या के कारण देव, पिता, ऋषि, गन्धर्व आदि मनुष्यों के ही भेद माने हैं, किन्तु इसमें (७।७२) में मनुष्यों से भिन्न देव एक जातिविशेष मानी है जो कि पौराणिककल्पना होने से मनु की मान्यता कदापि नहीं है।

(३) **परस्पर-विरोध**—(क) इन दोनों श्लोकों में परस्पर-विरुद्ध बातें भी कही हैं। ७१वें में कहा है कि विभिन्न दुर्गों में से मनुष्यों के लिये केवल नृदुर्ग है। और ७२वें में कहा है कि इन दुर्गों में रहने वाले राजा को शत्रु मार नहीं सकते। यहाँ बहुवचन परक बात पूर्वोक्त बात का विरोध कर रही है। (ख) और ७० वें श्लोक में जिन दुर्गों का वर्णन है, उनको न समझकर ९२वें में अयुक्तियुक्त बातों का भी कथन किया गया है। जैसे—दुर्गों में एक दुर्ग है वार्क्ष-दुर्ग=जो वृक्षों के समूह से घिरा हुआ हो। ऐसा दुर्ग वानर तो नहीं बना सकते, वानर तो वृक्ष पर रहते हैं, जो कि वानरों का बनाया हुआ नहीं, प्रत्युत प्राकृतिक ही होता है। इसी प्रकार जल से घिरे हुए दुर्ग को अब्दुर्ग लिखा है। किन्तु यहाँ जलाशय को ही दुर्ग मानकर मगरमच्छादि के लिये लिखा है। इसी प्रकार महीदुर्गादि के विषय में भी अन्यथा समझकर ही कथन किया गया है। अतः

ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध, अन्तर्विरुद्ध, परस्परविरुद्ध और अयुक्तियुक्तवर्णन करने से प्रक्षिप्त हैं।

७। ८३–८६ तक चार श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(१) **प्रसंगविरोध**—(क) ८२वें श्लोक में कहा है कि राजा का यह परम कर्त्तव्य है कि वह गुरुकुल से पढ़कर आये विद्वान् स्नातकों का सत्कार करे। यहाँ दान का कोई प्रसंग नहीं है। किन्तु यहाँ उसके बाद के श्लोकों में ब्राह्मणों के लिये दान देने और उनकी महिमा का वर्णन असंगत किया गया है। (ख) और मनु ने ब्राह्मणों को दान की बात ७९ वें श्लोक में कही है। यदि उन्हें और कुछ इनके विषय में कहना था तो वहीं कहते। क्योंकि मनु की यह शैली है कि वे एक प्रसंग की बात एक स्थान पर ही पूर्ण कर देते हैं। एक प्रसंग के समाप्त होने पर पुनः यहाँ प्रारम्भ करना असंगत ही है।

(२) **अन्तर्विरोध**—(क) ८३–८४ श्लोकों में अग्निहोत्र से भी अधिक ब्राह्मणों को दान देने की बात कही है। यह मान्यता मनु के विरुद्ध है। क्योंकि मनु के मत में अग्निहोत्र सब से श्रेष्ठ कार्य है। इस विषय में मनु के कुछ उद्धरण देखिये—

(१) महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ (मनु०२।२८) अर्थात् यज्ञों के करने से मानव-शरीर ब्राह्मण बनता है अथवा ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य बनता है। यज्ञ करने से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति होती है और ब्राह्मण के कार्यों में यज्ञ करना-कराना मुख्य कर्म है, अतः यज्ञ करना दान देने से भी मुख्य है।

(२) मनु ने २। १४६ में ब्रह्मजन्म को शारीरिक जन्म से श्रेष्ठ माना है। और ब्रह्मजन्म यज्ञों और विद्या से मिलता है। और यज्ञ करने से उत्तम-फल मनु ने माना है। अतः ब्राह्मण को दान देने से यज्ञ करना श्रेष्ठतम है।

(३) २। ६९ में यज्ञ कर्म की शिक्षा प्रथम करने, २। १७५ में यज्ञकर्म में अवकाश का निषेध करने, २। १०८ में अग्निहोत्र को द्विजमात्र का कर्त्तव्य, २। १८६ में अग्निहोत्र को प्रातः सायं करने का विधान, ३।७१ से ७६ तक अग्निहोत्र कर्म की अपरिहार्यता, ४। २१–२५ में यज्ञ को आवश्यक कर्म बताना आदि मनु के प्रवचनों से यज्ञकर्म की विशिष्टता सिद्ध होती है।

(ख) ७। ८५–८६ श्लोकों में दान लेने के पात्रों का वर्णन किया गया है। जिसमें अब्राह्मण से भिन्न वर्ण वालों को भी दान देने की बात कही है, जो कि मनु की मान्यता से विरुद्ध है। मनु ब्राह्मण से भिन्न वर्णों के कर्मों में दान देना ही माना है, लेना नहीं।

(ग) और ८५ वें श्लोक में ब्राह्मणब्रुव=जन्ममात्र के ब्राह्मण को दान देने से दुगुणे फल की बात भी मनु के विरुद्ध है। क्योंकि ब्राह्मणादि वर्णों का आधार मनु ने कर्म को माना है, जन्म को नहीं।

३. **शैलीविरुद्ध**—और वेद के विद्वान् ब्राह्मण को दान देने से अनन्त फल की बात भी अयुक्ति-युक्त होने से मनुप्रोक्त नहीं हो सकती। क्योंकि मनु के कर्मानुसार ही फल की व्यवस्था मानी है। अतः सान्त कर्मों का फल अनन्त कैसे हो सकता है ? ऐसी अतिशयोक्तिपूर्ण बातें मनु की कदापि नहीं हो सकतीं।

(७।८८) यह श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

(१) **प्रसङ्ग-विरोध**—यह श्लोक पूर्वापर श्लोकों के प्रसंग को भंग करने से प्रक्षिप्त है। ७।८७ श्लोक में राजा को संग्राम से निवृत्त न होने का कथन है और ७।८९ श्लोक में उसी का अर्थवाद है। इनके मध्यम में राजा के श्रेयस्कर कर्मों का परिगणन करना क्रम को भंग कर रहा है। और संग्राम से निवृत्त न होने की बात ८७ में कहने पर भी फिर यहाँ कहना पुनरुक्त है। अतः प्रसंगविरुद्ध होने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

(२) **अन्तर्विरोध**—इस श्लोक में ब्राह्मणों की सेवा करना राजा का श्रेयस्करकर्म बताया है किन्तु मनु ने प्रजा की रक्षा करना (७।१४४ में) राजा का मुख्य कर्म माना है। ब्राह्मणों की सेवा करना मनु ने क्षत्रिय के लिये कोई अतिरिक्त कर्म नहीं माना है। और विद्वान् स्नातक का सत्कार ७।८२ में और विद्वानों को भोग्य वस्तुएँ और धन देने की बात ७।७९ में कथन की जा चुकी है। अतः इनसे भिन्न ब्राह्मणों की सेवा और क्या हो सकती है ? अतः किसी जन्मजात ब्राह्मण वर्ण को मानने वाले व्यक्ति ने इस श्लोक का मिश्रण किया है। मनु-सदृश आप्तपुरुष ऐसी पक्षपातपूर्ण बातों का कदापि कथन नहीं कर सकते। अतः प्रसंगविरुद्ध और अन्तर्विरोध के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

यह (७।९०) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

(१) **प्रसंग-विरोध**—यहाँ राजा के युद्धकालीन धर्मों का वर्णन किया गया है। और प्रसंग यहाँ यह है कि युद्ध में किन-किन व्यक्तियों को नहीं मारना चाहिये। उस प्रसंग में किन हथियारों से मारने की बात अप्रासंगिक है।

(२) **अन्तर्विरोध**—मनु ने राजा का यह परमधर्म माना है कि शत्रु को किसी भी प्रकार से (७।१४३) वश में करे और प्रजा का पालन करे। और ७।१४३ में वह राजा मरे हुए की तरह होता है जिसके राज्य में प्रजा दस्यु या शत्रु से पीड़ित होती है। फिर राजा के लिये यह कहना कि ऐसे हथियारों से शत्रुओं से युद्ध न करे, यह कथन परस्पर विरोधी और अयुक्तियुक्त ही है।

यह (७।१०९) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

(१) **प्रसंगविरोध**—(क) ७।१०–१०८ श्लोकों में सामादि उपायों से शत्रुजनों को वश में करने की बात कही है और यही बात ७।११० में कही है। अतः ये श्लोक परस्पर सम्बद्ध हैं। किन्तु यह श्लोक उस क्रम को भंग करने के कारण प्रक्षिप्त है। (ख) और सामादि चारों उपायों का अपना-अपना महत्त्व है। उनमें किसी को श्रेष्ठ कहना या हीन बताना उचित नहीं है किन्तु इस श्लोक में साम-दण्ड की अनावश्यक प्रशंसा की गई है।

(२) **अन्तर्विरोध**—मनु ने ७।१०७–१०८ श्लोकों में सामादि चारों उपायों को काम में लेने के लिये राजा को कहा है। और उनके प्रयोग का क्रम भी बताया है कि दण्ड का प्रयोग सामादि उपायों से सफलता न मिलने पर ही करे। इससे स्पष्ट है कि मनु के मत में इन सभी का अपना-अपना महत्त्व है किन्तु १०९ श्लोक में साम तथा दण्ड की प्रशंसा परस्पर विरोध को प्रकट करती है। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

ये (७।११८–११९) दोनों श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(१) **प्रसंग-विरोध**—७।११५–११७ श्लोकों में ग्रामाध्यक्षादि की नियुक्ति कही है। और ७। १२० में भी वर्णन है। अतः इनकी संगति परस्पर सम्बद्ध है किन्तु इन दोनों श्लोकों में उस क्रम को भंग करके अध्यक्षों की आजीविका का कथन किया गया है। और ७। १२६ में उनके वेतन का विधान करके उनकी आजीविका का भी समाधान किया है। किन्तु यहाँ क्रम-विरुद्ध वर्णन करने से ये श्लोक असंगत हैं।

(२) **अन्तर्विरोध**—(क) मनु ने प्रजा से कर लेने का विधान (७।१२७–१३०) श्लोकों में किया है, किन्तु यहां अध्यक्षों द्वारा अपने निर्वाह के लिये पदार्थों के लेने की बात कही है। यह उस व्याख्या से विरुद्ध है। (ख) और यह व्यवस्था अपूर्ण है इन श्लोकों में केवल कुछ अध्यक्षों की आजीविका का कथन किया गया है, अन्य सचिव, दूतादि की आजीविका के विषय में कुछ नहीं कहा गया है। अतः यह अधूरी व्यवस्था मनुप्रोक्त नहीं हो सकती। क्योंकि मनु ने तो (७। १२५–१२६) श्लोकों में सामान्यरूप से राजकर्मचारियों का वेतन निर्धारण किया है। अतः प्रसंगविरुद्धादि दोषों के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

७। १३३–१३६ तक चार श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(१) **प्रसंगविरोध**—ये श्लोक पूर्वापर-प्रसंग को भंग करने के कारण

प्रक्षिप्त हैं। यहां पूर्वापर श्लोकों में प्रसंग व्यापारियों से किस प्रकार और किन वस्तुओं पर कर लेने का है। ६।१३०–१३२ श्लोकों में विभिन्न वस्तुओं के लाभ पर कर का विधान और कर का प्रकार वर्णन किया है और ७।१३७ श्लोक में भी व्यापारिक से कर लेने की ही बात कही है। इन श्लोकों के बीच में श्रोत्रिय से कर न लेने का वर्णन अप्रासङ्गिक होने से प्रक्षिप्त है।

(२) **अन्तर्विरोध**=(क) मनु ने प्रत्येक वर्ण के कर्मों का निर्धारण किया है। और उनमें कुछ कर्म आजीविका के लिये भी हैं। जैसे ब्राह्मण के लिए पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना आजीविका के कर्म हैं। किन्तु यहां राजा के द्वारा ब्राह्मण की आजीविका का निर्धारण करना उस मान्यता के विरुद्ध है। (ख) और मनु ने जो कर-निर्धारण किया है (७।१२७ से १३९ तक श्लोकों में) उससे मनु की मान्यता स्पष्ट है कि मनु ने व्यापार करने वाले वैश्य के उन कर्मों पर कर लगाया है, जिनसे लाभ=(आमदनी) होती है। इसके अनुसार ब्राह्मण के कर्मों को करने वाले पर कर लगता ही नहीं, फिर निषेधात्मक विधान ही गलत है। यथार्थ में ऐसा प्रतीत होता है कि जब जन्ममूलक वर्णव्यवस्था प्रचलित हो गई और ब्राह्मण जन्म से माने जाने लगे, तब उन्होंने दूसरे खेती आदि करने प्रारम्भ कर दिये। उस समय किसी पक्षपाती व्यक्ति ने इन श्लोकों का मिश्रण करके कर-विधान से श्रोत्रिय (ब्राह्मण) को बचाने का यह दुष्प्रयास किया है।

(३) **शैली-विरोध**— मनु की शैली में अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णनों एवं अयुक्तियुक्त बातों का अभाव होता है। किन्तु यहाँ १३४ वें श्लोक में श्रोत्रिय (ब्राह्मण) की भूख से राष्ट्र का नाश अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है और १३६ में राजा की आयु का, धन का तथा राष्ट्र का श्रोत्रिय के धर्म-पालने से बढ़ने की बात युक्तियुक्त न होने से मनुप्रोक्त नहीं हो सकती। अतः इन आधारों के अनुसार ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

यह (७।१३८) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

अन्तर्विरोध—(क) मनु ने कर-विधान में (७।१२७–१३९ तक श्लोलों में) व्यापारी के उन कर्मों पर कर-निर्धारण किया है, जो लाभ देने वाले हैं। और इन कर्मों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र कर-विधान में आते ही नहीं, फिर शूद्र से कर के रूप में एक-एक मास तक काम कराने की बात ही निरर्थक है। (ख) और कारुक=कारीगरी और शिल्पी=कलाकार के कर्म वैश्य के कर्मों के अन्तर्गत ही आते हैं उनसे शूद्र की आजीविका बताकर कर-विधान करना मनु की मान्यता के विरुद्ध है।(ग) और जो कारीगरी आदि कर्मों को करता, वह मनु

की मान्यता के अनुसार शूद्र ही नहीं है, वह तो वैश्य कहलायेगा। फिर उसे शूद्र कहना जन्म-मूलक मान्यता को मानने वाले व्यक्ति द्वारा मिश्रण करने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

ये (७।१४९–१५१) तीन श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(१) **अन्तर्विरोध**— (क) मनु ने ७।१४७ में स्पष्ट निर्देश किया है कि राजा कैसे स्थान पर मन्त्रणा करे, मन्त्रणा का स्थान एकान्त पर्वत का शिखर, जंगल अथवा महल का एकान्त प्रदेश होना चाहिए। जिसमें कोई शलाका= जरोखादि भी न हो। फिर यहाँ इन श्लोकों में मूर्ख, गूंगे, अन्धे, बहरे, तोता मैनादि पक्षी, वृद्धपुरुष, स्त्री, म्लेछादि को मन्त्रणा के समय दूर करने की बात निरर्थक है। (ख) और विकलांग पुरुष, स्त्री आदि राजा के मन्त्रणा के स्थान पर कैसे पहुंच सकेंगे? और यदि ऐसे व्यक्ति पहुंच जाते हैं, तो वह एकान्त स्थान नहीं कहा जा सकता। (ग) और ७।१४५ में कहा कि राजा रात्रि के पिछले प्रहर में उठकर और दैनिक कार्य करके मन्त्रियों से मन्त्रणा करे। परन्तु ७।१५१ में आधी रात में मन्त्रणा की बात कही है, यह पूर्वोक्त समय से विरुद्ध है और १५१ श्लोक से भी विरुद्ध है इसमें 'विश्राम करके मन्त्रणा का समय लिखा है, जो कि सुबह का समय ही हो सकता।

(२) **प्रसंगविरोध**—(क) मनु ने मन्त्रणा के स्थान की विशेषतायें १४७ श्लोक में कहीं हैं। यदि मनु को स्थान के विषय में और कोई वात कहनी थी तो वे वहीं कहते, किन्तु मन्त्रणा की गोपनीयता या फल को (१४८) कहने के बाद फिर मन्त्रणा स्थान की बात कहना प्रसंगविरुद्ध है। (ख) इसी प्रकार मन्त्रणा का समय १४५ श्लोक में कहा है। यदि मन्त्रणा के समय में मनु दूसरा कोई विकल्प देना चाहते तो उसी के बाद देना चाहिये था। अतः यह १५१ श्लोक में कहा मन्त्रणा का समय प्रसंगविरुद्ध है। (ग) और इस १५१ वें में कहे मन्त्रणा के समय को आपत्कालीन भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि आपत्काल का कोई समय निश्चित नहीं किया जा सकता। और 'विश्रान्तः, विगतक्लमः' आदि इस श्लोक के राजा के विशेषण भी आपत् काल का खण्डन कर रहे हैं। इस प्रकार अन्तर्विरोधों और प्रसंग को भंग करने के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये (७।१८१–१८३) तीन श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं।

(१) **प्रसंग-विरोध**—(क) ७।१८० तक श्लोकों में राजनीति का वर्णन किया गया है और उसके वाद युद्ध-कालीन व्यवस्था का विधान १८४ में और इससे अगले श्लोकों में किया गया है। जैसे—युद्ध के समय राज्य के प्रबन्ध की व्यवस्था, युद्ध-यात्रा का सब सामान तैयार करना और अपने गुप्तचरों को

गुप्त स्थानों पर लगाना (१८४) और इसके बाद (१८५ में) जल, स्थल तथा नभ तीनों प्रकार के मार्गों को शुद्ध कराये और षड्विध पैदलादि अपनी सेना के साथ शत्रुनगर की तरफ प्रस्थान करे। इतनी व्यवस्था से पूर्व ही शत्रु पर आक्रमण के समय का निर्धारण करना (१८१-१८३) प्रसङ्ग-विरुद्ध है।

(२) **अन्तर्विरोध**—और ७।१७१ श्लोक में कहा है कि राजा जब यह देखे कि अपनी सेना हृष्ट-पुष्ट है और शत्रु की सेना निर्बल है, शत्रु पर आक्रमण करे। इस प्रकार मनु के निर्देशों से स्पष्ट है कि शत्रु पर आक्रमण करने का कोई समय निर्धारण नहीं किया जा सकता। किन्तु इन श्लोकों में मार्गशीर्षादि महीनों का युद्ध के लिये निर्धारण करना उससे विरुद्ध है। और इन श्लोकों में भी १८३ में यह कहा गया है कि जब राजा अपनी विजय निश्चित जाने, तब शत्रु से लड़ने के लिए जाये। इससे भी समय का निर्धारण करना अनुचित है। और मार्गशीर्ष को युद्धार्थ शुभ मास बताना असंगत है क्योंकि राजा यदि युद्ध के लिए शुभाशुभ महीनों पर ही विचार करता रहे तो शत्रु से पराजित हुए बिना नहीं रह सकता। अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

यह (७।१९३) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

(१) **प्रसंग-विरोध**—(क) यह श्लोक पूर्वापर क्रम को भंग करने के कारण प्रक्षिप्त है। इससे पहले श्लोक में (१९२ में) जल-स्थल में युद्ध करने के वाहन और हथियारों का वर्णन किया गया है और १९४ में व्यूह-रचना करके युद्ध करना, सैनिकों की चेष्टाओं को जाननादि सामान्य विधान किया है। किन्तु इनके मध्य में कुरुक्षेत्रादि प्रदेश विशेषों योद्धाओं की युद्ध में नियुक्ति करने का वर्णन अप्रासंगिक है।

(ख) और यदि यह कहा जाये कि युद्ध के लिये विशेष प्रदेशों के मनुष्य उपयुक्त रहते हैं, तो भी यह श्लोक ठीक नहीं हैं। क्योंकि इस श्लोक में लम्बे और छोटे कद के दोनों प्रकार के मनुष्य लिखे हैं। और प्रक्षेपक ने यह भी ध्यान नहीं रक्खा है कि दोनों कुरुक्षेत्र, पञ्चालादि प्रदेशों में किस कद के व्यक्ति रहते हैं? और छोटे कद के व्यक्तियों के निवास का एक भी प्रदेश श्लोक में नहीं दिखाया है। अतः यह श्लोक अप्रासंगिक एवं अयुक्तियुक्त है।

(२) **अन्तर्विरोध**—(क) मनुने २।२० श्लोक में स्पष्ट कहा है कि शास्त्र की व्यवस्थायें सार्वभौमिक हैं। अतः किसी देश-विशेष अथवा एक देश के भी कुछ प्रदेशों की बात कहकर प्रक्षेपक ने इस शास्त्रको सीमित कर दिया है।

(ख) मनु सृष्टि के आदि में हुए हैं। उस समय कुरुक्षेत्रादि प्रदेशों का

विभाजन भी नहीं हुआ था। एतदर्थं २।१६ का अनुशीलन द्रष्टव्य है। अतः परवर्ती बातें मनुप्रोक्त नहीं हो सकतीं।

(ग) और इस श्लोक में कुछ प्रदेश-विशेषों के सैनिकों को युद्ध में आगे रखने का निर्देश है। और जिन देशों में अथवा राज्यों ये प्रदेश नहीं हैं, वे ऐसे सैनिक कहां से लायेंगे? अतः प्रसंग-विरुद्ध और अन्तर्विरोधों के कारण यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

यह (७।१९९) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

(१) **प्रसंग-विरोध**—(क) इस के पूर्वापर श्लोकों में सामादि उपायों से शत्रु को जीतने की बात स्पष्ट रूप से कही है। और २०० वें श्लोक में तो स्पष्ट कहा है कि सामादि उपायों से शत्रु पर विजय सम्भव न हो तो शत्रु को युद्ध से जीते। किन्तु इस श्लोक में युद्ध को त्यागने की बात प्रसंग-विरुद्ध है।

(२) **अन्तर्विरोध**—और इस श्लोक का यह कथन भी परस्परविरोधी है कि—युद्ध में विजय का होना अनिश्चित है। यदि राजा के लिये युद्ध त्याज्य है, तो मनु का अब तक का ७।१५८ से लेकर २०० तक का सारा विधान निरर्थक ही हो जाता है और सामादि उपायों का वर्णन और व्यूहादि रचना का सारा कथन अनावश्यक हो जाता है। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

(७।२०५-२०७) ये तीन श्लोक निम्तलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(१) **प्रसंग-विरोध**—ये श्लोक पूर्वापर क्रम को भंग करने से प्रक्षिप्त हैं। २०२ से २०४ तक श्लोकों में पराजित राजा के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए? उससे धनादि की अपेक्षा मित्रता (सन्धियुक्त) कर लेनी चाहिए। और २०८ श्लोक में इसका कारण स्पष्ट किया है कि दुर्बल शत्रु-राजा को मित्र बनाकर रखने से राजा की अधिक उन्नति होती है। अतः इनके बीच के श्लोक इस परस्पर सम्बद्धता को भंग करने से प्रक्षिप्त हैं। और २०५ में युद्ध-नीति में भाग्य के आधीन कर्म बताकर अप्रासंगिक वर्णन किया है।

(२) **अन्तर्विरोध**—(क) पराजित शत्रु-राजा के धन को २०४ श्लोक में अप्रीति का कारण बताया है और २०८ में उसी से सम्बद्ध बात कही है कि शत्रु राजा के हिरण्यादि की अपेक्षा उससे मित्रता करना श्रेष्ठ है। किन्तु २०६–२०७ श्लोकों में हिरण्य व भूमि के लिए सन्धि करके उसके साथ जाने और 'युद्धयात्रा का फल' प्राप्त करने की बात कही है, जो पूर्वोक्त बात से विरुद्ध है।

(ख) और मनु की मान्यता के अनुसार (७।१) राजा की सफलता तथा

उत्तम गति की प्राप्ति राजधर्मों का पालन करने से होती है। और (७।३ में) राजा की आवश्यकता अराजकता को दूर करने के लिए बताई है। यदि राजा भी भाग्य के भरोसे, (जो होना है, वही होगा) बैठ जाये, तो राज्य का प्रशासन अस्त-व्यस्त हो जाये। परन्तु यहाँ २०५ श्लोक में भाग्य के आधीन सब काम बताकर राजा को निष्क्रिय बनाने का प्रयास किया गया है और विशेष रूप से युद्ध-नीति में तो भाग्य की बात बताना राज्यव्यवस्था को छिन्न-भिन्न करना है। भाग्य के भरोसे रहना कायर और पलायनवादी लोगों का मिथ्या विश्वास है। राजा के लिये ही क्या, यह तो मानवमात्र को निरुद्यम बनाने वाला है। अतः असंगत एवं अन्तर्विरुद्ध होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये (७।२१७ से २२०) चार श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं।

(१) **प्रसङ्ग-विरोध**—२१६ श्लोक में राजा को भोजन करने के लिये अन्तःपुर में जाने की बात कही है और २२१ वें श्लोक में भोजन के बाद का राजा का कार्यक्रम लिखा है। परन्तु इनके मध्य में ये चार श्लोक उस क्रम को भंग कर रहे हैं। प्रक्षेपक ने इन श्लोकों में ऐसी बातें लिखीं हैं, जिन्हें सामान्यरूप से असंगत नहीं कहा जा सकता। परन्तु उनमें ऐसी असंगत, परस्पर-विरुद्ध, अन्तर्विरोध एवं मिथ्याकल्पित बातें हैं, जिन पर विचार करने पर वे मनु-प्रोक्त कदापि नहीं हो सकतीं।

(२) **अन्तर्विरोध**—(क) राज्य की शासन-व्यवस्था करना बहुत बड़ा कार्य है, इसलिये अकेला राजा उसे कदापि नहीं चला सकता। अतः ७।५५ में दूसरे मन्त्री आदि सहायकों की भी आवश्यकता बताई है। और राज्य-व्यवस्था के लिये राजा अपना सारा समय लगा सके, एतदर्थ राजा को दैनिक यज्ञों व पक्षेष्टि आदि से भी मनु ने छूट दी है और इन कर्मों के लिये पुरोहित और ऋत्विक् को रखने का विधान किया (७।७८) है। क्या वह राजा अन्तःपुर में जाकर स्त्रियों से सेवा कराता हुआ ही अपना पर्याप्त समय नष्ट कर सकता है? और मनु ने स्त्रियों के संग को (७।४६–४७ में) राजा के लिये कामजव्यसन मान-कर त्याज्य बताया है और फिर कामासक्ति बढ़ाने वाले में कहे शृंगारादि का विधान मनु राजा के लिये कैसे कर सकते हैं।

(ख) राजा अन्तःपुर में गया है जहां उसकी पत्नी आदि पारिवारिक जन रहते हैं। वहाँ पत्नी आदि स्वजन राजा के भोजन की परीक्षा करते तो यह उचित था अथवा अन्तःपुर से अन्यत्र भोजन की परीक्षा दूसरे व्यक्ति भी कर सकते थे? किन्तु यहाँ (२१७ में) विष-नाशक मन्त्रों से सुपरीक्षित भोजन

करने का उल्लेख किया है। यह अयुक्तियुक्त और असंगत विधान मनुप्रोक्त नहीं हो सकता। क्योंकि मन्त्रों से विषनाश कभी नहीं होता।

(ग) २१७ श्लोक में विषनाशकमन्त्र और कालज्ञ=ज्योतिषी की बात तो इन्हें स्पष्ट रूप से परवर्ती सिद्ध करती हैं। क्योंकि यन्त्र-मन्त्र का जाल और फलित-ज्योतिष द्वारा समय का देखना, ये दोनों बातें पौराणिक युग की मिथ्या कल्पित बातें हैं। मध्याह्न में राजा भोजन के लिये गया और उसके बाद ज्योतिषी भोजन खाने का मुहूर्त्त बतायें तब राजा भोजन करे, यह निरर्थक समय-यापन करना ही है।

(घ) और ११८ श्लोक में विष-नाशक रत्नों को राजा धारण करे, यह धारणा भी यान्त्रिक लोगों ने फैलायी है। रत्नधारण करने से विष का नाश होना युक्ति-युक्त भी नहीं है। और यदि रत्नों से ही विष का नाश होना सम्भव था तो २१८ में ही विषनाशक और रोगनाशक औषधियों के मिश्रण करने की बात का कथन निरर्थक है। अतः रत्नधारण करने से विष के नाश की बात कल्पना मात्र ही है।

(ङ) २२० वाँ श्लोक पूर्व श्लोकों से ही संबद्ध है और इसमें भी पूर्वोक्त बातों का संकेत और श्रृंगार करने का कथन है। अतः ये सभी श्लोक असंगत अन्तर्विरोध और मिथ्या कल्पित बातों से पूर्ण होने से परवर्ती काल के प्रक्षेप हैं।

ये (७। २२२ से २२६) चार श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

(१) **प्रसंग-विरोध**—(क) (७। २२१) श्लोक में कहा है कि राजा भोजनादि मध्याह्न के कार्यों को करके 'पुनः कार्याणि चिन्तयेत्' फिर कार्यों= मुकद्दमों पर विचार करे। और उन मुकद्दमों का वर्णन अष्टमाध्याय के प्रारम्भ में ही है। अतः २२१ के बाद के सभी श्लोक अप्रासंगिक होने से प्रक्षिप्त हैं। क्योंकि इनमें मुकद्दमों के सम्बन्ध में कुछ भी न कहकर अन्य बातों का ही वर्णन किया गया है, जिससे श्लोकों का क्रम भंग हो रहा है।

(ख) और (७। २२२) श्लोक स्थानभ्रष्ट प्रतीत होता है। इसलिये इसको हमने प्रकरणानुसार (७। २१६) से पूर्व रखा है। महर्षि-दयानन्द ने भी इसकी व्याख्या २१६ श्लोक से पूर्व दिखाई है। यद्यपि महर्षि ने यह श्लोक उद्धृत नहीं किया है। किन्तु उनकी व्याख्या में इस श्लोक की व्याख्या विद्यमान है। प्रतीत ऐसा हो रहा है कि जिसने राजा के लिये शृङ्गारादि का मिश्रण किया, उसी ने 'अलंकृतश्च' शब्द को जोड़कर इस श्लोक को स्थानभ्रष्ट कर दिया है।

शृङ्गारादि करना मनु की मान्यता में कामज व्यसन होने से यह बात मनुप्रोक्त कदापि नहीं हो सकती।

(२) **पुनरुक्तिदोष**—इन श्लोकों में पुनरुक्त बातें भी हैं, जो कि मनुसदृश आप्त-पुरुष द्वारा प्रोक्त नहीं हो सकतीं।

(क) जैसे २२३ वें श्लोक में राजा के लिये कहा है कि वह सन्ध्या करके गुप्तचरों की बातों को सुने। यह बात राजा के लिये अत्यावश्यक होते हुए भी ७।१५३ श्लोक में कह दी है, इसलिये यहाँ दुबारा कहना उचित नहीं है।

(ख) और इसी प्रकार ७।२२६ श्लोक में कहा है कि राजा यदि अस्वस्थतादि के कारण राज्य-सभादि के कार्य न कर सके तो यह कार्य भृत्य=दूसरे कर्मचारियों को सौंप देवे। किन्तु यह बात तो ७।१४१ श्लोक में कह दी गई है। और वहाँ पर भृत्य=नौकर न कहकर स्पष्टरूप से कुलीन धर्मात्मा मुख्यमन्त्री को राज्य के कार्य देखने के लिये कहा गया है। यह उचित भी है। इतने उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य को किसी भी नौकर को कैसे सौंपा जा सकता है?

(ग) ७।२१६ श्लोक में राजा मध्याह्न में भोजन के लिये अन्तःपुर में गया है और ७।२२१ श्लोक में भोजनोपरान्त मुकद्दमों पर विचार करने के लिये कहा है। अतः उसके बाद मुकद्दमों पर विचार ही होना चाहिये। किन्तु यहाँ (२२३–२२५) श्लोकों में प्रसंग को भंग करके सायंकालीन सन्ध्या, दूतों के साथ बातचीत (२२३ में) भोजन के लिये अन्तःपुर में जाना (२२४) फिर मनोरंजन करके सो जाना (२२५) इत्यादि बातें अप्रासंगिक होने से प्रक्षिप्त हैं। क्योंकि यहाँ राजा के मध्याह्न भोजन के बाद कोई कार्य न दिखाकर सायंकाल का दैनिककृत्य दिखाया गया है। परन्तु मनु की मान्यता के अनुसार राजा के दैनिक कार्यों में मुकद्दमों का सुनना भी मुख्य कार्य है, उसको यहाँ समाप्त ही कर दिया है। इसलिये २२१ श्लोक की संगति आठवें अध्याय के साथ ठीक लगती है।

(३) **परस्पर-विरोध**—मनु ने ७।४६–४७ श्लोकों में राजा के लिये कामज-दोषों को परित्याज्य बताया है। क्योंकि कामज-व्यसन राजा को अर्थ और धर्म से हीन कर देते हैं। मनु ने कामज व्यसनों में तौर्यत्रिक=गाना, बजाना, नाचना तथा स्त्रियों से संपर्क करनादि को माना है। फिर यहाँ उन्हीं व्यसनों का विधान मनु कैसे कर सकते थे? अतः ७।२२४ में स्त्रियों से घिरे

रहना और ७। २२५ में तूर्यघोष=तुरही आदि बाजों से प्रसन्न होनादि बातें मनुप्रोक्त न होने से प्रक्षिप्त हैं।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां प्राकृतभाषाभाष्यसमन्वितायाम्
प्रक्षिप्तश्लोक-समीक्षाविभूषितायाञ्च राजधर्मात्मकः
सप्तमोऽध्यायः ॥

अष्टमोऽध्यायः

[प्राकृतभाषाभाष्य-प्रक्षिप्त-श्लोकसमीक्षाभ्यां सहितः]

(राजधर्मान्तर्गत व्यवहार-निर्णय)

[८। १ से ६। २५० पर्यन्त]

व्यवहारों अर्थात् मुकद्दमों के निर्णय के लिए राजा का न्यायसभा में प्रवेश—

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥ (१)

(व्यवहारान्) व्यवहारों अर्थात् मुकद्दमों [८। ४–७] को (दिदृक्षुः तु) देखने अर्थात् निर्णय करने का इच्छुक (पार्थिवः) राजा (ब्राह्मणैः) न्यायज्ञाता विद्वानों [८। ११] (मन्त्रज्ञैः) सलाहकारों (च) और (मन्त्रिभिः) मन्त्रियों के (सह) साथ (विनीतः) विनीतभाव से (सभां प्रविशेत्) राजसभा=न्यायालय में प्रवेश करे ॥ १ ॥

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिः, देवैरग्ने सयावभिः।
आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रोऽअर्य्यमा प्रातर्यावाणोऽध्वरम् ॥

यजु० ३३। १५ ॥

भाषार्थ—(श्रुत्कर्ण) प्रार्थी के वचन को सुनने वाले कानों से युक्त (अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्वी विद्वान् वा राजन्! (सयावभिः) साथ चलने वाले, (वह्निभिः) कार्य के निर्वाहक (देवैः) विद्वानों के साथ (अध्वरम्) हिंसा रहित राज्यव्यवहार को [ऐसा मुकद्दमा जिसमें किसी के साथ अन्याय न हो] (श्रुधि) सुन। (प्रातर्यावाणः) प्रातः राजकार्यों को प्राप्त कराने वाले, (मित्रः) पक्षपात से रहित सबका मित्र और (अर्यमा) अर्य=वैश्य वा स्वामी जनों का

मान करने वाला न्यायाधीश (र्बहिषि) आकाश के तुल्य विशाल सभा में (आसीदन्तु) विराजमान हों।

भावार्थ—सभापति राजा, सुपरीक्षित अमात्यजनों को स्वीकार करके, उनके साथ सभा में बैठकर, विवाद करने वालों के वचनों को सुनकर, यथार्थ न्याय करे। (महर्षि-दयानन्दभाष्य)

अठारह प्रकार के मुकद्दमे—

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्पृथक् ॥ ३ ॥ (२)

सभा, राजा और राजपुरुष सब लोग (देशदृष्टैः च शास्त्रदृष्टैः च हेतुभिः) देशाचार और शास्त्रव्यवहार के हेतुओं से (अष्टादशसु मार्गेषु) निम्नलिखित अठारह [८।४–७] विवादास्पद मार्गों में+विवादयुक्त कर्मों का निर्णय (प्रति+अहम्) प्रतिदिन❁किया करें।

और जो-जो नियम शास्त्रोक्त न पावें, और उनके होने की आवश्यकता जानें, तो उत्तमोत्तम नियम बांधे कि जिससे राजा और प्रजा की उन्नति हो ॥ ३ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

+(निबद्धानि) बांधे अर्थात् नियत किये गये............

❁(पृथक्–पृथक्) अलग–अलग...............

स० प्र० षष्ठ समुल्लास में स्वामी जी ने पुनः श्लोक की प्रथम पंक्ति उद्धृत करके लिखा है—"जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें, उन-उन नियमों को पूर्णविद्वानों की राज-सभा बांधा करे"।

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥ (३)

वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥ (४)

सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥ (५)

स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥ (६)

अठारह मार्ग ये हैं—(तेषाम्) उनमें १—(ऋणादानम्) किसी से ऋण लेने-देने का विवाद, २—(निक्षेपः) धरोहर अर्थात् किसी ने किसी के पास पदार्थ

धरा हो और मांगे पर न देना, ३—(अस्वामिविक्रयः) दूसरे के पदार्थ को दूसरा बेच लेवे, ४—(संभूय च समुत्थानम्) मिल-मिलाके किसी पर अत्याचार करना, ५—(दत्तस्य अनपकर्म च) दिये हुए पदार्थ का न देना, ६—(वेतनस्य+एव च+अदानम्) वेतन अर्थात् किसी की 'नौकरी' में से ले लेना या कम देना, ७—(संविदः च व्यतिक्रमः) प्रतिज्ञा से विरुद्ध वर्तना, ८—(क्रय-विक्रय+अनुशयः) क्रय-विक्रयानुशय अर्थात् लेन-देन में झगड़ा होना, ९—(स्वामि-पालयोः विवादः) पशु के स्वामी और पालने वाले का झगड़ा, १०—(सीमाविवादधर्मः च) सीमा का विवाद, ११–१२ — (पारुष्ये दण्ड-वाचिके) किसी को कठोर दण्ड देना, कठोरवाणी का बोलना, १३—(स्तेयम्) चोरी-डाका मारना, १४—(साहसम् एव) किसी काम को बलात्कार से करना, १५—(स्त्रीसंग्रहणम् एव च) किसी की स्त्री वा पुरुष का व्यभिचार होना, १६—(स्त्री-पुम्+धर्मः) स्त्री और पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना, १७—(विभागः) विभाग अर्थात् दायभाग में वाद उठाना, १८—(द्यूतम्+आह्वय एव च) द्यूत अर्थात् जड़पदार्थ और [आह्वय] =समाह्वय अर्थात् चेतन को दाव में धर के जूआ खेलना, (अष्टादश+एतानि) ये अठारह प्रकार के (व्यवहारस्थितौ पदानि) परस्परविरुद्ध व्यवहार के स्थान हैं ॥ ४—७ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥ (७)

(एषु स्थानेषु) इन [८ । ४–७] व्यवहारों में (भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्) बहुत से विवाद करने वाले पुरुषों के (कार्यविनिर्णयम्) न्याय को (शाश्वतं धर्मम् आश्रित्य) सनातन-धर्म का आश्रय करके (कुर्यात्) किया करे अर्थात् किसी का पक्षपात कभी न करे ॥ ८ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥ ११ ॥ (८)

(यस्मिन्) जिस (देशे) स्थान में (वेदविदः) वेदों के ज्ञाता (त्रयः विप्राः) तीन विद्वान् (निषीदन्ति) बैठते हैं (च) और (राज्ञः अधिकृतः विद्वान्) एक राजा द्वारा नियुक्त उस विषय का विद्वान् बैठता है (तां ब्रह्मणः सभां विदुः) उस सभा को 'ब्रह्मसभा' जानते हैं—मानते हैं ॥ ११ ॥

मुकद्दमों के निर्णय में धर्म की रक्षा की प्रेरणा—

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ १२ ॥ (९)

(यत्र) जिस सभा में (अधर्मेण विद्धः धर्मः) अधर्म से घायल होकर धर्म (उपतिष्ठते) उपस्थित होता है (च अस्य शल्यं न कृन्तन्ति) जो उसका शल्य अर्थात् तीरवत् धर्म के कलंक को निकालना और अधर्म का छेदन नहीं करते अर्थात् धर्मी को मान, अधर्मी को दण्ड नहीं मिलता (तत्र) उस सभा में (सभासदः विद्धाः) जितने सभासद् हैं वे सब घायल के समान समझे जाते हैं ॥ १२ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

"अधर्म से धर्म घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे उसके घाव को यदि सभासद् न पूर देवें तो निश्चय जानो कि उस सभा में सब सभासद् ही घायल पड़े हैं।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्विषी ॥ १३ ॥ (१०)

धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि (सभां न प्रवेष्टव्यम्) सभा में कभी प्रवेश न करे (वा) और जो प्रवेश किया हो तो (समञ्जसम्) सत्य ही (वक्तव्यम्) बोले (नरः अब्रुवन्) जो कोई सभा में अन्याय होते हुए को देखकर मौन रहे (अपि वा) अथवा (विब्रुवन्) सत्य, न्याय के विरुद्ध बोल वह (किल्विषी भवति) महापापी होता है ॥ १३ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे, यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले। यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुनके मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले वह मनुष्य अतिपापी है।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥ (११)

(यत्र) जिस सभा में (प्रेक्षमाणानाम्) बैठे हुए सभासदों के सामने (अधर्मेण हि धर्मः) अधर्म से धर्म (च) और (अनृतेन सत्यं) झूठ से सत्य का (हन्यते) हनन होता है (तत्र) उस सभा में (सभासदः हताः) सब सभासद् मरे से ही हैं ॥ १४ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"जिस सभा में अधर्म से धर्म, असत्य से सत्य, सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है, उस सभा में सब मृतक के समान हैं; जानो उनमें कोई भी नहीं जीता।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १५ ॥ (१२)

(हतः धर्मः एव) मरा हुआ धर्म (हन्ति) मारने वाले का नाश, और

(रक्षितः धर्मः) रक्षित किया हुआ धर्म (रक्षति) रक्षक की रक्षा करता है (तस्मात्) इसलिए (धर्मः न हन्तव्यः) धर्म का हनन कभी न करना, इस डर से कि (हतः धर्मः) मारा हुआ धर्म (नः मा अवधीत्) कभी हमको न मार डाले ॥
॥ १५ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"जो पुरुष धर्म का नाश करता है, उसी का नाश धर्म कर देता है, और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी धर्म भी रक्षा करता है। इसलिए मारा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले, इस भय से धर्म का हनन अर्थात् त्याग कभी न करना चाहिए।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥ (१३)

(यः) जो (भगवान् वृषः हि धर्मः) सब ऐश्वर्यों के देने और सुखों की वर्षा करने वाला धर्म है (तस्य हि+'अलम्' कुरुते) उसका लोप करता है (तम्) उसी को (देवाः) विद्वान् लोग (वृषलं विदुः) वृषल अर्थात् शूद्र और नीच जानते हैं (तस्मात्) इसलिए, किसी मनुष्य को (धर्मं न लोपयेत्) धर्म का लोप करना उचित नहीं ॥ १६ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"जो सुख की वृद्धि करने हारा, सब ऐश्वर्य का दाता धर्म है, उसका जो लोप करता है, उसको विद्वान् लोग वृषल अर्थात् नीच समझते हैं।"
(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १७ ॥ (१४)

इस संसार में (एकः धर्मः एव सुहृद्) एक धर्म ही सुहृद् [=मित्र] है (यः) जो (निधने+अपि+अनुयाति) मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता है (अन्यत् सर्वं हि) और सब पदार्थ वा संगी (शरीरेण समं नाशं गच्छति) शरीर के नाश के साथ ही नाश को प्राप्त होते हैं अर्थात् सब संग छूट जाता है परन्तु धर्म का संग कभी नहीं छूटता ॥ १७ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥ (१५)

"जब राजसभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है वहां अधर्म के चार विभाग हो जाते हैं। उनमें से एक अधर्म के कर्त्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा सभासदों और चौथा पाद अधर्मी सभा के सभापति राजा को प्राप्त होता है।"
(स० प्र० षष्ठ समु०)

राजभसा में पक्षपात से किये गये अन्याय का अधर्म (पादः) चौथाई (अधर्मस्य कर्त्तारम्) अधर्म के कर्त्ता को (पादः) चौथाई (साक्षिणम्) साक्षी को (ऋच्छति) प्राप्त होता है, और (पादः) चौथाई अंश (सर्वान् सभासदः) शेष सब न्यायसभा के सदस्यों को तथा (पादः) चौथाई (राजानम्) राजा को (ऋच्छति) प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दाऽर्हो यत्र निन्द्यते ॥ १९ ॥ (१६)

(यत्र) जिस सभा में (निन्दा+अर्हः निन्द्यते) निन्दा के योग्य की निन्दा, स्तुति के योग्य की स्तुति, दण्ड के योग्य को दण्ड और मान्य के योग्य का मान्य होता है, वहां (राजा च सभासदः) राजा और सब सभासद् (अनेनाः+तु मुच्यन्ते) पाप से रहित और पवित्र हो जाते हैं (कर्त्तारं एनः गच्छति) पाप के कर्त्ता ही को पाप प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम्।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥ (१७)

न्यायकर्त्ता को (बाह्यैः) बाहर के (लिङ्गैः) चिह्नों से [वेशभूषा, चाल, शरीर की मुद्राएं, आदि के लक्षणों से] (स्वर-वर्ण-इङ्गित-आकारैः) स्वर—बोलते समय रुकना, घबराना, गद्गद् होना आदि से; वर्ण—चेहरे का फीका पड़ना, लज्जित होना आदि से इङ्गित—मुकद्दमे के अभियुक्तों के परस्पर के संकेत, सामने न देख सकना, इधर-उधर देखना आदि से; आकार–मुख-नेत्र आदि का आकार बनाना, काँपना, पसीना आना आदि से (चक्षुषा) आंखों में उत्पन्न होने वाले भावों से (च) और (चेष्टितेन) चेष्टाओं–हाथ मसलना, अंगुलियां चटकाना, अंगूठे से जमीन कुरेदना, सिर खुजलाना आदि से (नृणाम्) मुकद्दमे में शामिल लोगों के (अन्तर्गतं भावम्) मन के असली भावों को (विभावयेत्) भांप लेना–जान लेना चाहिये ॥ २५ ॥

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥ (१८)

(आकारैः) आकारों से (इङ्गितैः) संकेतों से (गत्या) चाल से (चेष्टया) चेष्टा=हरकत से (च) और (भाषितेन) बोलने से (च) तथा (नेत्र-वक्त्र-विकारैः) नेत्र एवं मुख के विकारों=हावभावों से (अन्तर्गतं मनः) मनुष्यों के मन का भीतरी भाव (गृह्यते) मालूम हो जाता है ॥ २६ ॥

बालधन की रक्षा—

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजाऽनुपालयेत् ।
यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ।। २७ ।। (१९)

(राजा) राजा (बाल-दाय+आदिकं रिक्थम्) बालक अर्थात् नाबालिग या अनाथ बालक की पैतृक सम्पत्ति और अन्य धन-दौलत की (तावत्) तब तक (अनुपालयेत्) रक्षा करे (यावत् सः) जब तक वह बालक (समावृत्तः स्यात्) समावर्तन संस्कार होकर अर्थात् गुरुकुल से स्नातक बनकर [३।१-२] आये (च) और (यावत्) जब तक वह (अतीतशैशवः) बालिग हो जाये ।। २७ ।।

वन्ध्यादि के धन की रक्षा—

वन्ध्याऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ।। २८ ।। (२०)

(वन्ध्या+अपुत्रासु) बांझ और पुत्रहीन (निष्कुलासु) कुलहीन अर्थात् जिसके कुल में कोई पुरुष न रहा हो (पतिव्रतासु) पतिव्रता स्त्री अर्थात् पति के परदेशगमन आदि कारण से जो स्त्री अकेली हो (विधवासु) विधवा (च) और (आतुरासु) रोगिणी (स्त्रीषु) स्त्रियों की सम्पत्ति की (रक्षणम्) रक्षा भी (एवम्) इसी प्रकार अर्थात् उनके समर्थ हो जाने तक (स्यात्) करनी चाहिए ।। २८ ।।

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।
ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ।। २९ ।। (२१)

(तासां जीवन्तीनाम्) उन [८।२८ में उक्त] जीती हुई स्त्रियों के (तत्) धन को (ये स्वबान्धवाः) जो उनके रिश्तेदार या भाई-बन्धु (हरेयुः) हर लें—कब्जा लें (तु) तो (धार्मिकः पृथिवीपतिः) धार्मिक राजा (तान्) उन व्यक्तियों को (चौरदण्डेन) चोर के समान दण्ड से (शिष्यात्) शिक्षा दे अर्थात् चोर के समान दण्ड देकर उनको सही रास्ते पर लाये ।। २९ ।।

लावारिस धन की व्यवस्था—

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ।
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ।। ३० ।। (२२)

(प्रणष्टस्वामिकं रिक्थम्) मालिक से रहित धन अर्थात् लावारिस धन को (राजा) राजा (त्रि+अब्दम्) तीन वर्ष तक (निधापयेत्) सुरक्षित रखे (त्रि+अब्दात् अर्वाक् स्वामी हरेत्) तीन वर्ष से पहले यदि स्वामी आ जाये

तो वह उसको ले ले [८।३१] (परेण नृपतिः हरेत्) उसके बाद उसे राजा ले ले ॥ ३० ॥

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि।
संवाद्य रूपसंख्यादीन्स्वामी तद् द्रव्यमर्हति ॥ ३१ ॥ (२३)

(यः) जो कोई ('मम इदम्' इति ब्रूयात्) उस लावारिस धन को 'यह मेरा है' एसा कहे तो (सः यथाविध अनुयोज्य) उससे उचित विधि से प्रश्न करे [अर्थात् धन की संख्या, रंग, समय पहचान आदि पूछे] (रूप-संख्या+आदीन्) धन का स्वरूप, मात्रा आदि बातों को (संवाद्य) सही-सही बताकर ही (स्वामी तत् द्रव्यम्+अर्हति) स्वामी उस धन को लेने का अधिकारी होता है अर्थात् सही-सही पहचान बताने पर राजा उस धन को लौटा दे॥ ३१ ॥

अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥ (२४)

जो व्यक्ति (नष्टस्य) नष्ट हुए या खोये हुए धन का (देशं कालं वर्णं रूपं च प्रमाणम्) स्थान, समय, रंग, स्वरूप और मात्रा (तत्त्वतः अवेदयानः) सही-सही नहीं बतलाता अर्थात् जो झूठ ही उस धन को हड़पने की कोशिश करता है तो वह (तत् समं दण्डम्+अर्हति) उस धन के बराबर दण्ड भुगतने का हकदार है अर्थात् उसे उतना ही दण्ड देना चाहिए ॥ ३२ ॥

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः।
दशमं द्वादशं वाऽपि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ३३ ॥ (२५)

(प्रणष्ट+अधिगतात्) नष्ट या खोये धन के प्राप्त होने पर उसमें से (नृपः) राजा (सतां धर्मम्+अनुस्मरन्) सज्जनों के धर्म का अनुसरण करता हुआ अर्थात् न्यायपूर्वक [धन के स्वामी की अवस्था को ध्यान में रखकर] (षड्भागं दशमम् अपि वा द्वादशम् आददीत) छठा, दशवाँ अथवा बारहवां-भाग करके रूप में ग्रहण करे ॥ ३३॥

चोरी गये धन की व्यवस्था—

प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम्।
यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ॥ ३४ ॥ (२६)

(प्रणष्ट-अधिगतं द्रव्यम) चुरा लेने के बाद प्राप्त किये गये धन को राजा (युक्तैः) योग्य रक्षकों के (अधिष्ठितं रक्षेत्) पहरे=सुरक्षा में रखे (तत्र) अगर उस पहरे में से भी चोरी करते हुए (यान् चौरान् गृह्णीयात्) जो चोर पकड़े

जायें [चाहे वे पेशेवर चोर हों अथवा रक्षक राजपुरुष] (तान् राजा+इभेन घातयेत्) उन्हें राजा हाथी से कुचलवाकर मरवा डाले ॥ ३४ ॥

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः।
तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३५ ॥ (२७)

(निधिम्) चोरी से प्राप्त धनको (यः मानवः) जो मनुष्य ('अयं मम+इति' सत्येन ब्रूयात्) रंग, रूप, तोल, संख्या आदि की ठीक पहचान के द्वारा 'यह वास्तव में मेरा है' ऐसा सच-सच बतलादे तो (राजा) राजा (तस्य षड्भागं वा द्वादशम् एव आददीत) उस धन में से छठा या बारहवाँ-भाग कर के रूप में लेले और शेष धन उसके स्वामी को लौटा दे ॥ ३५ ॥

अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम् ।
तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम् ॥ ३६ ॥ (२८)

(अनृतं तु वदन्) अगर कोई झूठ बोले अर्थात् किसी धन पर झूठा दावा करे या झूठ ही अपना बतलावे तो ऐसे अपराधी को (स्ववित्तस्य अष्टमम् अंशं दण्ड्यः) अपना कहे जाने वाले उस धन का आठवां भाग जुर्माना करे (वा) अथवा (संख्याय) हिसाब लगाकर (तस्य+एव निधानस्य अल्पीयसीं कलां) उस दावे वाले धन का कुछ भाग जुर्माना करे ॥ ३६ ॥

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः ।
प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥ ४२ ॥ (२९)

(स्वानि कर्माणि कुर्वाणाः) अपने-अपने कर्त्तव्यों को करते हुए और (स्वे स्वे कर्मणि+अवस्थिताः) अपने-अपने कर्त्तव्यकर्मों में स्थित रहने वाले (मानवाः) मनुष्य (दूरे सन्तः + अपि) दूर रहते हुए भी (लोकस्य प्रियाः भवन्ति) समाज के प्यारे अर्थात् लोकप्रिय होते हैं ॥ ४२ ॥

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ।
न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन ॥ ४३ ॥ (३०)

(राजा अपि+अस्य पुरुषः) राजा अथवा कोई राजपुरुष (स्वयं कार्यं न+उत्पादयेत्) स्वयं किसी झगड़े को उत्पन्न न करें अर्थात् स्वार्थ, लालच आदि के कारण किसी झगड़े को न पैदा करें, न बढ़ावें (च) और (अन्येन प्रापितम्) किसी वादी, प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत किये गये मुकद्दमे के (अर्थम्) वास्तविक न्याय को (कथंचन) किसी भी प्रकार अर्थात् स्वार्थ, लालच आदि के कारण (न ग्रसेत्) न दबावे=उपेक्षा न करे, सही न्याय करे ॥ ४३ ॥

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ।
नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥ (३१)

(यथा) जैसे (मृगयुः) शिकारी (असृक्पातैः) खून के धब्बों से (मृगस्य पदं नयति) हिरण के स्थान को प्राप्त कर लेता है (तथा) वैसे ही (नृपतिः) राजा या न्यायकर्त्ता (अनुमानेन) अनुमान प्रमाण से (धर्मस्य पदम्) धर्म के तत्त्व अर्थात् वास्तविक न्याय का (नयेत्) निश्चय करे ॥ ४४ ॥

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः ।
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥ (३२)

(व्यवहारविधौ स्थितः) मुकद्दमों का फैसला करने के लिए तैयार हुआ राजा (सत्यम् च अर्थम्) मुकद्दमे की सत्यता, उद्देश्य (आत्मानम्) अपनी आत्मा के निर्णय को (अथ साक्षिणः) और साक्षियों को (च) तथा (देशं रूपं च कालम्) देश, स्वरूप एवं समय को (संपश्येत्) अच्छी प्रकार देखे=विचार करे ॥ ४५ ॥

ऋण का न्याय तथा साक्षी—

अधमर्णार्थसिद्धचर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ।
दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥ (३३)

(अधमर्ण+अर्थसिद्धचर्थम्) कर्जदार से अपना धन वसूल करने के लिए (उत्तमर्णेन न चोदितः) कर्ज देने वाले की ओर से प्रार्थना करने पर राजा (धनिकस्य विभावितम् अर्थम्) महाजन का निश्चित किया हुआ धन (अधमर्णात् दापयेत्) कर्जदार से दिलवाये ॥ ४७ ॥

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् ।
दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥ (३४)

(अर्थे+अपव्ययमानम्) [जो कोई कर्जदार कर्ज लेकर] कर्ज लेने से मुकर जाये (तु) और (करणेन विभावितम्) लेख, साक्षी आदि साधनों से उसका कर्ज लिया जाना निश्चित हो जाये तो (धनिकस्य अर्थं दापयेत्) महाजन का धन भी दिलवाये (च) और (शक्तितः दण्डलेशम्) उसकी शक्ति के अनुसार कुछ जुर्माना भी करे ॥ ५१ ॥

ऋणदाता से ऋण के लेख आदि प्रमाण मांगना—

अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।
अभियोक्तादिशेद्देश्यं करणं वाऽन्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥ (३५)

(संसदि) न्यायालय में ('देहि+इति'+उक्तस्य) न्यायाधीश के द्वारा 'महाजन का धन दे दो' ऐसा कहने पर (अधमर्णस्य अपह्नवे) यदि कर्जदार कर्ज लेने से मुकरने की बात कहे तो (अभियोक्ता) मुकद्दमा करने वाला महाजन

(देश्यम्) प्रत्यक्षदर्शी साक्षी=गवाह को (दिशेत्) पेश करे (वा) और (अन्यत् करणम् उद्दिशेत्) अन्य प्रमाण भी प्रस्तुत करे ॥ ५२ ॥

आदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः ।
यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीतान्नावबुध्यते ॥ ५३ ॥ (३६)

अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति ।
सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ ॥ (३७)

असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः ।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥ ५५ ॥ (३८)

ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत् ।
न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥ ५६ ॥ (३९)

(यः) जो ऋणदाता १. (अदेश्यं दिशति) झूठे गवाह और गलत प्रमाणपत्र प्रस्तुत करे, (च) और २. (यः) जो (निर्दिश्य) किसी बात को प्रस्तुत करके या कहकर (अपह्नुते) उससे मुकरता है या टालमटोल करता है, ३. (यः) जो (विगीतान् अधर-उत्तरान्+अर्थान् न+अवबुध्यते) कही हुई अगली-पिछली बातों को नहीं ध्यान में रखता अर्थात् जिसकी अगली-पिछली बातों में मेल न हो, ४. (यः) जो (अपदेश्यम् अपदिश्य पुनः अपधावति) अपने तर्कों को प्रस्तुत करके फिर उनको बदल दे—उनसे फिरजाये, ५. जो (सम्यक् प्रणिहितम् अर्थं पृष्ठः सन्) पहले अच्छी प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक कही हुई बात को न्यायाधीश द्वारा पुनः पूछने पर (न+अभिनन्दति) नहीं मानता, ६. (असंभाष्ये देशे साक्षिभिः मिथः संभाषते) जो एकान्त स्थान में जाकर साक्षियों के साथ घुलमिलकर चुप-चुप बात करे, ७. (निरुच्यमानं प्रश्नं न+इच्छेत्) जांच के लिए पूछे गये प्रश्नों को जो पसंद न करे, ८. (च यः+अपि निष्पतेत्) और जो इधर-इधर टलता फिरे (च) तथा ९. ('ब्रूहि' इति+उक्तः न ब्रूयात्) 'कहो' ऐसा कहने पर कुछ न कहे १०. (च उक्तं न विभावयेत्) और जो कही हुई बात को प्रमाणित न कर पाये, ११. (न पूर्वापरं विद्यात्) पूर्वापर बात को न समझे अर्थात् विचलित हो जाये, (सः तस्मात् अर्थात् हीयते) वह उस प्रार्थना किये गये धन से हार जाता है अर्थात् न्यायाधीश ऐसे व्यक्ति को हारा हुआ मानकर उसे धन न दिलावे ॥ ५३—५६ ॥

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः ।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥ (४०)

('मे साक्षिणः सन्ति' इति+उक्त्वा) पहले 'मेरे साक्षी हैं' ऐसा कहकर

और फिर गवाही के समय न्यायाधीश के द्वारा ('दिश' इति+उक्तः) 'साक्षी लाओ' ऐसा कहने पर (यः न दिशेत्) जो साक्षियों को पेश न कर सके तो (धर्मस्थः) न्यायाधीश (एतैः कारणैः) इन कारणों के आधार पर भी (तमपि हीनं निर्दिशेत्) मुकद्दमा दायर करने वाले को पराजित घोषित कर दे ॥ ५७ ॥

अभियोक्ता न चेद् ब्रूयाद्वध्यो दण्डचश्च धर्मतः ।
न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ ५८ ॥ (४१)

(अभियोक्ता न चेत् ब्रूयात्) जो अभियोक्ता=मुद्दई पहले मुकद्दमा दायर करके फिर अपने मुकद्दमे के लिए कुछ न कहे तो उसे (धर्मतः) धर्मानुसार (वध्यः) कारावास या सजा (च) और (दण्डचः) जुर्माना करने चाहिए, इसी प्रकार यदि (त्रिपक्षात् न चेत् प्रब्रूयात्) तीन पखवाड़े अर्थात् डेढ़ मास तक अभियोगी अपनी सफाई में कुछ न कहे तो (धर्मं प्रति पराजितः) धर्मानुसार= कानून के अनुसार वह हार जाता है ॥ ५८ ॥

यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् ।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद् द्विगुणं दमम् ॥ ५९ ॥ (४२)

(यः) जो कर्जदार (यावत् अर्थं निह्नुवीत) जितने धन को छिपावे अर्थात् अधिक धन लेकर जितना कम बतावे (वा) अथवा जो कर्ज देने वाला (यावति मिथ्या वदेत्) जितना झूठ बोले अर्थात् कम धन देकर जितना ज्यादा बतावे (नृपेण) राजा (तौ अधर्मज्ञौ) उन दोनों झूठ बोलने वालों को (तत् द्विगुणं दमम् दाप्यौ) जितना झूठा दावा किया है उससे दुगुने धन के दण्ड से दण्डित करे ॥ ५९ ॥

साक्षियों की योग्यता एवं साक्ष्य लेने की विधि—

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः ।
तादृशान्सम्प्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः ॥ ६१ ॥ (४३)

(धनिभिः) साहूकारों अर्थात् धन देने वालों को (व्यवहारेषु) मुकद्दमों में (यादृशाः साक्षिणः कार्याः) जैसे साक्षी बनाने चाहिए (तादृशान्) उनको (च) और (तैः) उन साक्षियों को (यथा अमृतं वाच्यम्) जैसे सत्यवात कहनी चाहिए उसे (सम्प्रवक्ष्यामि) अब आगे कहूंगा— ॥ ६१ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥ (४४)

(सर्वेषु वर्णेषु) सब वर्णों में (आप्ताः) धार्मिक, विद्वान्, निष्कपटी (सर्व-धर्मविदः) सब प्रकार धर्म को जानने वाले (अलुब्धाः) लोभरहित सत्यवादी

को (कार्येषु) न्यायव्यवस्था में (साक्षिणः कार्याः) साक्षी करे (विपरीतान् तु वर्जयेत्) इससे विपरीतों को कभी न करें ॥ ६३ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ।
न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥ ६४ ॥ (४५)

(अर्थसम्बन्धिनः) ऋण आदि के लेने-देन से सम्बन्ध रखने वाले साक्षी (न कर्त्तव्याः) नहीं हो सकते (न आप्ताः) न मित्र (न सहायाः) न सहायक—नौकर आदि, (न वैरिणः) न अभियोगी के शत्रु आदि, (न दृष्टदोषाः) जिसकी साक्षी पहले झूठी सिद्ध हो चुकी है वे भी नहीं (न व्याधि+आर्त्ताः) न रोगग्रस्त, और (न दूषिताः) न अपराधी=सजा पाये व्यक्ति साक्षी हो सकते हैं ॥ ६४ ॥

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ ६८ ॥ (४६)

(स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः) स्त्रियों की साक्षी स्त्री, (द्विजानां सदृशाः द्विजाः) द्विजों के द्विज (शूद्राणां शूद्राः) शूद्रों के शूद्र (अन्त्यानाम् अन्त्ययोनयः कुर्युः) अन्त्यजों के अन्त्यज साक्षी हों ॥ ६८ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् ।
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥ ६९ ॥ (४७)

(अन्तः+वेश्मनि) घर के अन्दर एकान्त में हुई घटना में (वा) अथवा (अरण्ये) जंगल के एकान्त में हुई घटना में (अपि च) और (शरीरस्य अत्यये) रक्तपात आदि से शरीर के घायल हो जाने की अवस्था में (यः कश्चित् अनुभावी) जो कोई अनुभव करने वाला या देखने वाला हो वही (विवादिनाम्) विवाद करने वालों का (साक्ष्यं कुर्यात्) साक्षी हो सकता है, चाहे वह कोई भी हो ॥ ६९ ॥

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥ (४८)

(सर्वेषु साहसेषु) जितने बलात्कार के काम, (स्तेयसंग्रहणेषु च) चोरी, व्यभिचार (वाक्दण्डयोः च पारुष्ये) कठोरवचन, दंडनिपातनरूप अपराध हैं (साक्षिणः न परीक्षेत) उनमें साक्षी की परीक्षा न करे। और अत्यावश्यक भी समझें, क्योंकि ये काम सब गुप्त होते हैं ॥ ७२ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः ।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान्गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥ ७३ ॥ (४९)

❀(साक्षिद्वैधे बहुत्वम्) दोनों ओर के साक्षियों में से बहुपक्षानुसार (समेषु

तु गुणोत्कृष्टान्) तुल्य साक्षियों में उत्तम गुणी पुरुष की साक्षी के अनुकूल (गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान्) और दोनों के साक्षी उत्तमगुणी और तुल्य हों तो द्विजोत्तम अर्थात् ऋषि महर्षि और यतियों की साक्षी के अनुसार न्याय करे ॥ ७३ ॥

❀ (नराधिपः) राजा या न्यायाधीश······ (स० प्र० षष्ठ समु०)

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्धयति ।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥ (५०)

(साक्ष्यं सिद्धयति) दो प्रकार से साक्षी होना सिद्ध होता है (समक्षदर्शनात्) एक–साक्षात् देखने (च) और (श्रवणात्) दूसरा–सुनने से (तत्र साक्षी सत्यं ब्रुवन्) जब सभा में पूछें तब जो साक्षी सत्य बोलें (धर्म+अर्थाभ्यां न हीयते) वे धर्महीन और दण्ड के योग्य न होवें और जो साक्षी मिथ्या बोलें वे यथायोग्य दण्डनीय हों ॥ ७४ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि ।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥ (५१)

(आर्यसंसदि) जो राजसभा वा किसी उत्तम पुरुषों की सभा में (साक्षी) साक्षी (दृष्ट-श्रुतात् + अन्यत् विब्रुवन्) देखने और सुनने से विरुद्ध बोले तो वह (अवाङ्नरकम्+अभ्येति) अवाङ्नरक=अर्थात् जिह्वा के छेदन से दुःखरूप नरक को वर्तमान समय में प्राप्त होवे (च) और (प्रेत्य स्वर्गात् हीयते) मरे पश्चात् सुख से हीन हो जाये ॥ ७५ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वाऽपि किञ्चन ।
पृष्टस्तत्रापि तद् ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥ (५२)

(अनिबद्धः अपि) साक्षी के रूप में न बुलाये जाने पर भी [वादी वा प्रतिवादी के द्वारा] (यत्र किञ्चन ईक्षेत अपि वा शृणुयात्) जहाँ कुछ भी देखा या सुना हो (पृष्टः) न्यायाधीश के पूछने पर (तत्र+अपि) वहां (यथादृष्टं यथाश्रुतं तद् ब्रूयात्) जैसा देखा या सुना है वैसा ही कह दे अर्थात् न्याय के लिए स्वयं साक्षीरूप में पंहुच जाये ॥ ७६ ॥

स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥ ७८ ॥ (५३)

(तद् ग्राह्यम्) साक्षी के उस वचन को मानना (यत्) जो (स्वभावेन+एव व्यावहारिकं ब्रूयुः) स्वभाव ही से व्यवहारसम्बन्धी बोलें (अतः+अन्यत्+

यत् + विब्रूयुः) और सिखाये हुए, इससे भिन्न जो-जो वचन बोलें (तत्) उस-उसको (*अपार्थकम्) न्यायाधीश व्यर्थ समझे ॥ ७८ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

* (धर्मार्थम्) सही न्याय के हेतु.........

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिना तेन सान्त्वयन् ॥ ७९ ॥ (५४)

(अर्थि-प्रत्यर्थिसन्निधौ) जब अर्थी=वादी और प्रत्यर्थी=प्रतिवादी के सामने (सभान्तः प्राप्तान् साक्षिणः) सभा के समीप प्राप्त हुए साक्षियों को (सान्त्वयन्) शान्ति पूर्वक (प्राड्विवाकः) न्यायाधीश और प्राड्विवाक् अर्थात् वकील वा बैरिस्टर (तेन विधिना) इस प्रकार से (अनुयुञ्जीत) पूछें—॥ ७९ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिश्चेष्टितं मिथः ।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥ ८० ॥ (५५)

हे साक्षि लोगो! (अस्मिन् कार्ये) इस कार्य में (अनयोः द्वयोः मिथः चेष्टितम्) इन दोनों के परस्पर कर्मों में (यत् वेत्थ) जो तुम जानते हो (तत्) उस* को (सत्येन ब्रूत) सत्य के साथ बोलो (हि) क्योंकि (युष्माकम्) तुम्हारी (अत्र) इस कार्य में (साक्षिता) साक्षी है ॥ ८० ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

* (सर्वम्) सब............

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥ (५६)

(साक्षी) जो साक्षी* (सत्यं ब्रुवन्) सत्य बोलता है (पुष्कलान् लोकान् आप्नोति) वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म, और उत्तम लोकान्तरों में जन्म को प्राप्त होके सुख भोगता है (इह च अनुत्तमां कीर्तिम्) इस जन्म वा परजन्म में उत्तम कीर्ति को प्राप्त होता है (एषा वाक् ब्रह्मपूजिता) क्योंकि जो यह वाणी है वही वेदों में सत्कार और तिरस्कार का कारण लिखी है। जो सत्य बोलता है वह प्रतिष्ठित, और मिथ्यावादी निन्दित होता है ॥ ८१ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

* (साक्ष्ये) साक्ष्य-व्यवहार में............

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥ (५७)

(सत्येन साक्षी पूयते) सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता और (सत्येन धर्मः वर्धते) सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है (तस्मात्) इस से (सर्ववर्णेषु)

सब वर्णों में (साक्षिभिः) साक्षियों को (सत्यं हि वक्तव्यम्) सत्य ही बोलना योग्य है ॥ ८३ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथाऽऽत्मनः ।
माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ ८४ ॥ (५८)

(आत्मनः साक्षी आत्मा+एव हि) आत्मा का साक्षी आत्मा (तथा+आत्मनः गतिः+आत्मा) और आत्मा की गति आत्मा है, इसको जानके हे पुरुष ! तू (नृणाम् उत्तमं साक्षिणम्) सब मनुष्यों का उत्तम साक्षी (स्वम्+आत्मानम्) अपने आत्मा का (मा+अवमंस्थाः) अपमान मत कर अर्थात् सत्यभाषण जो कि तेरे आत्मा, मन, वाणी में है वह सत्य, और जो इससे विपरीत है वह मिथ्याभाषण है ॥ ८४ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण ! मन्यसे ।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥ ९१ ॥ (५९)

(कल्याण) हे कल्याण की इच्छा करने हारे पुरुष ! (यत् त्वम्) जो तू ('अहम् एकः अस्मि' इति) 'मैं अकेला हूँ' ऐसा (आत्मानं मन्यसे) अपने आत्मा में जानकर मिथ्या बोलता है सो ठीक नहीं है, किन्तु (एषः ते हृदि) जो दूसरा तेरे हृदय में (नित्यं पुण्यपापेक्षिता मुनिः स्थितः) अन्तर्यामीरूप से परमेश्वर पुण्य-पाप का देखने वाला मुनि स्थित है, उस परमात्मा से डरकर सदा सत्य बोला कर ॥ ९१ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशंकते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥ (६०)

(यस्य वदतः) जिस बोलते हुए पुरुष का (विद्वान् क्षेत्रज्ञः) विद्वान् क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीर का जानने हारा आत्मा (न+अभिशंकते) भीतर शंका को प्राप्त नहीं होता❋ (तस्मात्+अन्यम्) उससे भिन्न (देवाः) विद्वान् लोग (श्रेयांसं पुरुषं न विदुः) किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते ॥ ९६ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

❋ (लोके) जगत् में....................

झूठी गवाही वाले मुकद्दमे पर पुनर्विचार—

यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् ।
तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥ ११७ ॥ (६१)

(यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु) जिस-जिस मुकद्दमे में (कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्) यह पता लगे कि झूठी या गलत साक्षी हुई है (तत्-तत् कार्यं निवर्तेत)

उस-उस निर्णय को रद्द करके पुनः विचार करे, क्योंकि वह (कृतं च+अपि+अकृतं भवेत्) किया हुआ काम भी न किये के समान है ॥ ११७ ॥

असत्य साक्ष्य के आधार—

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च ।
अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ ११८ ॥ (६२)

(लोभात् मोहात् भयात् मैत्रात् कामात् क्रोधात् अज्ञानात् च बालभावात् साक्ष्यम्) जो लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपन से साक्षी देवे (वितथम्+उच्यते) वह सब मिथ्या समझी जावे ॥ ११८ ॥
(स० प्र० षष्ठ समु०)

असत्य साक्ष्य में दण्डव्यवस्था—

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९ ॥ (६३)

"इनसे भिन्न स्थान में साक्षी झूठ बोले उसको वक्ष्यमाण अनेकविध दण्ड दिया करे ।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

(एषाम्) इन [८।११८] लोभ आदि कारणों में से (अन्यतमे स्थाने) किसी कारण के होने पर (यः अनृतं साक्ष्यं वदेत्) जो कोई झूठी साक्षी देता है (तस्य) उसके लिए (दण्डविशेषान्) दण्डविशेषों को (अनुपूर्वशः) क्रमशः (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा [८ । १२०—१२२] ॥ ११९ ॥

लोभात्सहस्रं दण्डयस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् ।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ १२० ॥ (६४)

(लोभात् सहस्रं दण्डयः) जो लोभ से झूठी गवाही दे तो 'एक हजार पण' का दण्ड देना चाहिए (मोहात् पूर्वं साहसम्) मोह से देने वाले को 'प्रथम साहस', (भयात् द्वौ मध्यमौ दण्डौ) भय से देने पर दो 'मध्यम साहस' का दण्ड दे (मैत्रात्) मित्रता से झूठी गवाही देने पर (पूर्वं चतुर्गुणम्) 'प्रथम साहस' का चारगुना दण्ड देना चाहिए ॥ १२० ॥

"जो लोभ से झूठी साक्षी देवे तो उससे १५॥=) (पन्द्रह रुपये दश आने) दण्ड लेवे, जो मोह से झूठी साक्षी देवे उससे ३=) (तीन रुपये दो आने) दण्ड लेवे, जो भय से मिथ्या साक्षी देवे उस से ६।) (सवा छह रुपये) दण्ड लेवे, और जो पुरुष मित्रता से झूठी साक्षी देवे उस से १२॥) (साढ़े बारह रुपये) दण्ड लेवे ।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥ १२१ ॥(६५)

(कामात् दशगुणं पूर्वम्) काम से झूठी गवाही देने पर दशगुना 'प्रथम साहस' (क्रोधात् तु त्रिगुणं परम्) क्रोध से देने पर तिगुना 'मध्यम साहस' (अज्ञानात् द्वे शते पूर्णे) अज्ञान से देने पर दो सौ 'पण' और (बालिश्यात् शतम् एव तु) बालकपन में देने से सौ 'पण' दण्ड होना चाहिए ॥ १२१ ॥

"जो पुरुष कामना से मिथ्या साक्षी देवे उससे २५) (पच्चीस रुपये) दण्ड लेवे, जो पुरुष क्रोध से झूठी साक्षी देवे उससे ४६।।।=) (छयालीस रुपये चौदह आने) दण्ड लेवे, जो पुरुष अज्ञानता से झूठी साक्षी देवे उससे ६) (६ रुपये) दण्ड लेवे, और जो बालकपन से मिथ्या साक्षी देवे तो उससे १।।–) एक रुपया नौ आने दण्ड लेवे।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीषिभिः।
धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥ १२२ ॥ (६६)

(धर्मस्य+अव्यभिचारार्थम्) धर्म का लोप न होने देने के लिए (च) और (अधर्मनियमाय) अधर्म को रोकने के लिए (कौटसाक्ष्ये) झूठी या गलत गवाही देने पर (मनीषिभिः प्रोक्तान्) विद्वानों द्वारा विहित (एतान् दण्डान् आहुः) ये दण्ड हैं ॥ १२२ ॥

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥१२६॥ (६७)

"परन्तु जो-जो दण्ड लिखा है और लिखेंगे, जैसे—लोभ से साक्षी देने में पन्द्रह रुपये दश आने दण्ड लिखा है; परन्तु जो अत्यन्त निर्धन हो तो उससे कम, और धनाढ्य हो तो उससे दूना, तिगुना और चौगुना तक भी ले लेवे अर्थात् जैसा देश, जैसा काल और जैसा पुरुष हो उस का जैसा अपराध हो वैसा ही दण्ड करे।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

न्यायकर्त्ता (अनुबन्धम्) अपराधी का इरादा या बार-बार किये गये अपराध को (च) और (तत्त्वतः देशकालौ) सही रूप में देश और काल को (परिज्ञाय) जानकर (च) तथा (सार-अपराधौ) अपराधी की शारीरिक एवं आर्थिक शक्ति और अपराध का स्तर (आलोक्य) देख-विचार कर (दण्ड्येषु दण्डं पातयेत्) दण्डनीय लोगों को दण्ड दे ॥ १२६ ॥

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १२७ ॥ (६८)

(लोके अधर्मदण्डनम्) क्योंकि इस संसार में जो अधर्म से दण्ड करना है वह (यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्) पूर्वप्रतिष्ठा वर्त्तमान और भविष्यत् में, और परजन्म में होने वाली कीर्ति का नाश करने हारा है (च) और (परत्र+अपि अस्वर्ग्यम्) परजन्म में भी दुःखदायक होता है (तस्मात्) इसलिये (तत् परिवर्जयेत्) अधर्मयुक्त दण्ड किसी पर न करे ॥ १२७ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥१२८॥ (६९)

(राजा) जो राजा (दण्ड्यान् अदण्डयन्) दण्डनीयों को न दण्ड (अदण्ड्यान् दण्डयन्) अदंडनीयों को दण्ड देता है अर्थात् दण्ड देने योग्य को छोड़ देता और जिसको दण्ड देना न चाहिए उस को दण्ड देता है वह (महत् अयशः आप्नोति) जीता हुआ बड़ी निन्दा को (च) और (नरकम् एव गच्छति) मरे पीछे बड़े दुःख को प्राप्त होता है; इसलिए जो अपराध करे उसको सदा दण्ड देवे और अनपराधी को दण्ड कभी न देवे ॥ १२८ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"जो राजा अनपराधियों को दण्ड देता और अपराधियों को दण्ड नहीं देता है, वह इस जन्म में बड़ी अपकीर्त्ति को प्राप्त होता और मरे पश्चात् नरक अर्थात् महादुःख को पाता है।" (सं० वि० गृहाश्रम प्रकरण)

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥ १२९ ॥ (७०)

(प्रथमं वाक्+दण्डम्) प्रथम वाणी का दण्ड अर्थात् उसकी 'निन्दा' (तत्+अनन्तरम्) दूसरा (धिक्+दण्डम्) 'धिक्' दण्ड अर्थात् तुझको धिक्कार है, तूने ऐसा बुरा काम क्यों किया (तृतीयं धनदण्डम्) तीसरा—उससे धन लेना, और❀ (वधदण्डम्) 'वध' दण्ड अर्थात् उसको कोड़ा या बेंत से मारना वा शिर काट देना ॥ १२९ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

❀ (अतः परम्) इस दण्ड से न सुधरे तो उसके पश्चात्..........

वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।
तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥ (७१)

राजा (एतान्) इन अपराधियों को (यदा) जब (वधेन+अपि) शारीरिक दण्ड से भी (निग्रहीतुं न शक्नुयात्) नियन्त्रित न कर सके (तत्+एषु) तो इन पर (सर्वम्+अपि+एतत् चतुष्टयं प्रयुञ्जीत) सभी उपरोक्त [८। १२९] चारों दण्डों को एक साथ और तीव्ररूप में लागू कर देवे ॥ १३० ॥

लेन-देन के प्रयोग में आनेवाले मापक—

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥ (७२)

अब मैं (ताम्र-रूप-सुवर्णानां या संज्ञाः) तांबा, रूप्य, सुवर्ण आदि की जो 'पण' आदि संज्ञाएं (लोकव्यवहारार्थम्) मोल लेना-देना आदि लोकव्यवहार के लिए (भुवि प्रथिताः) जगत् में प्रसिद्ध हैं (ताः) इन सबको (अशेषतः प्रवक्ष्यामि) पूर्णरूप से कहता हूँ ॥ १३१ ॥

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥ (७३)

(भानौ जालान्तरगते) सूर्य की किरणों के मकान की खिड़कियों के अन्दर से प्रवेश करने पर [उस प्रकाश में] (यत् सूक्ष्मं रजः दृश्यते) जो बहुत छोटा रजकण (कण) दिखाई पड़ता है (तत्) वह (प्रमाणानां प्रथमम्) प्रमाणों=मापकों में पहला प्रमाण है, और उसे ('त्रसरेणुं' प्रचक्षते) 'त्रसरेणु' कहते हैं ॥ १३२ ॥

महर्षि-दयानन्द ने इस श्लोक को 'त्रसरेणु' के लक्षण-प्रसंग में 'पूना प्रवचन' में पृष्ठ ८६ पर उद्धृत किया है । (सं०)

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।
ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥ १३३ ॥ (७४)

(परिमाणतः) माप के अनुसार (अष्टौ 'त्रसरेणवः') आठ 'त्रसरेणु' की (एका 'लिक्षा' विज्ञेया) एक 'लिक्षा' होती है, और (ताः तिस्रः 'राजसर्षपः') उन तीन लिक्षाओं का एक 'राजसर्षप' (ते त्रयः गौरसर्षपः) उन तीन 'राजसर्षपों' का एक 'गौरसर्षप' होता है ॥ १३३ ॥

सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् ।
पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ १३४ ॥ (७५)

(षट् सर्षपाः मध्य-यवः) छः गौरसर्षपों का एक 'मध्ययव' परिमाण होता है (तु) और (त्रियवम् एककृष्णलम्) तीन मध्ययवों का एक 'कृष्णल' (पञ्च-कृष्णलकः माषः) पाँच कृष्णलों का एक 'माष' और (ते षोडश सुवर्णः) उन सोलह माषों का एक 'सुवर्ण' होता है ॥ १३४ ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥ १३५ ॥ (७६)

(चत्वारः सुवर्णाः 'पलम्') चार सुवर्णों का एक 'पल' होता है (दश

पलानि 'धरणम्') दश पलों का एक 'धरण' होता है (द्वे कृष्णले समधृते 'रौप्यमाषकः' विज्ञेयः) दो कृष्णलों के बराबर का माप एक 'रौप्यमाषक' जानना चाहिए ॥ १३५ ॥

ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः ।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥ १३६ ॥ (७७)

(ते षोडश 'धरणं' स्यात्) उन सोलह रौप्यमाषकों का एक 'रौप्यधरण' होता है (च) और एक ('राजतः पुराणः') चाँदी का 'पुराण' होता है (ताम्रिकः कार्षिकः पणः) तांबे का कर्षभर का पण ('कार्षापणः' विज्ञेयः) 'कार्षापण' समझना चाहिए ॥ १३६ ॥

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः ।
चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ १३७ ॥ (७८)

(दश धरणानि) दश धरणों का ('राजतः शतमानः' ज्ञेयः) एक 'रौप्य-शतमान' जानें, और (प्रमाणतः) प्रमाणानुसार (चतुः सौवर्णिकः 'निष्कः' विज्ञेयः) चार सुवर्ण का एक 'निष्क' जानना चाहिए ॥ १३७ ॥

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥ १३८ ॥ (७९)

(द्वे शते सार्धे पणानां 'प्रथमः साहसः' स्मृतः) ढाई सौ पण का एक प्रथम 'साहस' माना है (पञ्च 'मध्यमः' विज्ञेयः) पाँच सौ पण का 'मध्यम साहस' समझना चाहिए (सहस्रं तु+एव उत्तमः) एक हजार पण का 'उत्तम साहस' होता है ॥ १३८ ॥

ऋण-मुकद्दमे—

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम् ।
अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥ १४० ॥ (८०)

(वसिष्ठविहिताम्) [दिये हुए ऋण पर] अर्थशास्त्र के विद्वान् द्वारा विहित (वित्तविवर्धिनीम्) धन को बढ़ाने वाली (वृद्धिम्) वृद्धि अर्थात् ब्याज को (सृजेत्) ले, किन्तु (वार्धुषिकः) ब्याज लेने वाला मनुष्य (शते अशीतिभागम्) सौ पर अस्सीवां भाग अर्थात् सवा रुपया सैकड़ा ब्याज (मासात्) मासिक (गृह्णीयात्) ग्रहण करे अर्थात् इससे अधिक ब्याज न ले [यह अधिक से अधिक की सीमा है] ॥ १४० ॥

"सवा रुपये सैंकड़े से अधिक, चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे।"
(सं० वि० गृहाश्रम प्रकरण में टिप्पणी)

अनुशीलन—इस श्लोक में 'वसिष्ठ' शब्द को देखकर यह भ्रम होता है कि यह कोई वसिष्ठ नाम का व्यक्ति हुआ है और उसने व्याज लेने की व्यवस्था निर्धारित की है, मनु ने उसी को यहां प्रामाणिक मानकर उद्धृत किया है। अनेक टीककार इस भ्रान्ति के शिकार हुए हैं और उन्होंने इसको 'नाम' मानकर वसिष्ठ ऋषि का अर्थ कर दिया हैं। इस शब्द का यहाँ 'अर्थशास्त्र के ज्ञाता विद्वान्' अर्थ है। इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियां हैं—(१) मनु ने प्रसंगानुसार अन्यत्र भी उस-उस विषय के ज्ञाता विद्वानों को मूल्य, शुल्क आदि के निर्धारण में प्रमाण माना है, और स्वयं उनका निर्धारण स्वल्परूप में करके शेष उन्हीं पर छोड़ दिया है, जैसे—किराया निर्धारण के लिये ८।१५७ में, शुल्कनिर्धारण के लिए ८।३९८ में उस विषय के विशेषज्ञों पर ही यह निर्धारण का काम छोड़ा है। इसी प्रकार यहां भी है, इसीलिए इस शब्द का उक्त अर्थ मनु-अभिप्रेत है। (२) वेदादि में वसिष्ठ शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यथा—ऋ० १. ११२. ९ तथा ७. ३३. १३ में वसिष्ठ शब्द का अर्थ महर्षि-दयानन्द ने यही किया है—"यो वसति धनादि कर्मसु सोऽतिशयस्तम् उत्तमं विद्वाँसम्।" इस आधार पर यहा उक्त अर्थ ही समीचीन एवं ग्राह्य है।

अर्थशास्त्रियों द्वारा व्याज की व्यवस्था के निर्धारण का उल्लेख करते हुए मनु ने व्याज की यह अधिकतम सीमा निर्धारित की है। इससे अधिक व्याज ग्रहण नहीं करना चाहिए, इस उल्लेख से यही मनु का अभिप्राय है।

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात्।
न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः॥ १४३॥ (८१)

(सोपकारे) उपकार अर्थात् साथ के साथ लाभ पंहुचाने वाली (आधौ) बधक रखी धरोहर [जैसे भूमि, घर, गौ आदि] पर (कौसीदीं वृद्धि न तु+एव आप्नुयात्) व्याज की वृद्धि बिल्कुल न ले (च) और (कालसंरोधात्) बहुत समय बीत जाने पर भी (आधेः) उस धरोहर को (न निसर्गः) न रखने वाले के अधिकार से छुड़ाया जा सकता है अर्थात् उसी की वह वस्तु रहेगी (न विक्रयः) न दूसरे को बेचा जा सकता है॥ १४३॥

धरोहर-सम्बन्धी व्यवस्थाएं—

न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्।
मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत्॥ १४४॥ (८२)

(बलात्) गिरवो को रखने वाला व्यक्ति जबरदस्ती (आधिः न भोक्तव्यः) किसी की धरोहर को उपयोग में न लाये (भुञ्जानः) यदि वह उस वस्तु को उपभोग में लाता है तो (वृद्धिम्+उत्सृजेत्) व्याज को छोड़ देवे, अथवा (एनं मूल्येन तोषयेत्) धरोहर रखने वाले व्यक्ति को उसका मूल्य देकर संतुष्ट करे

(अन्यथा) ऐसा न करने पर (आधिः+स्तेनः भवेत्) 'धरोहर का चोर' कहलायेगा अर्थात् चोर के दण्ड का भागी होगा ॥ १४४ ॥

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः ।
अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५ ॥ (८३)

(आधिः) धरोहर (च) और (उपनिधिः) मुहरबन्द दी हुई अमानत (उभौ) ये दोनों (काल+अत्ययम्) समय की सीमा के (न अर्हतः) योग्य नहीं हैं अर्थात् इन पर कोई समय की सीमा लागू नहीं होती कि इतने दिनों के पश्चात् ये ज़ब्त हो जायेंगी (तौ) ये (दीर्घकालम्+अवस्थितौ) लम्बे समय तक रहने के बाद भी (अवहार्यौ भवेताम्) लौटाने योग्य होती हैं ॥ १४५ ॥

संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।
धेनुरुष्ट्रा वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥ (८४)

(संप्रीत्या भुज्यमानानि) परस्पर प्रेमपूर्वक उपभोग में लायी जाती हुई वस्तुएं (धेनुः) गौ (वहन्) बोझ या सवारी आदि ढोने के लिए (उष्ट्रः) ऊंट (अश्वः) घोड़ा (च) और (यः) जो (दम्यः) हल आदि में जोता जाने वाला बैल आदि (प्रयुज्यते) उपयोग में लाया जाता है वह (कदाचन न नश्यन्ति), कभी भी अपने पूर्व स्वामी के स्वामित्व से नष्ट नहीं होते, प्रयोग करने वाले के नहीं होते ॥ १४६ ॥

दुगुने से अधिक मूलधन न लेने का आदेश—

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता ।
धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥ १५१ ॥ (८५)

(सकृत्+आहृता) एक बार लिए ऋण पर (कुसीदवृद्धिः) ब्याज की वृद्धि (द्वैगुण्यं न+अत्येति) मूलधन से दुगुने से अधिक नहीं होनी चाहिए (धान्ये), अन्नादि धान्य (सदे) वृक्षों के फल (लवे) ऊन (वाह्ये) भारवाहक पशु बैल आदि (पञ्चतां न+अतिक्रामति) मूल से पांचगुने से अधिक नहीं होने चाहिएं ॥ १५१ ॥

"सवा रुपये सैंकड़े से अधिक चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे, जब दूना धन आ जाये उस से आगे आगे कौड़ी न लेवे न देवे। जितना न्यून ब्याज लेवेगा उतना ही उस का धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे"। (सं० वि० गृहाश्रम प्रकरणमें टिप्पणी)

कौन-कौन से ब्याज न ले—

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत् ।
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥ १५३ ॥(८६)

(अतिसांवत्सरीं वृद्धिं न हरेत्) एक वर्ष से अधिक समय का ब्याज एक बार में न ले (च) और (अदृष्टां पुनः न हरेत्) किसी कारण से एक बार छोड़े हुए ब्याज को फिर न मांगे (चक्रवृद्धिः) मासिक ब्याज पर लगाया हुआ ब्याज (कालवृद्धिः) मासिक, त्रैमासिक या ब्याज की किश्त देने के लिए निश्चित किये गये काल पर ब्याज लेकर अगले काल पर ब्याज की दर को बढ़ा देना (कारिता) कर्जदार की विवशता, विपत्ति आदि के कारण दबाव देकर शास्त्र में निश्चित सीमा से अधिक लिखाया या वढ़ाया गया ब्याज (कायिका) ब्याज के रूप में शरीर से बेगार करवाना या शरीर से काम कराके ब्याज उगाहना, ये ब्याज भी न ले ॥ १५३ ॥

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम् ।
स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥ १५४ ॥ (८७)

(यः) जो कर्जदार (ऋणं दातुम्+अशक्तः) निर्धारित समय पर ऋण न लौटा सकता हो और (पुनः क्रियां कर्तुम्+इच्छेत्) फिर आगे भी क्रिया= उस ऋण को जारी रखना चाहता हो तो (सः) वह (निर्जितां वृद्धिं दत्त्वा) उस समय तक के ब्याज को देकर (करणं परिवर्तयेत्) 'लेन-देन का कागज' नया लिख दे ॥ १५४ ॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् ।
यावती संभवेद् वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥ १५५ ॥ (८८)

(अदर्शयित्वा) यदि कर्जदार ब्याज न दे सके तो (तत्र+एव हिरण्यं परिवर्तयेत्) ब्याज को मूलधन में जोड़कर सारे को मूलधन मानकर नया कागज लिख दे (यावती वृद्धिः संभवेत्) उस पर फिर जितना ब्याज बनेगा (तावतीं दातुम्+अर्हति) उतना उसे देना होगा ॥ १५५ ॥

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः ।
अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १५६ ॥ (८९)

(चक्रवृद्धिं समारूढः) उपर्युक्त [८।१५५] प्रकार से वार्षिक ब्याज को मूलधन में जोड़कर चक्रवृद्धि ब्याज लेने वाला व्यक्ति (देश-काल-व्यवस्थितः) देश और काल-व्यवस्था में बंधकर ब्याज ले [देशव्यवस्था अर्थात् स्थान या देश की उपर्युक्त व्यवस्था जैसे नकद राशि पर दुगुने से अधिक न ले; व्यापारिक अन्न,

फल आदि पर पांच गुने से अधिक न ले; और सवा रुपये सैंकड़े की अधिकतम सीमा तक जितना ब्याज जिस स्थान या देश में लिया जाता है उस व्यवस्था के अनुसार (८।१४०,१५१)। कालव्यवस्था—वर्ष के निर्धारित समय के बाद ही सूद को मूलधन में जोड़ना, पहले नहीं (८।१५५)] (देशकालौ=अतिक्रामन्) देश, काल की व्यवस्था को भंग करने पर (तत् फलं न अवाप्नुयात्) ब्याज लेने वाला उस ब्याज को लेने का हकदार नहीं होता ॥ १५६ ॥

किराया-भाड़ा निर्धारण—

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धि सा तत्राधिगमं प्रति ॥ १५७ ॥ (९०)

(समुद्रयानकुशलाः) समुद्रपार देशों तक व्यापार करने में चतुर और (देशकालार्थदर्शिनः) देश,काल के अनुसार अर्थशास्त्र के ज्ञाता विद्वान् (यां वृद्धि-स्थापयन्ति) जिस ब्याज या भाड़े का निश्चय करें (सा तत्र+अधिगमं प्रति) वही ब्याज या भाडा लाभप्राप्ति के लिए ठीक है [ऐसा समझना चाहिए] ॥१५७ ॥

जमानती का विधान—

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः।
अदर्शयन्स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५८ ॥ (९१)

(यः मानवः) जो व्यक्ति (यस्य) जिस कर्जदार का (इह दर्शनाय) महाजन के सामने या न्यायालय के सामने उपस्थित करने का (प्रतिभूः तिष्ठेत्) जमानती बने (तम् अदर्शयन्) उस कर्जदार को उपस्थित न कर सकने पर (तस्य ऋणम्) उसका लिया हुआ कर्ज (स्वधनात् प्रयच्छेत्) जमानती अपने धन से दे। ॥ १५८ ॥

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत्।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥ १५९ ॥ (९२)

(प्रातिभाव्यम्) जमानत के रूप में स्वीकार किया गया धन (वृथादानम्) व्यर्थ में देने के लिए कहा गया दान, या व्यर्थ अथवा कुपात्र को कहा गया दान (आक्षिकम्) जूआ-सम्बन्धी धन (च) और (यत् सौरिकम्) जो शराब-व्यय सम्बन्धी धन (च) तथा (दण्ड-शुल्क-अवशेषम्) राजा की ओर से दण्ड के रूप में किया गया जुर्माने का धन और कर, चुंगी आदि का धन (पुत्रः न दातुम्+अर्हति) पुत्र को नहीं देना चाहिए ॥ १५९ ॥

दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः।
दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥ (९३)

(दर्शन-प्रातिभाव्ये तु) कर्जदार को उपस्थित करने का जमानती होने में तो (पूर्वचोदितः विधिः स्यात्) पहले [८ । १५९ में] कही हुई विधि लागू होगी किन्तु (दान-प्रतिभुवि प्रेते) ऋण आदि देने का जमानती होकर [कि अगर कर्जदार नहीं देगा तो मैं दूंगा] पुनः जमानती के मर जाने पर (दायादान्+अपि दापयेत्) राजा जमानत के धन को उसके वारिस पुत्र आदिकों से भी दिलवाये ॥ १६० ॥

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् ।
पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥ (९४)

(अदातरि पुनः विज्ञातप्रकृतौ) अदाता जमानती की प्रतिज्ञा की ऋणदाता को जानकारी होने की स्थिति में अर्थात् जमानती ने ऋण देने की जमानत नहीं ली है किन्तु केवल ऋणी को ऋणदाता के सामने नियत समय पर उपस्थित करने की जमानत ली है, और जमानती की इस प्रतिज्ञा को ऋणदाता जानता भी है ऐसे (प्रतिभुवि प्रेते पश्चात्) जमानती के मर जाने के बाद (दाता केन हेतुना ऋणं परीप्सेत्) ऋणदाता किस कारण अर्थात् आधार पर [उसके पुत्रादि से] ऋण प्राप्त करने की इच्छा करेगा ? अर्थात् वह उसके पुत्र आदि से ऋण प्राप्त करने का हकदार नहीं है ॥ १६१ ॥

निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंधनः ।
स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥ १६२ ॥ (९५)

(चेत्) यदि (प्रतिभूः निरादिष्टधनः) ऋणी ने अपने जमानती को धन सौंप रखा हो (च) और (अलंघन स्यात्) ऋणी ने जमानती से ऋणदाता को वह धन लौटा देने की आज्ञा न दी हो तो ऐसी स्थिति में (निरादिष्टः) वह आज्ञा न दिया हुआ जमानती अथवा मरने पर जमानती का पुत्र (तत् स्वधनात् एव दद्यात्) [ऋणदाता के मांगने पर] उसका धन अपने धन में से ही लौटा देवे (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥ १६२ ॥

मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा ।
असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥ १६३ ॥ (९६)

(मत्तः) नशे में ग्रस्त (उन्मत्तः) पागल (—आर्तः) शारीरिक रोगी (—आधि) मानसिक रूप से दुःखी या विपत्तिग्रस्त (—अधीनैः) अधीन रहनेवाले नौकर आदि से (बालेन) नाबालिग से (वा) अथवा (स्थविरेण) बहुत बूढ़े से (च) और (असंबद्धकृतः) सम्बद्ध व्यक्ति के पीछे से किसी अन्य व्यक्ति से किया गया (व्यवहार) लेन-देन (न सिद्ध्यति) प्रामाणिक अर्थात् मानने योग्य नहीं होता ॥ १६३ ॥

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता ।
बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥ १६४ ॥ (९७)

(भाषा) कोई भी बात या पारस्परिक प्रतिज्ञा (चेत्) यदि (धर्मात्) धर्म-शास्त्र अर्थात् कानून से (नियतात् व्यावहारिकात्) निश्चित व्यवहार से (बहिः भाष्यते) बाह्य अर्थात् विरुद्ध की हुई है (यद्यपि प्रतिष्ठिता स्यात्) चाहे वह लेख आदि द्वारा प्रमाणित भी हो तो भी (सत्या न भवति) सत्य=प्रामाणिक या ठीक नहीं होती ॥ १६४ ॥

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् ।
यत्र वाऽप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ १६५ ॥ (९८)

(योग+आधमन—विक्रीतम्) छल-कपट से रखी हुई धरोहर और बेची हुई वस्तु (योगदान—प्रतिग्रहम्) छल-कपट से दी गयी और ली गई वस्तु (वा) अथवा (यत्र अपि+उपधिं पश्येत्) जिस किसी भी व्यवहार में छल-कपट दिखाई पड़े (तत् सर्वं विनिवर्तयेत्) उस सब को रद्द या अमान्य घोषित कर दे ॥ १६५ ॥

ग्रहीता नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थं कृतो व्ययः ।
दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥ १६६ ॥ (९९)

(कुटुम्बार्थं व्ययः कृतः) यदि किसी व्यक्ति ने परिवार के लिए ऋण लेकर खर्च किया हो और (यदि ग्रहीता नष्टः स्यात्) अगर लेने वाला मर गया हो तो (तत्) वह ऋण (बान्धवैः) उसके पारिवारिक सम्बन्धियों को (विभक्तैः+अपि) चाहे वे अलग-अलग भी क्यों न हो गये हों (स्वतः) अपने धन में से (दातव्यम्) देना चाहिए ॥ १६६ ॥

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत् ।
स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥ १६७ ॥ (१००)

(अधि+अधीनः+अपि) कोई अधीनस्थ व्यक्ति [पुत्र, सेवक आदि] भी यदि (कुटुम्बार्थे) परिवार के भरण-पोषण के लिए (स्वदेशे वा विदेशे वा) स्वदेश वा विदेश में (यं व्यवहारम्+आचरेत्) जिस लेन-देन के व्यवहार को कर लेवे (ज्यायान्) घर का बड़ा=मुखिया आदमी (तं न विचालयेत्) उस व्यवहार को टालमटोल न करे अर्थात् उसे स्वीकार करके चुकता करदे ॥ १६७ ॥

अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम् ।
साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥ १७८ ॥ (१०१)

(राजा) राजा (मिथः विवदतां नृणाम्) परस्पर झगड़ते हुए मनुष्यों के (साक्षि-प्रत्ययसिद्धानि कार्याणि) साक्षी और लेख आदि प्रमाणों से प्रमाणित

मुकद्दमों को (अनेन विधिना) इस उपर्युक्त [८।९ से ८।१७७] विधि से (समतां नयेत्) निर्णीत करे ॥ १७८ ॥

(२) धरोहर रखना (१७९–१९६)—

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः ॥ १७९ ॥ (१०२)

(बुधः) बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह (कुलजे) कुलीन (वृत्त-सम्पन्ने) अच्छे आचरण वाले (धर्मज्ञे) धर्मात्मा (सत्यवादिनि) सत्यवादी (महापक्षे) बहुत परिवार वाले (आर्ये धनिनि) श्रेष्ठ धनवान् व्यक्ति के यहां (निक्षेपं निक्षिपेत्) धरोहर रखे ॥ १७९ ॥

यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः ।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १८० ॥ (१०३)

(यः) जो धरोहर रखने वाला (मानवः) मनुष्य (यम्+अर्थम्) जिस धन को (यस्य हस्ते) जिस किसी के हाथ में (यथा निक्षिपेत्) जैसे अर्थात् मुहर-बन्द या बिना मुहरबन्द, साक्षियों के सामने या एकान्त में, जैसी धन की मात्रा अवस्था आदि स्थिति के रूप में रखे (सः) वह धन (तथा+एव) वैसी स्थिति के अनुसार ही (ग्रहीतव्यः) वापिस लेना चाहिए क्योंकि (यथा दायः तथा ग्रहः) जैसा देना वैसा ही लेना होता है ॥ १८० ॥

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति ।
स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ ॥ १८१ ॥ (१०४)

(यः) जो धरोहर रखने वाला (निक्षेप्तुः निक्षेपम्) धरोहर रखाने वाले के द्वारा अपनी धरोहर के (याच्यमानः) मांगने पर (न प्रयच्छति) नहीं लौटाता है तो [धरोहर रखाने वाले के द्वारा न्यायालय में प्रार्थना करने पर] तत् निक्षेप्तुः+असन्निधौ) धरोहर रखाने वाले की अनुपस्थिति में या परोक्षरूप से (प्राड्विवाकेन सः याच्यः) न्यायाधीश उससे धरोहर मांगे [८।१८२] अर्थात् धरोहर लौटाने के लिये उससे पूछताछ आदि करे ॥ १८१ ॥

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः ।
अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥ १८२ ॥ (१०५)

(साक्षी+अभावे) दिये गये धरोहर-धन को सिद्ध करने के लिए यदि साक्षी न हों [तो उसकी जांच-पड़ताल का एक उपाय यह है कि राजा] (वयः-रूप-समन्वितैः) ठीक आयु वाले और समयानुसार विविध रूप बनाने की कला से युक्त (प्रणिधिभिः) गुप्तचरों के द्वारा (अपदेशैः) विभिन्न बहानों एवं तरीकों

से (तत्त्वतः) जो नकली प्रतीत न हों अर्थात् ऐसी स्वाभाविक पद्धति से (तस्य) उस अभियोगी के यहां (हिरण्यं संन्यस्य) धरोहर आदि धन रखवाकर फिर मांगे ॥ १८२ ॥

स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम् ।
न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥ (१०६)

(सः) वह धरोहर लेने वाला अभियोगी व्यक्ति [अनेक बार, विभिन्न प्रकार के उपायों से परीक्षा करने के पश्चात्] (यदि यथान्यस्तं यथाकृतं प्रतिपद्येत) यदि रखी हुई धरोहर को ज्यों का त्यों वापिस कर दे तो (यत् परैः+अभियुज्यते) जो दूसरों के द्वारा उस पर अभियोग लगाया गया है (तत्र न किंचित् विद्यते) उसमें कुछ सच्चाई नहीं है, ऐसा समझना चाहिए ॥ १८३ ॥

तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि ।
उभौ निगृह्य दाप्यःस्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ १८४ ॥ (१०७)

(यदि तु) और अगर (तेषां तत् हिरण्यम्) उन गुप्तचरों द्वारा रखी गई धरोहर को (यथाविधि) ज्यों का त्यों (न दद्यात्) न लौटावे तो (निगृह्य) उसे गिरफ्तार करके (उभौ दाप्यः स्यात्) दोनों की धरोहर वापिस दिलवाने के साथ-साथ दण्डित भी करे (इति धर्मस्य धारणा) यह धर्मानुसार निर्णय है ॥ १८४ ॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे ।
नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥ (१०८)

(नित्यम्) कभी भी (निक्षेप+उपनिधी) बिना मुहरबन्द धरोहर और मुहरबन्द धरोहर (अनन्तरे प्रति) देने वाले से भिन्न किसी व्यक्ति को [चाहे वे पुत्र आदि ही क्यों न हों] (न देयौ) नहीं देनी चाहिए (तौ) ये (विनिपाते नश्यतः) देने वाले के मर जाने पर नष्ट हो जाती हैं अर्थात् लौटानी नहीं पड़तीं (तु) और (अनिपाते) जीवित रहते हुए (अनाशिनौ) कभी नष्ट नहीं होतीं ॥१८५॥

स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे ।
न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥१८६॥ (१०९)

(मृतस्य अनन्तरे प्रति) धरोहर देने वाले के मर जाने पर उसके वारिसों को (यः स्वयम्+एव दद्यात्) जो व्यक्ति स्वयं ही धरोहर लौटादे तो (सः) उस व्यक्ति पर (न राज्ञा) न तो राजा को (न निक्षेप्तुः बन्धुभिः) और न धरोहर रखाने वाले के उत्तराधिकारी बान्धवों को (नियोक्तव्यः) किसी प्रकार का दावा या संदेह करना चाहिए ॥ १८६ ॥

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् ।
विचार्य तस्य या वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥ १८७ ॥ (११०)

(तम्+अर्थम्) यदि उस व्यक्ति के पास कुछ धन रह भी गया है तो उस धन को (अच्छलेन) छलरहित होकर (प्रीतिपूर्वकम्+एव) प्रेमपूर्वक ही (अनु+इच्छेत्) लेने की इच्छा करे (वा) और (तस्य वृत्तं विचार्य) उसके भलेपन को ध्यान में रखते हुए [कि उसने स्वयं ही कुछ धन लौटा दिया] (साम्ना+एव परिसाधयेत्) शान्तिपूर्वक या मेल-जोल से ही धनप्राप्ति के काम को सिद्ध करले ॥ १८७ ॥

निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने ।
समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥ (१११)

(एषु सर्वेषु निक्षेपेषु) उपर्युक्त सब प्रकार के बिना मुहरबन्द निक्षेपों में (परिसाधने) विवादों का निर्णय करने के लिए (विधिः स्यात्) यह विधि [८।१८२ आदि] कही गयी है और (समुद्रे) मोहरबन्द धरोहरों में (यदि तस्मात् न हरेत्) यदि उसमें से मुहर को तोड़कर रखने वाला कुछ नहीं लेता है तो (किञ्चित् न+आप्नुयात्) वह किसी दोष का भागी नहीं होता ॥ १८८ ॥

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा ।
न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥ १८९ ॥ (११२)

(तस्मात्) रखे हुए धरोहर में से (यदि सः किञ्चन न संहरति) यदि धरोहर लेने वाला कुछ नहीं लेता है और धरोहर (चौरैः हृतम्) चोरों के द्वारा चुरा ली जाये (जलेन+ऊढम्) जल में वह जाये (वा) या (अग्निना एव दग्धम्) आग से ही जल जाये तो (न दद्यात्) धरोहर लेने वाला धरोहर को न लौटाये ॥ १८९ ॥

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ।
तावुभौ चौरवच्चास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥ १९१ ॥ (११३)

(यः) जो (निक्षेपं न+अर्पयति) धरोहर को वापिस नहीं लौटाता (च) और (यः) जो (अनिक्षिप्य याचते) बिना धरोहर रखे झूठ ही मांगता है (तौ+उभौ) वे दोनों प्रकार के व्यक्ति (चौरवत् शास्यौ) चौर के समान दण्ड के भागी हैं (वा) अथवा (तत् समं दमं दाप्यौ) बताये गये धन के बराबर अर्थदण्ड के द्वारा दण्डनीय हैं ॥ १९१ ॥

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः ।
ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ १९३ ॥ (११४)

(यः कश्चित् नरः) जो कोई मनुष्य (उपधाभिः) छल-कपट या जालसाजी से (परद्रव्यं हरेत्) दूसरों का धन हरण करे (सः) राजा उसे (ससहायः) उसके सहायकों सहित (प्रकाशम्) जनता के सामने (विविधैः वधैः हन्तव्यः) विविध प्रकार के वधों [कोड़े या बेंत मारना, हाथ-पैर काटना आदि] से दण्डित कराये ॥ १९३ ॥

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥ १९४ ॥ (११५)

(कुलसन्निधौ) साक्षियों के सामने (येन) जिसने (यः च यावान् निक्षेपः कृतः) जो वस्तु और जितना धरोहर के रूप में रखा है (सः) वह (तावान्+एव विज्ञेयः) उतना ही समझना चाहिए (विब्रुवन्) उसके विरुद्ध कहने वाला भी (दण्डम्+अर्हति) दण्ड का भागी होता है ॥ १९४ ॥

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा ।
मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १९५ ॥ (११६)

(येन मिथः दायः कृतः) जिस व्यक्ति ने बिना साक्षियों के परस्पर की सहमति से धरोहर या धन दिया है (वा) अथवा (मिथः एव गृहीतः) उसी प्रकार एकान्त में ग्रहण किया है उन्हें (मिथः एव प्रदातव्यः) उसी प्रकार एकान्त में लौटा देना चाहिए (यथा दायः तथा ग्रहः) क्योंकि जैसा देना वैसा ही लेना होता है ॥ १९५ ॥

निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च ।
राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम् ॥ १९६ ॥ (११७)

(एवम्) इस प्रकार [८। १७९ से ८। १९५ तक] (निक्षेपस्य) धरोहर के रूप में रखे गये (च) और (प्रीत्या+उपनिहितस्य धनस्य) प्रेमपूर्वक उपनिधि आदि के रूप में रखे गये धन का (न्यासधारिणम् अक्षिण्वन्) जिससे धरोहर रखने वाले को किसी प्रकार की हानि न हो ऐसे (राजा विनिर्णयं कुर्यात्) राजा निर्णय करे ॥ १९६ ॥

(३) दूसरे की वस्तु बेचदेना (१९७—२०५)—

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः ।
न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥ १९७ ॥ (११८)

(यः) जो मनुष्य (अस्वामी) किसी वस्तु का स्वामी नहीं होता हुआ भी (स्वामी+असंमतः) उस वस्तु के असली स्वामी की आज्ञा लिए बिना (परस्य स्वं

विक्रीणीते) दूसरे की सम्पत्ति को बेच देता है (अस्तेनमानिनम्) चोर होते हुए भी स्वयं को चोर न समझने वाले (स्तेनं तम्) उस चोर व्यक्ति की (साक्ष्यं न नयेत) साक्षी या बातों को प्रामाणिक न माने ॥ १९७ ॥

अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम् ।
निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम् ॥ १९८ ॥ (११९)

(अवहार्यः सान्वयः एव भवेत्) यदि इस प्रकार [८ । १९७] सम्पत्ति को बेचने वाला वंश से स्वामी का उत्तराधिकारी हो तो (षट्शतं दमम्) राजा उस पर छह सौ पण दण्ड करे और यदि वह (निरन्वयः) स्वामी के वंश का न हो, तथा (अनपसरः) या कोई जबरदस्ती उस सम्पत्ति पर अधिकार करने वाला हो तो वह (चौरकिल्विषं प्राप्तः स्यात्) चोर के दण्ड को प्राप्त करने योग्य होगा ॥ १९८ ॥

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा ।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥ १९९ ॥ (१२०)

(अस्वामिना) वास्तविक स्वामी के विना (यः तु दायः वा विक्रयः कृतः) जो कुछ भी देना या बेचना किया जाये (व्यवहारे यथा स्थितिः) व्यवहार के नियम के अनुसार (सः तु अकृतः विज्ञेयः) उस कार्य को 'न किया हुआ' ही समझना चाहिए ॥ १९९ ॥

सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।
आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥ २०० ॥ (१२१)

(यत्र सम्भोगः दृश्यते) जहां किसी वस्तु का उपभोग किया जाना देखा जाये (आगमः क्वचित् न दृश्यते) किन्तु उसका आगम=आने का साधन या स्रोत न दिखाई पड़े (तत्र) वहाँ (आगमः कारणम्) आगम=वस्तु की प्राप्ति के स्रोत या साधन के होने को प्रमाण मानना चाहिए (संभोगः न) उपभोग करना उसके स्वामित्व का प्रमाण नहीं है (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है । अर्थात्—किसी वस्तु के उपभोग करने से कोई व्यक्ति उसका स्वामी नहीं बन जाता अपितु 'उचित प्राप्ति' को सिद्ध करने पर ही उसे उस वस्तु का स्वामी माना जा सकता है ॥ २०० ॥

विक्रयाद्यो धनं किञ्चिद् गृह्णीयात्कुलसन्निधौ ।
क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ २०१ ॥ (१२२)

(यः) जो व्यक्ति (किञ्चित् विक्रयात्) किसी वस्तु को बेचकर (धनं गृह्णीयात्) धन प्राप्त करना चाहे तो वह (कुलसन्निधौ) साक्षियों या लोगों के

बीच में (विशुद्धं क्रयेण हि) उस बेची जाने वाली वस्तु की खरीददारी को विशुद्ध प्रमाणित करके ही (न्यायतः धनं लभते) न्यायानुसार धन प्राप्त करने का अधिकारी होता है अर्थात् जिस वस्तु को वह बेच रहा है वह विशुद्ध रूप से उसकी है या उसने कानूनी तौर पर खरीद रखी है यह बात सिद्ध करने पर ही वह उस बेची हुई वस्तु के धन को प्राप्त करने का अधिकारी है, अन्यथा नहीं। जो उसकी विशुद्ध खरीदारी को प्रमाणित नहीं कर सकता वह न उस वस्तु को बेचने का हकदार है और न उसके विक्री के धन को प्राप्त करने का ॥ २०१ ॥

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः ।
अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥ २०२ ॥ (१२३)

(अथ मूलम्+अनाहार्यम्) अगर कोई वस्तु न लेने योग्य अर्थात् अवैध सिद्ध होती है अर्थात् मूलरूप से वह कहाँ से आयी है और किसकी है यह पता न हो और खरीददार ने उस वस्तु की (प्रकाश-क्रय-शोधितः) लोगों के सामने शुद्ध रूप से खरीददारी की है, तो ऐसी स्थिति में उस अवैध वस्तु का खरीददार (राज्ञा अदण्ड्यः मुच्यते) राजा के द्वारा दण्डनीय नहीं होता, राजा उसे छोड़ दे, और (नाष्टिकः धनं लभते) जिसका वह धन मूलरूप से है, उसे लौटा दे ॥२०२॥

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति ।
न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥ २०३ ॥ (१२४)

(अन्येन अन्यत् संसृष्टरूपम्) एक वस्तु में उससे मिलते-जुलते रङ्ग-रूप वाली कम कीमत वाली या खराब वस्तु मिलाकर (न विक्रयम्+अर्हति) नहीं बेची जा सकती (च) और (न असारम्) न बेकार वस्तु (न न्यूनम्) न तोल में कम (न दूरेण तिरोहितम्) न दूर से अस्पष्ट दिखने वाली वस्तु को बेचना प्रामाणिक है ॥ २०३ ॥

अनुशीलन--इस प्रकार से वस्तुओं का बेचना भी दूसरे की वस्तु बेचने के समान दण्डनीय है।

सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदधनार्धिनोऽपरे ।
तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥ २१० ॥ (१२५)

(सर्वेषां मुख्याः अर्धिनः) सब साझीदारों में जो मुख्य हैं वे कुल आय के आधे भाग को लें (अपरे अर्धिनः तत् अर्धेन) दूसरे नंबर के साझीदार उनसे आधा भाग ग्रहण करें (तृतीयिनः तृतीयांशाः) तीसरे नम्बर के साझीदार उन मुख्यों से एक तिहाई भाग लें (च) और (चतुर्थांशाः पादिनः) चौथे हिस्से के हिस्सेदार एक चौथाई हिस्सा लें। इस प्रकार साझे का व्यापार करें ॥२१०॥

सम्भूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः ।
अनेन विधियोगेन कर्त्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥ (१२६)

(इह) इस संसार में (संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिः मानवैः) मिल-जुलकर अपने काम करने वाले मनुष्यों को (अनेन विधियोगेन) इस विधि के अनुसार (अंशप्रकल्पना कर्त्तव्या) आपस के भाग का बंटवारा करना चाहिये ॥ २११ ॥

(५) दान की हुई वस्तु को लौटाना (२१२—२१३)—

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम् ।
पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत् ॥ २१२ ॥ (१२७)

(येन) जिसने (कस्मैचित् याचते) किसी मांगने वाले को (धर्मार्थं धनं दत्तं स्यात्) धर्मकार्य के लिए धन दिया हो (च) और (पश्चात्) बाद में (तथा तत् न स्यात्) उस याचक ने जैसा कहा था वह काम नहीं किया हो तो (तस्य तत् न देयं भवेत्) उसको वह धन देने योग्य नहीं रहता अर्थात् वह धन उससे वापिस ले ले ॥ २१२ ॥

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्प्पाल्लोभेन वा पुनः ।
राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥ २१३ ॥ (१२८)

(पुनः) वापिस माँगने पर भी (दर्पात् वा लोभेन) अभिमान या लालच-वश (यदि तत् संसाधयेत्) फिर भी उस धन को वह याचक मनमाने काम में लगाये अर्थात् वापिस न करे तो (राज्ञा) राजा (तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः) उसके चोरीरूप अपराध की निवृत्ति के लिए (सुवर्णं दाप्यः स्यात्) एक 'सुवर्ण' [८।१३४] के दण्ड से दण्डित करे ॥ २१३ ॥

(६) वेतन देने न देने का विवाद (२१४—२१७)

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥ (१२९)

(एषा) यें [८।२१२-२१३] (दत्तस्य) दिये हुए दान को (यथावत्+अनपक्रिया) ज्यों की त्यों न लौटाने की क्रिया (धर्म्या) धर्म के अनुसार (उदिता) कही ।

(अतः+ऊर्ध्वम्) इसके बाद अब (वेतनस्य+अनपक्रियाम्) वेतन न देने के विषय का (प्रवक्ष्यामि) वर्णन करूंगा ॥ २१४ ॥

भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।
स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥ २१५ ॥ (१३०)

(यः) जो (भृतः) सेवक (अनार्तः) रोगरहित होते हुए भी (यथा+उदितं कर्म) यथा निश्चित काम को (दर्पात्) अहंकार के कारण (न कुर्यात्) न करे (सः अष्टौ कृष्णलानि दण्ड्यः) राजा उस पर आठ 'कृष्णल' [७।१३४] दण्ड करे (च) और (अस्य वेतनं न देयम्) उसे उस समय का वेतन न दे ॥२१५॥

आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम्॥ २१६ ॥ (१३१)

यदि सेवक (स्वस्थः सन्) स्वस्थ रहता हुआ (यथाभाषितम्+आदितः कुर्यात्) जैसा पहले कहा था या निश्चय हुआ था उसके अनुसार ठीक-ठीक काम करता रहे तो (सः) वह (आर्तः तु) बीमार होने पर भी (तत् दीर्घस्य कालस्य+अपि वेतनं लभेत) उस लम्बे समय के वेतन को पाने का अधिकारी होता है ॥२१६॥

(७) की हुई प्रतिज्ञा से फिर जाना (२१८—२२१)—

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम्॥ २१८ ॥ (१३२)

(एषः) यह [८।२१५–२१६] (वेतनादानकर्मणः) वेतन देने का (धर्मः) नियम (अखिलेन+उक्तः) पूर्णरूप से अर्थात् सभी के लिए कहा।

(अतः ऊर्ध्वम्) इसके बाद अब (समयभेदिनाम्) की हुई प्रतिज्ञा या व्यवस्था को तोड़ने वालों के लिए (धर्मम्) विधान (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा–॥२१८॥

यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥ २१९ ॥ (१३३)

(यः) जो (नरः) मनुष्य (ग्राम-देश-संघानाम्) गांव, देश या किसी समुदाय=कम्पनी आदि से (सत्येन सं विदं कृत्वा) सत्यवचनपूर्वक प्रतिज्ञा, व्यवस्था, ठेका या इकरार करके (लोभात् विसंवदेत्) फिर लोभ के कारण उसे भंग कर देवे (तं राष्ट्रात् विप्रवासयेत्) राजा उसे राष्ट्र से बाहर निकालदे॥ २१९॥

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम्।
चतुःसुवर्णान्षण्निष्कांश्छतमानं च राजतम्॥ २२० ॥ (१३४)

(च) और (एनं समयव्यभिचारिणम्) इस प्रतिज्ञा या व्यवस्था को भंग करने वाले को [अपराध के स्तरानुसार] (निगृह्य) पकड़ कर (चतुः सुवर्णान्) चार 'सुवर्ण' [८।१३४] (षट् निष्कान्) छह 'निष्क' [८।१३७] (राजतं शतमानम् चाँदी का 'शतमान' [८।१३७] (दापयेत्) दण्ड दे॥ २२०॥

एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥ २२१ ॥ (१३५)

(धार्मिकः पृथिवीपतिः) धार्मिक राजा (ग्राम-जाति-समूहेषु) गाँव-वर्ण और समुदाय-सम्बन्धी विषयोंमें (समय-व्यभिचारिणाम्) प्रतिज्ञा या व्यवस्था का भंग करने वालों पर (एतत्) यह उपर्युक्त [८।२१९–२२०] (दण्डविधिम्) दण्ड का विधान (कुर्यात्) लागू करे ॥ २२१ ॥

(८) खरीद-विक्री का विवाद (२२२—२२८)—

क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत् ।
सोऽन्तर्दशाहात्तद् द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा ॥ २२२ ॥ (१३६)

(किंचित् क्रीत्वा) किसी वस्तु को खरीदकर (वा) अथवा (विक्रीय) बेचकर (यस्य) जिस व्यक्ति को (इह+अनुशयः भवेत्) मन में पश्चात्ताप अनुभव हो (सः) वह (अन्तर्दशाहात्) दश दिन के भीतर (तत् द्रव्यम्) उस वस्तु को (दद्यात्) लौटादे (वा) अथवा (आददीत एव) लौटाले ॥ २२२ ॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् ।
आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्डचः शतानि षट् ॥ २२३ ॥ (१३७)

(तु) परन्तु (दश+अहस्य परेण) दश दिन के बाद (न दद्यात्) न तो वापिस दे (अपि न दापयेत्) और न वापिस ले (आददानः) यदि कोई वापिस ले (च+एव) या (ददत्) वापिस दे तो (राज्ञा षट्शतानि दण्डचः) राजा उस पर छह सौ पण [८।१३६] का जुर्माना करे ॥ २२३ ॥

यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् ।
तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥ (१३८)

(यस्मिन् यस्मिन् कार्ये कृते) जिस-जिस कार्य के करने पर (यस्य) जिस व्यक्ति को (इह+अनुशयः भवेत्) दिल में पश्चात्ताप अनुभव हो (तम्) उस व्यक्ति को राजा (अनेन विधानेन) इस उक्त [८।२२२—२२७] विधान के अनुसार (धर्मे पथि निवेशयेत्) धर्मयुक्त मार्ग पर स्थापित करे ॥ २२८ ॥

(९) पशु-स्वामी और ग्वाले का विवाद (२२९–२४४)—

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे ।
विवादं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः ॥ २२९ ॥ (१३९)

अब मैं (पशुषु) पशुओं के विषय में (स्वामिनां च पालानां व्यतिक्रमे) पशु-मालिकों और चरवाहों में मतभेद हो जाने पर जो झगड़ा खड़ा हो जाता

है (विवादम्) उस विवाद को (धर्मतत्त्वतः) धर्मतत्त्व के अनुसार (यथावत्) ठीक-ठीक (सम्प्रवक्ष्यामि) कहूँगा—।। २२९ ।।

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम् ।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः ।। २३१ ।। (१४०)

(यः तु गोपः क्षीरभृतः) जो चरवाहा स्वामी से वेतन न लेकर दूध लेता हो (सः भृत्यः दशतः वरां) वह नौकर प्रथम दश गायों में जो श्रेष्ठ गाय हो उसका दूध (गोस्वामी+अनुमतेः दुह्यात्) गौस्वामी की अनुमति लेकर दुह लिया करे ।। २३१ ।।

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम् ।
हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ।। २३२ ।। (१४१)

(नष्टम्) यदि कोई पशु खो जाये (कृमिभिः विनष्टम्) कीड़ों के पड़ने से मर जाये (श्वहतम्) कुत्ते खा जायें (विषमे मृतम्) विपत्ति में फंसकर या ऊंचे-नीचे स्थानों में गिरने से मर जाये (पुरुषकारेण हीनम्) चरवाहे के द्वारा पुरुषार्थ न करने के कारण या उपेक्षा के कारण पशु नष्ट हो जाये तो (पालः एव प्रदद्यात्) उस पशु का चरवाहा ही देनदार है ।। २३२ ।।

विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति ।
यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ।। २३३ ।। (१४२)

(विघुष्य तु चौरैः हृतम्) यदि पशु को जबरदस्ती चोर ले जायें (च) और (यदि देशे च काले स्वामिनः स्वस्य शंसति) यदि चरवाहा देश-काल के अनुसार शीघ्र ही अपनी ओर से स्वामी को इसकी सूचना दे देता है तो (पालः दातुं न अर्हति) चरवाहा उस पशु का देनदार नहीं होता ।। २३३ ।।

कर्णौ चर्म च बालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम् ।
पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानि दर्शयेत् ।।२३४।। (१४३)

(पशुषु मृतेषु) पशुओं के स्वयं मर जाने पर चरवाहा उस पशु के (कर्णौ) दोनों कान (चर्म) चमड़ा (बालान्) पूंछ आदि के बाल (वस्तिम्) मूत्रस्थान (स्नायुम्) नसें (रोचनाम्) चर्बी (अङ्कानि दर्शयेत्) इन चिह्नों को दिखादे और (स्वामिनां दद्यात्) स्वामी को उसकी लाश सौंपदे ।। २३४ ।।

अनुशीलन—श्लोक में परिगणित चिह्नों को दिखाने का यह अभिप्राय है कि उन्हें देखकर स्वामी यह समझ ले कि पशु स्वाभाविक मौत से मरा है । किसी लालच या बदले की भावना के कारण इसे विष आदि से मारा नहीं गया ।

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति।
यां प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्विषं भवेत्॥ २३५ ॥(१४४)

(अजा+अविके) बकरी और भेड़ (वृकैः संरुद्धे) भेड़ियों के द्वारा घेर लिए जाने पर (पाले तु अनायति) यदि चरवाहा उन्हें बचाने के लिए न आये (यां प्रसह्य वृकः हन्यात्) जिस बकरी या भेड़ को कोशिश करके जबरदस्ती भेड़िया मार जाये तो (पाले तत् किल्विषं भवेत्) चरवाहे पर उसका दोष होगा अर्थात् वही उसका देनदार होगा ॥ २३५ ॥

तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने।
यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी॥ २३६ ॥ (१४५)

(तासां चेत्+अवरुद्धानाम्) चरवाहे ने यदि घेरकर बकरियों और भेड़ों को संभाल रखा है और उनके (वने मिथः चरन्तीनाम्) वन में झुण्ड बनाकर चरते समय (याम्+उत्प्लुत्य वृकः हन्यात्) जिस बकरी या भेड़ को एकाएक उछलकर भेड़िया मार जाये तो (तत्र पालः न किल्विषी) वहाँ चरवाहा दोषी नहीं होता अर्थात् देनदार नहीं होता ॥ २३६ ॥

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः।
शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु॥ २३७ ॥ (१४६)

पशुओं के बैठने व घूमने-फिरने के लिए (ग्रामस्य समन्तात्) गांव के चारों ओर (धनुःशतम्) १०० धनुष अर्थात् चार सौ हाथ तक (वा) अथवा (त्रयः शम्यापाताः) तीन बार छड़ी फेंकने से जितनी दूर जाये वहां तक (अपि तु) और (नगरस्य त्रिगुणः) नगर में इससे तीनगुना (परीहारः) भूखण्ड (स्यात्) होना चाहिए ॥ २३७ ॥

तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि।
न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम्॥ २३८ ॥ (१४७)

(तत्र) उस पशुस्थान के पास (यदि अपरिवृतं धान्यं पशवः विहिंस्युः) यदि बिना घेरा या बाड़ बांधे अन्नों को पशु नष्ट कर दें तो (नृपतिः) राजा (तत्र) उस विषय में (पशुरक्षिणां दण्डं न प्रणयेत्) चरवाहों को दण्ड न दे ॥ २३८ ॥

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत्।
छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम्॥ २३९ ॥ (१४८)

(तत्र) उस पशुस्थान में (याम्+उष्ट्रः न विलोकयेत्) जिससे ऊंट उसके ऊपर से धान्य को न खा सके इतनी ऊंची (वृतिं कुर्यात्) बाड़ या घेरा बनाये (च) और उसमें (श्व-सूकर-मुख+अनुगम्) कुत्ते तथा सूअरों का मुंह न जा

सके ऐसे (सर्वं छिद्रं वारयेत्) सब तरह के छिद्रों को न छोड़े या बन्द कर दे ॥ २३९ ॥

पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः ।
सपालः शतदण्डार्हो विपालान्वारयेत्पशून् ॥ २४० ॥ (१४९)

(परिवृते) बाड़ से युक्त (पथि) पशुओं के आवागमन के रास्ते में (क्षेत्रे) खेतों में (अथवा) या (ग्राम+अन्तीये) गांव या नगर के समीप वाले पशुस्थानों में पशुओं द्वारा नुकसान पहुंचाने पर (सपालः शतदण्ड+अर्हः) चरवाहा सौ पण दण्ड का [८।१३६] भागी है (विपालान् पशून् वारयेत्) किन्तु यदि वे पशु यों ही घूमने वाले अर्थात् बिना पालक के हों तो उन्हें केवल वहां से हटा दे ॥ २४० ॥

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति ।
सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥ २४१ ॥ (१५०)

(अन्येषु क्षेत्रेषु तु पशुः) उपर्युक्त श्लोक [८ । २४०] में वर्णित खेत आदि भिन्न स्थानों में यदि पशु नुकसान कर दें तो (सपादं पणम्+अर्हति) सवा पण दण्ड होना चाहिए [चरवाहा या मालिक जिसकी देखरेख में वह नुकसान हुआ है उसको] (सर्वत्र तु) जहां अधिक या पूरा खेत ही नष्ट कर दिया हो तो (क्षेत्रिकस्य सदः देयः) उस खेत वाले को पूरा हर्जाना देना होगा (इति धारणा) ऐसी नियम की व्यवस्था है ॥ २४१ ॥

एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे ॥ २४४ ॥ (१५१)

(धार्मिकः पृथिवीपतिः) धार्मिक राजा (स्वामिनां पशूनां च पालानां व्यतिक्रमे) स्वामी, पशु और चरवाहा इनमें कोई मतभेद या झगड़ा उपस्थित हो जाने पर (एतत् विधानम्+आतिष्ठेत्) उपर्युक्त [८।२२९—२४३] विधान के अनुसार निर्णय करे ॥ २४४ ॥

(१०) सीमा-सम्बन्धी विवाद (२४५–२६५)—

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।
ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥ २४५ ॥ (१५२)

(द्वयोः ग्रामयोः) दो गावों या दो समूहों का (सीमां प्रति विवादे समुत्पन्ने) सीमा-सम्बन्धी झगड़ा या मुकद्दमा खड़ा हो जाने पर (ज्येष्ठे मासि) ज्येष्ठ के महीने में (सेतुषु सुप्रकाशेषु) सीमा-चिह्नों के स्पष्ट दीखने के बाद (सीमां नयेत्) सीमा का निर्णय करे ॥ २४५ ॥

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान् ।
शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥ २४६ ॥ (१५३)

गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च ।
शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥ २४७ ॥ (१५४)

(च) और सीमा को निश्चित करने के लिए राजा (सीमावृक्षान् कुर्वीत) सीमा को बतलाने के चिह्नरूप वृक्षों को लगवाये—(न्यग्रोध) बड़ (+अश्वत्थ) पीपल (—किंशुकान्) ढाक (शाल्मलीन्) सेमल (साल-तालान्) साल और ताड़वृक्ष (च) और (क्षीरिणः पादपान्+एव) दूधवाले अन्य वृक्षों को [जैसे—गूलर, पिलखन आदि] (गुल्मान्) झाड़वाले पौधों (विविधान् वेणून्) विविध प्रकार के बांसवृक्ष (शमी-वल्ली-स्थलानि) सेंम की बेल तथा अन्य भूमि पर फैलने वाली लताएं (सरान्) सरकंडे या मूंज के झाड़ (च) और (कुब्जकगुल्मान्) मालतो पौधे के झाड़ों को लगवाये (तथा सीमा न नश्यति) इस प्रकार करने से सीमा नष्ट नहीं होती—सुरक्षित रहती है ॥ २४६–२४७ ॥

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च ।
सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८ ॥ (१५५)

(तडागानि) तालाब (उदपानानि) कूएं (वाप्यः) बावड़ी (प्रस्रवाणि) नाले (च) तथा (देवतायतनानि) देवस्थान=यज्ञशालाएं आदि (सीमासन्धिषु कार्याणि) सीमा के मिलने के स्थानों पर बनवाने चाहिएं ॥ २४८ ॥

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् ।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥ २४९ ॥ (१५६)

अश्मनोऽस्थीनि गोवालाँस्तुषान्भस्म कपालिकाः ।
करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा बालुकास्तथा ॥ २५० ॥ (१५७)

यानि चैवं प्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् ।
तानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥ २५१ ॥ (१५८)

राजा (लोके) संसार में (सीमाज्ञाने) सीमा के विषय में (नृणाम्) मनुष्यों का (नित्यं विपर्ययं वीक्ष्य) सदैव मतभेद पाया जाता है, इस बात को ध्यान में रखता हुआ (अन्यानि उपच्छन्नानि सीमालिङ्गानि कारयेत्) दूसरे गुप्त सीमा-चिह्नों को भी करवा दे; [जैसे—] (अश्मनः) पत्थर (अस्थीनि) हड्डियां (गोवालान्) गौ आदि पशुओं के बाल (तुषान्) तुस=चावलों के छिलके आदि (भस्म) राख (कपालिकाः) खोपड़ियां (करीषम्) सूखा गोबर (+इष्टक) ईंटें (+अंगारान्) कोयले (शर्करा) पत्थर की रोड़ियां=कंकड़ (तथा) तथा

(बालुकाः) बालू रेत (च) और (यानि एवं प्रकाराणि) जितने भी इस प्रकार के पदार्थ हैं जिन्हें (कालात् भूमिः न भक्षयेत्) बहुत समय तक भूमि अपने रूप में न मिला सके (तानि) उनको (अप्रकाशानि) गुप्तरूप से अर्थात् जमीन में दबाकर (सीमायां कारयेत्) सीमास्थानों पर रखवा दे ॥ २४९—२५१ ॥

एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ।
पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २५२ ॥ (१५९)

(राजा) राजा (विवदमानयोः) सीमा के विषय में लड़ने वालों की (एतैः लिङ्गैः) इन [८ । २४६–२५१] चिह्नों से (च) तथा (पूर्वभुक्त्या) पहले जो उसका उपभोग कर रहा हो, इस आधार पर (च) और (सततम्+उदकस्य+आगमेन) निरन्तर जल के प्रवाह के आगमन के आधार पर [कि पानी किस ओर से आता है आदि] (सीमां नयेत्) सीमा का निर्णय करे ॥ २५२ ॥

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने ।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णयः ॥ २५३ ॥ (१६०)

(यदि लिङ्गानाम्+अपि दर्शने) यदि सीमाचिह्नों के देखने पर भी (संशय-एव स्यात्) संदेह रह जाये तो (साक्षीप्रत्यय एव) साक्षियों के प्रमाण से (सीमा-वाद-विनिर्णयः स्यात्) सीमाविषयक विवाद का निर्णय करे ॥ २५३ ॥

ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः ।
प्रष्टव्याः सीमालिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥ २५४ ॥ (१६१)

राजा (ग्रामीयककुलानां च तयोः विवादिनोः समक्षम्) गाँवों के कुलीन पुरुषों और उन वादी-प्रतिवादियों के सामने (सीम्नि) सीमा स्थान पर (साक्षिणः) साक्षियों से (सीमालिङ्गानि प्रष्टव्याः) सीमा-चिह्नों को पूछे ॥ २५४ ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् ।
निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः ॥ २५५ ॥(१६२)

राजा के द्वारा (पृष्टाः) पूछने पर अर्थात् जांच-पड़ताल करने पर (सीम्नि निश्चयम्) सीमा-निश्चय के विषय में (ते समस्ताः यथा ब्रूयुः) वे सब—साक्षी और गाँव के उपस्थित कुलीन पुरुष जैसे एकमत होकर कहें—स्वीकार कर लें (तथा सीमां निबध्नीयात्) राजा उसी प्रकार सीमा को निर्धारित कर दे (च) और (तान् सर्वान् एव नामतः) उन उपस्थित सभी साक्षियों एवं पुरुषों के नामों को भी लिखकर रख ले [जिससे पुनः विवाद उपस्थित होने पर यह ज्ञात हो सके कि किन-किन लोगों के समक्ष या गवाही से यह निर्णय हुआ था] ॥ २५५ ॥

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः ।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥ २५८ ॥ (१६३)

(साक्षी+अभावे) यदि सीमा-विषय में साक्षियों का भी अभाव हो (तु) तो (सामन्तवासिनः चत्वारः ग्रामाः) समीपवर्ती चार गांव के प्रतिष्ठित व्यक्ति (राजसन्निधौ) राजा या न्यायाधीश के सामने (प्रयताः) पक्षपातरहितभाव से (सीमाविनिर्णयं कुर्युः) सीमा का निर्णय करें अर्थात् सीमानिर्णय के विषय में अपना मत दें ॥ २५८ ॥

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ।
सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥ (१६४)

(क्षेत्र-कूप-तडागानाम्+आरामस्य) खेत, कुआँ, तालाब, बगीचा (च) और (गृहस्य) घर की (सीमा-सेतु-विनिर्णयः) सीमा के चिह्न का निर्णय (समान्त-प्रत्ययः ज्ञेयः) उस गांव के निवासियों की साक्षियों के आधार पर करना चाहिए ॥ २६२ ॥

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ।
सर्वे पृथक्पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥ (१६५)

(नृणां सेतौ विवदताम्) दो ग्रामवासियों में परस्पर सीमासम्बन्धी विवाद उपस्थित होने पर (सामन्ताः चेत् मृषा ब्रूयुः) गांव के निवासी यदि झूठ या गलत कहें तो (राज्ञा) राजा (पृथक्-पृथक् सर्वे) उनमें से झूठ कहने वाले प्रत्येक को ('मध्यमसाहसम्' दण्ड्याः) 'मध्यमसाहस' [८ । १३८] का दण्ड दे ॥ २६३ ॥

गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद् द्विशतो दमः ॥ २६४ ॥ (१६६)

(भीषया) यदि कोई भय दिखाकर (गृहं तडागम् आरामं वा क्षेत्रं हरन्) घर, तालाब, बगीचा अथवा खेत को ले ले, तो राजा उस पर (शतानि पञ्च दण्ड्यः) पाँच सौ पणों का दण्ड करे (अज्ञानात् द्विशतः दमः स्यात्) यदि अनजाने में अधिकार कर ले तो दो सौ पणों का दण्ड दे ॥ २६४ ॥

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् ।
प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥ (१६७)

(सीमायाम्+अविषह्यायाम्) चिह्नों एवं साक्षियों आदि उपर्युक्त [८ । २४५—२६३] उपायों से सीमा के निर्धारित न हो सकने पर (धर्मवित् राजा स्वयम् एव) न्याय का ज्ञाता राजा स्वयं ही (एतेषाम्+उपकारात्) वादी-प्रति-

वादियों के उपकार अर्थात् हितों को ध्यान में रखकर (भूमिं प्रदिशेत्) भूमिसीमा को निश्चित कर दे (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है ।। २६५ ।।

(११) दुष्ट या कटुवाक्य बोलने सम्बन्धी विवाद (२६६–२७७)—

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ।। २६६ ।। (१६८)

(एषः) यह [८ । २४५—२६५] (सीमा-विनिर्णये) सीमा के निर्णय करने के विषय में (धर्मः) न्यायविधान (अखिलेन+अभिहितः) पूर्णरूप से कहा ।

(अतः+ऊर्ध्वम्) इसके बाद अब (वाक्-पारुष्य-विनिर्णयम्) कठोर और दुष्टवचन बोलने पर निर्णय को (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा—।। २६६ ।।

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च ।
वितथेन ब्रुवन्दर्पाद्दाप्यः स्याद् द्विशतं दमम् ।। २७३ ।। (१६९)

कोई मनुष्य किसी मनुष्य के (श्रुतम्) विद्या (देशम्) देश (जातिम्) वर्ण (च शारीरम् एव कर्म) और शरीर-सम्बन्धी कर्म के विषय में (दर्पात्) घमण्ड में आकर (वितथेन ब्रुवन्) झूठी निन्दा अथवा गलत बात करे, उसे (द्विशतं दमं दाप्यः) दो सौ पण दण्ड देना चाहिए ।। २७३ ।।

काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि यथाविधम् ।
तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ।। २७४ ।। (१७०)

किसी (काणम्) काने को (अपि वा) अथवा (खञ्जम्) लंगड़े को (वा) अथवा (तथाविधम्+अपि) इसी प्रकार के अन्य विकलांगों को (तथ्येन+अपि ब्रुवन्) वास्तव में वैसा होते हुए भी किसी को काना, लंगड़ा आदि कहने पर (कार्षापणावरं दण्डं दाप्यः) कम से कम एक कार्षापण दण्ड करना चाहिए ।।२७४।।

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् ।
आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद् गुरोः ।। २७५ ।। (१७१)

(मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम्) माता, पिता, पत्नी, भाई, बेटा गुरु इनको (आक्षारयन्) दोष लगाकर निन्दा करने पर (च) और (गुरोः) गुरु को (पन्थानम्+अददत्) रास्ता न देने पर (शतं दाप्यः) सौ पण दंड होना चाहिए ।। २७५ ।।

(१२) दण्ड से घायल करने सम्बन्धी विवाद (२७८–३००)—

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ।। २७८ ।। (१७२)

(एषः) यह [८।२६७–२७७] (तत्त्वतः) ठीक-ठीक (वाक्पारुष्यस्य) कठोर वचन या दुष्ट वचन बोलने का (दण्डविधिः) दण्डविधान (प्रोक्तः) कहा (अतः+ऊर्ध्वम्) इसके पश्चात् अब (दण्डपारुष्यनिर्णयम्) कठोर दंडमारना अथवा दंडे से कठोरतापूर्वक मारपीट करने पर निर्णय को (प्रवक्ष्यामि) कहूंगा ॥ २७८ ॥

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति।
यथा यथा महद् दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा ॥ २८६ ॥ (१७३)

(मनुष्याणां च पशूनाम्) मनुष्यों और पशुओं पर (दुःखाय प्रहृते सति) दुःख देने के लिये दण्ड से प्रहार करने पर (यथायथा महत् दुःखम्) जैसा-जैसा अधिक कष्ट हो (तथा तथा दण्डं कुर्यात्) उसी के अनुसार अधिक-कम दण्ड करे ॥ २८६ ॥

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा।
समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥ २८७ ॥ (१७४)

(अङ्ग+अवपीडनायाम्) किसी अङ्ग के टूटने, कटने आदि पर (तथा) और (व्रण-शोणितयोः) घाव करने तथा रक्त बहाने पर (समुत्थानव्ययं दाप्यः) जब तक रोगी पहले जैसी अवस्था के रूप में ठीक न हो जाय तब तक सम्पूर्ण औषधि आदि का व्यय मारने वाले से दिलवाये (अथापि वा) और साथ ही यदि उचित समझे तो (सर्वदण्डम्) उस पर पूर्ण दण्ड करे ॥ २८७ ॥

द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।
स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥ २८८ ॥ (१७५)

(यः) जो कोई (यस्य) जिस किसी के (ज्ञानतः अपि वा अज्ञानतः) जानकर अथवा अनजाने में (द्रव्याणि हिंस्यात्) वस्तुओं को नष्ट कर दे तो (सः) वह अपराधी (तस्य तुष्टिम्+उत्पादयेत्) उसके मालिक को वस्तु या धन आदि देकर संतुष्ट करे (च) तथा (तत् समम् राज्ञे दद्यात्) उसके बराबर दण्ड रूप में राजा को भी दे ॥ २८८ ॥

(१३) चोरी का विवाद (३०१–३४३)—

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः।
स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥ (१७६)

(एषः) यह [८।२७९–३००) (दण्डपारुष्यनिर्णयः) दण्डे से कठोर मारपीट का निर्णय (अखिलेन+अभिहितः) पूर्णरूप से कहा।

(अतः) इसके पश्चात् अब (स्तेनस्य दण्डविनिर्णये) चोर के दण्ड का निर्णय करने की (विधिं प्रवक्ष्यामि) विधि कहूँगा ॥ ३०१ ॥

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः ।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥ (१७७)

(नृपः) राजा (स्तेनानां निग्रहे) चोरों को रोकने के लिए (परमं यत्नम्+आतिष्ठेत्) अधिक से अधिक यत्न करे, क्योंकि (स्तेनानां निग्रहात्) चोरों पर नियन्त्रण होने से (अस्य) इस राजा के (यशः च राष्ट्रं वर्धते) यश और राष्ट्र की वृद्धि होती है ॥ ३०२ ॥

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः ।
सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥ (१७८)

(यः नृपः अभयस्य हि दाता) जो राजा प्रजाओं को अभय प्रदान करने वाला होता है अर्थात् जिस राजा के राज्य में प्रजाओं को चोर आदि से किसी प्रकार का भय नहीं होता (सः सततं पूज्यः) वह सदैव पूजित होता है—प्रजाओं की ओर से उसे सदा आदर मिलता है, और (तस्य) उसका (अभयदक्षिणं सत्रं हि) अभय की दक्षिणा देने वाला यज्ञ रूपी राज्य (सदैव वर्धते) सदा बढ़ता जाता है ॥ ३०३ ॥

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् ।
यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥ (१७९)

(धर्मेण भूतानि रक्षन्) धर्मपूर्वक—न्यायपूर्वक प्रजाओं की रक्षा करता हुआ (च) और (वध्यान् घातयन्) दण्डनीय या वध के योग्य लोगों को दण्ड या वध करता हुआ (राजा) राजा (अहः+अहः सहस्र-शत-दक्षिणैः यज्ञैः यजते) यह समझो कि प्रतिदिन हजारों-सैंकड़ों दक्षिणाओं से युक्त यज्ञों को करता है अर्थात् इतने बड़े यज्ञों जैसा पुण्यकार्य करता है ॥ ३०६ ॥

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ।
प्रतिभागं च दण्डं च सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥ (१८०)

(यः पार्थिवः) जो राजा (अरक्षन्) प्रजाओं की बिना रक्षा किये उनसे (बलिम्) छठा भाग अन्नादि (करम्) टैक्स (शुल्कम्) महसूल (प्रतिभागम्) चुंगी (च) और (दण्डम्) जुर्माना (आदत्ते) ग्रहण करता है (सः सद्यः नरकं व्रजेत्) वह शीघ्र ही दुःख को प्राप्त होता है अर्थात् प्रजाओं का ध्यान न रखने के कारण उनके असहयोग से किसी-न-किसी कष्ट से आक्रान्त हो जाता है ॥ ३०७ ॥

अनुशीलन—अन्न के छठे भाग को 'बलि' कहते हैं, प्रतिमास, छठे मास या वार्षिक रूप में लिया जाने वाला टैक्स 'कर', व्यापारियों से लिया जाने वाला महसूल 'शुल्ल', फल, शाक आदि पर लिया जाने वाला शुल्क 'प्रतिभाग', तथा अपराध में किया जाने वाला जुर्माना 'दण्ड' कहलाता है।

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥ (१८१)

(अरक्षितारम्) प्रजाओं की रक्षा न करने वाले और (बलिषड्भागहारिणम्) 'बलि' के रूप में छठा भाग ग्रहण करने वाले (तं राजानम्) ऐसे राजा को (सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्+आहुः) सब प्रजाओं की सारी बुराइयों को ग्रहण करने वाला कहा है अर्थात् सभी प्रजाएँ ऐसे राजा की सभी प्रकार से बुराइयाँ करती हैं ॥ ३०८ ॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥ (१८२)

(अनपेक्षितमर्यादम्) शास्त्रोक्त मर्यादा के अनुसार न चलनेवाले (नास्तिकम्) ईश्वर में अविश्वास करने वाले (विप्रलुम्पकम्) लोभ आदि के वशीभूत (अरक्षितारम्) प्रजाओं की रक्षा न करने वाले, और (अत्तारम्) कर आदि का धन प्रजाओं के हित में न लगाकर स्वयं खा जाने वाले (नृपम्) राजा को (अधोगतिं विद्यात्) नीच समझना चाहिए अथवा यह समझना चाहिए कि उसकी शीघ्र ही अवनति या पतन हो जायेगा ॥ ३०९ ॥

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः ।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ ३१० ॥ (१८३)

इसलिए राजा (निरोधनेन) निरोध=कैद में बंद करना (बन्धेन) बन्धन=हथकड़ी, बेड़ी आदि लगाना (च) और (विविधेन वधेन) विविध प्रकार के वध=ताड़ना, अंगच्छेदन, मारना आदि (त्रिभिः न्यायैः) इन तीन प्रकार के उपायों से (प्रयत्नतः) यत्नपूर्वक (अधार्मिकं निगृह्णीयात्) चोर आदि दुष्ट अपराधी को वश में करे ॥ ३१० ॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ३११ ॥ (१८४)

(हि) क्योंकि (पापानां निग्रहेण) पापी=दुष्टों को वश में करने और दण्ड देने से (च) तथा (साधूनां संग्रहेण) श्रेष्ठ लोगों की सुरक्षा करने से (नृपाः) राजा लोग (द्विजातयः+इव+इज्याभिः सततं पूयन्ते) जैसे द्विजवर्ण वाले यज्ञों से पवित्र होते हैं ऐसे ही पवित्र अर्थात् पुण्यवान् और निर्मल यशवान् होते हैं ॥ ३११ ॥

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता ।
आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ॥ ३१४ ॥ (१८५)

[यदि चोर चोरी करने के बाद स्वयं उस अपराध को अनुभव कर लेता है तो उसके प्रायश्चित्त और उससे मुक्ति के लिए] (स्तेनेन) चोर को चाहिए कि वह(मुक्तकेशेन धावता)बाल खोलकर दौड़ता हुआ (तत् स्तेयम्+आचक्षाणेन) उसने जो चोरी की है उसको कहता हुआ 'कि मैंने अमुक चोरी की है, अमुक चोरी की है,' आदि (राजा गन्तव्यः) राजा के पास जाना चाहिए, और कहे कि (एवंकर्मा+अस्मि) 'मैंने एसा चोरी का काम किया है' 'मैं अपराधी हूं' (मां शाधि) मुझे सजा दीजिए ॥ ३१४ ॥

अनुशीलन—प्रतीत होता है कि यह उस समय की स्वयं प्रायश्चित्त करने की परम्परा थी। चोर चोरी करने के पश्चात् यदि स्वयं यह अनुभव करता है कि मैंने यह बुरा कार्य किया है और पकड़े जाने से पूर्व स्वयं ही उसका प्रायश्चित्त करना चाहता है तो उसका यह तरीका है। सार्वजनिक रूप से अपने आपको चोर कहने पर और अपने आपको चोर के रूप में सबके तथा राजा के सामने प्रदर्शित करने पर बहुत बड़ा प्रायश्चित्त हो जाता है। स्वयं इस प्रकार प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्ति द्वारा पुनः अपराध करने की संभावना नहीं रहती। और लोग भी यह मान लेते हैं कि जब इसने स्वयं ही सार्वजनिक रूप से अपने आपको चोर घोषित करके अपने अपराध को स्वीकार कर लिया है और प्रायश्चित्त कर रहा तो इसे और दण्ड देने की आवश्यकता नहीं। इस श्लोक से तथा ८। ३१६ से यह ध्वनित होता है कि स्वयं इस प्रकार प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्ति को राजा को क्षमा कर देना चाहिए। इस सबके बाद वह व्यक्ति दोषमुक्त मान लिया जाता है।

स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वाऽपि खादिरम्।
शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥ ३१५ ॥ (१८६)

(स्कन्धेन मुसलम् अपि वा खादिरं लगुडम्) चोर को कन्धे पर मुसल अथवा खैर का दंड, (उभयतः तीक्ष्णां शक्तिम्) दोनों ओर से तेज धारवाली बरछी (वा) अथवा (आयसं दण्डम् एव) लोहे का दंड ही रखकर[राजा के पास जाना चाहिए और कहे कि 'मैं चोर हूं, मुझे दंड दीजिए'] ॥ ३१५ ॥

अनुशीलन—इस श्लोक का पूर्व श्लोक के साथ सम्बन्ध है। ऊपर के श्लोक में दी हुई व्यवस्था के साथ इस श्लोक में कहे हुए विकल्पों में से चुनकर किसी एक व्यवस्था के अनुसार चोर को प्रायश्चित्त करना है।

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्विषम् ॥ ३१६ (१८७)

(शासनात्) सजा पाकर (वा) या (विमोक्षात्) [स्वयं प्रायश्चित्त करने के बाद] राजा के द्वारा क्षमा कर दिये जाने पर (स्तेनः) चोर (स्तेयात् विमुच्यते) चोरी के अपराध से मुक्त हो जाता है (तम् अशासित्वा तु) चोर को

दण्ड न देने पर (राजा स्तेनस्य किल्विषम् आप्नोति) राजा को चोर की बुराई मिलती है अर्थात् फिर प्रजाएं उस चोर के स्थान पर राजा को अधिक दोष देती हैं ॥ ३१६ ॥

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी ।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्विषम् ॥ ३१७ ॥(१८८)

(भ्रूणहा अन्नादे मार्ष्टि) भ्रूणहत्या करने वाला उसके यहां भोजन करने वाले को भी निन्दा का पात्र बना देता है अर्थात् जैसे भ्रूणहत्यारे को बुराई मिलती है वैसे ही उसके यहां अन्न खाने वाले को भी उसके कारण बुराई मिलती है (अपचारिणी भार्या पत्यौ) व्यभिचारी स्त्री की बुराई उसके पति को मिलती है (शिष्यः गुरौ) बुरे शिष्य की बुराई उसके गुरु को मिलती है (च) और (याज्यः) यजमान की बुराई उसके यज्ञ कराने वाले ऋत्विक्गुरु को मिलती है (स्तेनः किल्विषं राजनि) इसी प्रकार दण्ड न देने पर चोर की बुराई राजा को मिलती है ॥ ३१७ ॥

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१८ ॥ (१८९)

(मानवाः पापानि कृत्वा) मनुष्य पाप=अपराध करके (राजभिः कृतदण्डाः तु) पुनः राजाओं से दण्डित होकर अर्थात् राजा द्वारा दिये गये दण्डरूप प्रायश्चित्त को करके (निर्मलाः) पवित्र=दोषमुक्त होकर (स्वर्गम्+आयान्ति) सुख को प्राप्त करते हैं (यथा सुकृतिनः सन्तः) जैसे अच्छे कर्म करने वाले श्रेष्ठ लोग सुखी रहते हैं। अभिप्राय यह है कि प्रायश्चित्त करने पर उस पापरूप अपराध के संस्कार क्षीण हो जाते हैं और दोषी होने की भावना नहीं रहती उससे तथा पुनः श्रेष्ठकर्मों में प्रवृत्ति होने से मनुष्य सन्तों की तरह मानसिक शान्ति-सुख को प्राप्त करते हैं ॥ ३१८ ॥

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिन्द्याच्च यः प्रपाम् ।
स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥ ३१९ ॥(१९०)

(यः तु) जो व्यक्ति (कूपात्) कूए से (रज्जुं घटं हरेत्) रस्सो या घड़ा चुराले (च) और (यः) जो (प्रपां भिद्येत्) प्याऊ को तोड़े (सः) वह (माषं दण्डं प्राप्नुयात्) एक सोने का 'माषा' दण्ड का भागी होगा (च) तथा (तत् तस्मिन् समाहरेत्) वह सब सामान वहां लाकर दे ॥ ३१९ ॥

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः ।
शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ ३२० ॥ (१९१)

(दशभ्यः कुम्भेभ्यः अधिकं धान्यं हरतः) दश कुम्भ=बड़ा घड़ा से अधिक धान्य=अन्नादि चुराने पर (वधः) चोर को शारीरिक दण्ड मिलना चाहिए (शेषे तु) दश कुम्भ तक धान्य चुराने पर (एकादशगुणं दाप्यः) ग्यारह गुना जुर्माना करना चाहिए (तस्य तत् धनं च) और उस व्यक्ति का वह धन वापिस दिलवा दे ॥ ३२० ॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः ।
सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥ (१९२)

(तथा) इसी प्रकार (धरिममेयानाम्) धरिम=काँटे से मेय=तोले जाने वाले (सुवर्ण-रजत+आदीनाम्) सोना, चांदी आदि पदार्थों के १०० पल से अधिक चुराने पर (च) और (उत्तमानां वाससाम्) उत्तम कोटि के कपड़े (शतात्+अभ्यधिके) सौ से अधिक चुराने पर (वधः) शारीरिक दण्ड से दण्डित करे ॥ ३२१ ॥

पंचाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते ।
शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥ (१९३)

(पंचाशतः तु+अभ्यधिके) [उपर्युक्त ८।३२१ वस्तुओं के] पचास से अधिक सौ तक चुराने पर (हस्तच्छेदनम्+इष्यते) हाथ काटने का दण्ड देना चाहिए (शेषे तु) पचास से कम चुराने पर राजा (मूल्यात् एकादशगुणं दण्डं प्रकल्पयेत्) मूल्य से ग्यारह गुना दण्ड करे और वह वस्तु वापिस दिलवाये ॥ ३२२ ॥

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः ।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥ (१९४)

(कुलीनानां पुरुषाणाम्) कुलीन पुरुषों (च) और (विशेषतः नारीणाम्) विशेषरूप से स्त्रियों का (हरणे) अपहरण करने पर (च) तथा (मुख्यानाम् एव रत्नानाम्) मुख्य हीरे आदि रत्नों की चोरी करने पर (वधम्+अर्हति) शारीरिक दण्ड [ताड़ना से प्राणवध तक देना] चाहिए ॥ ३२३ ॥

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥ (१९५)

(महापशूनाम्) हाथी, घोड़े आदि बड़े पशुओं के (शस्त्राणाम्) शस्त्रास्त्रों के (च) और (औषधस्य) औषधियों के (हरणे) चुराने पर (कालं च कार्यम् आसाद्य) समय और चोरी के कार्य की गम्भीरता को देखकर (राजा दण्डं प्रकल्पयेत्) राजा चोर को दण्ड दे ॥ ३२४ ॥

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम्।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥ (१६६)

(अन्वयवत्) वस्तु के स्वामी के सामने (प्रसभं यत् कर्म कृतम्) बलात्कार-पूर्वक जो चोरी आदि कर्म किया जाता है ('साहसम्' स्यात्) वह साहस=डाका डालना या बलात्कार कार्य कहलाता है (निरन्वयम्) स्वामी के पीछे से किसी वस्तु को लेना (च) और (यत् हृत्वा+अपव्ययते) किसी वस्तु को [सामने या परोक्ष में] चुराकर भाग जाना है (स्तेयं भवेत्) वह 'चोरी' कहलाती है।
॥ ३३२ ॥

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ३३४ ॥ (१६७)

(स्तेनः) चोर (यथा) जिस प्रकार (येन येन+अङ्गेन) जिस-जिस अङ्ग से (नृषु) मनुष्यों में (विचेष्टते) विरुद्ध चेष्टा करता है (तस्य तत् तत् एव) उस-उस अंग को (प्रत्यादेशाय) सब मनुष्यों को शिक्षा के लिए (पार्थिवः हरेत्) राजा हरण अर्थात् छेदन करदे ॥ ३३४ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥ ३३५ ॥ (१६८)

(पिता आचार्यः सुहृत् माता भार्या पुत्रः पुरोहितः) चाहे पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित क्यों न हो (यः स्वधर्मे न तिष्ठति) जो स्व-धर्म में स्थित नहीं रहता (राज्ञः न+अदण्ड्यनाम) वह राजा का अदण्ड्य नहीं होता अर्थात् जब राजा न्यायासन पर बैठ न्याय करे तब किसी का पक्षपात न करे किन्तु यथोचित दण्ड देवे ॥ ३३५ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ ३३६ ॥ (१६९)

(यत्र) जिस अपराध में (अन्यः प्राकृतः जनः) साधारण मनुष्य पर (कार्षापणं दण्ड्यः भवेत्) एक पैसा दण्ड हो (तत्र) उसी अपराध में (राजा सहस्रं दण्ड्यः भवेत्) राजा को सहस्र पैसा दण्ड होवे अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्रगुणा दण्ड होना चाहिए* ।

मंत्री अर्थात् राजा के दीवान को आठ सौ गुणा, उससे न्यून को सात सौ गुणा, और उससे भी न्यून को छः सौ गुणा, इसी प्रकार उत्तर-उत्तर अर्थात् जो एक छोटे से छोटा भृत्य अर्थात् चपरासी है उसको आठ गुणे दंड से कम न होना चाहिए। क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे तो

राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवें; जैसे 'सिंह अधिक और बकरी थोड़े दण्ड से ही वश में आ जाती है, इसलिए राजा से लेकर छोटे से छोटे भृत्यपर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजापुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिए ॥ ३३६ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

❀ (इति धारणा) ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है।

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥ (२००)

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥ ३३८ ॥ (२०१)

वैसे ही (तत् दोषगुणवित् हि सः) जो कुछ विवेकी होकर (स्तेये) चोरी करे (शूद्रस्य तु अष्टापाद्यम्) उस शूद्र को चोरी से आठ गुणा (वैश्यस्य तु षोडश एव) वैश्य को सोलह गुणा (क्षत्रियस्य द्वात्रिंशत्) क्षत्रिय को बत्तीस गुणा (ब्राह्मणस्य चतुः षष्टिः) ब्राह्मण को चौंसठ गुणा (अपि वा शतम्) वा सौ गुणा (वा) अथवा (द्विगुणा चतुःषष्टिः) एक सौ अट्ठाईसगुणा (किल्विषं भवति) दण्ड होना चाहिए अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो, उसको अपराध में उतना ही अधिक दण्ड होना चाहिए ॥ ३३७–३३८ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम्।
यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥ (२०२)

(राजा) राजा (अनेन विधिना) इस उपर्युक्त [८।३०२—३४२] विधि से (स्तेननिग्रहं कुर्वाणः) चोरों को नियन्त्रित एवं दण्डित करता हुआ (अस्मिन् लोके यशः) इस जन्म में या लोक में यश को (च) और (प्रेत्य) परजन्म में (अनुत्तमं सुखम्) अच्छे सुख को (प्राप्नुयात्) प्राप्त करता है ॥ ३४३ ॥

(१४) 'साहस'—डाका आदि बलात्कारपूर्वक किये गये अपराधों का निर्णय—(३४४–३५१)

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम्।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥ (२०३)

(ऐन्द्रं स्थानम्) राज्य के अधिकारी धर्म (च) और ❀ (यशः) ऐश्वर्य की (अभिप्रेप्सुः) इच्छा करने वाला (राजा) राजा (साहसिकं नरम्) बलात्कार काम करने वाले डाकुओं को (क्षणम्+अपि न उपेक्षेत) दंड देने में एक क्षण भी देर न करे ॥ ३४४ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

❀ (अक्षयम्+अव्ययम्) न नष्ट होने वाले तथा न कम होने वाले............

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः।
साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥ (२०४)

साहसिक पुरुष का लक्षण— (वाक्-दुष्टात्) जो दुष्ट वचन बोलने (तस्करात्) चोरी करने (दण्डेन एव हिंसतः) विना अपराध से दण्ड देने वाले से भी (साहसस्य कर्त्ता नरः) साहस, वलात्कार काम करने वाला है (पापकृत्तमः विज्ञेयः) वह अतीव पापी, दुष्ट है ॥ ३४५ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ३४६ ॥ (२०५)

(यः पार्थिवः) जो राजा (साहसे वर्तमानं तु मर्षयति) साहस में वर्तमान पुरुष को न दंड देकर सहन करता है (सः आशु विनाशं व्रजति) वह राजा शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है (च) और (विद्वेषम्+अधिगच्छति) राज्य में द्वेष उठता है ॥ ३४६ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात्।
समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥ (२०६)

(न मित्रकारणात् वा विपुलात् धन+आगमात्) न मित्रता, न पुष्कल धन की प्राप्ति से भी (राजा) राजा (सर्वभूतभय+आवहान् साहसिकान्) सब प्राणियों को दुःख देने वाले साहसिक मनुष्य को (समुत्सृजेत्) बंधन-छेदन किये विना कभी छोड़े ॥ ३४७ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ ३५० ॥ (२०७)

(गुरुं वा बाल-वृद्धौ वा) चाहे गुरु हो, चाहे पुत्र आदिक बालक हों, चाहे पिता आदि वृद्ध (ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्) चाहे ब्राह्मण और चाहे बहुत शास्त्रों का श्रोता क्यों न हो (आततायिनम्+आयान्तम्) जो धर्म को छोड़ अधर्म में वर्तमान, दूसरे को बिना अपराध मारने वाले हैं (अविचारयन् एव हन्यात्) उनको विना विचारे मार डालना अर्थात् मारके पश्चात् विचार करना चाहिए ॥ ३५० ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ३५१ ॥ (२०८)

(आततायिवधे) दुष्ट पुरुषों के मारने में (हन्तुः कश्चनः दोषः न भवति) हन्ता को पाप नहीं होता (प्रकाशं वा+अप्रकाशम्) चाहे प्रसिद्ध [=सबके सामने] मारे चाहे अप्रसिद्ध [=एकान्त में] (मन्युः तं मन्यु ऋच्छति) क्योंकि क्रोधी को क्रोध से मारना जानो क्रोध से क्रोध की लड़ाई है ॥ ३५१ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः ।
पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥ (२०९)

(पूर्वं दोषैः आक्षारितः पुरुषः) जो व्यक्ति पहले परस्त्री-गमनसम्बन्धी दोषों में अपराधी सिद्ध हो चुका है (रहः परस्य पत्न्या संभाषां योजयन्) यदि वह एकान्त स्थान में पराई स्त्री के साथ बातचीत की योजना में लगा मिले तो (पूर्वसाहसं प्राप्नुयात्) उसको 'पूर्वसाहस' [८ । १३८] का दण्ड देना चाहिए । ॥ ३५४ ॥

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषे कारणात् ।
न दोषं प्राप्नुयात् किंचिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ॥ ३५५ ॥ (२१०)

(यः तु पूर्वम्+अनाक्षारितः) किन्तु जो पहले ऐसे किसी अपराध में अपराधी सिद्ध नहीं हुआ है, यदि वह (कारणात् अभिभाषेत) किसी कारणवश बातचीत करे तो (किंचित् दोषं न प्राप्नुयात्) किसी दोष का भागी नहीं होता (हि) क्योंकि (तस्य न व्यतिक्रमः) वह कोई मर्यादाभंग नहीं करता ॥३५५॥

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ।
सहखट्वासनम् चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५७ ॥ (२११)

इन्द्रियासक्ति के कारण (उपचारक्रिया) एक दूसरे को आकर्षित करने के लिए माला, सुगन्ध आदि शृंगारिक वस्तुओं का आदान-प्रदान करना (केलिः) विलासक्रीड़ाएं=हंसी-मखौल, छेड़खानी आदि (भूषणवाससां स्पर्शः) आभूषण और कपड़ों आदि का स्पर्श [शरीर स्पर्श तो इसमें स्वतः ही परिगणित हो जाता है] (च) और (सह खट्वा+आसनम्) साथ मिलकर अर्थात् सटकर खाट आदि पर बैठना (सर्वं संग्रहणं स्मृतम्) ये सब बातें 'संग्रहण'=विषयगमन में मानी गयी हैं ॥ ३५७ ॥

दम्भपूर्वक व्यभिचार में प्रवृत्त होने पर स्त्री-पुरुष को दण्ड—

भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता ।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३७१ ॥ (२१२)

(या तु स्त्री) जो स्त्री (ज्ञाति-गुण-दर्पिता) अपनी जाति गुण के घमण्ड से (भर्तारं लङ्घयेत्) पति को छोड़ व्यभिचार करे (ताम्) उसको (बहु-संस्थिते संस्थाने श्वभिः राजा खादयेत्) बहुत स्त्री और पुरुषों के सामने जीती हुई कुत्तों से राजा कटवाकर मरवा डाले ॥ ३७१ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥ (२१३)

(पापं पुमांसम्) उसी प्रकार अपनी स्त्री को छोड़के परस्त्री या वेश्या-गमन करे उस पापी को (आयसे तप्त शयने) लोहे के पलंग को अग्नि से तपा लाल कर उस पर सुलाके ❀ जीते को (तत्र पापकृत् दह्येत) बहुत पुरुषों के सम्मुख भस्म कर देवे ॥ ३७२ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

❀ (काष्ठानि अभ्यादध्युः) लोग उस पर लकड़ियां रख दें (च) और···

अनुशीलन—(१) ३७१–३७२ श्लोक 'प्रसंगविरोध' के आधार पर प्रक्षेपान्तर्गत इसलिए नहीं कहला सकते क्योंकि इनमें 'स्त्रीसंग्रहण' से सम्बन्धित विशेष स्थितियों की विशेष दण्ड-व्यवस्था है। अपने रूपसौन्दर्य एवं उच्चता के आधार पर अपने जीवनसंगी का तिरस्कार करते हुए दम्भपूर्वक जब कोई स्त्री या पुरुष परपुरुष-गमन या परस्त्रीगमन करे तो उनके लिये यह दण्डव्यवस्था है।

(२) यह दण्डव्यवस्था अत्यन्त कठोर है। वह इसलिये कि दंभी व्यक्ति अपने दंभ में आकर बलात् सभी मर्यादाओं का अतिक्रमण करता है और अपने हठ पर अडिग रहता है। ऐसे व्यक्ति व्यवस्थाओं को बड़ी लापरवाही से भङ्ग करते हैं और अन्य सम्बद्ध व्यक्तियों का तिरस्कार करते हैं, अतः इनके लिए यह सार्वजनिक रूप से कठोर दण्डव्यवस्था विहित की है। महर्षि दयानन्द ने इस सम्बन्ध में छठे समु० में प्रश्नोत्तर रूप में प्रकाश डाला है जो विवेचन की दृष्टि से उद्धरणीय है—

"(प्रश्न) जो राजा वा राणी अथवा न्यायाधीश वा उसकी स्त्री व्यभि-चारादि कुकर्म करे तो उसको कौन दण्ड देवे ?

(उत्तर) सभा, अर्थात् उनको तो प्रजापुरुषों से भी अधिक दंड होना चाहिये।

(प्रश्न) राजादि उन से दण्ड क्यों ग्रहण करेंगे ?

(उत्तर) राजा भी एक पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है। जब उसी को दण्ड न दिया जाय और वह ग्रहण न करे तो दूसरे मनुष्य दण्ड को क्यों मानेंगे? और जब सब प्रजा और प्रधान राज्याधिकारी और सभा धार्मिकता से

दण्ड देना चाहें तो अकेला राजा क्या कर सकता है? जो ऐसी व्यवस्था न हो तो राजा, प्रधान और सब समर्थ पुरुष अन्यायमें डूबकर न्याय धर्म को डुबाके सब प्रजा का नाश कर आप भी नष्ट हो जायें, अर्थात् उस श्लोक के अर्थ का स्मरण करो कि न्याययुक्त दण्ड ही का नाम राजा और धर्म है जो उसका लोप करता है उससे नीच पुरुष दूसरा कौन होगा ?

(प्रश्न) यह कड़ा दण्ड होना उचित नहीं, क्योंकि मनुष्य किसी अङ्ग का बनानेहारा वा जिलानेवाला नहीं है, ऐसा दण्ड नहीं देना चाहिए।

(उत्तर) जो इसको कड़ा दण्ड जानते हैं वे राजनीति को नहीं समझते, क्योंकि एक पुरुष को इस प्रकार दण्ड होने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे और बुरे काम को छोड़कर धर्ममार्ग में स्थित रहेंगे। सच पूछो तो यही है कि एक राई भर भी यह दण्ड सब के भाग में न आवेगा। और जो सुगम दण्ड दिया जाय तो दुष्ट काम बहुत बढ़कर होने लगें। वह जिसको तुम सुगम दण्ड कहते हो वह क्रोड़ों गुणा अधिक होने से क्रोड़ों गुणा कठिन होता है क्योंकि जब बहुत मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे तब थोड़ा-थोड़ा दण्ड भी देना पड़ेगा अर्थात् जैसे एक को मनभर दण्ड हुआ और दूसरे को पाव भर तो पाव भर अधिक एक मन दंड होता है तो प्रत्येक मनुष्य के भाग में आधपाव बीससर दंड पड़ा, तो ऐसे सुगम दंड को दुष्ट लोग क्या समझते हैं? जैसे एक को मन और सहस्र मनुष्यों को पाव-पाव दंड हुआ तो ६। सवा छः मन मनुष्य जाति पर दंड होने से अधिक और यही कड़ा तथा वह एक मन दंड न्यून और सुगम होता है।"

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥३८६॥ (२१४)

(यस्य) जिस राजा के राज्य में (स्तेनः न+अस्ति) न चोर (न+अन्य-स्त्रीगः) न परस्त्रीगामी (न दुष्टवाक्) न दुष्टवचन का बोलने हारा (न साहसिक-दण्डघ्नौ) न साहसिक डाकू और न दण्डघ्न अर्थात् राजा की आज्ञा का भङ्ग करने वाला है (सः राजा शक्रलोकभाक्) वह राजा अतीव श्रेष्ठ है॥ ३८६॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

अनुशीलन—महर्षि ने यहां 'शक्रलोकभाक्' पद का अभिप्रायार्थ ग्रहण किया है। जिन टीकाकारों ने 'शक्रलोक भाक्' का 'इन्द्रलोक में जाने वाला' या 'स्वर्ग में जाने वाला' अर्थ किया है वह उचित नहीं है। इस पद का अर्थ है कि वह राजा 'इन्द्र पद का अधिकारी, अर्थात् इन्द्र के समान श्रेष्ठ और शक्तिशाली राजा माना जाता है, वह

इन्द्र के समान प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली हो जाता है अगले श्लोक से इस अर्थ की पुष्टि हो जाती है।

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके।
साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः॥ ३८७॥ (२१५)

(स्वके विषये) अपने राज्य में (एतेषां पञ्चानां निग्रहः) इन पांचों प्रकार के व्यक्तियों पर काबू रखने वाला (राज्ञः) राजा (सजात्येषु साम्राज्यकृत्) सजातीय अन्य राजाओं में साम्राज्य करने वाला अर्थात् राजाओं में शिरोमणि बन जाता है (च एव) और (लोके यशस्करः) लोक में यश प्राप्त करता है ॥ ३८७॥

(१४) (साहसम्) किसी कार्य को बलात्कार करना—

ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक्त्यजेद्यदि।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम्॥३८८॥ (२१६)

(यः याज्यः) जो यजमान (कर्मणि शक्तं च अदुष्टम्) काम करने में समर्थ और श्रेष्ठ (ऋत्विजम्) पुरोहित को (त्यजेत्) छोड़ दे (च) और (याज्यं ऋत्विजः त्यजेत्) ऐसे ही यजमान को पुरोहित छोड़ दे तो (तयोः) उन दोनों को (शतं शतं दंडः) सौ सौ पण दंड करना चाहिए॥३८८॥

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति।
त्यजन्नपतितानेतान्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट्॥ ३८९॥ (२१७)

(न माता न पिता न स्त्री न पुत्रः त्यागम्+अर्हति) न माता, न पिता, न स्त्री और न पुत्र त्यागने योग्य होते हैं (अपतितान् एतान् त्यजन्) अपतित अर्थात् निर्दोष होते हुए जो इनको छोड़े तो (राज्ञा षट् शतानि दंड्यः) राजा के द्वारा उस पर छह सौ पण दंड किया जाना चाहिए॥ ३८९॥

अनुशीलन—३८८ और ३८९ श्लोक विषयविरोध के अन्तर्गत आते हुए भी प्रक्षिप्त प्रतीत नहीं होते। इन्हें स्थानभ्रष्ट समझना चाहिए, क्योंकि (१) इनका मनु की किसी मान्यता से विरोध नहीं है और न ये किसी अन्य आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं, (२) इस अध्याय में इनमें सम्बन्धित प्रसंग भी है। प्रतीत होता है कि ये श्लोक चौथे विवाद 'मिलकर उन्नति या व्यापार करना' (८। २०६–२११) विषय से खण्डित होकर स्थानभ्रष्ट हुए हैं।

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत्॥ ३९८॥ (२१८)

(शुल्कस्थानेषु कुशलाः) शुल्क लेने के स्थानों के शुल्कव्यवहार में चतुर (सर्वपण्यविचक्षणाः) सब बेचने योग्य वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करने में

चतुर व्यक्ति (यथापण्यं अर्घं कुर्यु:) बाजार के अनुसार जो मूल्य निश्चित करें (ततः) उसके लाभ में से (नृपः विंशं हरेत्) राजा बीसवां भाग कर रूप में प्राप्त करे ॥ ३९८ ॥

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।
तानि निर्हरतो लोभात्सर्वंहारं हरेन्नृपः ॥ ३९९ ॥ (२१९)

(राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि) राजा के प्रसिद्ध बरतन (च) और (यानिं प्रतिषिद्धानि) जिन वस्तुओं का देशान्तर में ले जाना निषिद्ध घोषित कर दिया है (लोभात् तानि निर्हरतः) लोभवश उन्हें देशान्तर में ले जाने वाले का (नृपः) राजा (सर्वंहारं हरेत्) सर्वस्व हरण करले ॥ ३९९ ॥

शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी ।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥ ४०० ॥ (२२०)

(शुल्कस्थानं परिहरन्) चुंगी के स्थान को छोड़कर दूसरे रास्ते से सामान ले जाने वाला (अकाले) असमय में अर्थात् रातादि में गुप्तरूप से (क्रयविक्रयी) सामान खरीदने और बेचने वाला (च) और (संख्याने मिथ्यावादी) माप तौल में झूठ बतलाने वाला, इनको (अष्टगुणम्+अत्ययं दाप्यः) मूल्य के आठगुने दण्ड से दण्डित करे ॥ ४०० ॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥ (२२१)

(आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयौ+उभौ) वस्तुओं के आने, जाने, रखने का स्थान, लाभवृद्धि तथा हानि (सर्वपण्यानां विचार्य) खरीद-बेचने की वस्तुओं से सम्बन्धित सभी बातों पर विचार करके (क्रय-विक्रयौ कारयेत्) राजा मूल्य निश्चित करके वस्तुओं का क्रयविक्रय कराये ॥ ४०१ ॥

पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ।
कुर्वीत चैषा प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥ (२२२)

(पञ्चरात्रे-पञ्चरात्रे) पांच-पांच दिन (अथवा) या (पक्षे पक्षे गते) पन्द्रह-पन्द्रह दिन पश्चात् (नृपः) राजा (एषां प्रत्यक्षम्) व्यापारियों के सामने (अर्घसंस्थापनं कुर्वीत) मूल्य का निर्धारण करे ॥ ४०२ ॥

तुला एवं मापकों की छह महीने में परीक्षा—

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥ (२२३)

(तुलामानम्) तराजू (च) और (प्रतीमानम्) प्रतिमान=बाट (सर्वं सुरक्षितं स्यात्) सब ठीक-ठीक रखने चाहिएं, और (षट्सु-षट्सु च मासेषु) छः-छः महीने में (पुनः+एव परीक्षयेत्) इनकी परीक्षा राजा करावे ॥ ४०३ ॥

(द० ल० सं० २०)

"मनुस्मृति में तो प्रतिमा शब्द करके रत्ती, छटांक, पाव, सेर और पंसेरी आदि तोल के साधनों का ग्रहण किया है क्योंकि तुलामान अर्थात् तराजू और प्रतीमान वा प्रतिमा अर्थात् बाट इनकी परीक्षा राजा लोग छठे-छठे मास अर्थात् छः-छः महीने में एक बार किया करें कि जिससे उनमें कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घट-बढ़ न कर सकें और कदाचित् कोई करे तो उसको दण्ड देवें।" (ऋ० भा० भू० ग्रन्थप्रामाण्या०)

"पक्ष-पक्ष में वा मास-मास में अथवा छटवें छटवें मास तुला की राजा परीक्षा करे......................तथा प्रतिमान अर्थात् प्रतिमा की परीक्षा अवश्य करे। राजा जिससे कि अधिक, न्यून प्रतिमा अर्थात् दुकान के बाट जितने हैं, उन्हीं का नाम प्रतिमा है।" (द० शा० सं० ५० एवं ऋ० प० वि० ११)

नौका-व्यवहार की व्यवस्थाएं—

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥ (२२४)

(यानं तरे पणम्) नाव से पार उतारने में खाली गाड़ी का एक पण किराया ले (पौरुषः तरे) एक पुरुष द्वारा ढोये जाने वाले भार पर (अर्धपणं दाप्यः) आधा पण किराया ले (च) और (पशुः पादम्) पशु आदि को पार करने में चौथाई पण (च) तथा (योषित् रिक्तकः पुमान् पाद+अर्धम्) स्त्री और खाली मनुष्य से एक पण का आठवाँ भाग किराया लेवे ॥ ४०४ ॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः।
रिक्तभाण्डानि यत्किंचित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥ ४०५ ॥ (२२५)

(भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं सारतः दाप्यानि) वस्तुओं से भरी हुई गाड़ियों को पार उतारने का किराया उनके भारी और हल्केपन के अनुसार देवे (रिक्तभाण्डानि) खाली बर्तन (च अपरिच्छदाः पुमांसः) और निर्धन व्यक्ति (यत् किंचित्) इनका थोड़ा सा किराया ले लेवे ॥ ४०५ ॥

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥ ४०६ ॥ (२२६)

(दीर्घ+अध्वनि) नदी का लम्बा रास्ता पार करने के लिए (यथादेशम्)

स्थान के अनुसार [तेज बहाव, मन्द प्रवाह, दुर्गम स्थल आदि] (यथाकालम्) समय के अनुसार [सर्दी, गर्मी, रात्रि आदि] (तरः भवेत्) किराया निश्चित होना चाहिए (तत् नदीतीरेषु विद्यात्) यह नियम नदी-तट के लिए समझना चाहिए (समुद्रे नास्ति लक्षणम्) समुद्र में यह नियम नहीं है अर्थात् समुद्र में वहाँ की स्थिति के अनुसार किराया निश्चित करना चाहिए ॥ ४०६ ॥

"जो लम्बे मार्ग में समुद्र की खाड़ियां वा नदी तथा बड़े नदों में जितना लम्बा देश हो उतना कर स्थापन करे और महासमुद्र में निश्चित कर स्थापन नहीं हो सकता किन्तु जैसा अनुकूल देखे कि जिससे राजा और बड़े-बड़े नौकाओं के समुद्र में चलाने वाले दोनों लाभयुक्त हों वैसी व्यवस्था करे ।"

(स० प्र० षष्ठ समु०)

यन्नावि किंचिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः ।
तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः ॥ ४०८ ॥ (२२७)

(दाशानाम् अपराधतः) मल्लाहों की गलती से (नावि यत् किंचित् विशीर्येत) नाव में जो कुछ यात्रियों को हानि हो जाये (तत्+दाशैः+एव) उसे मल्लाहों ने (समागम्य स्वतोंशतः दातव्यम्) मिलकर अपने-अपने हिस्से में से पूरा करना चाहिए ॥ ४०८ ॥

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥४०९॥ (२२८)

(एषः) यह [८।४०४-४०८] (नौयायिनां व्यवहारस्य निर्णयः उक्तः) नाविकों के व्यवहार का निर्णय कहा है (दाशापराधतः तोये) मल्लाहों के अपराध से जल में नष्ट हुए सामान के मल्लाह देनदार हैं (दैविके निग्रहः नास्ति) दैवी विपत्ति के कारण [आंधी, तूफान, आदि से] हुई हानि के मल्लाह देनदार नहीं हैं ॥ ४०९ ॥

अष्टम-अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की सहेतुक-समीक्षा

यह (८ । २ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. वेद-विरुद्ध—इस श्लोक में कहा है कि राजा न्याय-सभा में जाकर 'बैठकर अथवा खड़े होकर' और दाहिने हाथ को उठाकर विवादों को देखे । यहाँ खड़े होकर और दाहिना हाथ उठाना दोनों ही बात वेद-विरुद्ध तथा अव्यावहारिक हैं । वेद में (यजु० ३३ । १५ में) राजा को मन्त्रियों के साथ 'आसीदन्तु'=बैठने के

लिये ही कहा है। और विवादों को सुनने तथा निर्णय करने में पर्याप्त समय लग जाता है, तब तक राजा खड़ा रहे और दाहिने हाथ को उठाये रखे, यह निरर्थक ही राजा के लिये दण्ड हो जाता है। मानो राजा को ही अपराध के कारण दण्डित किया गया है।

२. **शैली-विरुद्ध**—मनु की शैली यह है कि वे किसी बात को अथवा विशेषण को बार-बार प्रयुक्त नहीं करते। किन्तु यहां (८।१ में) राजा को 'विनीतः' कहने पर भी (८।२ में) पुनः 'विनीत' शब्द का प्रयोग पुनरुक्त होने से मनु-प्रोक्त नहीं है। और ८।३–८ श्लोकों में 'कुर्यात् कार्यविनिर्णयम्= राजा का कार्य विवादों का निर्णय करना कहा है'। किन्तु ८।२ में 'पश्येत्= देखे' क्रिया का प्रयोग है, जो कि राजा के लिये उचित नहीं है। क्योंकि राजा का कार्य न्याय करना है, केवल देखना नहीं। अतः राज-धर्म प्रकरण में मनु इस प्रकार की अधूरी क्रियाओं का कैसे प्रयोग कर सकते हैं? अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

ये दोनों (८।९–१०) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **अन्तर्विरोध**—मनु ने ७।१४१ में कहा है कि राजा की किसी कारण-वश अनुपस्थिति हो तो राजा के कार्य को कौन करे? वहाँ यह लिखा है कि राज के कार्य को प्रधानमन्त्री करे। किन्तु इस श्लोक में ब्राह्मण के लिये कहा है। यह परस्पर-विरोधी कथन मनु-प्रोक्त नहीं हो सकता। और राजा के कार्य को राजा के साथ रहने वाला प्रधानमन्त्री ही भलीभांति जान सकता है, अन्य पुरुष नहीं, चाहे वह कितना भी विद्वान् क्यों न हो।

२. **शैली-विरुद्ध**—मनु ने (८।८ में) स्पष्ट कहा है कि राजा विवादों का निर्णय करे। किन्तु यहां (८।१० में) राजा के स्थान पर कार्य करने वाले को 'संपश्येत्' देखभाल करने को ही कहा है। यह क्रिया राजा के न्याय-कार्य को अपूर्ण कहने के कारण ८।२ श्लोक की भांति मौलिक नहीं है। और इसमें भी ८।२ श्लोक की भांति खड़े होकर कार्य करने की बात असंगत होने से मान्य नहीं हो सकती। और ८।१० वाँ श्लोक नवम श्लोक से सम्बद्ध होने से प्रक्षिप्त है। यह किसी ब्राह्मणवाद के पक्षपाती ने पूर्वापर-प्रसंग से विरुद्ध, परस्परविरुद्ध तथा पुनरुक्त करके प्रक्षेप किया है।

ये पाञ्च (८।२०–२४) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **अन्तर्विरोध**—(क) मनु की मान्यता के अनुसार ब्राह्मणादि वर्णों का आधार कर्म है, जन्म नहीं। किन्तु यहाँ २० वें श्लोक में जन्म के आधार पर

जीविका करने वाले को ब्राह्मण माना है और उसे राजा की सभा में धर्म-प्रवक्ता बनाने की अनुमति दी है। यह मनु की मान्यता से विरुद्ध और पक्षपातपूर्ण होने से मान्य नहीं हो सकती। इसके लिये १। ९२–१०१ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है। (ख) और मनु ने ८। ११ में वेदों के वेत्ताओं को न्याय-सभा में नियुक्त करने का निर्देश किया है, किन्तु यहां जन्म के आधार पर ब्राह्मण को धर्म-प्रवक्ता कहना उससे विरुद्ध है। और ७। ६५ में यह स्पष्ट किया है कि न्याय और दण्ड प्रधानमन्त्री के आधीन हों, तो यहाँ दूसरी व्यवस्था देना उससे विरुद्ध है। प्रतीत होता है कि जन्म-गत वर्णव्यवस्था के प्रचलित होने पर इन श्लोकों का प्रक्षेप किया गया है।

२. **प्रसंगविरोध**—८। ८ श्लोक में कहा है कि राजा धर्म का आश्रय करके विवादों का निर्णय करे। और उसके बाद धर्म का महत्त्व बताया गया है। इस प्रसंग में 'धर्म-प्रवक्ता' कौन हो, यह कथन अप्रासंगिक है। और धर्म-प्रवक्ता का कथन ८। ११ में हो चुका है, पुनः उसका प्रसंग प्रारम्भ करना असंगत है।

३. **शैली-विरुद्ध**—इन श्लोकों की शैली पक्षपातपूर्ण है। यह मनु के अनुसार वर्णों की व्यवस्था गुण-कर्म स्वभाव के अनुसार है, जन्म के आधार पर नहीं। और मनु ने शूद्र को पवित्र मानकर उसके साथ घृणाभाव का सर्वथा निषेध किया है। यदि जन्म का ब्राह्मण धर्म-प्रवक्ता बन सकता है, चाहे वह पढ़ा हुआ है अथवा नहीं, तो शूद्र का निषेध क्यों ? यदि शूद्र वेदादि-शास्त्रों से अनभिज्ञ होने से न्यायकार्य के अयोग्य है, तो जन्मना अनपढ़ ब्राह्मण योग्य कैसे हो सकता है ? अतः यह वर्णन पक्षपात-पूर्ण ही है। २१–२२ श्लोक बीसवें से ही सम्बद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। और २४ वें श्लोक में विवादों का निर्णय वर्णों के क्रम से करे, यह कथन भी पक्षपात की भावना से ही पूर्ण है। अन्यथा जिसका विवाद पहले आये, उसी का निर्णय प्रथम करना चाहिये। न्याय-सभा में न्याय के लिये मनुष्य-मात्र के लिये समान व्यवस्था होनी चाहिये। अतः ये श्लोक प्रसंगविरोध, अन्तर्विरोध तथा शैलीविरोध होने से परवर्ती प्रक्षेप हैं।

ये पाञ्च (८। ३७–४१) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंगविरोध**—८। ३ में कहा है कि राजा १८ प्रकार के विवादों का निर्णय करे। और उसके बाद ३४ वें श्लोक से चोरी में गये धन की व्यवस्था और चोरों को दण्ड का विधान किया है। इस प्रसंग में भूमि में गड़े धन की व्यवस्था अप्रासंगिक है।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) ३७ वें श्लोक में कहा है कि भूमि आदि में गड़े

समस्त धन का स्वामी ब्राह्मण है। इसलिये ब्राह्मण उस समस्त धन को ले लेवे। और ३८-३९ श्लोकों में कहा है कि भूमि में गड़े हुए धन में से आधा धन द्विजों को देवे और आधा कोश में रखे। इन दोनों विधानों में परस्पर-विरोध है।

(ख) और मनु ने ब्राह्मण के कर्मों में यज्ञकरनादि से ब्राह्मण की जीविका का भी निर्धारण किया है। यदि ब्राह्मण को 'सर्वस्याधिपतिः' (३७) मनु मानते, तो उसका निर्देश भी वहां अवश्य करते। और सन्तोषादि से जीवन-यापन करने वाले ब्राह्मण को धन का स्वामी बनाकर उसके उद्देश्य से गिराना ही है।

(ग) और ८। ३३ श्लोक में कहा है कि राजा नष्ट या खोये धन के प्राप्त होने पर उसमें से छठा, १० वां अथवा १२ वां भाग ले लेवे। शेष धन उसके स्वामी को दे देवे। किन्तु यहां ४० वें श्लोक में कहा है चुराये गये धन को सब वर्णों में विभक्त कर देवे, राजा कुछ भी न लेवे। यह उससे विरुद्ध व्यवस्था है।

(घ) और मनु ने धर्म-निर्णय के लिये कुल और जाति को कहीं आधार नहीं माना है। वे धर्म के निर्णय में सत्य को ही मुख्य आधार मानते हैं और ८। ८, ४४, ४५, १२६ श्लोकों के अनुसार देश व काल को भी आधार मानते हैं। यदि कुल व जाति को धर्म-निर्णय में आधार माना जाये तो धर्मशास्त्र की क्या आवश्कता रहेगी? अतः ४१ वें श्लोक में जाति, व कुलधर्मों को आधार बनाना मनु की मान्यता से विरुद्ध है।

यह (८। ४६ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

अन्तर्विरोध—मनु ने धर्म-निर्णय का आधार अनुमानादि प्रमाणों (४४) सत्य, देश, काल (४५) को माना है। किन्तु इस श्लोक में कुल व जाति को भी आधार माना है। यह मनु की मान्यता के विरुद्ध है। और कुल व जाति को धर्म-निर्णय में आधार बनाया भी नहीं जा सकता। क्योंकि कुलादि के धर्मों का निर्णय करना ही कठिन है। और धर्म-शास्त्र के प्रणेता मनु ने ऐसी कहीं भी व्यवस्था नहीं मानी है। और जब ४५ वें श्लोक में देश, काल की बात कह दी है तो फिर ४६ वें का कथन पुनरुक्त है। मनु जैसा आप्त-पुरुष ऐसी बातें नहीं कह सकता। कुल व जातिगत-धर्मों का मिश्रण जन्ममूलक वर्णव्यवस्था के पक्षपाती ने किया है। अतः यह कथन मौलिक नहीं है।

ये तीनों (८। ४८-५०) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसंगविरोध—(क) यहां न्यायालय में साहूकार के धन को कर्जदार के न देने पर विवाद का प्रसंग है। इस विषय में निर्णय से पूर्व राजा को [५१-५२] लेख प्रमाणादि की भलीभांति जांच करनी चाहिये। इनके मध्य में ये श्लोक उस क्रम को भंग कर रहे हैं। (ख) और ४८-४६ श्लोकों में कुछ दूसरे ही उपाय बताये गये हैं। और न्यायालय में उपस्थित होने का अभिप्राय यही है कि वे विवाद का निर्णय स्वयं नहीं कर सकते। परन्तु ५० वें श्लोक में स्वयं धन प्राप्त करने की बात कहना असंगत ही है। क्योंकि यदि वह स्वयं धन प्राप्त कर लेता तो न्यायालय में ही क्यों आता?

२. अन्तर्विरोध—और राजा के लिये ८।८ में कहा है कि वह धर्म के आश्रय से न्याय करे। किन्तु यहाँ धर्म से विरुद्ध छलादि को भी निर्णय करने में आधार माना है। यदि राजा ही निर्णय करने में छल का आश्रय लेगा तो दूसरों की क्या दशा होगी? अतः धर्म-शास्त्र में छलादि के आश्रय करने की बात मनु के समस्त विधान के विरुद्ध है।

यह (८।१६ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

अन्तर्विरोध—मनु ने अपने समस्त धर्म-शास्त्र में मनुष्य-मात्र के कर्त्तव्यों का निर्देश बिना किसी पक्षपात के किया है। किन्तु इस श्लोक में ब्राह्मणों के पक्षपाती ने पूर्वापर की संगति से विरुद्ध ही मिश्रण किया है। मनु ने पहले (७।६५ में) यह कहा है कि प्रधान-मन्त्री के आधीन न्याय व दण्ड होते हैं और यहाँ राजा के द्वारा नियुक्त ब्राह्मण को न्यायाधीश मानकर उसके सामने जाने की बात कही है, यह पूर्वोक्त कथन से विरुद्ध है।

यह (८।६२ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. अन्तर्विरोध—(क) इस श्लोक में साक्षियों की जो विशेषतायें बताई गई हैं, वे ८।६३ श्लोक में कही विशेषताओं से भिन्न हैं। दोनों श्लोकों में कथित विशेषताओं में कौन सी सत्य है और कौन सी असत्य, इसका निर्णय भी विचार करने से हो जाता है। साक्षी कैसा होना चाहिये, वह यथार्थ वक्ता हो, सब धर्मों को जानने वाला हो और लोभवृत्ति से रहित हो, तभी सत्य साक्षी दे सकता है। किन्तु इस श्लोक में ऐसी कोई विशेषता नहीं कही है। साक्षी गृहस्थी हो, पुत्र वाला हो, उसी स्थान पर पहले से रहता हो, और क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण का हो, ६२ वें श्लोक में ये विशेषताय कहीं हैं, जिनमें एक भी विशेषता साक्षी की योग्यता को प्रकट नहीं करती। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है। (ख) और ६३ वें श्लोक में सभी वर्णों के आप्त पुरुषों को

साक्षी बनाने की बात कही है, किन्तु ६२ वें श्लोक में ब्राह्मण को साक्षियों में नहीं गिनाया है। अतः उस श्लोक से इस का विरोध है।

ये तीन (८। ६५–६७) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **अन्तर्विरोध**—(क) ८। ६५ में साक्षी के लिये कारीगरादि का निषेध किया है। इस से स्पष्ट है कि ये श्लोक उस समय मिलाये गये हैं, जबकि वर्ण-व्यवस्था जन्म के आधार पर प्रचलित हो गई और आजीविका की व्यवस्थाओं के आधार पर बढई, सुनारादि उपजातियाँ भी बन गई थीं। क्योंकि मनु की मान्यता में ब्राह्मणादि चार ही वर्ण होते हैं, कारीगर कोई भिन्न वर्ण नहीं। क्योंकि कारीगरी आदि कर्म वैश्य के कर्मों में ही मनु ने माने हैं। (ख) और ६३ वें श्लोक में सभी वर्णों के आप्तपुरुषों को साक्षी बनाने को कहा है, किन्तु यहाँ उससे विरुद्ध कारु=शिल्पी, जो वैश्य के कर्मों में ही होने से वैश्य ही हैं, उसका निषेध करना, और नृपति=राजा क्षत्रिय है, श्रोत्रिय=वेदपाठी ब्राह्मण है, इनका निषेध करना ६३ वें श्लोक से विरुद्ध है। (ग) और ६८ वें श्लोक में अन्त्यज को भी साक्षियों में गिनाया है, किन्तु ६६ वें श्लोक में उसका निषेध किया है। इन विरोधों के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

२. **पुनरुक्त-दोष**—६६–६७ श्लोकों में जिनको साक्षी के अयोग्य बताया है, उनका कथन ६४ वें श्लोक में ही कर दिया गया है। जैसे—'व्याधिग्रस्त' के अन्तर्गत ही विकलेन्द्रिय, मत्त, उन्मत्त आ जाते हैं, 'आर्त्त' के अन्तर्गत श्रमार्त्त, कामार्त, क्षुत्-तृष्णोपपीडित आ जाते हैं, 'दृष्टदोषाः' के अन्तर्गत दस्यु, तस्कर, वृद्ध, शिशु, क्रुद्ध, विकर्मकृत् आ जाते हैं, और 'सहायाः' के अन्तर्गत आधीन रहने वाले नौकरादि आ जाते हैं। इस प्रकार ६४ वें श्लोक की बातें ही यहाँ दुबारा कहीं हैं, कोई स्वतन्त्र एवं महत्त्वपूर्ण बात इनमें नहीं कही हैं। अतः ये मनुप्रोक्त मौलिक श्लोक नहीं हैं।

ये दोनों (८। ७०–७१) श्लोक निम्मलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—६९ वें और ७२ वें श्लोक में कुछ ऐसे कार्य गिनाये हैं, जिन में साक्षियों की परीक्षा न करने का समान प्रसंग है। इनके मध्य में (७०–७१ में) किन्हीं साक्षियों के अभाव में किनकी साक्षी कर लेनी चाहिये, यह कथन प्रसंग को भंग कर रहा है। और ६३–६४ श्लोकों में साक्षियों की विशेषतायें कह चुके हैं, पुनः उस विषय का प्रारम्भ करना उचित भी नहीं है।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) ७० वें श्लोक में यह ध्वनि हो रही है कि स्त्री की साक्षी आपत्काल में ही करनी चाहिये, यह भावना ६८ वें श्लोक के विरुद्ध है। क्योंकि उसमें स्पष्ट कहा है कि स्त्रियों की साक्षी स्त्रियाँ ही करें। (ख)

और ७० वें श्लोक में दासप्रथा की भी चर्चा है। मनु दासप्रथा को नहीं मानते, वे तो सेवाकार्य के लिये शूद्र वर्ण को मानते हैं, किन्तु शूद्र का कार्य दास के समान नहीं है प्रत्युत स्वतन्त्र कार्य का चयन करना है। (ग) ७१ वें श्लोक में बालक, वृद्ध, आतुर की स्थिर वाणी न होने से उनकी साक्षी की परीक्षा के लिये कहा है, जब कि ७० में इनकी साक्षी के लिये कहा है। यथार्थ में साक्षियों के विषय में (६३–६४ में) कह चुके हैं, फिर यहाँ उस विषय का कथन निरर्थक है। (घ) और ६९ वें श्लोक में एकान्त अथवा गुप्त स्थानों के विवादों के विषय में सबकी साक्षी मनु ने मानी है, फिर उसके बाद साक्षी न करने योग्यों की गणना निरर्थक है। अतः ये श्लोक अन्तर्विरुद्ध और असंगत हैं।

यह (८। ७७ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

१. **प्रसंग-विरोध**—मनु ने सामान्यरूप से साक्षियों की विशेषतायें ६३–६४ श्लोकों में कहीं हैं, वहीं मनु यदि और कुछ आवश्यक समझते तो अवश्य कहते। किन्तु यहाँ उस विषय को उठाना उचित नहीं है। और ७६ व ७८ श्लोकों में साक्षी लेने की विधि चल रही है, इनके मध्य में यह श्लोक उस प्रसंग को भंग करने से असंगत है।

२. **अन्तर्विरोध**—मनु ने इस धर्मशास्त्र में स्त्रियों को भी मनुष्यों से कम दर्जा कहीं भी नहीं दिया है। किन्तु इसमें स्त्रियों के प्रति हीनभावना प्रकट करते हुए लिखा है कि पवित्र स्त्रियाँ भी साक्षी के योग्य नहीं हैं। यह मनु की मान्यता से विरुद्ध है। और ६८ वें श्लोक में स्त्रियों की साक्षी के लिये मनु ने स्पष्ट विधान किया है. तो वे यहाँ निषेध कैसे कर सकते थे? अतः यह विरोधी कथन मनुप्रोक्त नहीं है।

३. **पुनरुक्त**—और इस श्लोक में साक्षी को लोभरहित होने की बात कही है, किन्तु यह तो ६३ वें श्लोक में कह चुके हैं, फिर यहाँ कहना पुनरुक्त होने से मौलिक नहीं है। अतः यह श्लोक असंगत, अन्तर्विरुद्ध और पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त है।

यह (८। ८२ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

१. **प्रसंग-विरोध**—यहाँ पूर्वापर श्लोकों में सत्य साक्षी के लाभों का वर्णन किया गया है। किन्तु इनके मध्य में साक्षी देने में झूठ बोलने पर दण्ड का कथन करना क्रम को भंग कर रहा है, अतः असंगत है।

२. **शैली-विरोध**—इस श्लोक में झूठी साक्षी देने वाले के लिये कहा है कि वह सैंकड़ों जन्मों तक वरुण के पाशों से बन्धकर दुःख पाता है। किन्तु मनु

ऐसी अतिशयोक्तिपूर्ण एवं अयुक्तियुक्त बात कहीं नहीं कहते। उन्होंने इस प्रकार किसी एक कर्म के कारण सैंकडों जन्मों में दुःख भोगने की बात कहीं नहीं मानी। मनु ने सात्त्विकादि गुणों के कारण विभिन्न योनियों में जाना माना है, किसी कर्म विशेष के कारण नहीं। और वरुण के पाशों की बात भी पौराणिक कल्पना है। अतः यह मनु की शैली का श्लोक न होने से प्रक्षिप्त है।

ये (८।८५–९०) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—(क) यहाँ पूर्वापर श्लोकों में (८।८४, ८।९१ में) आत्मा को आधार मानकर सत्य साक्षी देने का कथन किया गया है, जिससे इन श्लोकों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट ज्ञात होता है। और इन ८५–९० श्लोकों ने उस क्रम को भंग कर दिया है, अतः ये श्लोक असंगत हैं। (ख) और न्यायाधीश साक्षियों से कैसे प्रश्न पूछे, यह बात ७८ से ८० श्लोकों में कही है। उसके बाद सत्यसाक्षी के महत्त्व का वर्णन किया गया है। किन्तु इन श्लोकों में न्यायाधीश द्वारा साक्षियों से प्रश्न करना पूर्ववर्णित विषय को पुनः प्रारम्भ किया है, अतः यह कथन असंगत और निराधार है।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) मनु ने ८।९१ वें श्लोक में कहा है कि सब आत्माओं के हृदय में पाप-पुण्य का द्रष्टा परमात्मा विद्यमान है, उसको साक्षी मानकर असत्य साक्षी नहीं देनी चाहिये। परन्तु ८६ वें श्लोक में कहा है कि आकाश, भूमि, जल, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि आदि देव सब प्राणियों के व्यवहारों को जानते हैं। यह जहाँ ९१ वें श्लोक से विरुद्ध है, वहाँ असम्भव पौराणिक कल्पना के आश्रय से कथन किया गया है। क्योंकि आकाशादि को मनु ने प्रकृति के विकार माना है। और ये सभी अचेतन देव हैं, इनमें प्राणियों के व्यवहारों को जानने का सामर्थ्य कहाँ है? अतः यह अवैदिक मान्यता मनु की कदापि नहीं हो सकती। (ख) और न्यायाधीश के समक्ष साक्षियों से वकील कैसे प्रश्न पूछे? यह बात ७९–८० श्लोकों में कह दी है, फिर यहाँ उससे भिन्न विधि का वर्णन करना (८७–८८) पूर्वोक्त कथन का विरोधी होने से मौलिक नहीं है। (ग) और न्यायाधीश अथवा वकीलादि जो भी साक्षियों से प्रश्न करेंगे, उनकी तरफ ही साक्षियों के मुख होने चाहियें, परन्तु (८७ श्लोक में) उत्तर अथवा पूर्व की ओर मुख करने की बात असंगत है। क्योंकि प्रश्नोत्तर करने में दिशाओं का क्या महत्त्व है? प्रश्नोत्तर करने वाले आमने सामने होने चाहियें। (घ) और ८८ वें श्लोक में ब्राह्मणादि चारों वर्णों से साक्षी के लिये पूछने के भिन्न-भिन्न प्रकार लिखे हैं, ये भी मनु की मान्यता से विरुद्ध हैं। क्योंकि साक्षी होने में

प्रश्नोत्तर विधि में विभिन्नता का कथन निराधार ही है। मनु सदृश आप्तपुरुष ऐसी पक्षपातपूर्ण बात नहीं कह सकते।

३. **शैली-विरोध**—इन श्लोकों की शैली पक्षपातपूर्ण तथा अतिशयोक्ति-पूर्ण होने से मनुप्रोक्त नहीं है। जैसे—(क) साक्षियों से प्रश्नों में (८८ वें में) शूद्र को यह भय दिखाना कि तुम झूठ बोलोगे तो सब पाप लगेंगे, किन्तु यह भय दूसरे वर्णों के लिये क्यों नहीं दिखाया। समान दुष्कर्म करने पर यह पक्ष-पातपूर्ण वर्णन क्यों? मनु की शैली के अनुसार तो शूद्र की अपेक्षा ब्राह्मणादि अधिक दोषी होते हैं किन्तु यहाँ शूद्र को अधिक दोषी मानना मनु की शैली से विरुद्ध है। (ख) और ८९ वें श्लोक में मिथ्यासाक्षी करने वाले को ऐसे लोकों में जाना लिखा है जिनमें ब्रह्महत्यारे, मित्रद्रोही और स्त्री व बालक के घातक जाते हैं। यह सब अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। मनु ने इस प्रकार की कर्म-फल-व्यवस्था कही नहीं मानी है। और नहीं ऐसे लोक-विशेष हैं, जिनमें पापी जाते हों। (ग) और मनु ने कर्म करने वाले को ही कर्मफल का भोक्ता माना है, किन्तु ९० वें श्लोक में कहा है कि यदि साक्षी झूठ बोलता है, तो उसका जन्मभर का पुण्य कुत्ते को मिलेगा। यह कथन अयुक्तियुक्त निराधार होने से मनुप्रोक्त कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार ८५–८६ श्लोकों में जड वस्तुओं को द्रष्टा मानना बेतुकी बात है। इस तरह ये सभी श्लोक असंगत, अन्तर्विरुद्ध और शैली-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

ये चार (८।९२—९५) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—यहाँ पूर्वापर के श्लोकों में (९१ और ९६ में) आत्मा के आश्रय से साक्षी देने की बात कही है। इस विषय में दोनों श्लोक परस्पर संबद्ध हैं। परन्तु इनके बीच के ये श्लोक उस प्रसंग को भंग करके कुछ अन्य बातों को ही कह रहे हैं, अतः ये श्लोक अप्रासंगिक हैं।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) ९२ वें श्लोक में गंगा और कुरुक्षेत्र को तीर्थ-स्थान के रूप में माना है। किन्तु मनु ने किसी भी स्थानविशेष या नदी को तीर्थ नहीं माना है। मनु ने 'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति' कहकर जल से शरीर-शुद्धि ही मानी है, मनादि की नहीं। अतः गंगादि में स्नान से मनादि की शुद्धि न होने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये उन्हें तीर्थ भी नहीं कहा जा सकता। (ख) और ९४ वें श्लोक में 'किल्विषी' नामक नरक की बात भी मनु से विरुद्ध और मिथ्या है। मनु सुखविशेष[1] को स्वर्ग और दुःख-विशेष को

१. (क) 'दाराधीनस्तथा स्वर्गः।' (ख) "सः सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।" इत्यादि स्थलों पर 'स्वर्ग' शब्द सुखवाचक ही है।

नरक मानते हैं, स्थानविशेष को नहीं। एतदर्थ ४।८७–९१ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है। (ग) और ९५ वें श्लोक में मत्स्य=मछली खाने की बात भी मिथ्या तथा मनु की मान्यता से विरुद्ध है। मनु मद्य-मांस को राक्षसों का भोजन मानते हैं, मानवों का नहीं। मनु ने मांसभक्षण के लिये आठ प्रकार के घातक माने हैं, जिससे स्पष्ट है कि वे मांस-भक्षण को महापाप मानते हैं।

३. शैली-विरोध—और इन श्लोकों की शैली अतिशयोक्तिपूर्ण, अयुक्तियुक्त तथा मिथ्या होने से मनु की नहीं है। जैसे ९४ वें में झूठ बोलने पर नीचे शिर करके किल्विषी नामक नरक में जाना, ९३ वें में अन्धा होकर शत्रु-कुल में भीख मांगना, और ९५ वें में अन्धे के द्वारा सकण्टक मछलियों को खाना इत्यादि बातें निराधार, अयुक्तियुक्त और भय-प्रदर्शनमात्र के लिये ही लिखी हैं। मनु ऐसी बात कहीं भी नहीं कहते। अतः ये सभी श्लोक असंगत तथा अन्तर्विरोध के काररण मनु की शैली के न होने से प्रक्षिप्त हैं।

ये सभी (८।९७—११६) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. अन्तर्विरोध—इन श्लोकों में मनु की मान्यताओं का ही विरोध होने से ये श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हैं। जैसे—(क) १०३ श्लोक में कहा है कि कुछ विषयों में झूठ बोलता हुआ भी स्वर्गलोक से नहीं गिरता। यह स्वर्गलोक की कल्पना मिथ्या है। मनु ने स्वर्ग को स्थानविशेष न मानकर सुख का वाची माना है। इस विषय में ४।८७—९१ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है। (ख) और १०२ श्लोक में वैश्य और शूद्र के कर्मों के करने वाले व्यक्तियों को भी विप्र=ब्राह्मण माना है, जबकि मनु ने कर्मानुसार वर्णों की व्यवस्था मानी है। वैश्य-शूद्र के कर्मों को करने वाला ब्राह्मण कदापि नहीं हो सकता। इस से इन श्लोकों का परवर्ती होना स्पष्ट है कि ये श्लोक जन्मना वर्णव्यवस्था प्रचलित होने पर मिलाये गये हैं। (ग) मनु ने साक्षी को सत्य बोलने का विधान ८।८०—८१ में किया है। और ८।११९—१२२ तक झूठी साक्षी देने वालों को दंड का विधान किया है। परन्तु १०३-१०६ तक झूठी साक्षी देने का विधान और झूठ बोलने के पाप का प्रायश्चित्त भी लिखा है। यह मनुसम्मत नहीं है। (घ) १०९-११६ तक श्लोकों में साक्षियों के अभाव में शपथ लेने का विधान किया है। यह शपथ की व्यवस्था मनु-सम्मत नहीं है। क्योंकि मनु ने साक्षी न मिलने पर (८।१८२ में) गुप्तचरों द्वारा जानकारी प्राप्त करने का विधान किया है। मनु ने साक्षियों के विशेष गुरण लिखे हैं। वे ही साक्षी करने चाहिए (८।६३-६४)

और शपथ तो कोई भी ले सकता है। अतः यह शपथ की व्यवस्था मनुसम्मत नहीं है।

२. **शैली-विरोध**—इन श्लोकों की शैली मनुप्रोक्त नहीं है। जैसे—

(क) ११० और ११६ श्लोकों में ऐतिहासिक-शैली से वसिष्ठ, पैजवन, वत्सादि व्यक्तिविशेषों के नामों का उल्लेख है। मनु अपने से परवर्ती व्यक्तियों का उल्लेख कैसे कर सकते थे? इससे स्पष्ट है कि ये श्लोक परवर्त्ती किसी अन्य व्यक्ति ने मिलाये हैं।

(ख) और ११४—११६ श्लोकों में अग्नि, जलादि की परीक्षायें हैं। जिसे अग्नि न जला सके और जल में डुबो न सके, उसका शपथ लेना सत्य है। यह कितनी अयुक्तियुक्त तथा सृष्टिनियम के विरुद्ध बात है कि साक्षी सत्य ही बोले, एतदर्थ शपथों का विधान और शपथ सत्य है या नहीं, एतदर्थ अग्नि आदि की परीक्षा कराना। इससे स्पष्ट है कि मिथ्यावादियों के ही सब प्रपंच हैं। मनु साक्षी के लिये ऐसा कथन कदापि नहीं कर सकते, क्योंकि उन्होंने आप्तपुरुषों को ही साक्षी देने का अधिकार दिया है। और यह कितने आश्चर्य की बात है कि इन मिथ्यावादियों ने अग्नि आदि के धर्मों को भी नहीं जाना। अग्नि आदि तो अचेतन हैं, इनमें सत्यासत्य को जानने का सामर्थ्य कहा है? ऐसे जड़ पदार्थों को भी चेतन मानकर अग्नि आदि की परीक्षा करना मनु-सदृश आप्तपुरुषों का कार्य नहीं है। मनु ने (१।७५—७८ में) अग्नि आदि की उत्पत्ति प्रकृति के विकार महतत्त्व से मानी है। अतः ये प्रकृति के कार्य होने से चेतन=ज्ञान वाले नहीं हैं। अग्नि तो पवित्र-अपवित्र, सत्य व असत्य का भेद न करने के कारण सब को ही जलाती है।

(ग) और ११२ वें श्लोक में ब्राह्मण की रक्षादि के विषय में शपथ लेने में पाप नहीं है, यह भी पक्षपातपूर्ण कथन है। प्रथम तो शपथ की बात ही मनु-प्रोक्त नहीं है। और ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रियादि की रक्षा का निर्देश न करके केवल ब्राह्मण की बात कहना पक्षपातपूर्ण है। मनु इस प्रकार की ऐतिहासिक, अयुक्तियुक्त, सृष्टि-नियम विरुद्ध तथा पक्षपातवाली बातें कैसे कह सकते हैं? अतः ये सभी श्लोक परवर्त्ती प्रक्षेप हैं।

ये तीन (८।१२३—१२५) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **अन्तर्विरोध**—मनु के अनुसार उच्च-उच्च वर्ण को समान दोष का अधिक दण्ड मिलना चाहिये। एतदर्थ ८।३३५-३३८ श्लोक द्रष्टव्य हैं। और यह न्याय की दृष्टि से उचित भी है। किन्तु यहां १२३ में झूठी साक्षी देने पर

क्षत्रियादि को तो दण्ड देकर देश निकालना और उसी अपराध पर ब्राह्मण को दण्ड की छूट देना मनु की मान्यता से विरुद्ध है।

२. शैलीगत-विरोध—१२४ वें श्लोक में 'मनुः स्वायम्भुवः अब्रवीत्' इस वाक्य से स्पष्ट है कि ये श्लोक मनु से भिन्न किसी व्यक्ति ने मनु के नाम से बनाये हैं। मनु अपना नाम लेकर कहीं कुछ नहीं कहते। और १२३-१२४ श्लोकों में पक्षपातपूर्ण वर्णन है। मनु की शैली में पक्षपात का दोष नहीं है। क्योंकि इनमें जिस दोष के कारण दूसरे वर्णों को दण्डित करने का विधान है, उसी दोष पर ब्राह्मण को छूट देना पक्षपातपूर्ण है। १२५ वां श्लोक १२४ श्लोक से ही सम्बद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

यह (८।१३९ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

१. अन्तर्विरोध—इस श्लोक का दण्डविधान ८।५९ श्लोक से विरुद्ध होने से मनुप्रोक्त नहीं है। क्योंकि उसमें दण्ड की व्यवस्था मिथ्याभाषण करने वाले कर्जदार और कर्जा देने वाला दोनों को दण्ड देने का विधान किया है। इसमें केवल कर्जदार को ही दण्ड लिखा है।

२. शैली-विरोध—इस श्लोक के 'तन्मनोरनुशासनम् पदों से स्पष्ट है कि यह श्लोक मनु से भिन्न व्यक्ति का बनाया हुआ है। प्रक्षेपक ने अपने बनाये श्लोक को मनु का नाम देकर प्रामाणिक करना चाहा है। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

ये दोनों (८।१४१-१४२) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. अन्तर्विरोध—मनु ने ८।१४० श्लोक में सब मनुष्यों के लिये सामान्य-रूप में सवा रुपया सैंकड़ा व्याज लेने की दर निश्चित की है और इन श्लोकों में उस विधान के विरुद्ध दो रुपये से लेकर पांच रुपये सैंकड़ा तक ब्याज का विधान पूर्वोक्त विधान से विरुद्ध है।

२. शैली-विरोध—मनु ने मानवमात्र के लिए इस शास्त्र में विधान लिखे हैं किसी के साथ पक्षपात-व्यवस्था मनु को अभिप्रेत नहीं है। परन्तु यहाँ १४२ वें श्लोक में वर्णों के क्रम से उच्चवर्ण की अपेक्षा निचले वर्ण से अधिक ब्याज की व्यवस्था पक्षपातपूर्ण है। और १४१ श्लोक की 'सतां धर्ममनुस्मरन्' इत्यादि भाषा भी मनु की शैली की नहीं है। यह किसी परवर्त्ती ने प्रक्षेप करके 'सतां धर्मः' की दुहाई देकर प्रामाणिक करने की चेष्टा की है। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

ये चार (८।१४७—१५०) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

अन्तर्विरोध—इन श्लोकों में कही व्यवस्थाओं का मनु की दूसरी व्यवस्थाओं से विरोध है। जैसे—(१) १४९ वें श्लोक में स्त्रियों को भी धरोहर की भाँति मानकर भोग की वस्तु माना है। यह मान्यता मनु से विरुद्ध है। मनु तो (८।२७-३०, १४३, १४६) श्लोकों के अनुसार जड़ वस्तु, धन तथा पशुओं को ही धरोहर की वस्तु मानते हैं। स्त्रियों के विषय में यह एक हीन भावना पौराणिक युग की देन है और पत्नी को पतिधर्मी मानकर एक व्यक्ति के संग रहने का ही उपदेश दिया है, परन्तु यहां १४९ वें श्लोक में अनेक व्यक्तियों से भी स्त्री को भोग्य माना है। (२) और १४३-१४६ श्लोकों में जो विधान लिखे हैं, उनसे भिन्न तथा विरुद्ध इन श्लोकों में कहे हैं जैसे—१४७-१४८ श्लोकों में किसी दशा में धरोहर पर से स्वामी का अधिकार नष्ट होना माना है। जबकि १४३-१४६ श्लोकों में धरोहर पर से स्वामी का अधिकार कभी नष्ट न होना मना है। और १४९ श्लोक में कुछ वस्तुओं का नाम लेकर स्वामी का अधिकार रहना माना है। और इसी प्रकार १४४ श्लोक में धरोहर को भोगने पर उसका ब्याज न लेने और क्षतिपूर्ति करने की व्यवस्था है। परन्तु १५० वें श्लोक में स्वामी की आज्ञा के विना धरोहर के भोगने पर आधा ब्याज देने की व्यवस्था है। यह एक दूसरे से भिन्न व्यवस्था मौलिक न होने से मनुप्रोक्त नहीं है।

यह (८।१५२ वाँ) श्लोक निम्न लिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

१. **प्रसंगविरोध**—मूलधन पर ब्याज दर का निर्धारण १४० श्लोक में किया जा चुका है। उसके बाद धरोहर पर ब्याज दर का प्रसंग चल रहा है। दूसरा प्रसंग प्रारम्भ होने पर पुनः पहला प्रसंग (मूलधन का ब्याज दर का) प्रारम्भ करना प्रसंगविरुद्ध है।

२. **अन्तर्विरोध**—८।१४० वें श्लोक में अधिक से अधिक सवा रुपया सैंकड़ा ब्याज की दर निश्चित की है। किन्तु इस श्लोक में पाञ्चरुपये सैंकड़ा तक की छूट दी है। यह विधान पहले से विरुद्ध है और प्रसंगविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

ये दस (८।१६८—१७७) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—पूर्वापर श्लोकों से स्पष्ट है कि यहां ऋण देने लेने का प्रसंग है। परन्तु १६९—१७५ तक श्लोकों में राजा के कर्त्तव्यों का उल्लेख है, जो यहाँ प्रसंग-विरुद्ध है। और ऋण लेने-देने का प्रसंग ८।१६७ तक पूर्ण हो गया है। इसके बाद १७६-१७७ श्लोकों में पुनः ऋण लेने देने का प्रसंग चलाना प्रसंगविरुद्ध है।

२. **अन्तर्विरोध**—१७७ वें श्लोक में महाजन द्वारा ऋण के बदले में काम कराने की व्यवस्था लिखी है। यह मनु की व्यवस्था से विरुद्ध है। क्योंकि यहाँ राजधर्मों के वर्णन में ऋण-सम्बन्धी विवादों में राजा कैसे निर्णय करे, यह प्रसंग है। उस प्रसंग में महाजन द्वारा स्वयं निर्णय लेने की बात का कथन उचित नहीं है। विवाद होने पर न्याय-सभा का निर्णय होना चाहिए न कि स्वेच्छा से। मनु ने (८।१६६ में) इस बात को स्पष्ट किया है।

३. **शैली-विरोध**–१६८ वें श्लोक में 'मनुरब्रवीत्' इस वाक्य से स्पष्ट है कि ये श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हैं, प्रत्युत मनु के नाम से किसी अन्य ने बनाकर मिलाये हैं। और यह आवश्यक नहीं है कि जो इस जन्म में राजा है, वह दूसरे जन्म में भी राजा ही बन सके। अतः १७१—१७२ श्लोकों में परजन्म में भी राजा के बढ़ने की बात युक्तियुक्त नहीं है। अतः ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

यह (८।१६० वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

अन्तर्विरोध— (१) इस श्लोक में कहा है कि धरोहर न देने आदि विवाद का निर्णय वैदिक शपथों से और सामादि उपायों से करे। किन्तु ८।५२, ५७, ८।४४, ४५ श्लोकों से स्पष्ट है कि इस प्रकार के विवादों का निर्णय लिखा-पढ़ी एवं साक्षियों से करना चाहिए। अतः इस श्लोक की बातों का उनसे विरोध है। (२) मनु ने शपथ को कहीं भी सत्य और न्याय का आधार नहीं माना है। क्योंकि अपने दुष्कर्म को छिपाने के लिये शपथ लेना अत्यन्त सरल उपाय है। और साक्षी लेना अथवा ८।२५, २६ के अनुसार आकृति आदि से आन्तरिक मन को जाननादि उपायों का कथन निरर्थक हो जाता है और सच्चे व झूठे साक्षियों की परीक्षा करना व्यर्थ है। और वैदिक शपथ कौन सी हैं ? यह भी मनु ने कहीं नहीं दिखाई। अतः मनु के समस्त विधान से विपरीत शपथों के कथन एवं परस्पर विरोध के कारण यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

यह (८।१६२ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. **पुनरुक्तिदोष**—१६१ वें श्लोक में धरोहर को न लौटाने वाले (निक्षेपहर्त्ता) को धरोहर के समान अर्थ-दण्ड अथवा चोर के समान दण्ड देने का विधान किया गया है। उपनिधि का विधान भी उसी के अन्तर्गत हो गया है। १६२ वें श्लोक में फिर उसी बात को कहना पुनरुक्ति मात्र ही है। और पुन-रुक्त बातें मनुप्रोक्त नहीं हो सकतीं अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

ये छः (८।२०४—२०६) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंगविरोध**—(क) १६७ वें श्लोक से 'दूसरे की वस्तु को बेचने' के

विवाद पर दण्ड का प्रसंग चला है इसी प्रसंग में २०४-२०५ श्लोकों में विवाह में कन्या को बदलने का कथन करना अप्रासंगिक है।

(ख) और यहाँ पूर्वापर श्लोकों में साझा व्यापार में उत्पन्न विवादों के निर्णय का प्रसंग चल रहा है। इस प्रसंग में यज्ञ के अवसर पर ऋत्विक् आदि की दक्षिणादि के विवाद का प्रसंग अथवा दक्षिणा का वितरण अथवा यज्ञ में कौन क्या वस्तु लेवे, इस प्रकार का वर्णन (२०६—२०९ में) प्रसंगविरुद्ध है।

२. **अन्तर्विरोध**—और २०४ श्लोक में 'एकशुल्केन' पद से यह ध्वनित हो रहा है कि इनमें कन्या को विक्रय की वस्तु माना गया है। किन्तु यह मनु की मान्यता से विरुद्ध है। मनु ने (३।५१-५४ में) बिना किसी शुल्क के विवादों का विधान किया है। इससे यह भी यह स्पष्ट है कि ये श्लोक बहुत ही परवर्ती हैं। जिस समय पैसे लेकर कन्या देने की प्रथा प्रचलित हुई उस समय इन श्लोकों का प्रक्षेप किया गया है।

३. **परस्पर-विरोध**—२०८ वें श्लोक में मुख्य व्यक्ति को समस्त दक्षिणा देने को कहा है और वह दूसरों को वितरण कर देवे। परन्तु २०९ वें में रथ, घोड़े आदि लेने की व्यवस्था पूर्वोक्त विधान के विरुद्ध है। और यह दक्षिणा का प्रकार भी अनुचित है। यज्ञ करने वाला ब्राह्मण घोड़े आदि का क्या करेगा ? उसे ऐसी दक्षिणा से क्या लाभ है ? इस प्रकार इन श्लोकों के प्रक्षेपक ने परस्परविरोधी एवं अयुक्तियुक्त बातें लिखी हैं, ये मनुप्रोक्त नहीं हो सकतीं।

४. **शैली-विरोध**—२०४ वें श्लोक में 'इत्यब्रवीत् मनुः' इस वाक्य से स्पष्ट है कि ये श्लोक किसी अन्य व्यक्ति ने मनु के नाम से बनाकर प्रक्षेप किये हैं। मनु अपना नाम लेकर कहीं कुछ नहीं कहते। अतः प्रसंगविरोध, अन्तर्विरोध, परस्पर-विरोध तथा शैली-विरोध के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

यह (८। २१७ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. **अन्तर्विरोध**—२१६वें श्लोक में कहा है कि जो कर्मचारी ठीक काम करता है, उसे रुग्ण-काल का वेतन देना चाहिये। किन्तु २१७ वें श्लोक में उससे विरुद्ध वात कही है कि यदि कर्मचारी रोगी होने पर अपना कार्य पूरा करता है, तब तो वेतन दिया जाये, अन्यथा नहीं। अतः पूर्वोक्त विधान से विरुद्ध कथन होने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

ये चार (८।२२४–२२७) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसङ्ग-विरोध**—२२२ वें श्लोक से वस्तुओं के क्रय-विक्रयसम्बन्धी

विवादों का प्रसंग प्रारम्भ हुआ है। इस प्रसंग में कन्या-दान का प्रसंग चलाना असंगत है। और पूर्वापर श्लोकों में (२२३ तथा २२८ में) वस्तुओं के क्रय-विक्रय से सम्बद्ध बातें होने से एक क्रमबद्ध वर्णन है। किन्तु ये श्लोक उस क्रम को भंग करने के कारण प्रक्षिप्त हैं।

२. **अन्तर्विरोध**—इन श्लोकों के रचयिता की मान्यता कन्या को भी विक्रय की वस्तु के समान मानने की है। किन्तु यह मनु से विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकती। क्योंकि मनु ने आठ प्रकार के विवाहों में प्रथम चार ही ठीक माने हैं। और उनमें शुल्क लेने देने का (३।२०, २९–३४, ३९–४१, ५१–५४ श्लोकों में) मनु ने स्पष्ट निषेध किया है। अतः ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध तथा अन्तर्विरोध के कारण प्रक्षिप्त हैं।

यह (८।२३० वां) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. **पुनरुक्त-दोष**—इस श्लोक में कहा है कि पशु की किसी प्रकार की हानि यदि दिन में होती है, तो उसकी जिम्मेदारी चरवाहे की होती है। किन्तु यह बात तो मनु ने २३२–२३३ श्लोकों में कही है। और २३१ वें श्लोक में चरवाहे की मजदूरी निश्चित की है। और रात में भी चरवाहे की जिम्मेदारी कहना निरर्थक ही है, क्योंकि चरवाहा तो दिन में ही पशु ले जाता है। अतः पुनरुक्त एवं निरर्थक बातों का कथन करने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

ये दो (८।२४२–२४३) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसङ्ग-विरोध**—यहां पशुस्वामी और चरवाहे के विवादों का प्रसंग चल रहा है। उस प्रसंग में (२४३ वें श्लोक में) कृषक व नौकर की असावधानी से होने वाली हानि पर दण्ड की व्यवस्था का प्रसंग असंगत है।

२. **शैली-विरोध**—और २४२ वें श्लोक में 'मनुरब्रवीत्' इस वाक्य से स्पष्ट है कि यह श्लोक मनु से भिन्न व्यक्ति ने मनु के नाम से बनाकर मिलाया है। मनु अपना नाम लेकर कहीं कुछ नहीं कहते। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

ये दो (८।२५६–२५७) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त हैं—

१. **अन्तर्विरोध**—साक्षी विवादों में कैसे हों, उनकी क्या-क्या विशेषतायें हैं, उनकी मिथ्या साक्षी पर क्या-क्या दण्ड होना चाहिये, यह सभी प्रसंग मनु ने ८।५७–१३० श्लोकों में कह दिया है। यहां फिर उस प्रसंग को प्रारम्भ करना असंगत है और इनमें उनसे भिन्न दण्ड का विधान करने अथवा शपथ लेने का कथन करने के कारण ये श्लोक मनु से विरुद्ध हैं। और शपथ लेने की बात भी मनु की मान्यता से विरुद्ध है। मनु ने विवाद में साक्षियों

को आवश्यक माना है और साक्षियों के अभाव में (८।१८२) गुप्तचरों से पता लगाने की व्यवस्था की है, शपथों से नहीं। यहां शपथों की व्यवस्था की है, उससे विरुद्ध तथा अवैदिक विधान होने से सत्य नहीं है।

ये तीन (८।२५९–२६१) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त हैं—

१. **अन्तर्विरोध**— (क) यहां सीमा-सम्बन्धी विवादों में मूलज्ञाता साक्षियों के अभाव में वन में घूमने वाले शिकारी, सपेरे, चरवाहे आदि से पूछ कर निर्णय करने की व्यवस्था लिखी है। परन्तु यह व्यवस्था मनु-सम्मत नहीं है। क्योंकि सीमासम्बन्धी विवादों में मूलज्ञाताओं का अभाव ही हो जाये, यह सम्भव नहीं है। चारों तरफ ग्रामों के होने से कुछ तो अवश्य मिल जायेंगे। और यदि मूलज्ञाता साक्षी नहीं मिलते, तो मनु के ८।१८२ श्लोक के अनुसार गुप्तचरों की सहायता से निर्णय लेना चाहिये। किन्तु यहां उस व्यवस्था से विरुद्ध अयोग्य साक्षियों की बात निरर्थक कही गई है।

(ख) मनु ने ८।६३–६४ में साक्षियों के गुणों तथा साक्षी के अयोग्यों का निषेध किया है। ८।६४ में 'न दूषिताः' कहकर दूषित आचरण वालों को साक्षी के अयोग्य माना है। किन्तु यहाँ दूषित आचरण वाले शिकारी आदि की साक्षी की व्यवस्था उससे विरुद्ध है। अतः ये श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हैं।

ये छः (८।२६७–२७२) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **अन्तर्विरोध**— (क) मनु ने इस धर्मशास्त्र में दण्ड की व्यवस्था कहीं भी भेदभावपूर्ण अथवा ईर्ष्या, द्वेष भावना से नहीं की है। मनु तो सर्वत्र निर्लिप्त एवं समभाव से सभी प्रजाजनों के लिये यथायोग्य, न्याययुक्त दण्ड का विधान करते हैं। एतदर्थ ६।३०७, ३११, ७।२, १६ श्लोक द्रष्टव्य हैं। और जो समाज में समझदार और जिम्मेदार व्यक्ति होते हैं, यदि वे स्वयं दोष करते हैं, तो उनके लिये अन्य मनुष्यों की अपेक्षा मनु ने अधिक दण्ड का विधान किया है। एतदर्थ ८।३३५–३३८ श्लोक द्रष्टव्य हैं। परन्तु इन (८।२६७–२६८) श्लोकों में वर्णानुक्रम से न्यूनाधिक दण्ड का विधान उक्त सभी व्यवस्थाओं से विरुद्ध है और इस प्रसंग में भी २७३–२७५ श्लोकों में सभी वर्णों के लिये समान दण्ड-व्यवस्था का विधान है। अतः इन व्यवस्थाओं से विरुद्ध होने के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

(ख) और २७० वें श्लोक में शूद्र को 'जघन्य-प्रभवः' कहने से स्पष्ट है कि इन श्लोकों के रचयिता जन्मना वर्णव्यवस्था को मानते हैं। एतदर्थ १।३२–१०१ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

२. **शैली-विरोध**—इन सभी श्लोकों में और विशेषरूप से २७०–२७२ श्लोकों में शूद्र के प्रति घृणात्मक भाव, क्रूरतापूर्ण दण्ड एवं आक्रोश, पक्षपात-पूर्ण दुराग्रह वश किया गया है। मनु की दृष्टि में शूद्र भी पवित्र है, उसके प्रति मनु ने ऐसी हीनभावना कहीं भी प्रकट नहीं की है। जिस समय जन्मना वर्णव्यवस्था प्रचलित हो गई, उस समय में किसी ने इन श्लोकों का प्रक्षेप किया है। अतः ये श्लोक परवर्ती होने से मनुप्रोक्त नहीं हैं।

ये दो (८। २७६–२७७) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **अन्तर्विरोध**—इन श्लोकों में विहित दण्डव्यवस्था मनु की मान्यता से विरुद्ध है। इस विषय में ८। २६७–२७२ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

२. **अवान्तरविरोध**—इन प्रक्षिप्त श्लोकों की दण्ड-व्यवस्था में परस्पर भी विरोध है। २७२ श्लोक में शूद्र की जीभ काटने का विधान किया है, २७७ में जीभ काटने का निषेध किया है। २६८ श्लोक में वैश्य पर पच्चीस पण और शूद्र पर बारह पण दण्ड लिखा है और यहाँ (२७७ में) वैश्य पर प्रथम साहस और शूद्र पर मध्यम साहस दण्ड का विधान है। इसी प्रकार ब्राह्मण व क्षत्रिय के दण्डों में भी अन्तर है। इस परस्पर विरोध से प्रतीत होता है कि इन श्लोकों के प्रक्षेपक भी भिन्न-भिन्न हैं।

ये सात (८। २७९–२८५) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—(क) मनु ने २८६–२८८ श्लोकों में सब वर्णों के लिये समभाव से दण्ड-पारुष्य की दण्डव्यवस्था कही है। परन्तु २७९–२८३ तक श्लोकों में शूद्र के लिये (ब्राह्मण का अपमान करने पर) पक्षपातपूर्ण दण्ड का विधान है। यदि इसे सत्य माना जाये, तो दूसरे वर्णों के लिये भी पृथक् विधान अवश्य करना चाहिये था। किन्तु वैसा न होने से स्पष्ट है कि ये श्लोक शूद्र के प्रति पक्षपातपूर्ण ढंग से लिखे गये हैं। (ख) और २८५ वें श्लोक में वृक्षादि के नष्ट करने पर दण्ड का विधान किया है, जो कि दण्डपारुष्य प्रकरण से भिन्न होने के कारण असंगत ही है।

२. **अन्तर्विरोध**—इन श्लोकों में वर्णित दण्ड-व्यवस्था मनु की मान्यता से विरुद्ध है। एतदर्थं ८। २६७–२७२ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

३. **शैली-विरोध**—२७९ वें श्लोक में 'मनोरनुशासनम्' पदों से स्पष्ट है कि ये श्लोक किसी दूसरे ने ही मनु के नाम से बनाये हैं। और इन श्लोकों की शैली मनु की भांति गम्भीर, न्याययुक्त न होकर पक्षपातपूर्ण, दुराग्रह एवं घृणा के भावों से पूर्ण है। अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये सभी (८ । २८९–३००) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—(क) यहाँ पर प्रसंग दण्डपारुष्य=प्राणियों पर जान-बूझकर शरीर पर आघात करने पर दण्ड देने का है। परन्तु २८९ में चमड़े के बर्तन, लकड़ी तथा मिट्टी के बर्तन और फल-फूलादि नष्ट करने पर दण्ड का विधान है, २९० वें श्लोक में रथादि वाहनों से होने वाले अपराधों का दण्ड-विधान है। २९१–२९२ श्लोकों में रथादि से अनजाने हानि होने पर दंड का निषेध है। २९३–२९४ श्लोकों में भी रथादि के योग्य अथवा अयोग्य चालक से दोष होने पर दंड लिखा है, इत्यादि विधान प्रस्तुत प्रसंग से विरुद्ध है। (ख) २२८ श्लोक में सभी वस्तुओं की हानि का दंड एकसाथ कहकर प्रसंग को पूर्ण कर दिया है। इसके पश्चात् २८९ वें श्लोक में कुछ वस्तुओं के नाम लेकर उनकी हानि पर दंड लिखा है। यहाँ जब सामान्य रूप से ही दंड-विधान करने से इन वस्तुओं पर भी दंड का विधान हो जाता है फिर इनका परिगणन करना अनावश्यक है। और यदि स्पष्ट ही करना था, तो और सभी वस्तुओं की गणना करानी चाहिये। ऐसा न होने से यह श्लोक अनावश्यक एवं अपूर्ण विधान किया है। (ग) और २९९–३०० श्लोकों में भी प्रसंग-विरुद्ध वर्णन किया है। क्योंकि इनमें ताडना की विधि कही है, दंड-विधान नहीं।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) २९९ श्लोक में 'दास' शब्द का प्रयोग इन श्लोकों को परवर्ती एवं मनु की मान्यता से विरुद्ध सिद्ध करता है। दास-प्रथा का मनु ने कहीं विधान नहीं किया है। शूद्र को मनु ने सेवक माना है और वह भी स्वेच्छा से किसी भी द्विज की सेवा कर सकता है। मनु दास शब्द से शूद्र का कहीं ग्रहण नहीं करने। एतदर्थ मनु के १ । ९१, ९ । ३३४–३३५ श्लोक द्रष्टव्य हैं। (ख) २९९ श्लोक में स्त्री, पुत्र, भृत्यादि की ताडना का विधान किया है। किन्तु यह मनु की मान्यता के विरुद्ध है। मनु ने ४ । १६४ में पुत्र व शिष्य को छोड़कर अन्यों की ताडना का निषेध किया है। और स्त्रियों को ताडना का विधान तो मनु के उन सभी (३ । ५५–६२, ९ । १०, १०१–१०२) श्लोकों से विरुद्ध है, जहाँ स्त्रियों के सम्मान और समानता देने का विधान किया है।

३. **शैली-विरोध**—२९२ वें श्लोक में 'मनुरब्रवीत्' पदों से स्पष्ट है कि यह श्लोक किसी दूसरे व्यक्ति ने मनु के नाम से बनाया है। क्योंकि मनु अपना नाम लेकर कहीं कुछ नहीं कहते। और दूसरे श्लोक इसी श्लोक से संबद्ध हैं। इस श्लोक के प्रक्षिप्त होने से अन्य श्लोक भी प्रक्षिप्त स्वयं ही हो जाते हैं। अतः प्रसंगविरुद्ध, अन्तर्विरोध तथा शैली-विरोध होने के कारण ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये दोनों (८ । ३०४–३०५) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—३०१ श्लोक में कहा है कि इससे आगे चोरों के दण्ड का विधान करेंगे। किन्तु इन श्लोकों में इस प्रसंग से भिन्न बात ही कही है। अर्थात् राजा प्रजा के धर्म-अधर्म के छठे भाग का हिस्सेदार होता है। और प्रजा के व्यक्ति जो भी पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना और उपासनादि शुभ-कर्म करते हैं, राजा को उसका छठा भाग मिलता है। प्रस्तुत प्रसंग से इसकी कोई संगति न होने से ये श्लोक असंगत ही हैं। और ३०३ श्लोक में जिस राष्ट्ररूपी यज्ञ की (चोरादि से) रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य माना है, उस से संबद्ध बात ही ३०६ श्लोक में कही है। इन दोनों श्लोकों ने उस क्रम को भंग किया है, अतः ये दोनों अप्रासंगिक हैं।

२. **अन्तर्विरोध**—मनु ने ४ । २४० में अपनी मान्यता स्पष्ट लिखी है कि कर्त्ता (जीवात्मा) शुभाशुभ कर्मों का फल स्वयं भोगता है। किन्तु यहाँ उससे विपरीत बात कही है कि प्रजा के शुभाशुभ कर्मों का जो फल होता है उसका छठा भाग राजा को मिलता है। यह मनुसम्मत मान्यता नहीं है। राजा जो रक्षादि अपने धर्म का पालन करता है, उसका फल राजा को मिलेगा, परन्तु यज्ञादि कोई दूसरा करे और उसमें फल का भागीदार राजा हो जाये, अथवा पढे कोई दूसरा, और उसकी विद्या का छठा भाग राजा को मिल जाये, यह एक मिथ्या मान्यता है। मनु ने एसा कहीं नहीं माना है।

३. **शैली-विरोध**—मनु के प्रवचन का आधार युक्तियुक्त होता है। मनु मिथ्या अथवा काल्पनिक बात नहीं कहते। परन्तु प्रजा के धर्माधर्म के छठे भाग का राजा हिस्सेदार होता है, यह कथन युक्तियुक्त न होने तथा निराधार होने से मनुप्रोक्त नहीं है।

ये दोनों (८ । ३१२–३१३) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—यहाँ प्रसंग पूर्वापर श्लोकों में चोरों अथवा अपराधियों को दण्ड देने का है। परन्तु इन दोनों श्लोकों में इस प्रसंग से भिन्न बातें कही हैं। इन श्लोकों में बाल, वृद्ध और रोगादि से पीडित जनों को क्षमा करने से स्वर्गप्राप्ति और क्षमा न करने से नरक की प्राप्ति लिखी है। और विवाद में वादी-प्रतिवादी के आक्षेपपूर्ण वचनों को क्षमा करनादि बातें प्रसंग के विरुद्ध हैं।

२. **अन्तर्विरोध**—मनु ने राजा को अग्नि, सूर्यादि भांति तेजस्वी कहा है। और राजा का कार्य दुष्टों व शत्रुओं को पराजित करना है। इसलिये क्षमा करना राजा का भूषण नहीं, दोष है। क्योंकि अपराधियों को क्षमा करने से

अपराधों की वृद्धि होती है। अतः क्षमा करना मनुसम्मत कदापि नहीं हो सकता। और स्वर्ग-नरक की एक पृथक् लोक-विशेष की कल्पना भी मनु से विरुद्ध है। इस विषय में ४। ८७-९१ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

३. शैलीविरोध—अतिशयोक्तिपूर्ण तथा मिथ्या कल्पित बातें मनु की शैली में नहीं हैं। परन्तु यहाँ क्षमाभाव के प्रोत्साहनार्थ स्वर्ग की प्राप्ति तथा क्षमाभाव न रहने पर नरक का भय दिखाना अतिशयोक्ति मात्र ही है। अतः ये श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हैं।

ये सात (८। ३२५-३३१) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसंग-विरोध—मनु ने ३२४ श्लोक में बड़े पशुओं, शस्त्रास्त्रों और औषधियों को चुराने पर राजा को अधिकार दिया है कि वह काल=समय और कार्य=चोरी के कार्य की गम्भीरता को देखकर दण्ड की व्यवस्था करे। इससे स्पष्ट है कि मनु सब वस्तुओं को न गिनाकर वस्तुचौर्य के प्रसंग को यहीं समाप्त कर रहे हैं। क्योंकि सब वस्तुओं का परिगणन कराना सम्भव भी नहीं है। वस्तु-चोरी के दण्डात्मक प्रसंग के समाप्त होने पर ३२५-३३१ श्लोकों में फिर से सामान्य वस्तुओं की चोरी के दण्ड का विधान करना अप्रासंगिक ही है। यदि मनु को प्रत्येक वस्तु का परिगणन अभीष्ट होता तो 'कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत्' (३२४) वे इस वाक्य को कदापि न लिखते। और इन श्लोकों में परिगणित वस्तुओं से भिन्न वस्तुओं की यदि चोरी हो जाये, तब क्या व्यवस्था होगी? तब यही कहना पड़ेगा कि ३२४ श्लोक के अनुसार राजा स्वयं विवेक से दंड देवे। अतः यह वस्तु-परिगणन असंगत और अपूर्ण विधान होने से मनुप्रोक्त नहीं हो सकता।

२. अन्तर्विरोध—और इन श्लोकों में सामान्य वस्तुओं के साथ-साथ मछली, मांस, शराबादि की चोरी का भी दंड विधान किया गया है। मनु की मान्यता में शराब व मांस राक्षसों के भोजन हैं, आर्यों के अथवा चारों वर्णों के नहीं। और जब चारों वर्णों में से कोई भी मांसादि का सेवन न करता हो, तब इन वस्तुओं की चोरी भी कैसे होगी और फिर दंड की व्यवस्था तो दूर की बात है। अतः किसी मांसाहारी या शराबी वाममार्गी व्यक्ति ने इन श्लोकों का मिश्रण किया है, ये मनुप्रोक्त नहीं हैं। इस विषय में मांस-मद्य-सम्बन्धी ३। १२०-२८४, ४। २६-२८ श्लोकों की समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

३. शैली-विरोध—मनु ने सामान्य रूप में सब वर्णों के लिये पशु, शस्त्र औषधियों की चोरी का दंड का विधान (३२४ में) कर दिया है। फिर ३२५ श्लोक में ब्राह्मण की गायें चुराने पर दंड का पृथक् विधान पक्षपातपूर्ण है।

यदि वर्णानुक्रम से दंड की व्यवस्था कहनी थी, तो क्षत्रिय वर्णों के पशु आदि के चुराने पर दंड का विधान क्यों नहीं किया। अतः स्पष्ट है कि ब्राह्मण-वाद के पक्षपाती ने इन श्लोकों का प्रक्षेप किया है। मनु ऐसी संकीर्ण व्यवस्था कदापि नहीं देते।

यह (८। ३३३ वां) श्लोक भी असंगत, अन्तर्विरोधादि के कारण प्रक्षिप्त है। इस विषय में ३२५—३३१ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

ये चार (८। ३३९–३४२) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंगविरोध**—यहाँ प्रसंग चोरों को दण्ड के विधान का है। ३४३ श्लोक में इस प्रसंग की समाप्ति का भी निर्देश किया गया है। और इस प्रसंग में मनु ने चोरी होने वाली वस्तुओं को न गिनाकर ३२४ श्लोक में सामान्यरूप से कह दिया है कि राजा समय और चोरी के कार्य को ध्यान में रखकर दण्ड देवे। इस प्रकार उसके बाद चोरी होने वाली वस्तुओं का परिगणन करना संगत नहीं है। इस विषय में ३२५–३३१ श्लोकों की समीक्षा भी द्रष्टव्य है। पुनः इन श्लोकों में चोरी की वस्तुओं का परिगणन करके दंड-विधान असंगत है।

२. **अन्तर्विरोध**—और ३३९ और ३४१ श्लोकों में कुछ ऐसे कार्य भी गिनाये हैं, जिनमें चोरी को भी नहीं माना है, यह मनुसम्मत नहीं है। दूसरे की वस्तु को बिना पूछे लेना चोरी ही है, चाहे वह यज्ञ के लिये हो अथवा गायादि के लिये हो। इस प्रकार चोरी के अपराध को क्षमा करना मनुसम्मत नहीं है।

३. **शैलीविरोध**—३३९ श्लोक में 'मनुरब्रवीत्' वाक्य से स्पष्ट है कि ये श्लोक मनुप्रणीत नहीं हैं। मनु के नाम से किसी दूसरे व्यक्ति ने बनाकर प्रक्षेप किये हैं। शेष श्लोक भी इसी से सम्बन्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

ये दोनों (८। ३४८–३४९) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंगविरोध**—३४७ श्लोक की ३५० वें श्लोक से पूर्णतः संगति है। क्योंकि इनमें राजा के धर्मों का कथन होने से परस्पर सम्बन्ध है। परन्तु उस सम्बन्ध को इन दोनों श्लोकों ने भंग कर दिया है। क्योंकि इनमें राजधर्म न होकर द्विजों को ही शस्त्रधारण करके दंड का अधिकार दिया है।

२. **अन्तर्विरोध**—मनु ने अराजकता के कारण होने वाले उपद्रवों को समाप्त करने के लिये राजा की आवश्यकता मानी है। यदि धर्मकार्य में अवरोध तथा अराजकता होने पर द्विज स्वयं शस्त्र उठाकर दंड देने के लिये परस्पर

लड़ने लगें, तो अराजकता तो दूर नहीं हो सकती। अतः इस प्रकार की व्यवस्था मनु-सम्मत कदापि नहीं हो सकती।

यह (८।३५३ वां) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. अन्तर्विरोध— (क) इस श्लोक में कही बात मनु-सम्मत नहीं है। क्योंकि पूर्व श्लोक में सामान्य रूप से (सभी वर्णों के लिये) व्यभिचार में प्रवृत्त अपराधियों के लिये दंड का विधान किया है। और इस श्लोक में व्यभिचार के कारण वर्णसंकर संतान का पैदा होना माना है। 'वर्णसंकर' का अभिप्राय है कि दो विभिन्न वर्णों के स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क से सन्तान का उत्पन्न होना। किन्तु यह अधूरा कथन ही है। क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि व्यभिचार भिन्न-भिन्न वर्णों के स्त्री-पुरुषों में ही हो। एक वर्ण के स्त्री-पुरुषों में भी सम्भव है। अतः सभी को 'वर्ण-संकर' नहीं कह सकते। क्या मनु भिन्न-भिन्न वर्णों के व्यभिचार को ही रोकना चाहते हैं, एक वर्ण वालों का नहीं? अतः इस श्लोक की वर्ण-संकर की बात अपूर्ण है और पूर्व श्लोक की सामान्य बात ही ठीक है।

(ख) और इस श्लोक में 'वर्ण-संकर' को धर्म को समूल नष्ट करने वाला माना है। जिससे यह ध्वनित होता है कि जो वर्णसंकर-सन्तान हैं, वह वर्ण-संकर ही रहता है और धर्माचरण करने पर भी वर्णों में दीक्षित नहीं हो सकता। यह व्यवस्था मनु-सम्मत नहीं है। मनु तो कर्मणा वर्ण-व्यवस्था मानते हैं, जन्म से नहीं। इस विषय में १।९२–१०१, ४।२४५, २।१६८, ६।२२–२४, १०।६५ श्लोकों की समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

यह (८।३५६ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. अन्तर्विरोध—३५४–३५५ श्लोकों में यह स्पष्ट कहा है कि स्त्रियों से एकान्त में बातचीत करने पर कौन दोषी होता है और कौन नहीं। किन्तु इस श्लोक में 'संग्रहण' दोष का दोषी कौन होता, कौन नहीं? यह कुछ भी स्पष्ट नहीं है। क्या पराई स्त्री से बोलना भी अपराध है? और जो बात पहले स्पष्टरूप से कह दी, फिर उसको अधूरे रूप में कहना उचित भी नहीं है। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि श्लोक में एकान्त स्थानों का परिगणन किया गया है। क्योंकि एकान्त-स्थान इनसे भिन्न भी हो सकते हैं। अतः यह श्लोक मनु-प्रोक्त नहीं है।

ये तेरह (८।३५८–३७०) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसंगविरोध—३५२ श्लोक में 'स्त्रीसंग्रहण' के दोषी को दण्ड की व्यवस्था करके ३५७ श्लोक में 'स्त्रीसंग्रहण-दोष' की परिभाषा दी है। इस प्रकार

परिभाषा का देना उस प्रसंग की समाप्ति का सूचक है। उसके बाद वैकल्पिक विशेष विधानों का कथन तो प्रासंगिक हो सकता है, परन्तु पुनः उसी प्रसंग का कथन करना संगत नहीं है।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) ये सभी श्लोक मनु-प्रोक्त विधानों के विरुद्ध हैं। मनु ने सभी वर्णों के लिये पक्षपातरहित एवं समभाव से दंड का विधान किया है। इस विषय में ७। २, १६; ८। ३४६, ९। ३०७, ३११ श्लोक द्रष्टव्य हैं। और मनु ने जो समझदार और जिम्मेदार व्यक्ति समाज में होते हैं, उनके लिये अपराधों का दंड दूसरों की अपेक्षा अधिक विधान किया है। एतदर्थ ८। ३३५ से ३३८ श्लोक द्रष्टव्य हैं। परन्तु इन श्लोकों में उच्च-वर्ण वालों की अपेक्षा निम्न-वर्ण वालों को अधिक दंड देने की व्यवस्था पक्षपातपूर्ण है। और ३५९ वें श्लोक में तो ब्राह्मण से भिन्न वर्ण वालों को व्यभिचार करने पर प्राणान्त दंड का विधान किया है, किन्तु ब्राह्मण के लिये नहीं। अतः यह दुराग्रहपूर्ण एवं पक्षपातपूर्ण दण्ड की व्यवस्था मनु-प्रोक्त नहीं है।

(ख) और ३५८ श्लोक में विहित बातें अनावश्यक हैं, क्योंकि ये सभी बात ३५७ श्लोक के अन्तर्गत ही आ जाती हैं।

(ग) और ३६२ श्लोक से ध्वनित हो रहा है कि पत्नी से जीविका के लिये वेश्यावृत्ति करने में कोई दंड नहीं दिया जाये। यह दासीप्रथा मनु की व्यवस्थाओं से विरुद्ध है। मनु परस्त्री-संभोग को (८। ३५२ में) दंडनीय मानते हैं।

(घ) और ३६४–३६५ श्लोकों में कही बातें ८। ३५२ से विरुद्ध हैं। कन्या सकामा या अकामा हो, मनु के मत में सभी व्यभिचारिणी हैं और वे दण्डनीय हैं।

(ङ) और ३६६ वें श्लोक में कही बातें ३। ५१–५४ श्लोकों से विरुद्ध हैं। क्योंकि इसमें कन्या को धन देकर देने का विधान लिखा है। और शूद्र को 'जघन्य' लिखा है। जबकि मनु की मान्यता में कहीं भी ऐसा घृणाभाव नहीं है। और यदि व्यभिचार दोष के कारण शूद्र को वध का दंड है तो ब्राह्मणादि के लिये क्यों नहीं ? इस प्रकार पक्षपातपूर्ण तथा विरुद्ध बातें मनु-प्रोक्त नहीं हो सकतीं।

ये तेरह (८। ३७३–३८५) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंगविरोध**—एक प्रसंग की समाप्ति के पश्चात् पुनः उसी प्रसंग को प्रारम्भ करना प्रसंगविरुद्ध है। ३५२ श्लोक से 'स्त्रीसंग्रहण' विवाद का सार्वजनिक दण्ड-व्यवस्था देकर ३५७ में 'स्त्रीसंग्रहण' की परिभाषा मनु ने कही है।

और यह परिभाषा उस प्रसंग की समाप्ति की द्योतिका है। पुनः उस प्रसंग को प्रारम्भ करना असंगत है। और इस विषय में ३५८-३७० श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) इन श्लोकों की दण्ड-व्यवस्था पक्षपातपूर्ण जन्मगत जाति के आधार पर बहुत विषमतापूर्ण कही है। यह व्यवस्था मनु की मान्यता के अनुरूप नहीं है। क्योंकि मनु की मान्यता में ८।३३५-३३८ श्लोकों के अनुसार उच्चवर्ण को हीनवर्ण की अपेक्षा अधिक दण्ड का विधान किया गया है। किन्तु यहां ३७९-३८१ श्लोकों में सर्वोच्चवर्ण ब्राह्मण की अपेक्षा दूसरे वर्णों के व्यक्तियों को अधिक दण्ड का विधान किया गया है। और ३७४ श्लोक में भी ऐसी ही पक्षपातपूर्ण व्यवस्था कही है। ऐसा पक्षपातपूर्ण विधान मनु-प्रोक्त (मौलिक) न होने से प्रक्षिप्त है। इस विषय में भी ८।३५८-३७० श्लोकों की समीक्षा (अन्तर्विरोध) द्रष्टव्य है।

(ख) और इन श्लोकों में रक्षिता-अरक्षिता का भेद दिखाकर प्रक्षेपक ने बहु-विवाह का विधान किया है। किन्तु यह मनुसम्मत नहीं है। मनु ने एकपत्नी-व्रत की व्यवस्था दिखाते हुए स्पष्ट किया है कि पत्नी एक ही होनी चाहिये। इस विषय में ३।४-५, ५।१६७-१६८ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

ये आठ (८।३९०-३९७) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **विषयविरुद्ध**—मनु ने आठवें अध्याय के प्रारम्भ में (८।४-७ में) अष्टम-नवम अध्यायों के १८ मुख्यविषयों का निर्देश किया है। उसके अनुसार अष्टमाध्याय में १५ वें 'स्त्रीसंग्रहण' विषय तक का वर्णन किया गया है। और यह विषय ३८७ श्लोक में समाप्त हो जाता है। उसके बाद सोलहवां विषय (स्त्री-पुरुषधर्म-विषय) का वर्णन होना चाहिये। और यह १६ वां विषय नवमाध्याय के प्रथम श्लोक से प्रारम्भ किया गया है। अतः इन दोनों विषयों के मध्य में जो श्लोक हैं, वे विषयविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

२. **अन्तर्विरोध**—इन सभी श्लोकों की बातें मनु की मान्यता से विरुद्ध हैं।

(क) ३९०-३९१ श्लोकों में कहा है कि राजा आश्रमों में द्विजों के धर्म-विषयक विवाद में निर्णय न देवे। किन्तु (१२।११०) श्लोक में कहा है कि राजा दश या तीन श्रेष्ठ पुरुषों की परिषद् द्वारा निर्धारित धर्म को चलावे। अतः धर्म-निर्णय भी राजा की परिषद् करेगी।

(ख) ३९२-३९३ श्लोकों में ब्राह्मणों को भोजन कराने की बात किसी

उदरम्भरी जन्मजात ब्राह्मण ने मिलाई है। मनु ने इस प्रकार ब्राह्मणों को भोजन कराने की बात कहीं नहीं लिखी है। ब्राह्मण के कर्मों में अध्यापन, याजनादि कर्म मनु ने आजीविका के बताये हैं। इनसे ही ब्राह्मण को आजीविका करनी चाहिए। दूसरों के घरों में बिना किसी कारण के भोजन करना निन्दनीय है। इस विषय में ३। १०४, ४। ३, १०। ७५—७६ श्लोक मनु की मान्यता के प्रतिपादन करने वाले हैं।

(ग) ३९४—३९५ श्लोकों में अन्धे, पंगु आदि से कर लेने का निषेध किया है। यह विधान भी अनावश्यक ही है। क्योंकि मनु ने आय पर करनिर्धारण किया है और वह भी कृषि, व्यापारादि करने वाले वैश्य पर कर लगाया है। इस विषय में ७। १२७, १३०–१३१ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

(घ) ३९५ श्लोक में महाकुलीन=उत्तम कुल में जन्म लेने वाले व्यक्ति के सत्कार की बात भी मनुसम्मत नहीं है। क्योंकि मनु ने सत्कार का आधार गुणों को माना है, कुल को नहीं। इस विषय में २।१३६-१३७, १५४ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

(ङ) और ३९६–३९७ श्लोकों में धोबी व जुलाहे के विषय में कहा है कि धोबी कपड़ों को धीरे-धीरे धोये, किसी के कपड़ों को दूसरे के कपड़ों में न तो मिलाये और न पहनें। और जुलाहे से कितना कर लेवे? यह कथन विषयविरुद्ध होने से असंगत तो है ही, साथ ही इन उपजातियों को मनु ने कहीं नहीं माना है। मनु के अनुसार चार ही वर्ण हैं और उनके कर्म निश्चित किये हैं। कपड़ा बुननादि शिल्पकर्म होने से वैश्य के कर्मों में आता है। अतः ये श्लोक परवर्त्तीकाल के द्योतक हैं जब जीविका के आधार ये उपजातियां प्रचलित हो गयीं, उस समय इन श्लोकों का किसी ने प्रक्षेप किया है। और विवादों के प्रकरण में कर-निर्धारण अथवा धोबी के विषय में नियम बनाने की बात सर्वथा असंगत है। अतः ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

यह (८। ४०७ वां) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. **प्रसंग-विरोध**—यहाँ पूर्वापर के ४०६ और ४०८ श्लोकों में नाविकों के विवादों का प्रसंग है। परन्तु यह श्लोक उस क्रम को भंग कर रहा है। क्योंकि इसमें विवाद की बात न होकर ब्राह्मणादि से किराया न देने की बात कही है। अतः यह श्लोक अप्रासंगिक है।

ये ग्यारह (८। ४१०–४२०) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—मनु ने ८। ४–८ श्लोकों में अष्टम-नवम अध्यायों के

विषयों का निर्देश किया है। तदनुसार १८ विवादों का निर्णय ही प्रसंगानुकूल है। और इन विवादों की समाप्ति ९।२५० में होती है। किन्तु इन विवादों के निर्णय से पूर्व ही ८।४२० में व्यवहारों को समाप्ति तथा उनके फल का कथन करना असंगत है।

२. **विषय-विरोध**—मनु द्वारा निर्धारित (८।४–८ में) विषयों से बाह्य होने के कारण ये श्लोक विषयविरुद्ध हैं। क्योंकि विषयनिर्देश के अनुसार १८ व्यवहारों का ही वर्णन होना चाहिए। किन्तु इनमें चारों वर्णों के अपूर्ण कर्मों का (४१० में) क्षत्रिय और वैश्य की आजीविका स्वकर्मों से न हो रही हो तो ब्राह्मण उनका पोषण करे (४११ में) शूद्र को दास्यवृत्ति के लिए बनाना (४१३-४१४) में दासयोनियों का वर्णन (४१५ में) स्त्री, पुत्र तथा दास को धन के अयोग्य कहना (४१६ में) शूद्र के धन को ब्राह्मण द्वारा लेना (४१७ में) वैश्य शूद्र के स्वकर्म न करने पर जगत् की स्थिति का वर्णन (४१८ में) और (४१९-४२० में) राजा के कर्त्तव्य का वर्णन करना विषविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

३. **अन्तर्विरोध**—(क) ४१२–४१६ श्लोकों में दासप्रथा का उल्लेख और उनसे बलात् काम कराने का विधान मनु-सम्मत नहीं है। मनु की वर्णव्यवस्था में दास का कोई अस्तित्व ही नहीं है। मनु ने शूद्र को भी स्वेच्छा से द्विजों की सेवा कार्य का अधिकार दिया है। इस विषय में १।९१, ९।३३४-३३५, १०।९९ ये श्लोक द्रष्टव्य हैं।

(ख) और ४१३ श्लोक में क्रीत-दास को भी शूद्र लिखा है। क्रीत-दास की प्रथा बहुत ही परवर्त्ती समय की है। मनु के विधान में ऐसी कहीं व्यवस्था नहीं है। जन्मना वर्णव्यवस्था के प्रचलित होने पर किसी ने शूद्रों की हीन भावना के कारण इन श्लोकों का मिश्रण किया है। ४१४ श्लोक में शूद्र का दासत्व निसर्गज=स्वाभाविक कहकर जन्मना वर्णव्यवस्था की ही पुष्टि की है। किन्तु यह मनु-सम्मत विधान नहीं है।

(ग) ४१५ श्लोक में सात प्रकार के दासों का परिगणन किया है। जिनमें पैतृकदास=पिता की परम्परा से बना हुआ। दण्डजदास=ऋणादि न चुकाने के कारण दास बना हुआ, गृहजः=दासी से उत्पन्न दास इत्यादि बातें मुस्लिम-कालीन युग के प्रभाव के कारण प्रक्षेप हुई हैं।

(घ) और ४१६ में स्त्रियों को धन का अधिकार ही नहीं दिया है। यह भी शूद्र की भाँति स्त्री-जाति के प्रति हीनभावना ही प्रकट की है। मनु ने भार्या को गृहस्वामिनी, सम्राज्ञी आदि शब्दों से सम्मानित किया है जिसे धन

आदि का अधिकार ही नहीं हो, क्या वह गृहस्वामिनी या सम्राज्ञी कहला सकती है? इत्यादि अन्तर्विरोधों के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

४. **शैली-विरोध**—इन श्लोकों की शैली पक्षपात, दुराग्रह एवं घृणायुक्त है। मनु की शैली समभाव एवं न्याययुक्त होती है। ४१७ में शूद्र के धन पर ब्राह्मण का बिना किसी कारण के अधिकार बताना और ४१२ श्लोक में द्विजों से भी ब्राह्मण की दासता कराना पक्षपातपूर्ण ही है। और (४१३ श्लोक में) 'ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा' इस वाक्य से स्पष्ट है कि प्रक्षेप करने वाले ने अपने श्लोकों को ब्रह्मा के नाम से प्रामाणिक कराने की चेष्टा की है। और इस शास्त्र को ब्रह्मा से प्रोक्त माना है। यह वस्तुतः असत्य कल्पना मात्र है। अतः मनु के शैली के न होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां प्राकृतभाषा-भाष्यसमन्वितायाम्
प्रक्षेपश्लोकसमीक्षाविभूषितायाञ्च मनुस्मृतौ
राजधर्मात्मकोऽष्टमोऽध्यायः॥

नवमोऽध्यायः

(प्राकृतभाषाभाष्य-प्रक्षेपश्लोकसमीक्षाभ्यां सहितः)

[राजधर्मः]

(१६) स्त्री-पुरुष-धर्मसम्बन्धी विवाद (९। १ से १०२ तक)—

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः।
संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान्॥ १॥ (१)

[अब मैं] (धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः) धर्ममार्ग पर चलने वाले (स्त्रियाः च पुरुषस्य एव) स्त्री-पुरुष के (संयोगे च विप्रयोगे) संयोगकालीन=साथ रहने तथा वियोगकालीन=अलग रहने के (शाश्वतान् धर्मान् वक्ष्यामि) सदैव पालन करने योग्य धर्मों=कर्त्तव्यों को कहूंगा—॥ १॥

स्त्री-पुरुष के दैनिक व्यवहार—

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता॥ ४॥ (२)

(काले) विवाह की अवस्था में (अदाता) कन्या को न देने वाला अर्थात् विवाह न करने वाला (पिता वाच्यः) पिता निन्दनीय होता है (च) और (अनुपयन् पतिः) [विवाह-पश्चात् ऋतुकाल के अनन्तर] संगम न करने वाला पति निन्दनीय होता है (भर्तरि मृते) पति की मृत्यु होने के बाद (मातुः+ अरक्षिता पुत्रः वाच्यः) माता की [भरण-पोषण आदि से] रक्षा न करने वाला पुत्र निन्दनीय होता है ॥ ४ ॥

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥ (३)

(सूक्ष्मेभ्यः प्रसङ्गेभ्यः अपि) थोड़े कुसंग के अवसरों से भी (स्त्रियः विशेषतः रक्ष्याः) स्त्रियों की विशेषरूप से रक्षा करनी चाहिए (हि) क्योंकि (अरक्षिताः) अरक्षित स्त्रियां (द्वयोः कुलयोः शोकम्+आवहेयुः) दोनों कुलों=पति तथा पिता के कुलों को शोकसंतप्त कर देती हैं ॥ ५ ॥

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥ (४)

(सर्ववर्णानाम् इमम् उत्तमं धर्मं पश्यन्तः) सब वर्णों के इस श्रेष्ठ धर्म को देखते हुए (दुर्बलाः भर्तारः अपि) दुर्बल पति भी (भार्यां रक्षितुं यतन्ते) अपनी स्त्री की रक्षा करने के लिए यत्न करते हैं ॥ ६ ॥

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन्हि रक्षति ॥ ७ ॥ (५)

(प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि) प्रयत्नपूर्वक अपनी स्त्री की रक्षा करता हुआ व्यक्ति ही (स्वां प्रसूतिम्) अपनी सन्तान (चरित्रम्) आचरण (कुलं च आत्मानम् एव) कुल और आत्मा (च) तथा (स्वं धर्मम्) अपना धर्म, इनकी (रक्षति) रक्षा करता है ॥ ७ ॥

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ८ ॥ (६)

(पतिः भार्यां संप्रविश्य) पति वीर्यरूप में स्त्री में प्रवेश करके (गर्भः भूत्वा इह जायते) गर्भ बनकर सन्तानरूप से संसार में उत्पन्न होता है (जायायाः तत्+हि जायात्वम्) स्त्री का यही जायापन=स्त्रीपन है (यत्) जो (अस्यां पुनः जायते) इस स्त्री में सन्तानरूप से पति पुनः उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ९ ॥ (७)

(स्त्री यादृशं हि भजते) स्त्री जैसे पति का सेवन करती है (तथाविधं सुतं सूते) उसी प्रकार को सन्तान को उत्पन्न करती है (तस्मात्) इसलिए (प्रजा-विशुद्धयर्थम्) सन्तान की शुद्धि के लिए (प्रयत्नतः स्त्रियं रक्षेत्) प्रयत्नपूर्वक स्त्री की रक्षा करे ॥ ९ ॥

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥ (८)

(कश्चित्) कोई भी व्यक्ति (प्रसह्य) जबरदस्ती या दबाव के साथ (योषितः परिरक्षितुं न शक्तः) स्त्रियों को [कुसंगों] से रक्षा नहीं कर सकता (तु) किन्तु (एतैः+उपाययोगैः) इन आगे कहे उपायों में लगाने से (ताः परि-रक्षितुं शक्याः) उनकी रक्षा की जा सकती है— ॥ १० ॥

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैवं नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च परिणाह्यस्य वेक्षणे ॥ ११ ॥ (९)

(एनाम्) अपनी स्त्री को (अर्थस्य संग्रहे च व्यये) धन की संभाल और उसके व्यय की जिम्मेदारी में, (शौचे) घर एवं घर के पदार्थों की शुद्धि में, (धर्मे) धर्मसम्बन्धी अनुष्ठान—अग्निहोत्र आदि में, (अन्नपक्त्याम्) भोजन पकाने में, (च) और (परिणाह्यस्य वेक्षणे) घर की सभी वस्तुओं की देखभाल में (नियोजयेत्) लगायें ॥ ११ ॥

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ १२ ॥ (१०)

क्योंकि (आप्तकारिभिः पुरुषैः) प्राप्तकर्त्ता पति आदि पुरुषों द्वारा (गृहे रुद्धाः) घर में रोककर रखी हुई स्त्रियां भी (असुरक्षिताः) असुरक्षित हैं=बुराइयों से बच नहीं पातीं (याः तु) जो (आत्मानम् आत्मना रक्षेयुः) अपनी रक्षा स्वयं करती हैं (ताः सुरक्षिताः) वस्तुतः वही [बुराई से] सुरक्षित रहती हैं ॥ १२ ॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ १३ ॥ (११)

(पानम्) मद्य, भांग आदि मादक द्रव्यों का पीना, (दुर्जनसंसर्गः) दुष्टपुरुषों का संग, (पत्या च विरहः) पतिवियोग, (अटनम्) अकेली जहां-तहां व्यर्थ पाखंडी आदि के दर्शन-मिस से फिरती रहना, (च) और (स्वप्नः+अन्यगेहवासः) पराये घर में जाके शयन करना वा वास (षट् नारीसन्दूषणानि) ये छः स्त्री को दूषित करनेवाले दुर्गुण हैं ॥ १३ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

सन्तानोत्पत्ति-सम्बन्धी धर्म—

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा ।
प्रेत्येह च सुखोदर्कान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥ (१२)

(एषा) यह [९।१-२४] (स्त्रीपुंसयोः नित्यं शुभा) स्त्री-पुरुषों के लिये सदा शुभ (लोकयात्रा उदिता) लोकव्यवहार कहा, अब (प्रेत्य च इस सुखोदर्कान्) परजन्म और इस जन्म में सुखदायक (प्रजाधर्मान् निबोधत) सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी धर्मों को सुनो—॥ २५ ॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥(१३)

हे पुरुषो ! (प्रजनार्थं महाभागाः) सन्तानोत्पत्ति के लिए महाभाग्योदय करने हारी (पूजार्हाः) पूजा के योग्य (गृहदीप्तयः) गृहाश्रम को प्रकाशित करती, सन्तानोत्पत्ति करने-कराने हारी (गेहेषु स्त्रियः) घरों में स्त्रियाँ हैं वे (श्रियः) श्री अर्थात् लक्ष्मीस्वरूप होती हैं (विशेषः कश्चन न अस्ति) क्योंकि लक्ष्मी, शोभा, धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है ॥ २६ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्रकरण)

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७ ॥ (१४)

हे पुरुषो ! (अपत्यस्य उत्पादनम्) अपत्यों की उत्पत्ति (जातस्य परिपालनम्) उत्पन्न का पालन करने आदि (लोकयात्रायाः प्रत्यहम्) लोकव्यवहार को नित्यप्रति जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है (निबन्धनं प्रत्यक्षं स्त्री) उसका निबन्ध करने वाली प्रत्यक्ष स्त्री है ॥ २७ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्रकरण)

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥ (१५)

(अपत्यम्) सन्तानोत्पत्ति (धर्मकार्याणि) धर्म-कार्य (उत्तमा शुश्रूषा रतिः) उत्तम सेवा और रति (तथा आत्मनः च पितॄणां ह स्वर्गः) तथा अपना और पितरों का जितना सुख है वह सब (दाराधीनः) स्त्री ही के आधीन होता है ॥ २८ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्रकरण)

पुत्र के सम्बन्ध में क्षेत्र और बीज का उदाहरण—

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः ।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥ (१६)

(सद्भिः च पूर्वजैः महर्षिभिः) श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा प्राचीन महर्षियों ने

(पुत्रं प्रति) पुत्र के विषय में जो (विश्वजन्यं पुण्यम् उदितम्) सर्वजनहितकारी और पुण्यदायक विचार कहा है (इमम् उपन्यासं निबोधत) इस 'शिक्षाप्रद विचार' को सुनो—॥ ३१ ॥

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि ।
आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥ (१७)

(भर्तुः पुत्रम्' विजानन्ति) 'स्त्री के पति का ही पुत्र होता है' ऐसा माना जाता है (भर्तरि तु श्रुतिद्वैधम्) किन्तु पति के विषय में दो विचार हैं—(केचित् उत्पादकम् आहुः) कुछ लोग पुत्र उत्पन्न करने वाले को ही पुत्र का हकदार कहते हैं (अपरे क्षेत्रिणं विदुः) दूसरे कुछ लोग क्षेत्र अर्थात् स्त्री के स्वामी को पुत्र का हकदार मानते हैं [चाहे उत्पादक कोई भी हो] ॥ ३२ ॥

क्षेत्रभूतास्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥ (१८)

(नारी क्षेत्रभूता स्मृता) स्त्री को खेत के तुल्य माना है और (पुमान् बीजभूतः स्मृतः) पुरुष को बीज के तुल्य माना है (क्षेत्र-बीज-समायोगात्) खेत और बीज अर्थात् स्त्री और पुरुष के मिलने से (सर्वदेहिनां सम्भवः) सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥ ३३ ॥

विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् ।
उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥ (१९)

[प्राणियों की उत्पत्ति में] (कुत्रचित् बीजं विशिष्टम्) कहीं बीज की प्रधानता होती है (कुत्रचित् स्त्रीयोनिः तु+एव) कहीं स्त्रीयोनि की प्रधानता होती है (उभयं तु यत्र समम्) किन्तु जहां दोनों की प्रधानता होती है (सा प्रसूतिः प्रशस्यते) वह सन्तान प्रशंसनीय होती है ॥ ३४ ॥

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥ (२०)

(तत्) वह बीज (प्राज्ञेन) बुद्धिमान् (विनीतेन) विनम्र (ज्ञानविज्ञान-वेदिना) ज्ञान-विज्ञान के दाता (आयुष्कामेन) दीर्घायु चाहने वाले व्यक्ति को (जातु) कभी भी (परयोषिति न वप्तव्यम्) परस्त्री में नहीं बोना चाहिए अर्थात् परस्त्री से सम्पर्क कर व्यभिचार आदि द्वारा अपने वीर्यरूपी बीज को व्यर्थ में नष्ट नहीं करना चाहिए ॥ ४१ ॥

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः ।
ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥ ४९ ॥ (२१)

क्योंकि (ये+अक्षेत्रिणः बीजवन्तः) जो क्षेत्ररहित हैं और बीज वाले हैं (परक्षेत्रप्रवापिणः) तथा दूसरे के क्षेत्र में उस बीज को बोते हैं (ते वै) निश्चय से (क्वचित्) कहीं भी (जातस्य सस्यस्य फलं न लभन्ते) उत्पन्न हुये अन्न के फल को नहीं प्राप्त करते ॥ ४६ ॥

फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ।
प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥ (२२)

(क्षेत्रिणां तथा बीजिनाम्) खेतवालों और बीजवालों में (फलं तु अनभिसंधाय) फल के लेने के विषय में बिना निश्चय हुए 'कि इस क्षेत्र में उत्पन होने वाला अन्न, सन्तान आदि फल किसका होगा' बीज-वपन करने पर (प्रत्यक्षं क्षेत्रिणाम्+अर्थः) वह स्पष्टरूप से क्षेत्रस्वामी का फल या उपलब्धि होती है, क्योंकि (बीजात् योनिः गरीयसी) ऐसी स्थिति में बीज से योनि बलवती होती है ॥ ५२ ॥

क्रियाऽभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते ।
तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ५३ ॥ (२३)

(यत्) परन्तु यदि (क्रिया+अभ्युपगमात्) परस्पर मिलकर यह निश्चय करके कि इससे प्राप्त फल 'अमुक का' या दोनों का होगा इस समझौते के साथ (एतत् बीजार्थं प्रदीयते) जो खेत बीज बोने के लिये दिया जाता है (इह तस्य) इस लोक में उसके (बीजी च क्षेत्रिक एव भागिनौ दृष्टौ) बीजवाला और खेतवाला दोनों ही फल के अधिकारी देखे गये हैं ॥ ५३ ॥

आपत्काल में सन्तान का विधान—

एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥ (२४)

(एतत्) यह [९।३१-५५] (बीजयोन्योः सारफल्गुत्वम्) बीज और योनि की प्रधानता और अप्रधानता (वः प्रकीर्तितम्) तुमसे मैंने कही ।

(अतः परम्) इसके बाद अब मैं (आपदि योषितां धर्मम्) आपत्काल में [सन्तानाभाव में] स्त्रियों के धर्म को प्रवक्ष्यामि कहूँगा—॥ ५६ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥ ५७ ॥ (२५)

(ज्येष्ठस्य भ्रातुः या भार्या) बड़े भाई की जो पत्नी होती है (सा अनुजस्य गुरुपत्नी) वह छोटे भाई के लिए गुरुपत्नी के समान होती है (तु

या यवीयसः भार्या) और जो छोटे भाई की पत्नी है (सा ज्येष्ठस्य स्नुषा) वह बड़े भाई के लिए पुत्रवधू के समान (स्मृता) कही गयी है ॥ ५७ ॥

ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ ५८ ॥ (२६)

(ज्येष्ठः यवीयसः भार्याम्) बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री के साथ और (यवीयान्+अग्रज-स्त्रियम्) छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री के साथ (अनापदि) आपत्तिकाल [=सन्तानाभाव] के बिना (नियुक्तौ+अपि गत्वा) नियोग-विधिपूर्वक भी यदि संभोग करें तो वे (पतितौ भवतः) पतित माने जाते हैं ॥ ५८ ॥

"मनुजी ने लिखा है कि (सपिण्ड) अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई अथवा स्वजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए। परन्तु जो वह मृतस्त्री पुरुष और विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो तो नियोग होना उचित है। और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो तब नियोग होवे। जो आपत्काल अर्थात् सन्तानों के होने की इच्छा न होने में बड़े भाई की स्त्री से छोटे का और छोटे की स्त्री से बड़े भाई का नियोग होकर सन्तानोत्पत्ति हो जाने पर भी पुनः वे नियुक्त आपस में समागम करें तो पतित हो जायें। अर्थात् एक नियोग में दूसरे पुत्र के गर्भ रहने तक नियोग की अवधि है, इसके पश्चात् समागम न करें।" (स० प्र० चतुर्थसमु०)

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ ५९ ॥ (२७)

"सपिंड अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई, अथवा स्वजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए। परन्तु जो वह मृतस्त्री पुरुष और विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो तो नियोग होना उचित है और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो तब नियोग होवे।" (स० प्र० चतुर्थसमु०)

(सन्तानस्य परिक्षये) पति से सन्तान न होने पर अथवा किसी भी प्रकार से सन्तान का अभाव होने पर (सम्यक् नियुक्तया स्त्रिया) ठीक-ढंग से [परिवार और समाज में विवाहवत् प्रसिद्धिपूर्वक] नियोग के लिये नियुक्त स्त्री को (देवरात् वा सपिडात् वा) देवर—स्वजातीय या अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष से अथवा पति की छः पीढ़ियों में पति के छोटे या बड़े भाई से (ईप्सिता प्रजा

अधिगन्तव्या) इच्छित सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिए अर्थात् जितनी सन्तान अभीष्ट हो उतनी प्राप्त कर ले ॥ ५९ ॥

अनुशीलन—नियोग के लिए 'नियुक्त करना' या 'नियोग की विधि' से अभिप्राय यह है कि जैसे समाज और परिवार में प्रसिद्धि पूर्वक विवाह होता है, उसी प्रकार नियोग भी होता है। इन्हीं के समक्ष पुत्र आदि प्राप्त करने के सम्बन्ध में निश्चय होते हैं। उस निश्चय के अनुसार चलना 'विधि' है, और अन्यथा चलना 'विधि का त्याग' है। ऋषि दयानन्द ने इसी बात को प्रश्नोत्तररूप में स्पष्ट किया है—

"(प्रश्न) नियोग में क्या-क्या बात होनी चाहिए ?

(उत्तर) जैसे प्रसिद्धि से विवाह, वैसे ही प्रसिद्ध से नियोग। जिस प्रकार विवाह में भद्रपुरुषों को अनुमति और कन्या-वर की प्रसन्नता होती है वैसे नियोग में भी। अर्थात् जब स्त्री-पुरुष का नियोग होना हो तब अपने कुटुम्ब में पुरुष-स्त्रियों के सामने 'हम दोनों नियोग सन्तानोत्पत्ति के लिये करते हैं। जब नियोग का नियम पूरा होगा तब हम संयोग न करेंगे। जो अन्यथा करें तो पापी और जाति वा राज्य के दंडनीय हों। महीने में एकवार गर्भाधान का काम करेंगे, गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्य्यन्त पृथक् रहेंगे।"

(स० प्र० चतुर्थसमु०)

अनुशीलन—इस श्लोक में देवर शब्द के प्रचलित—'पति का छोटा भाई' अर्थ के साथ विस्तृत अर्थ भी है। निरुक्त में 'देवर' शब्द की निरुक्ति निम्न दी है—

देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते ॥" (३।१५)

अर्थात्—"देवर उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है, चाहे छोटा भाई वा बड़ा भाई अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो। जिससे नियोग करे उसी का नाम देवर है।" (म० दयानन्द, स० प्र० चतुर्थ समु०)

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥(२८)

(यथाविधि) विधि अनुसार (विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु) विधवा में नियोग के उद्देश्यपूर्ण हो जाने पर फिर (गुरुवत् च स्नुषावत् च परस्परं वर्तेयाताम्) वड़े भाई तथा छोटे भाई की स्त्री से क्रमशः गुरुपत्नी तथा पुत्रवधू के समान परस्पर वर्ताव करें ॥ ६२ ॥

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥ ६३ ॥(२९)

(नियुक्तौ यौ) नियोग के लिए नियुक्त बड़ा या छोटा भाई यदि (विधिं-

हित्वा) नियोग की विधि=व्यवस्था [समाज या परिवार में किये गये पूर्व निश्चयों] को छोड़कर (कामतः वर्तेयाताम्) काम के वशीभूत होकर संभोगादि करें (तु) तो (तौ+उभौ) वे दोनों (स्नुषाग-गुरुतल्पगौ पतितौ स्याताम्) पुत्रवधूगमन और गुरुपत्नीगमन के अपराधी माने जायेंगे ॥ ६३ ॥

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥ (३०)

(वाचा सत्ये कृते) वाग्दान=सगाई करने के बाद [और विवाह से पूर्व] यस्याः कन्यायाः पतिः म्रियेत) जिस कन्या का पति मर जाये (ताम्) उस कन्या (को (निजः देवरः) पति का छोटा भाई (अनेन विधानेन विन्देत) इस विधान से प्राप्त कर ले ॥ ६९ ॥

"जो अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जाये तो पति का निज छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है ।" (श्लोक की दूसरी पंक्ति उद्धृत करके यह उल्लेख है (स० प्र० चतुर्थ समु०)

स्त्री-पुरुष के धर्म—

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः ।
अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥ (३१)

(कार्यवान् नरः) किसी आवश्यक कार्य के लिए परदेश में जाने वाला मनुष्य (भार्यायाः वृत्तिं विधाय प्रवसेत्) अपनी पत्नी की भरण-पोषण की जीविका देकर परदेश में जाये (हि) क्योंकि (अवृत्तिकर्षिता स्थितिमती+अपि स्त्री) जीविका के अभाव से पीड़ित होकर शुद्ध आचरण वाली स्त्री भी(प्रदुष्येत्) दूषित हो सकती है ॥ ७४ ॥

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता ।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥ (३२)

(वृत्तिं विधाय प्रोषिते) जीविका का प्रबन्ध करके पति के परदेश जाने पर (नियमम्+आस्थिता जीवेत्) स्त्री अपने नियमों का पालन करती हुई जीवनयात्रा चलाये (अविधाय+एव तु प्रोषिते) यदि पति बिना जीविका का प्रबन्ध किये परदेश चला जाये तो (अगर्हितैः शिल्पैः जीवेत्) अनिन्दित शिल्प-कार्यों [सिलाई करना, बुनना, कातना आदि] को करके अपनी जीवनयात्रा चलाये ॥ ७५ ॥

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥ ७६ ॥ (३३)

विवाहित स्त्री (नरः धर्मकार्यार्थं प्रोषितः) जो विवाहित पति धर्म के लिए परदेश गया हो तो (अष्टौ समाः) आठ वर्ष (विद्यार्थं वा यशः+अर्थं षट्) विद्या और कीर्त्ति के लिए गया हो तो छः (कामार्थं त्रीन् तु वत्सरान्) धनादि कामना के लिए गया हो तो तीन वर्ष तक (प्रतीक्ष्यः) बाट देखके पश्चात् नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करले। जब विवाहित पति आवे तब नियुक्त पति छूट जावे ॥ ७६ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥ ८१ ॥ (३४)

(वन्ध्या+अष्टमे) वंध्या हो तो आठवें [विवाह से आठ वर्ष तक स्त्री का गर्भ न रहे] (मृतप्रजाः तु दशमे) सन्तान होकर मर जायें तो दशवें (स्त्री-जननी एकादशे अब्दे) जब-जब हो तब-तब कन्या ही होवें पुत्र न हो तो ग्यारहवें वर्ष तक (तु) और (अप्रियवादिनी) जो अप्रिय बोलने वाली हो तो (सद्यः) सद्यः उस स्त्री को छोड़कर (अधिवेद्या) दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवे ॥ ८१ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ ८८ (३५)

यदि माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो (उत्कृष्टाय+अभि रूपाय सदृशाय वराय) अति उत्कृष्ट, शुभगुण, कर्म, स्वभाव वाला कन्या के सदृश रूप-लावण्य आदि गुणयुक्त वर ही को चाहें (ताम् अप्राप्तां कन्याम्+अपि) वह कन्या माता की छह पीढी के भीतर भी हो तथापि (तस्मै दद्यात्) उसी को कन्या देना, अन्य को कभी न देना कि जिससे दोनों अति प्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों की उत्पत्ति करें ॥ ८८ ॥ (सं० वि० वि० सं०)

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ८९ ॥ (३६)

(कामम्) चाहे (आमरणात्) मरणपर्यन्त (कन्या) कन्या (गृहे) पिता के घर में (तिष्ठेत्) बिना विवाह के बैठी भी रहे (तु) परन्तु (गुणहीनाय) गुणहीन असदृश दुष्टपुरुष के साथ (एनां कर्हिचित् न प्रयच्छेत्) कन्या का विवाह कभी न करे ॥ ८९ ॥ (सं० वि० विवाह संस्कार)

पूना प्रवचन में इस श्लोक को उद्धृत करते हुए म० दयानन्द ने लिखा है—"इसी प्रकार मनु जी कहते हैं कि कन्या को मरने तक चाहे वैसी ही कुमारी रखो, परन्तु बुरे मनुष्य के साथ विवाह न करो।" (पृ० २१)

"चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुमार रहें परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध-गुण-कर्म स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिए।"

(स० प्र० ४ समु०)

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्युतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥ (३७)

(कुमारी+ऋतुमती सती) कन्या रजस्वला हुए पीछे (त्रीणि वर्षाणि+उदीक्षेत+एतस्मात् कालात्+ऊर्ध्वम्) तीन वर्ष पर्यन्त पति की खोज करके (सदृशं पतिं विन्देत) अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे ॥ ९० ॥ (स० प्र० ४ समु०)

"जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे तब रजस्वला होने के दिन से तीन वर्ष छोड़के चौथे वर्ष में विवाह करे।" (सं० वि० विवाह संस्कार)

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम्।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥ ९१ ॥ (३८)

(अदीयमाना) पिता आदि अभिभावक के द्वारा विवाह न करने पर (यदि स्वयं भर्तारम्+अधिगच्छेत्) जो कन्या यदि स्वयं पति का वरण कर ले तो (किंचित् एनः न अवाप्नोति) वह कन्या किसी पाप की भागी नहीं होती (च) और (न सा यम् अधिगच्छति) न उसे कोई पाप होता है जिस पति को यह वरण करती है ॥ ९१ ॥

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ ९६ ॥ (३९)

(प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः) गर्भधारण करके सन्तानों की उत्पत्ति करने के लिए स्त्रियों की रचना हुई है (च) और (सन्तानार्थं मानवाः) सन्तानार्थं गर्भाधान करने के लिए पुरुषों की रचना हुई है [दोनों एक दूसरे के पूरक होने के कारण] (तस्मात्) इसलिए (श्रुतौ) वेदों में (साधारणः धर्मः) साधारण से साधारण धर्मकार्य का अनुष्ठान भी (पत्न्या सह+उदितः) पत्नी के साथ करने का विधान किया है ॥ ९६ ॥

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥ (४०)

(आमरणान्तिकः) मरणपर्यन्त (अन्योन्यस्य+अव्यभिचारः भवेत्) पति-पत्नी में परस्पर किसी भी प्रकार के धर्म का उल्लंघन और विच्छेद न हो पाये (समासेन) संक्षेप में (स्त्रीपुंसयोः) स्त्री-पुरुष का (एषः परः धर्मः ज्ञेयः) यही साररूप मुख्य धर्म है ॥ १०१ ॥

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥ (४१)

(कृतक्रियौ स्त्रीपुंसौ) विवाहित स्त्री-पुरुष (नित्यं तथा यतेयाताम्) सदा ऐसा यत्न करें कि (यथा) जिस किसी भी प्रकार से (तौ) वे (इतरेतरम्) एक दूसरे से (वियुक्तौ न+अभिचरेताम्) अलग न होवें=सम्बन्धविच्छेद न हो पाये ॥ १०२ ॥

(१७) दायभाग विवाद-वर्णन (९ । १०३–२१९)—

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥ १०३ ॥ (४२)

(एषः) यह [९ । १ से १०२ पर्यन्त] (स्त्रीपुंसयोः) स्त्री-पुरुष के (रतिसंहितः धर्मः) रति=स्नेह या संयोग सहित [वियोगकाल के भी] धर्म (च) और (आपदि+अपत्यप्राप्तिः) आपत्काल में नियोगविधि से सन्तानप्राप्ति [९ । ५६–६३] की बात (वः उक्तः) तुमसे कही ।

(दायभागं निबोधत) अब दायभाग का विधान सुनो— ॥ १०३ ॥

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥ (४३)

(पितुः च मातुः ऊर्ध्वम्) पिता और माता के मरने के पश्चात् (भ्रातरः समेत्य) सब भाई एकत्रित होकर (पैतृकं रिक्थं समं भजेरन्) पैतृक सम्पत्ति को बराबर-बराबर बांट लें (जीवतोः ते हि अनीशाः) माता-पिता के जीवित रहते हुए वे उस धन के अधिकारी नहीं हो सकते हैं ॥ १०४ ॥

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ १०५ ॥ (४४)

[अथवा सम्मिलितरूप में रहना हो तो] (पित्र्यं धनम् अशेषतः ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्) पिता के सारे धन को बड़ा पुत्र ही ग्रहण करले (शेषाः) और बाकी सब भाई (यथैव पितरम्) जैसे पिता के साथ रहते थे (तथा तम् उपजीवेयुः) उसी प्रकार बड़े भाई के साथ रहकर जीवन चलावें ॥ १०५ ॥

पितेव पालयेत्पुत्राञ्ज्येष्ठो भ्रातॄन्यवीयसः ।
पुत्रवच्चापि वर्तेरञ्ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ १०८ ॥ (४५)

[सम्मिलत रहते हुए] (ज्येष्ठः) बड़ा भाई (यवीयसः भ्रातॄन्) अपने छोटें भाइयों को (पिता+इव पुत्रान्) जैसे पिता अपने पुत्रों का पालन-पोषण करता है ऐसे (पालयेत्) पाले (च) और (ज्येष्ठे भ्रातरि) छोटे भाई बड़े भाई में

(धर्मतः) धर्म से (पुत्रवत्+अपि वर्तेरन्) पुत्र के समान वर्ताव करें अर्थात् उसे पिता के समान मानें ॥ १०८ ॥

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः ।
अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्सः संपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥ ११० ॥ (४६)

(यः ज्येष्ठः) जो बड़ा भाई (ज्येष्ठवृत्तिः स्यात्) बड़ों अर्थात् पिता आदि के समान वर्ताव करने वाला हो तो (सः पिता+इव, सः माता+इव संपूज्यः) वह पिता और माता के समान माननीय है (यः तु) और जो (अज्येष्ठवृत्तिः स्यात्) बड़ों अर्थात् पिता आदि के समान वर्ताव करने वाला न हो तो (सः तु बन्धुवत्) वह केवल भाई या मित्र की तरह ही मानने योग्य होता है ॥ ११० ॥

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया ।
पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रिया ॥ १११ ॥ (४७)

(एवम्) इस प्रकार (सह वसेयुः) सब भाई साथ मिलकर [६।१०५–११०] रहें (वा) अथवा (धर्यकाम्यया) धर्म की कामना से (पृथक्) अलग-अलग [६।१०४] रहें। (पृथक् धर्मः विवर्धते) पृथक्-पृथक् रहने से धर्म का [सबके द्वारा अलग-अलग पञ्चमहायज्ञ आदि करने के कारण] विस्तार होता है (तस्मात्) इस कारण (पृथक् क्रिया धर्म्या) पृथक् रहना भी धर्मानुकूल है ॥ १११ ॥

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ।
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥ ११२ ॥ (४८)

(ज्येष्ठस्य विंशः उद्धारः) पिता के धन में से बड़े भाई का बीसवां भाग 'उद्धार' [=अतिरिक्त भागविशेष] होता है (च) और (सर्वद्रव्यात् यत् वरम्) सब पदार्थों में से जो सबसे श्रेष्ठ पदार्थ हो वह भी, (ततः+अर्धम्) बड़े के 'उद्धार' से आधा उद्धार (मध्यमस्य) मझले भाई का अर्थात् चालीसवां भाग, (तुरीयं तु यवीयसः स्यात्) चौथाई भाग अर्थात् अस्सीवां भाग सबसे छोटे भाई का 'उद्धार' होना चाहिए ॥ ११२ ॥

अनुशीलन—(१) 'उद्धार' पैतृक सम्पत्ति में से पृथक् किये गये उस भाग को कहते हैं जिसका लाभ बड़े भाई को मिलता है।

(२) समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—मानलिया कि पैतृक सम्पत्ति ६६० रुपये हैं। उसमें बड़े भाई का बीसवां भाग (६६०÷२०=४८) ४८ रु० 'उद्धार' निकलेगा, मझले भाई का चालीसवां भाग (६६०÷४०=२४) २४ रु० होगा, छोटे भाई का अस्सी वां भाग (६६०÷८०=१२) रु० 'उद्धार' होगा। 'उद्धार' का 'धन' वंटने के बाद शेष धन को सभी भाई बराबर बांट लेंगे, यथा—४८+२४+१२=८४, ६६०—८४=८७६;

८७६÷३=२९२, इस प्रकार २९२–२९२ रु० प्रत्येक के हिस्से में आये। इस विधि से बड़े भाई को २९२+४८=३४० रु०, उसमें से मझले भाई को २९२+२४=३१६ रु० छोटे भाई को २९२+१२=३०४ रु० प्राप्त हुए।

एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान्प्रकल्पयेत्।
उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामिमं स्यादंशकल्पना ॥ ११६ ॥ (४९)

(एवम् उद्धारे समुद्धृते) इस प्रकार [९।११२—११३] 'उद्धार' [=अतिरिक्त धनविशेष] के निकालने के (समान्-अंशान् प्रकल्पयेत्) शेष धन को समान भागों में बांट ले, (तु उद्धारे अनुद्धृते) यदि 'उद्धार' पृथक् से नहीं निकालें तो (एषाम् अंशकल्पना इमं स्यात्) उन भाइयों के भाग का बंटवारा इस प्रकार करे ॥ ११६ ॥

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥ ११७ ॥ (५०)

(ज्येष्ठः एक-अधिकं हरेत्) बड़ा भाई दो भाग धन ग्रहण करे (तत्+अनुजः पुत्रः अध्यर्धम्) उससे छोटा भाई डेढ़ भाग ले (यवीयांस अंशम्+अंशम्) छोटे भाई एक-एक भाग सम्पत्ति का ग्रहण करें (इति धर्मः व्यवस्थितः) यही धम की व्यवस्था है ॥ ११७ ॥

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥ ११८ ॥ (५१)

(भ्रातरः) सब भाई (कन्याभ्यः) अविवाहित बहनों के लिए पृथक् (चतुर्भागम्) पृथक्-पृथक् चतुर्थांश भाग (स्वेभ्यः प्रदद्युः) अपने भागों में से देवें (स्वात् स्वात्+अंशात् अदित्सवः) अपने-अपने भाग से चतुर्थांश भाग न देने वाले भाई (पतिताः स्युः) पतित='दोषी और निन्दनीय' माने जायेंगे ॥ ११८ ॥

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत्।
अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ११९ ॥ (५२)

(अजा+अविकम् स+एकशकं विषमम्) बकरी, भेड़, घोड़ी आदि के विषम होने पर (न जातु भजेत्) उन्हें [बेचकर धनराशि के रूप में] विभाजित न करें (विषमम् अजाविकं तु) विषम रूप में बचे बकरी-भेड़ आदि पशु (ज्येष्ठस्य+एव विधीयते) बड़े भाई को ही प्राप्त होते हैं ॥ ११९ ॥

'पुत्रिका' के दायभाग का वर्णन—

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥ १२७ ॥ (५३)

(अपुत्रः) पुत्रहीन पिता ('अस्यां यत्+अपत्यं भवेत् तत् मम स्वधाकरं स्यात्') 'इस कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह मुझे सुख देने वाला होगा' (अनेन विधिना सुतां पुत्रिकां कुर्वीत) ऐसा दामाद से कहकर कन्या को 'पुत्रिका' करे ॥ १२७ ॥

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ १३० ॥ (५४)

(यथा+एव आत्मा तथा पुत्रः) जैसी अपनी आत्मा है वैसा ही पुत्र होता है, और (पुत्रेण दुहिता समा) पुत्र जैसी ही पुत्री होती है (तस्याम्+आत्मनि तिष्ठन्त्याम्) उस आत्मारूप पुत्री के रहते हुये (अन्यः धनं कथं हरेत्) कोई दूसरा धन को कैसे ले सकता है ? अर्थात् पुत्र के अभाव में पुत्री ही धन की अधिकारिणी होती है ॥ १३० ॥

मातुस्तु यौतकं यत् स्यात्कुमारीभाग एव सः।
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१ ॥ (५५)

(मातुः तु यत् यौतकं स्यात्) माता का जो [विवाह आदि के अवसर पर पिता-भाई से प्राप्त] धन होता है (सः कुमारीभागः एव) वह कन्या का ही भाग होता है (च) तथा (अपुत्रस्य अखिलं धनं दौहित्रः एव हरेत्) पुत्रहीन नाना के सम्पूर्ण धन को धेवता ही प्राप्त कर लेवे ॥ १३१ ॥

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनु जायते।
समस्तत्र विभागः स्याज्जेष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥१३४॥ (५६)

(पुत्रिकायां कृतायां तु) 'पुत्रिका' कर लेने के बाद (यदि पुत्रः+अनुजायते) यदि किसी को पुत्र उत्पन्न हो जाये तो (तत्र समः विभागः स्यात्) उस स्थिति में उन दोनों को [धेवता और निजपुत्र को] धन का समान भाग मिलेगा (हि) क्योंकि (स्त्रियाः ज्येष्ठता न+अस्ति) स्त्री को ज्येष्ठत्व='उद्धार' भाग नहीं प्राप्त होता अतः धेवते को भी वह 'उद्धार' भाग नहीं प्राप्त होगा ॥ १३४ ॥

पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ १३८ ॥ (५७)

(यः) जो (सुतः) पुत्र (पितरम्) माता-पिता को (पुम् नाम्नः नरकात्) 'पुम्=वृद्धावस्था आदि से उत्पन्न होने वाले दुःखों से (त्रायते) रक्षा करता है' (तस्मात्) इस कारण से (स्वयंभुवा स्वयमेव 'पुत्रः' इति प्रोक्तः) स्वयंभू ईश्वर ने वेदों में बेटे को 'पुत्र' संज्ञा से अभिहित किया है [द्रष्टव्य है—"सर्वेषां तु स नामानि············वेदशब्देभ्य एवादौ············निर्ममे" १। २३] ॥ १३८ ॥

दत्तकपुत्र के दायभाग का विधान—

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः ।
स हरेतैव तद्रिक्थं सम्प्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥ १४१ ॥ (५८)

(यस्य तु दत्त्रिमः पुत्रः) जिसका 'दत्तक'=गोद लिया हुआ पुत्र (सर्वैः गुणैः उपपन्नः) सभी श्रेष्ठ या वर्णोचित पुत्रगुणों से [६ । १३८] सम्पन्न हो, (अन्य-गोत्रतः सम्प्राप्तः+अपि) चाहे वह दूसरे वंश का ही क्यों न हो (सः तत् रिक्थं हरेत एव) वह उस गोद लेने वाले पिता के धन को निश्चित रूप से प्राप्त करता है ॥ १४१ ॥

नियोग से उत्पन्न क्षेत्रज पुत्र के दायभाग का विधान—

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः ।
क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥ १४५ ॥ (५९)

(तत्र नियुक्तायाम्) नियोग के लिए नियुक्त स्त्री में (यथा+औरसः जातः पुत्रः) 'औरस'=वैध पुत्र के समान उत्पन्न हुआ क्षेत्रज पुत्र (हरेत्) पितृधन का भागी होता है, क्योंकि (यत् क्षेत्रिकस्य बीजम्) वह क्षेत्रिक=क्षेत्रस्वामी का ही बीज माना जाता है, यतोहि (सः धर्मतः प्रसवः) वह धर्मानुसार नियोग से उत्पन्न होता है ॥ १४५ ॥

धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च ।
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥ १४६ ॥ (६०)

(मृतस्य भ्रातुः) मरे हुये भाई के (धनं च स्त्रियम् एव यः बिभृयात्) धन और स्त्री की जो भाई रक्षा करे (सः+अपत्यम्+उत्पाद्य) वह भाई की स्त्री में सन्तान उत्पन्न करके (भ्रातुः तत् धनं तस्यैव दद्यात्) भाई का वह प्राप्त सब धन उस पुत्र को ही दे देवे ॥ १४६ ॥

याऽनियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद्वाऽप्यवाप्नुयात् ।
तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७ (६१)

(या अनियुक्ता) जो स्त्री नियोगविधि के बिना (अन्यतः वा देवरात् अपि) अन्य सजातीय पुरुष से या देवर से भी (पुत्रम् अवाप्नुयात्) पुत्र प्राप्त करे (तम्) उस पुत्र को (कामजं वृथोत्पन्नम् अरिक्थीयम्) 'कामज'=कामवासना के वशीभूत होकर उत्पन्न किया गया, 'वृथोत्पन्न'=व्यर्थ में उत्पन्न और पितृधन का अनधिकारी (प्रचक्षते) कहते हैं ॥ १४७ ॥

मातृधन का विभाग—

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥ १९२ ॥ (९२)

(जनन्यां संस्थितायां तु) माता के मर जाने पर (सर्वे सहोदराः च सनाभयः भगिन्यः) सब सगे भाई और सब सगी बहनें (मातृकं रिक्थं समं भजेरन्) माता के धन को बराबर-बराबर बांट लें ॥ १९२ ॥

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः।
मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ १९३ ॥ (९३)

(तासां याः दुहितरः स्युः) उन सगी बहनों की जो पुत्रियां हों (तासां+अपि यथार्हतः) उनको भी यथायोग्य (प्रीतिपूर्वकं मातामह्याः धनात् किंचित् प्रदेयम्) प्रेमपूर्वक नानी के धन में से कुछ देना चाहिये ॥ १९३ ॥

अध्यग्न्याध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ १९४ ॥ (९४)

(स्त्रीधनं षड्विधं स्मृतम्) स्त्रीधन छह प्रकार का माना गया है—१. (अध्यग्नि) विवाहसंस्कार के समय दिया गया धन, २. (अध्यावाहनिकम्) पति के घर लायी जाती हुई कन्या को प्राप्त हुआ पिता के घर का धन, ३. (प्रीतिकर्मणि च दत्तम्) प्रसन्नता के किसी अवसर पर पति आदि के द्वारा दिया गया धन, (भ्रातृ-पितृ-मातृ-प्राप्तम्) ४. भाई से प्राप्त धन, ५. पिता से प्राप्त धन, ६. माता से प्राप्त धन ॥ १९४ ॥

अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत्।
पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥ १९५ ॥ (९५)

(यत् अन्वाधेयम्) जो अन्वाधेय अर्थात् विवाह के पश्चात् पिता या पति द्वारा दिया गया है, वह धन (च) और (यत् प्रीतेन पत्या दत्तम्) जो प्रीतिपूर्वक पति के द्वारा दिया गया धन है (वृत्तायाः) स्त्री के मरने पर (पत्यौ जीवति) और पति के जीवित रहते भी (तत्धनं प्रजायाः भवेत्) वह धन सन्तानों का ही होता है ॥ १९५ ॥

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥ (९६)

(ब्रह्म-दैव-आर्ष-गान्धर्व-प्राजापत्येषु यत् वसु) ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व, प्राजापत्य विवाहों में जो स्त्री को धन प्राप्त हुआ है (अप्रजायाम्+अतीतायाम्)

स्त्री के सन्तानहीन मर जाने पर (तत् भर्तुः+एव इष्यते) उस धन पर पति का ही अधिकार माना गया है ॥ १९६ ॥

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।
अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ १९७ ॥ (६७)

(यत् तु अस्याः) और जो इसे (आसुरादिषु विवाहेषु दत्तं धनं स्यात्) 'आसुर' आदि विवाहों में दिया गया धन हो (अप्रजायाम्+अतीतायाम्) स्त्री के निःसन्तान मर जाने पर (तत् मातापित्रोः इष्यते) वह धन स्त्री के माता-पिता का हो जाता है ॥ १९७ ॥

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद् बहुमध्यगात् ।
स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥ १९९ ॥ (६८)

(स्त्रियः) स्त्रियाँ (कुटुम्बात् बहुमध्यगात्) बहुत सदस्यों के कुटुम्ब से चुपके से धन ले-लेकर (निर्हारं न कुर्युः) अपने लिए धनसंग्रह और व्यय न करें (च) और (स्वकात् वित्तात् अपि हि) अपने धन में मे भी (स्वस्य भर्तुः+अनाज्ञया) अपने पति की आज्ञा के बिना व्यय न करें ॥ १९९ ॥

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥ २०० ॥ (६९)

(पत्यौ जीवति) पति के जीते हुए (स्त्रीभिः यः अलंकारः धृतः भवेत्) स्त्रियों ने जो आभूषण आदि धारण कर लिये हैं। [पति के मर जाने पर] (दायादाः तं न भजेरन्) माता-पिता के धन के अधिकारी पुत्र आदि [माता के जीवित रहते] उनको न बंटावें (भजमानाः ते पतन्ति) यदि वे उन्हें लेते हैं तो 'पतित' कहलाते हैं ॥ २०० ॥

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥ (७०)

(क्लीब-पतितौ) नपुंसक, पतित (जाति+अन्ध-बधिरौ) जन्म से अन्धे और बहरे (उन्मत्त-जड-मूकाः च) पागल, वज्रमूर्ख और गूंगे (च) और (ये केचित् निरिन्द्रियाः) जो कोई किसी इन्द्रिय से पूर्ण विकलांग हैं (अनंशौ) ये सब धन के हिस्सेदार नहीं होते ॥ २०१ ॥

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा ।
ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥ २०२ ॥ (७१)

किन्तु (मनीषिणा) बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि (सर्वेषाम्+अपि शक्त्या न्याय्यम्) इन सबको यथाशक्ति न्यायानुसार (ग्रास+आच्छादनम्) भोजन, वस्त्र आदि (दातुम्) देता रहे (अददत् हि पतितः भवेत्) इस प्रकार न देने वाला 'पतित' माना जायेगा ॥ २०२ ॥

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन ।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥ (७२)

(यदि क्लीबादीनां कथंचन दारैः अर्थिता स्यात्) यदि नपुंसक आदि इन पूर्वोक्तों को भी विवाह करने की इच्छा हो तो (तेषाम्+उत्पन्नतन्तूनाम्) इनके उत्पन्न 'क्षेत्रज'=नियोगज पुत्र आदि (अपत्यम्) सन्तान (दायम्+अर्हति) इनके धन की भागी होती है ॥ २०३ ॥

यत्किंचित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति ।
भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ॥ २०४ (७३)

संयुक्तरहते (पितरि प्रेते) पिता के मर जाने के पश्चात् (ज्येष्ठः) बड़ा भाई (यत् किंचित् धनम्+अधिगच्छति) जो कुछ धन संचय करता है (तत्र) उसमें (यदि विद्यानुपालितः) यदि विद्यासमपन्न हों तो (यवीयसां भागः) छोटे भाइयों का हिस्सा होता है, मूर्खों और अनपढ़ों का नहीं ॥ २०४ ॥

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् ।
समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥ २०५ ॥ (७४)

संयुक्त रहते यदि (अविद्यानां तु सर्वेषाम्) बिना पढ़े-लिखे सब भाइयों के (ईहातः चेत् धनं भवेत्) प्रयत्नों [खेती, व्यापार आदि] से धन एकत्रित हुआ हो तो (तत्र अपित्र्यः समः विभागः स्यात्) उसमें पितृधन को छोड़कर बाकी धन में सबका समान भाग होगा (इति धारणा) ऐसी मान्यता है ॥ २०५ ॥

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।
मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥ (७५)

(विद्याधनम्, मैत्र्यम् च औद्वाहिकं च माधुपर्किकम्+एव) विद्या के कारण प्राप्त, मित्र से प्राप्त, विवाह में प्राप्त और पूज्यता के कारण आदर-सत्कार में प्राप्त (यत् यस्य धनम्) जो जिसका धन है (तत् तस्य+एव भवेत्) वह उसी का ही होता है ॥ २०६ ॥

भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा ।
स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किंचिद्दत्त्वोपजीवनम् ॥ २०७ ॥ (७६)

(भ्रातॄणां यः तु स्वकर्मणा शक्तः) भाइयों में जो भाई अपने उद्योग से समृद्ध हो और (धनं न ईहेत) पितृधन का भाग न लेना चाहे तो (सः) उसको भी (स्वकात्+अंशात् किंचित् उपजीवनं दत्त्वा) अपने-अपने पितृधन के हिस्सों से कुछ धन देकर (निर्भाज्यः) अलग करना चाहिए, बिल्कुल बिना दिये नहीं।
॥ २०७ ॥

अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम्।
स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८ ॥ (७७)

(पितृधनम् अनुपघ्नन्) पितृ-धन को बिल्कुल भी उपयोग में न लाता हुआ यदि कोई पुत्र (श्रमेण यत्+उपार्जितम्) केवल अपने परिश्रम से धन उपार्जित करे तो (स्वयम्+ईहित-लब्धं तम्) अपने परिश्रम से संचित उस धन में से (दातुम् अकामः) किसी भाई को कुछ न देना चाहे तो (न अर्हति) न देवे अर्थात् देने के लिये वह बाध्य नहीं है ॥ २०८ ॥

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात्।
न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥ २०९ ॥ (७८)

(पिता तु) यदि कोई पिता (अनवाप्तं पैतृकं द्रव्यम्) गहने रखे किसी के द्वारा छीने हुए या मारे हुए अतः दायरूप में अप्राप्त पैतृक धन को (यत्+आप्नुयात्) जो किसी उपाय से प्राप्त कर ले तो (सार्धम्) सम्मिलित रहते हुए भी (अकामः) यदि वह न चाहे तो (स्वयम्+अर्जितं तत्) अपने श्रम से प्राप्त उस धन को (पुत्रैः न भजेत्) सब अपने पुत्रों में अथवा पिता के पुत्रों अर्थात् भाइयों में न बांटे ॥ २०९ ॥

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥ २१० ॥ (७९)

सब भाई (विभक्ताः) एक बार विभाग का बंटवारा करके (सहजीवन्तः) फिर सम्मिलित होकर (यदि पुनः विभजेरन्) यदि फिर अलग होना चाहें तो (तत्र समः विभागः स्यात्) उस स्थिति में सबको समान भाग प्राप्त होगा (तत्र ज्यैष्ठ्यं न विद्यते) तब उसमें ज्येष्ठ भाई का 'उद्धार' भाग [९ । ११२–११५] नहीं होता ॥ २१० ॥

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः।
म्रियेतान्यतरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते ॥ २११ ॥ (८०)

(येषां ज्येष्ठः वा कनिष्ठः) जिन भाइयों में से बड़ा या छोटा भाई (अंश-प्रदानतः हीयेत) अपने भाग से वंचित रह जाये, (म्रियेत वा अन्यतरः अपि)

मर जाये अथवा अन्य किसी गृहत्याग आदि कारण से भाग न लेवे तो (तस्य भागः न लुप्यते) उसका भाग नष्ट नहीं होता अर्थात् उसके पुत्र, पत्नी आदि को प्राप्त होता है॥ २११ ॥

सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् ।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ २१२ ॥ (८१)

[यदि पुत्र, स्त्री आदि न हों तो] (सहिताः सोदर्याः) सभी सगे भाई (च) और (ये संसृष्टाः भ्रातरः) जो सम्मिलित भाई (च) तथा (सनाभयः भगिन्यः) सब सगी बहनें हैं, वे (समेत्य) एकत्रित होकर (तं समं विभजेरन्) उस धन को समान-समान बांट लेवें ॥ २१२ ॥

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद् भ्रातॄन् यवीयसः ।
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥ २१३ ॥ (८२)

(यः ज्येष्ठः) जो बड़ा भाई (यवीयसः भ्रातॄन् लोभात् विनिकुर्वीत) छोटे भाइयों को लोभ में आकर ठगे, पूरा भाग न दे तो (सः+अज्येष्ठः) उसे बड़े के रूप में नहीं मानना चाहिए (च) और (अभागः स्यात्) उसे बड़े भाई के नाम का 'उद्धार भाग' [९।११२–११५] भी नहीं देना चाहिए (च) और (राजभिः नियन्तव्यः) वह राजा के द्वारा दण्डनीय होता है ॥ २१३ ॥

सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् ।
न चादत्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥ २१४ ॥ (८३)

(विकर्मस्थाः सर्वं एव भ्रातरः) जूआ खेलना, चोरी करना, डाका डालना आदि] बुरे कामों में संलग्न रहने वाले सभी भाई (धनं न अर्हन्ति) धनभाग को प्राप्त करने के अधिकारी नहीं होते (च) और (कनिष्ठेभ्यः अदत्त्वा) छोटे भाइयों को विना दिये=बिना बांटे (ज्येष्ठः यौतकं न कुर्वीत) बड़ा भाई अपने लिए पितृधन में से अलग से धन न ले ॥ २१४ ॥

भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह ।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथञ्चन ॥ २१५ ॥ (८४)

(अविभक्तानां भ्रातॄणां यदि सह उत्थानं भवेत्) सम्मिलित रूप में रहते हुए सब भाइयों ने यदि साथ मिलकर धन इकठ्ठा किया हो तो (पिता) पिता (कथञ्चन पुत्रभागं विषमं न दद्यात्) किसी भी प्रकार पुत्रों के भाग को विषम अर्थात् किसी को अधिक किसी को कम रूप में न बांटे, सभी को बराबर दे। ॥ २१५ ॥

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् ।
संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥ २१६ ॥ (८५)

(विभागात् ऊर्ध्वं जातः तु) धन का बंटवारा करके [पिता की जीवित अवस्था में ही] पुत्रों के अलग हो जाने पर यदि कोई पुत्र उत्पन्न हो जाये तो (पित्र्यम्+एव धनं हरेत्) वह पिता के धन को ले (वा) अथवा (ये तेन संसृष्टाः स्युः) जो कोई पुत्र पिता के साथ सम्मिलित रूप में रह रहें हों तो (सः तैः सह विभजेत) वह उन सबके समान भाग प्राप्त करे ॥ २१६ ॥

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ २१७ ॥ (८६)

(अनपत्यस्य पुत्रस्य दायम्) सन्तानहीन पुत्र के धन को (माता+अवाप्नु-यात्) माता प्राप्त करे (च) और (मातरि+अपि वृत्तायाम्) माता मर गयी हो तो (पितुः माता धनं हरेत्) पिता की माता अर्थात् दादी उसके धन को ले ले ॥ २१७ ॥

ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि ।
पश्चाद् दृश्येत यत्किंचित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥ २१८ ॥ (८७)

(सर्वस्मिन् ऋणे च धने) पिता के सारे ऋण और धन का (यथाविधि प्रविभक्ते) विधिपूर्वक बंटवारा हो जाने पर (यत् किंचित् पश्चात् दृश्येत) यदि बाद में कुछ ऋण और धन के शेष रहने का पता लगे तो (तत् सर्वं समतां नयेत्) उस सबको भी समानरूप में वांट लें ॥ २१८ ॥

(१८) द्यूत-सम्बन्धी विवाद का निर्णय (२२०–२५०)—

अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः ।
क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥ २२० ॥ (८८)

(अयम्) यह [९ । १०३–२१९] (वः) तुमको (विभागः) दायभाग का विधान (च) और (क्षेत्रज+आदीनां पुत्राणां क्रियाविधिः) 'क्षेत्रज' आदि पुत्रों को [९ । १४५–१४७] धन का भाग देने की विधि (क्रमशः उक्तः) क्रमशः कही ।

अब (द्यूतधर्मं निबोधत) जूआ-सम्बन्धी विधान सुनो—॥ २२० ॥

राष्ट्रघातक जूआ आदि का निषेध—

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ।
राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ २२१ ॥ (८९)

(राजा) राजा (द्यूतम्) जड़ वस्तुओं से बाजी लगाकर खेलने वाले 'जूआ' को (च) और (समाह्वयम्+एव) चेतन प्राणियों को दाव पर लगाकर खेले जाने वाले 'समाह्वय' नामक 'जूआ' का (राष्ट्रात् निवारयेत्) अपने देश से समाप्त कर दे क्योंकि (एतौ द्वौ दोषौ) ये दोनों बुराइयां (पृथिवीक्षितां राजान्तकरणौ) राजाओं के राज्य को नष्ट कर देने वाली हैं ॥ २२१ ॥

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद् देवनसमाह्वयौ ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥ २२२ ॥ (९०)

(यत् देवन-समाह्वयौ) ये जो 'जूआ' और 'समाह्वय' हैं (एतत् प्रकाशं तास्कर्यम्) ये प्रत्यक्ष में होने वाली तस्करी=चोरी हैं (नृपतिः) राजा (तयोः प्रतीघाते) इनको समाप्त करने के लिये (नित्यं यत्नवान् भवेत्) सदा प्रयत्न-शील रहे ॥ २२२ ॥

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ २२३ ॥ (९१)

(अप्राणिभिः यत् क्रियते) बिना प्राणियों अर्थात् जड़ [ताश, पासा, कौड़ी, गोटी आदि] वस्तुओं के द्वारा बाजी लगाकर जो खेल खेला जाता है (लोके तत् 'द्यूतम्' उच्यते) लोक में उसे 'द्यूत'=जूआ कहा जाता है और (यः तु) जो (प्राणिभिः क्रियते) चेतन प्राणियों [मुर्गा, तीतर, बटेर, घोड़ा आदि] के द्वारा बाजी लगाकर खेला जाता है (सः 'समाह्वयः' विज्ञेयः) उसे 'समाह्वय' कहा जाता है ॥ २२३ ॥

द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा ।
तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥ (९२)

(यः) जो मनुष्य (द्यूतं च समाह्वयम्+एव) 'जूआ' और 'समाह्वय (कुर्यात् वा कारयेत) स्वयं खेले या दूसरों से खिलायें (राजा) राजा (तान् सर्वान्) उन सबको (च) और (द्विजलिङ्गिनः शूद्रान्) कपटपूर्वक द्विजों के वेश धारण करने वाले शूद्रों को (घातयेत्) शारीरिक दण्ड [ताड़ना, अंगच्छेदन आदि दे ॥ २२४ ॥

कितवान्कुशीलवान्क्रूरान् पाखण्डस्थांश्च मानवान् ।
विकर्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥ २२५ ॥ (९३)

और (कितवान्) जुआरियों, (कुशीलवान्) नाच-गाने से जीविका करने वाले, (क्रूरान्) क्रूर आचरण वाले, (पाखण्डस्थान्) ढोंग आदि रचकर रहने

वाले, (विकर्मस्थान्) शास्त्रविरुद्ध बुरे कर्म करने वाले, (शौण्डिकान्) शराब बनाने बेचने वाले, (मानवान्) इन मनुष्यों को (पुरात् क्षिप्रं निर्वासयेत्) राजा अपने राज्य से जल्दी से जल्दी बाहर निकाल दे ॥ २२५ ॥

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ २२६ ॥ (९४)

(एते प्रच्छन्नतस्कराः) ये [९ । २२५] छुपे हुए तस्कर=चोर (राष्ट्रे वर्तमानाः) राज्य में रहकर (विकर्मक्रियया) गलत और बुरे कामों को कर-करके (नित्यम्) सदा (राज्ञः) राजा और (भद्रिकाः प्रजाः) सज्जन प्रजाओं को (बाधन्ते) दुःख पहुंचाते रहते हैं ॥ २२६ ॥

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ २२७ ॥ (९५)

(एतत् द्यूतम्) यह 'जूआ' (पुराकल्पे महत् वैरकरं दृष्टम्) अब से पहले समय में भी महान् कष्ट एवं शत्रुता पैदा करने वाला देखा गया है (तस्मात्) इसलिए (बुद्धिमान्) बुद्धिमान् मनुष्य (हास्यार्थम्+अपि द्यूतं न सेवेत) हंसी-मजाक में भी 'जूआ' न खेले ॥ २२७ ॥

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥ (९६)

(प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा) छुपकर वा सबके सामने (यः नरः तत् निषेवेत) जो मनुष्य 'जूआ' खेले (तस्य दण्डविकल्पः) उसका दण्ड (नृपतेः यथेष्टं स्यात्) राजा इच्छानुसार जो भी चाहे वही होता है ॥ २२८ ॥

उपसंहार—

ये नियुक्तास्तु कार्येण हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् ।
धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः ॥२३१॥ (९७)

(कार्येषु नियुक्ताः तु ये) मुकद्दमों के कार्यों में राजा द्वारा लगाये गये जो कर्मचारी (धन-उष्मणा पच्यमानाः) धन की गर्मी अर्थात् रिश्वत आदि से प्रभावित होकर (कार्यिणां कार्याणि हन्युः) वादी-प्रतिवादियों के मुकद्दमों को बिगाड़ें (नृपः) राजा (तान् निःस्वान् कारयेत्) उनकी सारी संपत्ति छीन ले ॥ २३१ ॥

कूटशासनकर्तृंश्च प्रकृतीनां च दूषकान् ।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद् द्विट्सेविनस्तथा ॥ २३२ ॥ (९८)

(च) और (कूटशासनकर्तॄन्) राजा के निर्णयों को कपटपूर्वक लिखने वाले, (प्रकृतीनां दूषकान्) प्रकृति-प्रजा, मन्त्री, सेनापति आदि राजकर्मचारियों को रिश्वत आदि बुरे कार्यों में फंसाकर बिगाड़ने वाले, (स्त्री-बाल-ब्राह्मणघ्नान् च) स्त्रियों, बच्चों और विद्वानों को हत्या करने वाले, (तथा) तथा (द्विट्-सेविनः) शत्रु से मिलकर उसका भला करने वाले, इनको (हन्यात्) वध से दण्डित करे ॥ २३२ ॥

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत् ।
कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ॥ २३३ ॥ (९९)

(यत्र क्वचन) जहां किसी मुकद्दमे में (तीरितम्) ठीक निर्णय दिया जा चुका हो (च) और (अनुशिष्टं भवेत्) किसी दण्ड का आदेश भी दिया जा चुका हो (धर्मतः तत् कृतं विद्यात्) धर्मपूर्वक किये उस निर्णय को पूरा हुआ जानना चाहिए (तत् भूयः न निवर्तयेत्) उस मुकद्दमे का पुनः निर्णय न करे [यह लोभ या ममत्व आदि के कारण अथवा अकारण निर्णय न करने का कथन है, कारण विशेष होने पर तो पुनः निर्णय का कथन किया गया है (८ । ११७; ९ । २३४)] ॥ २३३ ॥

अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ।
तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥२३४॥ (१००)

(अमात्याः वा प्राड्विवाकः) मन्त्री अथवा न्यायाधीश (यत् कार्यम्+अन्यथा कुर्युः) जिस मुकद्दमे के निर्णय को गलत या अन्यायपूर्वक कर दें तो (तत्) उस मुकद्दमे के निर्णय को (नृपतिः) राजा (स्वयं कुर्यात्) स्वयं करे (च) और (तान्) अन्यायपूर्वक निर्णय करने वाले उन अधिकारियों को (सहस्रं दण्डयेत्) एक हजार पण [८ । १३६] दण्ड से दण्डित करे ॥ २३४ ॥

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे ।
अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४९ ॥ (१०१)

(अवध्यस्य वधे) अदण्डनीय को दण्ड देने पर (नृपतेः) राजा को (यावान्+अधर्मः दृष्टः) जितना अधर्म होना शास्त्र में माना गया है (तावान् वध्यस्य मोक्षणे) उतना ही दण्डनीय को छोड़ने में अधर्म होता है (विनियच्छतः तु धर्मः) न्यायानुसार दण्ड देना ही धर्म है ॥ २४९ ॥

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥ (१०२)

(अयम्) यह [८ । १ से ९ । २४९ तक] (मिथः विवदमानयोः) परस्पर विवाद=झगड़ा करने वाले वादी-प्रतिवादियों के (अष्टादशसु मार्गेषु) अठारह प्रकार के (व्यवहारस्य निर्णयः) मुकद्दमों का निर्णय (विस्तरशः उदितः) विस्तारपूर्वक कहा ॥ २५० ॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः ।
देशानलब्धांल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥ २५१ ॥ (१०३)

(एवम्) इस पूर्वोक्त कही विधि के अनुसार (धर्म्याणि कार्याणि कुर्वन्) धर्मयुक्त कार्यों को करता हुआ (महीपतिः) राजा (अलब्धान् देशान् लिप्सेत) अप्राप्त देशों को प्राप्त करने की इच्छा करे (च) और (लब्धान् परिपालयेत्) प्राप्त किये देशों का भलीभांति पालन करे ॥ २५१ ॥

राजा द्वारा लोककण्टकों का निवारण—

सम्यङ् निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥ (१०४)

(सम्यक् निविष्टदेशः) अच्छे सस्यादिसम्पन्न देश का आश्रय करके (च) और वहां (शास्त्रतः कृतदुर्गः) शास्त्रानुसार विधि [७ । ६९] से किला बनाकर राजा (कण्टकोद्धरणे) अपने राज्य से कंटकों='प्रजा या शासन को पीड़ित करने वाले लोगों' को दूर करने में (नित्यम् उत्तमं यत्नम्+आतिष्ठेत्) सदा अधिकाधिक यत्न करे ॥ २५२ ॥

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥ २५३ ॥ (१०५)

(आर्यवृत्तानां रक्षणात्) श्रेष्ठ आचरण वाले व्यक्तियों की रक्षा करने से (च) और (कण्टकानां शोधनात्) कण्टकों=कष्टदायक दुष्ट व्यक्तियों को दूर करने से (प्रजापालनतत्पराः नरेन्द्राः) प्रजाओं के पालन करने में तत्पर रहने वाले राजा (त्रिदिवं यान्ति) उत्तम सुख को भोगते हैं ॥ २५३ ॥

अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ २५४ ॥ (१०६)

(यः तु पार्थिवः) जो राजा (तस्करान् अशासन्) चोर आदि को नियन्त्रित-दण्डित न करता हुआ (बलिं गृह्णाति) प्रजाओं से कर आदि ग्रहण करता है (तस्य राष्ट्रं प्रक्षुभ्यते) उसके राष्ट्र में निवास करने वाली प्रजाएं क्षुब्ध होकर विद्रोह कर देती हैं (च) और वह (स्वर्गात् परिहीयते) राज्यसुख से क्षीण हो जाता है ॥ २५४ ॥

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।
तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥ २५५ ॥ (१०७)

(यस्य बाहुबलाश्रितम्) जिस राजा के बाहुबल=दण्डशक्ति के सहारे (राष्ट्रं निर्भयं तु भवेत्) राष्ट्र अर्थात् प्रजाएं [चौर आदि से] निर्भय रहती हैं (तस्य तत्) उसका वह राज्य (सिच्यमानः द्रुमः इव) सींचे गये वृक्ष की भाँति (नित्यं वर्धते) सदा बढ़ता रहता है ॥ २५५ ॥

द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥ २५६ ॥ (१०८)

(चारचक्षुः महीपतिः) गुप्तचर ही हैं नेत्र जिसके अर्थात् गुप्तचरों के द्वारा सब काम देखने वाला राजा (प्रकाशान् च+अप्रकाशान् परद्रव्य+अपहारकान्) प्रकट और गुप्त रूप से दूसरों के द्रव्यों को चुराने वाले (द्विविधान् तस्करान् विद्यात्) दोनों प्रकार के चोरों की जानकारी रखे ॥ २५६ ॥

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ।
प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥ २५७ ॥ (१०९)

(तेषाम्) उन दोनों प्रकार के चोरों में (नानापण्य-उपजीविनः प्रकाश-वञ्चकाः) नाना प्रकार के व्यापारी जो देखते-देखते माप, तोल या मूल्य में हेराफेरी करके ठगते हैं वे 'प्रकट-चोर' हैं (ये) और जो (स्तेन-आटविकादयः) जंगल आदि में छिपे रहकर चोरी करने वाले हैं (ते) वे (प्रच्छन्नवञ्चकाः) 'गुप्तचोर' हैं ॥ २५७ ॥

उत्कोचकाश्चौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा ।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥ २५८ ॥ (११०)
असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।
शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥ २५९ ॥ (१११)
एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांल्लोककण्टकान् ।
निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥ २६० ॥ (११२)

(उत्कोचकाः) रिश्वतखोर, (औपधिकाः) भय दिखाकर धन लेने वाले (वञ्चकाः) ठग, (कितवाः) 'जूआ' से धन लेने वाले, (मंगलादेशवृत्ताः) 'तुम्हें पुत्र या धन प्राप्ति होगी' इत्यादि मांगलिक बातों को कहकर धन लेने वाले, (भद्राः) साधु-संन्यासी आदि भद्ररूप धारण करके धन लेने वाले, (ईक्षणिकैः सह) हाथ आदि देखकर भविष्य बताकर धन लेने वाले, (असम्यक् कारिणः

महामात्राः) धन, वस्तु आदि लेकर गलत तरीकों से काम करने वाले उच्च राजकर्मचारी [मन्त्री आदि], (चिकित्सकाः) अनुचित मात्रा में धन लेने वाले या अयोग्य चिकित्सक (शिल्पोपचारयुक्ताः) अनुचित मात्रा में धन लेने वाले शिल्पी [चित्रकार आदि], (निपुणाः पण्ययोषितः) धन ठगने में चतुर वेश्याएं (एवम्+आदीन्) इत्यादियों को (च) और (अन्यान्) दूसरे जो (आर्यलिङ्गिनः निगूढचारिणः अनार्यान्) श्रेष्ठों का वेश या चिह्न धारण करके गुप्तरूप से विचरण करने वाले दुष्ट या बुरे व्यक्ति हैं, उनको (प्रकाशान् लोककण्टकान् विजानीयात्) प्रकट लोककण्टक=प्रजाओं को पीड़ित करने वाले चोर समझे ॥ २५९—२६० ॥

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः ।
चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ २६१ ॥ (११३)

(तत् कर्मकारिभिः) जिस विषय में जानकारी प्राप्त करनी है वैसा ही कर्म करने में चतुर, (गूढैः) गुप्त रहने वाले (सुचरितैः) अच्छे आचरण वाले, (अनेकसंस्थानैः) अनेक स्थानों में नियुक्त (चारैः) गुप्तचरों के द्वारा (तान् विदित्वा) उन ठगों या लोककण्टकों को मालूम करके (च) और फिर (प्रोत्साद्य) उन्हें पकड़कर (वशम्+आनयेत्) अपने वश में करे—कारागृह में रखे ॥ २६१ ॥

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।
कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥ २६२ ॥ (११४)

(राजा) राजा (स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः तेषां दोषान्+अभिख्याप्य) जो-जो उन्होंने बुरा काम किया है भलीभांति उनके दोषों की घोषणा करके (सार-अपराधतः) वल और अपराध के अनुसार (सम्यक् शासनं कुर्वीत) न्यायोचित दण्ड से दण्डित करे ॥ २६२ ॥

नहि दण्डादृते शक्यः क पापविनिग्रहः ।
स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥ २६३ ॥ (११५)

(स्तेनानाम्) प्रकट चोरों, (क्षितौ निभृतं चरताम्) पृथ्वी पर गुप्तरूप में विचरण करने वाले चोरों या अन्य अपराधियों तथा (पापवुद्धीनाम्) पाप में बुद्धि रखने वालों के (पापविनिग्रहः) पापों पर रोक (दण्डात्+ऋते नहि कर्तुं शक्यः) दण्ड के विना नहीं हो सकती ॥ २६३ ॥

सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥ (११६)

जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च।
शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च॥ २६५॥ (११७)
एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत्॥ २६६॥ (११८)

(सभा-प्रपा+अपूपशाला) सभाओं के आयोजन स्थल, प्याऊ, मालपूआ आदि वेचने का स्थान [भोजनालय, हलवाइयों की दुकान आदि], (वेश-मद्य-अन्नविक्रयाः) वेश्याघर, मद्यस्थान, अनाज बेचने का स्थान [मण्डी आदि], (चतुष्पथाः) चौराहे, (चैत्यवृक्षाः) प्रसिद्धवृक्ष जहां लोग इकट्ठे होकर बैठते हैं, (समाजाः) सार्वजनिक स्थान, (प्रेक्षणानि) तमाशे के स्थान, (जीर्ण+उद्यान+अरण्यानि) पुराने बगीचे और जंगल, (कारुक+आवेशनानि) शिल्पियों के स्थान, (शून्यानि अगाराणि) सूने पड़े हुए घर, (वनानि च उपवनानि) वन और उपवन, (राजा) राजा (एवंविधान् देशान्) ऐसे स्थानों में (तस्करप्रतिषेधार्थम्) चोरों को रोकने के लिए (स्थावर-जङ्गमैः गुल्मैः) एक स्थान पर रहने वाले और गश्त लगाने वाले सिपाहियों को (च) और (चारैः) गुप्तचरों को (अनुचारयेत्) विचरण कराये या नियुक्त करे॥ २६४—२६६॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः।
विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः॥ २६७॥ (११९)

(तत् सहायैः+अनुगतैः) उन चोर आदि के सहायकों और अनुगामियों से (नानाकर्मप्रवेदिभिः निपुणैः पूर्वतस्करैः) अनेक प्रकार के कर्मों को जानने वाले चतुर भूतपूर्व चोरों से भी (विद्यात्) चोरों का पता लगावे (च) और पता लगने पर उन्हें (उत्सादयेत्) दण्डित करे॥ २६७॥

भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः।
शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम्॥ २६८॥ (१२०)

वे सहयोगी या गुप्तचर लोग (भक्ष्य-भोज्य-अपदेशैः) खाने के पदार्थों का लालच देकर (च) और (ब्राह्मणानां दर्शनैः) ब्रह्मवेत्ता विद्वानों के दर्शनों के बहाने (च) तथा (शौर्यकर्म-अपदेशैः) कोई शौर्यकर्म दिखाने के बहाने से (तेषां समागमं कुर्युः) उन चोर आदि को सिपाहियों से मिला दें—गिरफ्तार करा दें।
॥ २६८॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये।
तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान्॥ २६९॥ (१२१)

(ये) जो चोरों के सहयोगी और चोर (मूलप्रणिहिताः) पकड़े जाने की शंका से (तत्र न+उपसर्पेयुः) वहां [सिपाहियों के पास या गुप्तचरों द्वारा निश्चित स्थान पर] न आवें तो (नृपः) राजा (समित्र-ज्ञाति-बान्धवान् तान्) मित्र, रिश्तेदार और बान्धवों सहित उन चोरों को (प्रसह्य) बलपूर्वक पकड़कर (हन्यात्) दण्डित करे ॥ २६९ ॥

न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः ।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥ २७० ॥ (१२२)

(धार्मिकः नृपः) धार्मिक राजा (होढेन विना) चोरी का माल आदि प्रमाण के बिना (चौरं न घातयेत्) चोर को न मारे, किन्तु (सहोढं स+उपकरणम्) चोरी का माल, और सेंध मारने आदि के औजार आदि प्रमाण उपलब्ध होने पर (अविचारयन् घातयेत्) अवश्य दण्डित करे ॥ २७० ॥

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ।
भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत् ॥ २७१ ॥ (१२३)

(च) और (ग्रामेषु अपि ये केचित्) गांवों में भी जो कोई (चौराणां भक्तदायकाः भाण्ड-अवकाशदाः) चोरों को भोजन देने वाले, वर्तन और स्थान देने वाले हों (तान् सर्वान् अपि घातयेत्) राजा उन सबको भी दण्डित करे। ॥ २७१ ॥

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् ।
अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्छिष्याच्चौरानिव द्रुतम् ॥ २७२ ॥ (१२४)

राजा (राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्) राज्य में रक्षा के लिए नियुक्त (च) और (सामन्तान् चोदितान्) सीमाओं पर नियुक्त राजपुरुषों को (अभ्याघातेषु मध्यस्थान्) यदि चोरी आदि के मामले में मिला हुआ पाये तो उनको भी (चौरान्+इव द्रुतं शिष्यात्) चोर के समान ही शीघ्रतापूर्वक दण्ड दे ॥ २७२ ॥

ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने ।
शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥ २७४ ॥ (१२५)

(ग्रामघाते) चौर आदि के द्वारा गांव को लूटने के मौके पर (हिताभङ्गे) पुल टूटने में (पथि मोष-अभिदर्शने) रास्ते में चोर आदि के दिखाई पड़ने पर (शक्तितः न+अभिधावन्तः) यथाशक्ति दौड़कर रक्षा न करने वालों को (सपरिच्छदाः निर्वास्याः) गृहसामग्री सहित उस देश से निकाल देवे ॥ २७४ ॥

राज्ञः कोषापहर्तृंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥ २७५ ॥ (१२६)

(राज्ञः कोषहर्तॄन्) राजा के खजाने को चुराने वाले (च) और (प्रतिकूलेषु स्थितान्) राज्य के विरोधीकार्यों में संलग्न (च) तथा (अरीणाम् उपजापकान्) शत्रुओं को भेद देने वाले, इन्हें राजा (विविधैः दण्डैः घातयेत्) विविध प्रकार के दण्डों से दण्डित करे ॥ २७५ ॥

संधिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः ।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् ॥ २७६ ॥(१२७)

(ये तस्कराः) जो चोर (रात्रौ सन्धिं छित्त्वा) रात को सेंध मारकर (चौर्यं कुर्वन्ति) चोरी करते हैं (नृपः) राजा (तेषां हस्तौ छित्त्वा) उनके हाथ काटकर (तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्) तेज शूली पर चढ़ा दे ॥ २७६ ॥

अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे ।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥ २७७ ॥ (१२८)

राजा (ग्रन्थिभेदस्य) जेबकतरे चोर की (प्रथमे ग्रहे) पहली बार पकड़े जाने पर (अङ्गुलीः छेदयेत्) अंगुलियां कटवादे (द्वितीये हस्तचरणौ) दूसरी बार पकड़े जाने पर हाथ-पैर कटवादे (तृतीये वधम्+अर्हति) तीसरी बार पकड़े जाने पर वध कर दे ॥ २७७ ॥

अग्निदान्भक्तदाँश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् ।
संनिधातॄंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥ (१२९)

(ईश्वरः) राजा (मोषस्य अग्निदान् भक्तदान् शस्त्र-अवकाशदान् च संनिधातॄन्) चोरों को अग्नि, भोजन, शस्त्र, स्थान देने वाले और चोरी के माल को रखने वाले लोगों को भी (चौरम्+इव हन्यात्) चोर की तरह ही [९।२७७ जैसे] दण्डित करे ॥ २७८ ॥

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा ।
यद्वाऽपि प्रतिसंस्कुर्याद् दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ २७९ ॥ (१३०)

राजा (तडागभेदकं हन्यात्) तालाब आदि को तोड़ने वालों का वध करे (वा) अथवा (अप्सु शुद्धवधेन) जल में डुबोकर या साधारण तरीके से मारे (यद् वा+अपि) यदि (प्रतिसंस्कुर्यात्) तोड़े हुए को पुनः ठीक करवा दे तो (उत्तमसाहसं दाप्यः) 'उत्तमसाहस' का दण्ड [८।१३८] करे ॥ २७९ ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् ।
आगमं वाऽप्यपां भिद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१ ॥ (१३१)

(यः तु) जो व्यक्ति (पूर्वनिविष्टस्य तडागस्य) किसी के द्वारा पहले

बनाये गये तालाब का (उदकं हरेत्) पानी चुराले (वा) अथवा (अपाम्+आगम भिद्यात्) जल आने का रास्ता तोड़दे (सः सर्वसाहसं दाप्यः) उसे 'पूर्वसाहस' [८। १३८] का दण्ड दे ।। २८१ ।।

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ।। २८२ ।। (१३२)

(यः तु) जो व्यक्ति (अनापदि) स्वस्थ अवस्था में (राजमार्गे) सड़क पर मुख्य रास्ते या गली पर (अमेध्यं समुत्सृजेत्) मल, मूत्र आदि डाले तो (सः द्वौ कार्षापणौ दद्यात्) उस पर दो 'कार्षापण' [८। १३६] दण्ड करे (च) और (आशु अमेध्यं शोधयेत्) तुरन्त उस गन्दगी को साफ करवाये ।। २८२ ।।

आपद्गतोऽथवा वृद्धा गर्भिणी बाल एव वा ।
परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ।। २८३ ।। (१३३)

(आपद्गतः) कोई रोगी या आपत्तिग्रस्त व्यक्ति (वृद्धा गर्भिणी वा बालः) वृद्धा, गर्भवती या बालक राजमार्ग को गन्दा करें तो (परिभाषणम्+अर्हन्ति) उनको उसके न करने के लिए कहे या फटकार दे (च) और (तत् शोध्यम्) उसकी सफाई कराले (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्रमर्यादा है ।। २८३ ।।

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः ।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ।। २८४ ।। (१३४)

(सर्वेषां चिकित्सकानाम्) सभी चिकित्सकों में (अमानुषेषु मिथ्या प्रचरताम्) पशुओं की गलत चिकित्सा करने वालों को (प्रथमः दमः) 'प्रथमसाहस' [८।१३८] का दण्ड करे, और (मानुषेषु मध्यमः) मनुष्यों की गलत चिकित्सा करने पर 'मध्यम साहस' का दण्ड करे ।। २८४ ।।

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतीमानां च भेदकः ।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ।। २८५ ।। (१३५)

(संक्रम-ध्वज-यष्टीनाम्) संक्रम अर्थात् रथ, उस रथ के ध्वजा की यष्टि जिसके ऊपर ध्वजा बांधी जाती है (च) और (प्रतिमानां भेदकः) प्रतिमा= छटांक आदिक बटखरे, जो इन तीनों को तोड़ डाले वा अधिक न्यून कर देवे (तत् सर्वं प्रतिकुर्यात्) उनको उससे राजा बनवा लेवे (च) और (पञ्चशतानि दद्यात्) जिसका जैसा ऐश्वर्य, उसके योग्य दण्ड करे—जो दरिद्र होवे तो उससे पांच सौ पैसा राजा दण्ड लेवे; और जो कुछ धनाढ्य होवे तो पांच सौ रुपया उससे दण्ड लेवे; और जो बहुत धनाढ्य होवे उससे पांच सौ अशर्फी दण्ड लेवे । रथादिकों को उसी के हाथ से बनवा लेवे ।। २८५ ।।

(द० शा० ५१, प० वि० १२)

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः॥ २८६॥ (१३६)

(अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे) अच्छी वस्तुओं में खराब वस्तुओं की मिलावट करके उन्हें दूषित करने पर (तथा) तथा (भेदने) अच्छी वस्तुओं को बिगाड़ने पर (च) और (मणीनाम्+अपवेधे) मणि आदि रत्नों को तोड़ने-फोड़ने के अपराध में (प्रथमसाहसः दण्डः) 'प्रथमसाहस' [८।१३८] का दण्ड दे॥ २८६॥

समैर्हि च विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा।
समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा॥ २८७॥ (१३७)

(यः तु) जो (नरः) मनुष्य (समैः) समानमूल्य वाली वस्तुओं के बदले (अपि वा मूल्यतः) अथवा सही मूल्य से (विषमं चरेत्) कम वस्तु देने का व्यवहार करे, वह (पूर्वं वा मध्यमम्+एव दमं समाप्नुयात्) 'पूर्वसाहस' या 'मध्यमसाहस' [८।१३८] दण्ड का भागी होता है॥ २८७॥

बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत्।
दुःखिता यत्र दृश्येरन् विकृताः पापकारिणः॥ २८८॥ (१३८)

(राजा) राजा (सर्वाणि बन्धनानि) कारागार आदि बन्धनगृह (मार्गे निवेशयेत्) प्रधान मार्गों पर बनवावे (यत्र) जहां (दुःखिताः विकृताः पापकारिणः दृश्येरन्) हथकड़ी, बेड़ी आदि से दुःखी हुए, बिगड़ी हुई हालत वाले अपराधी लोग दिखाई देते रहें [जिससे कि जनता के मन में अपराधों के प्रति भय की प्रेरणा उत्पन्न होती रहे]॥ २८८॥

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम्।
द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत्॥ २८९॥ (१३९)

राजा (प्राकारस्य भेत्तारम्) नगर के परकोटे को तोड़ने वाले (च) और (परिखाणां पूरकम्) नगर के चारों ओर की खाई को भरने वाले (च) तथा (द्वाराणां भक्तारम्) नगर-द्वारों को तोड़ने वाले व्यक्ति को (क्षिप्रम्+एव प्रवासयेत्) तुरन्त देशनिकाला दे दे॥ २८९॥

सात राजप्रकृतियाँ—

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥२९४॥ (१४०)

(स्वामी-अमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्) १-स्वामी, २- मन्त्री, ३- किला, ४–राष्ट्र, ५–कोश, ६–दण्ड और ७–मित्र (एताः सप्त प्रकृतयः)

ये सात राजप्रकृतियां हैं (सप्ताङ्गं राज्यम्+उच्यते) इनसे युक्त होने से राज्य 'सप्ताङ्ग'=सात अङ्गों वाला कहलाता है ॥ २९४ ॥

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५ ॥ (१४१)

(राज्यस्य+आसां सप्तानां प्रकृतीनां तु) राज्य की इन सात प्रकृतियों में (यथाक्रमं पूर्वं पूर्वं व्यसनं महत् गुरुतरं जानीयात्) क्रमशः पहली-पहली प्रकृति सम्बन्धी आपत्ति को बड़ी समझे [जैसे—राजा से कम मन्त्री पर आपत्ति, मन्त्री से कम किले पर आपत्ति आदि] ॥ २९५ ॥

सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किंचिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥ (१४२)

(इह) इसमें (त्रिदण्डवत्) तीन पायों पर स्थित तिपाई के समान (सप्ताङ्गस्य विष्टब्धस्य राज्यस्य) सात प्रकृतिरूपी अंगों पर स्थित इस राज्य में (अन्योन्यगुणवैशेष्यात्) सभी अंगों के अपनी-अपनी विशेषताओं से युक्त और परस्पर आश्रित होने के कारण (किंचित् न अतिरिच्यते) कोई अंग फालतू अर्थात् छोड़ने योग्य नहीं है ॥ २९६ ॥

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७ ॥ (१४३)

(तेषु तेषु तु कृत्येषु) उन प्रकृतियों के अपने-अपने कार्यों में (तत् तत् अङ्गं विशिष्यते) वह-वह प्रकृति-अंग विशेष है (यत् कार्यं येन साध्यते) जो कार्य जिस प्रकृति से सिद्ध होता है (तस्मिन् तत् श्रेष्ठम्+उच्यते) उसमें वही प्रकृति श्रेष्ठ मानी गई है । अर्थात् समयानुसार सभी प्रकृतियों की श्रेष्ठता है अतः किसी को कम महत्त्वपूर्ण समझकर त्याज्य न समझें ॥ २९७ ॥

चारेणोत्साहयोगेन च क्रिययैव च कर्मणाम् ।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥ २९८ ॥ (१४४)

(चारेण) गुप्तचरों से (उत्साहयोगेन) सेना के उत्साह सम्बन्ध से (च) और (कर्मणां क्रियया) राज्यशक्ति वर्धक नये-नये कार्यों के करने से (महीपतिः) राजा (स्वशक्तिं च परशक्तिं नित्यं विद्यात्) अपनी शक्ति और शत्रु की शक्ति की सदा जानकारी रखे ॥ २९८ ॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च ।
आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ २९९ ॥ (१४५)

(सर्वाणि पीडनानि) अपने तथा शत्रु के राज्य में आई सभी व्याधि,

आपत्ति आदि पीड़ाओं को (तथैव व्यसनानि) तथा व्यसनों के प्रसार को (च) और (गुरु-लाघवं विचिन्त्य) बड़े-छोटे अर्थात् अपने और शत्रु राजा में कौन कम-अधिक शक्तिशाली है (विचिन्त्य) इन बातों पर विचार करके (ततः कार्यम्+आरभेत) उसके पश्चात् राजा सन्धि-विग्रह आदि कार्य को आरम्भ करे ॥ २९९ ॥

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः पुनः पुनः ।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीनिषेवते ॥ ३०० ॥ (१४६)

(श्रान्तः श्रान्तः) बार-बार हारा-थका हुआ भी राजा (कर्माणि पुनः-पुनः आरभेत एव) कार्यों को फिर-फिर अवश्य आरम्भ करे (हि) क्योंकि (कर्माणि+आरभमाणं हि पुरुषम्) कर्मों को आरम्भ करने वाले पुरुष को ही (श्रीः निषेवते) विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ३०० ॥

राजा के शासन में ही चार युग—

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥ (१४७)

(कृतं त्रेतायुगं द्वापरं च कलिः) सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग (सर्वाणि राज्ञः वृत्तानि) ये सब राजा के ही आचार-व्यवहार विशेष हैं अर्थात् राजा जैसा राज्य को बनाता है उस राज्य में वैसा ही युग बन जाता है (राजा हि युगम्+उच्यते) वस्तुतः राजा ही 'युग' कहलाता है अर्थात् राजा ही युगनिर्माता है ॥ ३०१ ॥

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥ (१४८)

(प्रसुप्तः कलिः भवति) जब राजा सोता है अर्थात् राज्यकार्य में उपेक्षा बरतता है तो वह 'कलियुग' होता है, (सः जाग्रत् द्वापरं युगम्) जब वह जागता है अर्थात् राज्यकार्य को साधारणतः करता रहता है तो वह 'द्वापरयुग' है, और (कर्मसु+अभ्युद्यतः त्रेता) राज्य और प्रजा हितकारी कार्यों में जब राजा सदा उद्यत रहता है वह 'त्रेतायुग' है, (विचरन् तु कृतं युगम्) जब राजा सभी कार्यों को तत्परतापूर्वक करते हुए अपनी प्रजा के दुःखों को जानने के लिए राज्य में विचरण करता है वह 'सतयुग' है ॥ ३०२ ॥

राजा के आठ रूप—

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च ।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥ ३०३ ॥ (१४९)

(नृपः) राजा (इन्द्रस्य+अर्कस्य वायोः यमस्य वरुणस्य चन्द्रस्य+अग्नेः पृथिव्याः तेजः वृत्तम् चरेत्) इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि, पृथिवी इनके तेजस्वी स्वभाव के अनुसार ही आचरण-व्यवहार करे [द्रष्टव्य ७।४–७] ॥ ३०३ ॥

वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति ।
तथाऽभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ३०४ ॥ (१५०)

(यथा+इन्द्रः वार्षिकान् चतुरः मासान्) जैसे इन्द्र [=वृष्टिकारक शक्ति] प्रत्येक वर्ष के श्रावण आदि चार मासों में (अभिप्रवर्षति) जल बरसाता है (तथा इन्द्रव्रतं चरन्) उसी प्रकार इन्द्र के व्रत को आचरण में लाता हुआ राजा (स्वं राष्ट्रं कामैः अभिवर्षेत्) अपने राष्ट्र की कामनाओं को पूर्ण करे ॥ ३०४ ॥

अष्टौ मासान् यथाऽऽदित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥ ३०५ ॥ (१५१)

(यथा+आदित्यः) जैसे सूर्य (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (अष्टौ मासान् तयं हरति) आठ मास तक जलग्रहण करता है (तथा) उसी प्रकार राजा (राष्ट्रात् नित्यं करं हरेत्) राष्ट्र से कर ग्रहण करे (अर्कव्रतं हि तत्) यही राजा का 'अर्कव्रत' है ॥ ३०५ ॥

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥ (१५२)

(यथा मारुतः) जैसे वायु (सर्वभूतानि प्रविश्य) सब प्राणियों में प्रविष्ट होकर (चरति) विचरण करता है (तथा) उसी प्रकार (चारैः प्रवेष्टव्यम्) राजा को गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रवेश करना चाहिए (एतत् हि मारुतं व्रतम्) यही राजा का 'मारुतव्रत' है ॥ ३०६ ॥

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥ ३०७ ॥ (१५३)

(यथा यमः) जिस प्रकार यम=मृत्यु (काले प्राप्ते) समय आने पर (प्रिय-द्वेष्यौ नियच्छति) प्रिय और शत्रु सबको मारता है (राज्ञा तथा प्रजाः नियन्तव्याः) राजा को उसी प्रकार अपराध करने पर प्रिय-शत्रु सभी प्रजाओं को न्यायपूर्वक दण्ड देना चाहिए (तत् हि यमव्रतम्) यही राजा का 'यमव्रत' है ॥ ३०७ ॥

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥ (१५४)

(यथा) जिस प्रकार अपराधी मनुष्य (वरुणेन पाशैः बद्धः एव+अभि-

दृश्यते) वरुण के पाशों से मनुष्य बंधा हुआ दीखता है अर्थात् अवश्य बांधा जाता है (तथा) उसी प्रकार राजा भी (पापान् निगृह्णीयात्) पापियों=अपराधियों को सुधरने तक बन्धन में=कारागार में डाले रखे (एतत् हि वारुणं व्रतम्) यही राजा का 'वारुणव्रत' है ॥ ३०८ ॥

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥ ३०९ ॥ (१५५)

(यथा) जिस प्रकार (परिपूर्ण चन्द्रं दृष्ट्वा मानवाः हृष्यन्ति) पूर्ण चन्द्रमा को देखकर मनुष्य प्रसन्न होते हैं (तथा) उसी प्रकार (यस्मिन् प्रकृतयः) जिस राजा को पाकर-देखकर प्रजाएं हर्षित अनुभव करें (सः नृपः चान्द्रव्रतिकः) वह राजा 'चन्द्रवत' वाला है ॥ ३०९ ॥

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥ (१५६)

राजा (पापकर्मसु) पापियों में—पाप करने वालों को (नित्यम्) सदैव प्रतापयुक्तः तेजस्वी स्यात्) संतापित करने वाला और तेज से प्रभावित करने वाला होवे (च) और (दुष्टसामन्तहिंस्रः) दुष्ट मन्त्री आदि का मारने वाला होवे (तत् आग्नेयं व्रतं स्मृतम्) यही राजा का 'आग्नेयव्रत' कहा है ॥ ३१० ॥

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११ ॥ (१५७)

(यथा) जिस प्रकार (धरा) धरती (सर्वाणि भूतानि समं धारयते) सब प्राणियों को समानरूप से धारण करती है (तथा) उसी प्रकार (सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः) समान भाव से सभी प्राणियों को धारण-पोषण करने पर (पार्थिवं व्रतम्) राजा का 'पार्थिव व्रत' होता है ॥ ३११ ॥

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।
स्तेनान्राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२ ॥ (१५८)

(राजा) राजा (एतैः उपायैः च अन्यैः युक्तः) इन पूर्वोक्त उपायों तथा इनसे भिन्न जो और उपाय हों उनसे युक्त होकर (नित्यम्+अतन्द्रितः) सदा आलस्यहीन रहता हुआ (स्वराष्ट्रे च पर एव) अपने राष्ट्र में रहने वाले और दूसरे राष्ट्र से आकर चोरी करने वाले (स्तेनान् निगृह्णीयात्) चोरों को वश में करे ॥ ३१२ ॥

एव चरन् सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः ।
हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत् ॥ ३२४ ॥ (१५९)

(पार्थिवः) राजा (एवं चरन्) पूर्वोक्त [७ । १ से ९ । ३२४] प्रकार से आचरण करता हुआ (सदा राजधर्मेषु युक्तः) सदा राजधर्मों में स्वयं संलग्न रहकर (सर्वान् भृत्यान् एव) सभी राजकर्मचारियों को भी (लोकस्य हितेषु नियोजयेत्) प्रजाओं के हित-सम्पादन में लगाये ॥ ३२४ ॥

वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्य—

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ।
इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥ (१६०)

(एषः) यह [७ । १ से ९ । ३२४ तक] (राज्ञः सनातनः अखिलः कर्मविधिः उक्तः) राजा की सनातन और सम्पूर्ण कार्य करने की विधि कही ।

अब (वैश्य-शूद्रयोः) वैश्यों और शूद्रों की (कर्मविधिं इमं विद्यात्) इस कर्मविधि को अगले अध्याय में जानें ॥ ३२५ ॥

अनुशीलन—वर्तमान में उपलब्ध मनुस्मृति के नवमाध्याय में ३३६ श्लोक हैं। परन्तु हमने प्रकरणानुसार इस अध्याय की समाप्ति ३२५ पर की है क्योंकि मनु की प्रवचन-शैली का आधार प्रकरण है। यद्यपि नवम-दशम अध्यायों में चातुर्वर्ण्य-धर्म का ही वर्णन है। परन्तु जिस ३३६ श्लोक से वर्तमान में अध्याय की समाप्ति दिखाई गई है, वहाँ मुख्यविषय तो क्या, उपविषय भी समाप्त नहीं होता। इसलिये प्रचलित अध्यायों का विभाग दोषपूर्ण है। क्योंकि ३२५ श्लोक तक चातुर्वर्ण्य-धर्म के अन्तर्गत 'राजधर्म' का विषय समाप्त हो जाता है, अतः हमने इस अध्याय की समाप्ति यहां की है। और पठन-पाठन में भी विषय या उपविषय के अनुसार ही अध्यायों का विभाग ठीक रहता है।

नवमाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की सहेतुक समीक्षा

ये दो (९ । २–३) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त हैं—

१. अन्तर्विरोध—इन श्लोकों की मान्यता मनु-सम्मत नहीं है। इनमें स्त्रियों को स्वतंत्र न रखने की बात कही है, यह स्त्रियों के प्रति हीनभावना बहुत ही परवर्ती काल की है। मनु ने पुरुषों की भांति ही स्त्रियों के भी समान अधिकार माने हैं। उन्होंने इस शास्त्र में पति-पत्नी के समानस्तर के कर्त्तव्यों का विधान किया है। पत्नी को गृहस्वामिनी कहकर पत्नी की परतंत्रता की बात का खण्डन किया है। ९ ।१०१–१०२ में स्त्री-पुरुष के समान धर्मों का कथन किया है और ९ । १० में स्पष्ट कहा है कि स्त्रियों को कोई बलात् परवश करके दोषों से नहीं बचा सकता। ९ । ११ में स्त्री को सब

धन का अधिकार, धन का आय-व्यय का हिसाब रखना, धार्मिक कृत्यों की सब व्यवस्था और घर का सब प्रबन्ध का काम सौंपा है। और मनु ने ३। ५५ से ६३ तक श्लोकों में स्त्री का पूर्ण सत्कार करने और ६। २६ में गृहदीप्ति कहकर स्त्रियों का सम्मान तथा स्वतन्त्रता मानी है। अतः ये (२-३) श्लोक मनु की मान्यता से विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

ये ग्यारह (६। १४–२४) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंगविरोध**—६। ११ तक स्त्रियों की रक्षा की बात कहकर १२–१३ श्लोकों में स्त्रियों को दूषित करने वाले दुर्गुणों का परिगणन किया है। इसके पश्चात् इन श्लोकों में रक्षा के लिये एक नया प्रसंग प्रारम्भ करना असंगत है। एक प्रसंग के समाप्त होने पर पुनः उसको प्रारम्भ करना उचित भी नहीं है।

२. **विषय-विरोध**—इस अध्याय के प्रारम्भ में (६। १ में) प्रस्तुत विषय का निर्देश किया गया है अर्थात् स्त्री-पुरुष के संयोगकालीन कर्त्तव्यों का वर्णन करना। किन्तु इन श्लोकों में इस प्रस्तुत विषय को न कहकर स्त्रियों के स्वभाव का निन्दात्मक विश्लेषण किया है, जो कि विषयबाह्य होने से प्रक्षिप्त है।

३. **अन्तर्विरोध**—इन श्लोकों में स्त्रियों के निन्दात्मक स्वभाव का वर्णन करके स्त्रियों के प्रति हीनभावना और घृणाभाव दिखाया गया है। यह मनु की मौलिक भावना के विरुद्ध है। क्योंकि मनु स्त्रियों को पूजनीय, समानस्तरीय, घर की लक्ष्मी और पवित्र देवी मानते हैं। इस विषय में ये (३। ५५–६३, ६। २६, २८, ९६, १०१, १०२) मनु के श्लोक द्रष्टव्य हैं। और १८ वें श्लोक में स्त्रियों को वेदमन्त्रों के अधिकार से वञ्चित, निरिन्द्रय=धर्मज्ञान से रहित और अनृत=झूठ बोलने वाली कहा है। यह मनु तथा वेदादिशास्त्रों से विरुद्ध मान्यता है। मनु ने सभी धर्मकार्यों में स्त्रियों को पुरुष के समान अधिकार दिया है और धर्मकार्यों में स्त्री को प्रमुख माना है। क्या धर्मकार्य बिना मंत्र-पाठ के सम्भव है? इस विषय में ६। २८, ९६ श्लोक द्रष्टव्य हैं। और २। ६६ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

४. **शैली-विरोध**—१७ वें श्लोक में 'मनुरकल्पयत्' वाक्य से स्पष्ट है कि इन श्लोकों को मनु से भिन्न व्यक्ति ने बनाकर मनु के नाम से प्रमाणित करने की चेष्टामात्र की है। और २३–२४ श्लोकों में ऐतिहासिक शैली से कथन किया गया है। और अक्षमाला-वसिष्ठ, शारंगी-मन्दपाल के विवाहों का वर्णन है। ये व्यक्ति मनु से परवर्ती हैं, मनु इनके नामों का कथन कैसे कर

सकते थे ? अतः ये मनु की शैली के श्लोक नहीं हैं। और मनु ने पक्षपात रहित होकर गुण-दोष के आधार पर प्रशंसा या निन्दा की है। परन्तु इन श्लोकों में पक्षपातपूर्ण दुराग्रहवश होकर निन्दात्मक वर्णन किया गया है। इस शैली-विरोध के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। और प्रक्षेपक ने स्त्रियों के प्रति अत्यन्त सम्मान रखने वाले मनु पर १७वें श्लोक में 'क्रोध, द्रोह, निन्दित आचरणादि दुर्गुण स्त्रियों के लिये मनु ने कहे हैं' इस प्रकार का मिथ्या दोषारोपण ही किया है।

ये दोनों (९। २९-३०) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंगविरोध**—यहाँ पूर्वापर के श्लोकों में पुत्र-सम्बन्धी प्रसंग है। किन्तु इन श्लोक में स्त्री के आचरण और उसके फल का कथन प्रसंगविरुद्ध है। और क्रम को भंग करने वाला है।

२. **विषय-विरोध**—९। २५ श्लोक के अनुसार प्रस्तुतविषय प्रजाधर्म= सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी धर्मों के कथन का है। इनके मध्य में स्त्रियों के आचरण तथा उसके फल का कथन करना विषयबाह्य है। अतः विषयविरोध के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

३. **पुनरुक्ति-दोष**—ये दोनों ही श्लोक ५। १६४-१६५ में अक्षरशः आ चुके हैं। मनु ऐसी पुनरुक्त, विषयविरुद्ध और असंगत बातें कैसे कह सकते हैं ? अतः स्पष्ट है कि इन श्लोकों का रचयिता मनु से भिन्न कोई परवर्ती व्यक्ति है, जिसने पूर्वापर पर बिना विचारे ही इन श्लोकों का मिश्रण किया है।

ये छः (९। ३५-४०) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—यहाँ पूर्वापर श्लोकों का (३४ का ४१वें से) प्रसंग परस्पर संबद्ध है। क्यों कि दोनों श्लोकों में मानव-बीजवपन का प्रसंग है। प्रत्येक पुरुष को परस्त्री के साथ व्यभिचार से सदा बचना चाहिये। परन्तु इन श्लोकों में इस प्रसंग के विरुद्ध भूमि में किसानों के द्वारा बीज-वपन का वर्णन करना अप्रासंगिक है।

ये सात (९। ४२-४८) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—४१वें श्लोक में पर-स्त्री में बीजवपन का निषेध किया है। और ४९वें श्लोक में उसका कारण बताया है। इस प्रकार इन पूर्वापर श्लोकों में सम्बद्धता है। इन श्लोकों ने उस पूर्वापर प्रसंग को भंग कर दिया है। क्योंकि ४३ में शिकारी से बींधे मृग का, ४४ में पृथु की भार्या का दृष्टान्त और ४६-४७ में कन्यादान, विक्रयादि से पत्नी का पृथक् न होनादि बातों का कथन अप्रासंगिक है।

२. **विषय-विरोध**—९। २५ श्लोक के अनुसार प्रस्तुत विषय प्रजाधर्म=सन्तानोत्पत्ति-धर्मों के कथन का है। परन्तु ४२–४४ में शिकारी-पृथु के उदाहरणों ४५ में पुरुष की पूर्णता, ४६–४७ में कन्यादानादि के कथन और ४८ में पशुओं के उदाहरणों ने उस विषय से विरुद्ध कथन किया है अतः ये प्रक्षिप्त हैं।

३. **शैलीविरोध**—इन श्लोकों की शैली ऐतिहासिक है। ४४ वें श्लोक में पृथु-राजा का उदाहरण दिया है। मनु परवर्ती पृथु राजा का उदाहरण कैसे दे सकते हैं? और इसी प्रकार ४६ वें में 'प्रजापतिर्निर्मितम्' कहकर प्रक्षेपक ने प्रजापति के नाम से श्लोकों को प्रमाणित करने की चेष्टा की है। अतः शैलीविरोध के कारण भी ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये दोनों (९। ५०–५१) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—यहाँ पूर्वापर श्लोकों का प्रसंग प्ररस्पर सम्बद्ध है। ४९वं श्लोक में परस्त्री में बीज-वपन का कारण दिखाया है और उसका विकल्प ५२ वें श्लोक में दिखाया है। इस प्रकार दोनों श्लोकों में परस्पर संगति है। किन्तु इनके मध्य में इन दोनों श्लोकों ने उस क्रम को भंग कर दिया है।

२. **विषयविरोध**—९। २५ श्लोक के अनुसार प्रस्तुत श्लोकों का प्रसंग 'प्रजाधर्म' है। जिसे क्षेत्र और बीज के उदाहरण (९। ३३) द्वारा स्पष्ट किया गया है। इस विषय में पशुओं की प्रथा का उदाहरण विषयवाह्य है।

३. **अन्तर्विरोध**—९। ५० में जो बात कही है अर्थात् वृषभ के बीज बोने पर भी सन्तान गाय वालों की ही होती है, बीज वाले की नहीं। यह मान्यता ५२–५३ श्लोकों से विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकती। और ५१ वां श्लोक भी ५० वें से सम्बद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

४. **पुनरुक्तदोष**—५१ वें श्लोक में ४९ वें श्लोक की पुनरुक्तिमात्र है, अतः प्रक्षिप्त है। मनु इस प्रकार की परस्पर विरुद्ध, असंगत और पुनरुक्त बातों को कहीं नहीं कहते। अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये दोनों (९। ५४–५५) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त हैं—

१. **विषयविरोध**—९। २५, ३१ श्लोकों के अनुसार प्रस्तुत विषय है—सन्तानोत्पत्ति-धर्म का। जिसे मनु ने क्षेत्र बीज के उदाहरण (९। ३३ के) द्वारा स्पष्ट किया है। इन श्लोकों में जल-वायु का उदाहरण (५४) और पशु-प्रसव का उदाहरण (५५) उक्त विषय से बाह्य होने से विषयविरुद्ध है। क्योंकि राजा की न्यायसभा में विवाद उत्पन्न होने पर निर्णय किया जाता है।

किन्तु जिस बीज को हवा उड़ाकर स्थानान्तर में ले जाती है अथवा जल बहाकर दूसरे क्षेत्र में ले जाता है, उसके विषय में विवाद न होने से उदाहरण देना असंगत है।

ये दोनों (९।६०–६१) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **अन्तर्विरोध**—(क) इन श्लोकों में नियोग द्वारा एक अथवा दो पुत्रों की प्राप्ति का विधान किया है। यह विधान ९।५९ श्लोक से विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि उस श्लोक में ईप्सिता प्रजा=इच्छा के अनुसार सन्तान प्राप्त करे, यह लिखा है। संख्या का कोई निर्देश नहीं किया है।

२. **अवान्तरविरोध**—९।६० में एक पुत्र की नियोग से व्यवस्था लिखी है। और दूसरी सन्तान का बिल्कुल निषेध किया है। किन्तु ६१ वें श्लोक में उद्देश्य पूरा न होने पर दूसरी सन्तान को भी न्याययुक्त माना है। इन दोनों कथनों में परस्पर स्पष्ट विरोध है। इसलिये ९।५९ की व्यवस्था ही ठीक है। और ९।६२ में भी कोई संख्या नहीं लिखी है। केवल नियोग का उद्देश्य पूरा होने पर सन्तानोत्पत्ति का निषेध किया है।

ये दश (९।६४-७३) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **विषयविरोध**—९।५६ श्लोक के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग आपत्काल में स्त्री-पुरुष संयोग और वियोगकालीन धर्मों के कथन का है। तदनुसार ५६–५९ श्लोकों में उसका कथन भी किया है। किन्तु ६४–६८ श्लोकों में उस विषय का विरोध किया है और ६९-७३ श्लोकों में विषय से भिन्न देवर द्वारा कन्या-वरण, एक से वाग्दान करके दूसरे को कन्या न देना, छल से कन्या देने पर त्याग करना, इत्यादि बातों का वर्णन किया गया है। अतः विषय-विरुद्ध वर्णन होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

२. **अन्तर्विरोध**—मनु ने ९।५६-६३ श्लोकों में जिस नियोग-व्यवस्था का विधान किया है, उसका ९।६४-६८ श्लोकों में निषेध करने से ये श्लोक विषयविरुद्ध हैं। नियोग-व्यवस्था को ही इन दोनों व्यवस्थाओं में मौलिक क्यों माना जाये ? इस विषय में निम्न प्रमाण ही अन्तःसाक्षी हैं— (क) मनु ने नियोग का विधान प्रथम किया है। और बाद में किसी ने इनके खण्डन में श्लोक मिलाये हैं। (ख) और ९।५६ में इस विषय के प्रारम्भ का और ९।१०३ में इस बिषय की समाप्ति का स्पष्ट निर्देश किया है। (ग) (९।१४५-१४६) श्लोकों में नियोग से उत्पन्न पुत्र को दाय-भाग का पूर्ण-अधिकार दिया है। (घ) और ९।१४७ में नियोग-विधि को त्याग कर जो सन्तान उत्पन्न

की जाती है, उसका सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं माना है। इस प्रकार नियोग का विधान मौलिक सिद्ध होता है। अतः नियोग का खण्डन करने वाले श्लोक विषयविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

३. **वेद-विरुद्ध**—मनु ने धर्म-विषय में वेद को परम प्रमाण माना है। इसलिये मनु वेद-विरुद्ध कदापि नहीं कह सकते। ९।६५ वें श्लोक में कहा है कि नियोग-धर्म किसी वेद-मन्त्र में नहीं कहा है। यह प्रक्षेपक का कथन वेदमन्त्रों से अनभिज्ञता प्रकट करता है। क्योंकि वेदमन्त्रों में नियोग का स्पष्ट विधान किया गया है। इस विषय में कतिपय वेद-मन्त्र देखिए—

(क) इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ॥ (ऋ० १०।८५।४५)

अर्थात् "हे (मीढ्व इन्द्र) वीर्य के सेचने में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष ! तू इस विवाहित स्त्री वा विधवा स्त्रियों को श्रेष्ठ पुत्र और सौभाग्ययुक्त कर ॥"
(स० प्र० चतुर्थ०)

(ख) उदीर्ष्व नार्यमभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंवभूथ ॥
(ऋ० १०।१८।८)

"(नारि) विधवे तू (एतं गतासुम्) इस मरे हुए पति की आशा छोड़के (शेषे) बाकी पुरुषों में से (अभिजीव लोकम्) जीतेहुए दूसरे पति को (उपैहि) प्राप्त हो और (उदीर्ष्व) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) तुझ विधवा के पुनः पाणिग्रहण करने वाले नियुक्त पति के सम्बन्ध के लिए नियोग होगा तो (इदम्) यह (जनित्वम्) जना हुआ बालक उस नियुक्त (पत्युः) पति का होगा और जो तू अपने लिये नियोग करेगी तो यह सन्तान (तव) तेरा होगा। ऐसे निश्चययुक्त (अभिसंवभूथ) हो और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे ॥" (स० प्र० चतुर्थ०)

इत्यादि अनेक मन्त्रों में नियोगधर्म का वर्णन किया गया है।

४. **शैली-विरोध**—६६-६७ श्लोकों में राजा वेणु की बात ऐतिहासिक है। जो इन श्लोकों को स्पष्टरूप से परवर्ती सिद्ध करता है। मनु ऐसा ऐतिहासिक शैली से कहीं वर्णन नहीं करते।

५. इनमें ६७ वां श्लोक प्रक्षिप्त नहीं है। क्योंकि इसमें वाग्दान के बाद ही पति के मरने पर विवाह का विधान किया गया है, पुनर्विवाह का नहीं।

ये चार (९।७७—८०) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. अन्तर्विरोध—९।१०१ श्लोक में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध आमरणान्तिक=जीवनपर्यन्त माना है। अतः किसी दोष के कारण छोड़ने की बातें ठीक नहीं हैं। और विवाह से पूर्व भली-भांति परीक्षा की जाती है तो इन श्लोकों में कही बातें कैसे सम्भव हैं।

२. शैली-विरोध—और इन श्लोकों में पक्षपातपूर्ण वर्णन किया गया है। क्योंकि जैसे दोष स्त्री में सम्भव हैं, वैसे मद्यपानादि दोष पुरुष में भी सम्भव हैं। केवल स्त्रियों के दोष कहकर त्यागने की बात कहना पक्षपात-पूर्ण है। मनु की प्रवचन-शैली में समता और न्याययुक्त बातों का ही समावेश होता है। अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये छः (९।८२—८७) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. अन्तर्विरोध—(क) ९।८५-८७ श्लोकों में बहुपत्नीवाद का वर्णन होने से ये श्लोक मनुसम्मत नहीं हैं। मनु ने ३।४-५ में स्पष्ट एकवचन का प्रयोग करके एकपत्नी का ही विधान किया है। (ख) और इन श्लोकों में असवर्णा-कन्याओं के साथ भी विवाह का विधान है, यह भी मनुसम्मत नहीं है। क्योंकि मनु ने "उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।" [३।४] कहकर सवर्णा कन्या से ही विवाह का विधान किया है। अतः विरोधी कथन के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

२. शैली-विरोध—९। ८२—८४ श्लोकों में किन्हीं दोषों के कारण विवाहित स्त्री को छोड़कर पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकार दिया गया है। यह पक्षपातपूर्ण कथन होने से मनु सम्मत नहीं है। और प्रथमतो विवाह से पूर्व परीक्षा करने पर ऐसे दोषों की सम्भावना ही नहीं है। और यदि स्त्रियों में दोषों का होना सम्भव है तो पुरुषों में मद्यपानादि दोष क्यों सम्भव नहीं हैं? यदि पुरुषों को पुनर्विवाह का अधिकार है तो स्त्रियों को क्यों नहीं ? इस प्रकार पक्षपातपूर्ण वर्णन मनुप्रोक्त कदापि नहीं हो सकता। अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये चार (९।९२—९५) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. विषयविरोध—मनु के (९।१, १०३ में) विषय का निर्देश करने वाले श्लोकों से स्पष्ट है कि प्रस्तुत विषय स्त्री-पुरुषों के संयोग-वियोगकालीन धर्मों के कथन का है। किन्तु स्वयंवर विवाह करने वाली कन्या का पिता, माता तथा भाई के धन को लेने पर चोर के समान दोष (९२) ऋतुमती कन्या का हरण=लेने वाला पिता को शुल्क न देवे (९३) विवाह की वर-वधू की आयु का निर्धारण (९४) इत्यादि बातों का वर्णन प्रस्तुत विषय से भिन्न होने से विषय-विरुद्ध है।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) मनु ने स्वयंवर-विवाह का ही विधान किया है और विवाह में माता-पिता आदि कन्या को अलंकारादि से भूषित करें, यह मनु ने (३।५५, ५९ में) विधान किया है किन्तु इस ९।९२ में पितृ-गृह से मिलने वाले आभूषणों को लेने वाली कन्या को चोर कहना पूर्वोक्त विधान से विरुद्ध है।

(ख) ९३–९४ श्लोकों में विवाह के लिये वर-वधू की आयु का निर्धारण मनु के विधान से विपरीत है। इन श्लोकों में कन्या के ऋतुमती होने पर पिता का स्वामित्व समाप्त होना माना है, परन्तु ९।९० श्लोक में मनु ने ऋतुमती होने के बाद तीन वर्ष तक विवाह का निषेध किया है और विवाह की आयु वर की ३० वर्ष और कन्या की १२ वर्ष, वर की २४ वर्ष और कन्या की आठ वर्ष मनु के (३।१–२) विधान से विरुद्ध है। मनु ने (४।१ में) आयु के द्वितीय भाग को विवाह के लिये लिखा है। अतः वर-वधू का युवावस्था में विवाह करना चाहिये। ८ अथवा १२ वर्ष की कन्या युवति नहीं होती। ऋतुमती होने के तीन वर्ष बाद कन्या के विवाह का विधान किया है (९।९०)। अतः कन्या के विवाह की आयु का निर्धारण इन श्लोकों में मनु की मान्यता से विरुद्ध है।

ये चार (९।९७—१००) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंगविरोध**—यहाँ पूर्वापर के श्लोकों में स्त्री-पुरुषों के संयोगकालीन धर्मों का वर्णन किया गया है और ९।१०१—१०३ श्लोकों में कहा है कि स्त्री-पुरुष साथ-साथ हीं रहें। किन्तु इन श्लोकों ने उस क्रम को भंग कर दिया है; अतः ये श्लोक अप्रासंगिक हैं।

२. **विषय-विरुद्ध**—यहाँ प्रस्तुत विषय स्त्री-पुरुषों के संयोगकालीन धर्मों के कथन का है। परन्तु इन श्लोकों में विवाह से पूर्व शुल्क देने वाले वर की मृत्यु होने पर देवर के साथ विवाह करना (९७) विवाह में शूद्र भी कन्या के लिये शुल्क न लेवे (९८) एक को कन्या देने का वचन देकर दूसरे को न देना (९९) इत्यादि बातें विषय-बाह्य कही गई हैं। अतः विषयविरुद्ध होने से ये श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हैं।

३. **शैलीविरोध**—और १०० वें श्लोक में कहा है कि पहले जन्मों में भी शुल्क देकर दुहिता का विक्रय हमने नहीं सुना। यह बात युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि पूर्वजन्म की बातें किसी को स्मरण नहीं रहतीं, तो दुहिता विक्रय की बात कैसे याद रहेगी? धर्म-शास्त्र में ऐसी बातों से कदापि निर्णय सम्भव नहीं है। मनु के प्रवचन में ऐसी अयुक्तियुक्त बातें कहीं भी नहीं हैं।

ये दोनों (९।१०६—१०७) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—ये दोनों श्लोक पूर्वापर प्रसंग को भंग कर रहे हैं। यहाँ १०५ श्लोक में संयुक्त परिवार में पिता की सम्पत्ति पर बड़े पुत्र का अधिकार बताकर कहा है कि दूसरे पुत्र उस के साथ रहकर जीवन वितायें और १०८ वें श्लोक में बड़े पुत्र का कर्त्तव्य बताया है कि वह छोटे भाइयों का पालन पिता की भांति ही करे। और छोटे भाई बड़े भाई को पिता की भांति समझें। इस प्रकार दोनों का प्रसंग परस्पर सम्बद्ध है। और इनके क्रम को ये दोनों श्लोक भंग करने से प्रक्षिप्त हैं।

२. **अन्त-विरोध**—(क) मनु ने पैतृक-सम्पत्ति के दो विकल्प रक्खे हैं—(१) संयुक्त परिवार में बड़ा पुत्र सम्पत्ति का अधिकारी बने और वह छोटे भाई-बहनों का पालन-पोषण पिता की भांति ही करे (१०५, १०८) अथवा संयुक्त परिवार न रह सके तो सभी भाई पैतृक-सम्पत्ति को बराबर-बराबर[1] बांट लेवें (१०४)। परन्तु इस तथ्य को न समझकर प्रक्षेपक ने (१०६ श्लोक में) ज्येष्ठ-पुत्र की महिमा बताते हुए उसको पैतृक-सम्पत्ति का पूर्ण अधिकारी बताया है। यह अविवेकपूर्ण कथन ठीक नहीं है। और इसका १०४ श्लोक से विरोध भी दूर नहीं किया जा सकता।

(ख) और १०७ श्लोक में बड़े पुत्र को धर्मज और दूसरे पुत्रों को कामज माना है, यह भी मनुसम्मत नहीं है। क्योंकि मनु ने (६। ३६ में) 'पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः' कहकर सब पुत्रों को धर्मज माना है।

(ग) और यह कथन भी मनु से विरुद्ध है कि ज्येष्ठ-पुत्र से "आनत्यमश्नुते" (१०७) अर्थात् पिता पितृ-ऋण से छूटकर मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष की प्राप्ति जीवात्मा के अपने शुभ कर्मों से होती है। केवल बड़े पुत्र से मोक्ष की प्राप्ति मानना मिथ्या बात है। क्योंकि बड़े पुत्र तो सभी के होते हैं, क्या सभी मोक्ष के अधिकारी मान लिये जायें ? और मोक्ष-प्राप्ति बड़े पुत्र से सम्भव है, तो मनु के उपदिष्ट दूसरे मोक्षप्राप्ति के साधन निरर्थक ही हो जायेंगे। अतः इन अन्तर्विरोधों के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

यह (९। १०९ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. **शैली-विरोध**—मनु के प्रवचन में समभाव, न्याययुक्त व्यवहार और युक्तियुक्त बातों का कथन होता है। संयुक्त परिवार में बड़े पुत्र के कर्त्तव्य अधिक होते हैं। यदि उसमें बडप्पन के गुण न हो तो उसे मनु ने (११० में)

---

१. मनु ने इस विकल्प की पुष्टि ९। १११ श्लोक में "एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया" कहकर की है।

दूसरे भाइयों की भांति ही माना है। परन्तु इस श्लोक में निरर्थक पक्षपातपूर्ण ज्येष्ठ-पुत्र की महिमा का वर्णन किया है। और दूसरे पुत्रों को गर्हित मानकर बड़े पुत्र का सम्मान दिखाया है। परन्तु मनु की मान्यता में बड़े छोटे के कारण सम्मान नहीं होता, प्रत्युत गुणो के कारण होता है। और लोक में भी देखा जाता है कि, अनेक परिवारो में बड़ों की अपेक्षा छोटे अधिक गुणवान् होते हैं। क्या उस दशा में छोटों का सम्मान न करके बड़े पुत्र का ही सम्मान करना चाहिये ? अतः ये महिमात्मक श्लोक असंगत एवं निरर्थक हैं।

ये तीन (९। ११३—११५) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—यहाँ पूर्वापर श्लोकों में (९। ११२, ११६ में) दायभाग में 'उद्धार भाग' निकालने का प्रसंग है। किन्तु इन श्लोकों में 'उद्धार' से भिन्न बातों का ही (मध्यमादि का) वर्णन किया गया है। और ११५ वें श्लोक में 'उद्धारभाग' का कथन किया है, यह पुनरुक्त तथा अस्पष्ट है। 'उद्धारभाग' का वर्णन ११२ वें तथा ११६ वें श्लोक में बहुत स्पष्ट है।

२. **अन्तर्विरोध**—यहाँ ११४ वें श्लोक में बड़े भाई को सभी प्रकार की वस्तुओं में से श्रेष्ठ-वस्तु को लेने को कहा है। परन्तु ११२ वें में बीसवां भाग लेने को कहा है। अतः ११४ वें का विधान पूर्वोक्त से विरुद्ध है।

(ख) ११४ वें श्लोक में कहा है कि दश पशुओं में से बड़ा भाई एक श्रेष्ठ पशु को ले लेवे, परन्तु ११५ वें श्लोक में उसका निषेध किया है। अतः यह परस्पर विरोधी कथन मनुप्रोक्त नहीं हो सकता।

ये सात (९। १२०—१२६) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—१०३ श्लोक से दायभाग के विवरण=पैतृक धन के बंटवारे का प्रसंग चल रहा है। उसी प्रसंग में नियोग से उत्पन्न पुत्रों के दायभाग का प्रसंग इन श्लोकों में (१२०–१२६ में) चलाया गया है। यह इसलिये अप्रासंगिक है, क्योंकि मनु ने ९। १४५–१४७ श्लोकों में नियोग से उत्पन्न पुत्रों के दाय-भाग का वर्णन पृथक् किया है। उस पृथक् प्रसंग से पूर्व ही उसका प्रारम्भ करना मनुप्रोक्त नहीं है।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) मनु ने १४५–१४६ श्लोकों में नियोग से उत्पन्न सन्तान के लिये जो दाय-भाग की व्यवस्था लिखी है, उसके विरुद्ध यहाँ (१२०–१२१ श्लोकों में) लिखी है। एक ही प्रवक्ता के प्रवचन में यह असमानता नहीं हो सकती।

(ख) और १२२–१२६ श्लोकों में बहुपत्नी-प्रथा का वर्णन किया गया है

यह भी मनु की मान्यता के विरुद्ध है। मनु ने सर्वत्र एकपत्नी-व्रत का ही विधान किया है। इस विषय में ५।१६७, १६८, ७।७७, ३।४-५ इत्यादि श्लोक द्रष्टव्य हैं। अतः बहुपत्नीवाद और उनकी सन्तानों का दायभाग का विधान मनु-प्रोक्त कदापि नहीं हो सकता।

ये दो (९।१२८-१२९) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त हैं—

१. शैलीगत-विरोध—(क) इन दोनों की ऐतिहासिक शैली होने से ये श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हैं। दक्ष प्रजापति ने 'पुत्रिका' के विधान को अपनाया था, जिससे कुल की वृद्धि हो सके। यहाँ दक्ष प्रजापति का पौराणिक घटना से सम्बन्ध होने से ये श्लोक परवर्ती हैं। मनु परवर्ती दक्षादि का उल्लेख अपने शास्त्र में कर भी नहीं सकते।

(ख) और (१२९ में) दक्ष ने धर्मराज, कश्यप, और सोम राजा को कन्यायें दीं, ये पौराणिक काल्पनिक घटनायें ही हैं। ऐसी काल्पनिक बातें मनु-प्रोक्त नहीं हो सकतीं।

२. प्रसंग-विरोध—प्रस्तुत प्रसंग (१२७ में) पुत्रिकाधर्म सन्तान के अभाव में अपनी कन्या के पुत्र को रखने का है। परन्तु १२९ वें श्लोक में कन्या देने की बात उससे विरुद्ध है।

ये दोनों (९।१३२, १३३) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. विषयविरोध—९।१०३ श्लोक के अनुसार प्रस्तुत-विषय दायभाग के कथन का है। इसमें पिण्ड-दान का वर्णन विषय-विरुद्ध है। और यह कथन भी मिथ्या है कि पैतृक धन के उत्तराधिकारी का यह पिण्ड-दान करना एक कर्त्तव्य बताया गया है, यह बात भी उचित नहीं। क्योंकि कर्त्तव्यों में क्या पिण्ड-दान ही कर्त्तव्य है? अन्य कर्त्तव्यों का कथन क्यों नहीं किया? और "भस्मान्तं शरीरम्" (यजु०) इस वेद के निर्देशानुसार शारीरिक सभी प्रकार के कर्त्तव्य जीवित-दशा में ही होते हैं मरणोत्तर नहीं। अतः मरणोत्तर पिण्ड-दान करना असत्य-धारणा है। और १३३ वां श्लोक १३२ से सम्बद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

२. शैलीविरोध—१३३ वें श्लोक में पौत्र-दौहित्र का अभेद कथन अयुक्ति-युक्त है। अन्यथा १२७ वें श्लोक में 'पुत्रिका' करने की क्या आवश्यकता है? दौहित्र का धन का अधिकार पौत्र की भांति कदापि नहीं हो सकता। केवल आपत्काल (सन्तान के अभाव में) में ही 'पुत्रिका' धर्मानुसार दौहित्र का अधिकार मनु ने माना है।

ये तीनों (९। १३५-१३७) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **विषयविरोध**—प्रस्तुत विषय दाय-भाग के वर्णन का है। किन्तु १३६ वें श्लोक में पिण्ड-दान की बात विषय-बाह्य होने से असंगत है।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) १३५ वें श्लोक की मान्यता मनु द्वारा कथित 'पुत्रिका धर्म' से विरुद्ध है। पुत्रिका-धर्म का अभिप्राय यह होता है कि उससे जो पुत्र होगा वह ९। १२७ के अनुसार सुखदायक होगा, अतः उसे नाना की सम्पत्ति का अधिकार मिलता है। किन्तु पुत्रिका के पुत्रहीन ही मरने पर वह उद्देश्य समाप्त हो जाता है। अतः पुत्रिका के पति का धन पर अधिकार कहना असंगत एवं मनु से विरुद्ध है। क्योंकि ऐसे धन का अधिकार २११-२१२ श्लोकों के अनुसार दूसरे भाई-बहनों का होता है अथवा (१४१ के अनुसार) दत्तक पुत्र का।

(ख) और १३६ वें श्लोक का विधान १२७ से विरुद्ध है। यदि 'पुत्रिका' के करने अथवा न करने पर भी पुत्रहीन नाना के धन पर दौहित्र का अधिकार होता है, तो 'पुत्रिका-धर्म' के विधान की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

(ग) और १३७ वें श्लोक में पौत्र से मोक्ष-प्राप्ति तथा पुत्र-पौत्र से सूर्य-लोक की प्राप्ति मनुसम्मत नहीं है। पौत्र से मोक्ष-प्राप्ति होवे, तो सभी को मोक्ष प्राप्त हो जावे और मोक्ष के दूसरे साधन (मनु-प्रोक्त) सब निरर्थक हो जायें। और दूसरे के कर्म से दूसरे को फल मिलने से अकृताभ्यागम दोष भी होगा। मनु तो कर्मों के कर्ता को ही कर्मफल का (४। २४०) भोक्ता मानते हैं। और सूर्यलोकादि स्थान-विशेष को मनु स्वर्ग नहीं मानते। वे सुखविशेष की अनुभूति की दशा को मोक्ष मानते हैं। एतदर्थ २। २४९, ४। २६०, ६। ८१, ८५, ८८ आदि मनुप्रोक्त श्लोक द्रष्टव्य हैं। इन अन्तर्विरोधों के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये दोनों ९। १३९-१४० श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **विषयविरोध**—(९। १०३) के अनुसार यहाँ प्रस्तुत विषय दायभाग के विभाजन का है। यहाँ मरणोत्तर पिण्डदान का कथन विषयबाह्य होने से १४० वाँ श्लोक प्रक्षिप्त है।

२. **अन्तर्विरोध**—मनु की मान्यता में दूसरे के कर्मों का फल दूसरे को नहीं मिलता। कर्त्ता ही स्वयं कर्मफल को (४। २४०) भोगता है। किन्तु यहाँ (१३९ में) पौत्र की भांति दौहित्र भी नानादि को पिण्डदानादि द्वारा स्वर्ग पहुंचा देता है, यह कथन मनुसम्मत नहीं है। और १४० वां श्लोक भी इसी से सम्बद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

ये तीनों (९। १४२–१४४) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसंगविरोध—१४३–१४४ श्लोकों में नियोगज पुत्रों में कौन धन का भागी नहीं होता, यह कथन किया है। परन्तु नियोग से उत्पन्न पुत्रों के दायभाग का विषय १४५ श्लोक से प्रारम्भ होता है। प्रसंग के प्रारम्भ करने से पूव ही निषेधात्मक विधान असंगत है। और मनु की शैली से विरुद्ध भी है। और यदि ये मौलिक होते तो इनका स्थान ९। १४६ के बाद होना चाहिये और इन श्लोकों के भावों के समान भावों को बताने वाला श्लोक ९। १४७ वाँ है। अतः यह पिष्ट-पेषण करना उचित नहीं है।

२. अन्तर्विरोध—(क) १४२ वाँ श्लोक १४१ में कही बात के खण्डन में लिखा गया है। क्योंकि १४१ वें श्लोक में दत्तकपुत्र का (अन्य गोत्र का होने पर भी) सम्पत्ति पर अधिकार बताया है। परन्तु १४२ वें में उसका निषेध करना विरुद्ध बात है।

(ख) और १४३–१४४ श्लोक मनु की मान्यता से विरुद्ध हैं। मनु ने (९। ५९ में) स्पष्ट कहा है कि सन्तान का परिक्षय=अभाव होने पर नियोग से प्राप्त करनी चाहिये। किन्तु इन दोनों श्लोकों में पुत्रवाली होने पर भी दूसरे पुरुष से सन्तान प्राप्ति लिखी है। यह मनुसम्मत नहीं है। और १४५ वें श्लोक में नियोगज सन्तान को सम्पत्ति पर अधिकार औरस-पुत्र की भांति माना है, परन्तु १४४वें श्लोक में पैतृक धन के अधिकार का निषेध किया है। और नियोगज पुत्र को पतित कहकर मनु की मान्यता का विरोध किया है। अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

३. पुनरुक्तदोष—१४७ वें श्लोक में नियोग-विधि के विना सजातीय पुरुष से अथवा देवर से उत्पन्न सन्तान को कामज कहकर निन्दा की है। और यही बात १४३ वें श्लोक में "जारजातक=व्यभिचार से उत्पन्न" और "कामज-कामवासना के वशीभूत होकर उत्पन्न" कहकर कही है, यह पुनरुक्तमात्र है। मनु के प्रवचन में इस प्रकार के दोष न होने से यह परवर्ती प्रक्षेप है।

ये सभी (९। १४८–१९१) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसङ्ग-विरोध—(क) यहाँ पूर्वापर श्लोकों में दायभाग के विभाजन का प्रसंग चल रहा है। इनके बीच में (१५८–१८४) श्लोकों में पुत्रों के भेद बतलाये हैं, ये यदि दाय-भाग के वितरण के प्रारम्भ में कहे जाते तो प्रासंगिक कहा जा सकता था। परन्तु दायभाग के प्रसंग के वीच में ये उस प्रसंग को भंग करने के कारण प्रक्षिप्त हैं। (ख) और १८५–१८९ श्लोकों में दाय-भाग के कुछ विकल्प दिये हैं। वे दाय-भाग के सामान्य कथन के बाद दिये

जाते तो प्रसगानुकूल कहे जा सकते थे। दाय-भाग की समाप्ति से पूर्व ही इन वैकल्पिक व्यवस्थाओं का विधान संगत नहीं है।

२. **विषय-विरोध**—मनु के विषय-निर्देशक (९। १०३, १२०) श्लोकों के अनुसार प्रस्तुत विषय दाय-भाग के विभाजन का है। किन्तु १५८–१८४ श्लोकों में बारह प्रकार के पुत्रों का वर्णन और १८६ श्लोक में पिण्डदान का कथन विषय-बाह्य होने से प्रक्षिप्त है।

३. **पुनरुक्तिदोष**—१६० श्लोक में जो सन्तानरहित भार्या=स्त्री को नियोग का अधिकार और मृतक पति के धन पर नियोगज पुत्र का अधिकार माना है, ये सभी बातें ९। १२०, १४५, १४६ श्लोकों में कहीं हैं, अतः पुनरुक्त के कारण यह श्लोक मनुप्रोक्त नहीं है।

४. **अन्तर्विरोध**—(क) १४८–१५७ श्लोकों में अनेक वर्णों की अनेक पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों के दायभाग का वर्णन है। यह बहुपत्नीवाद की मान्यता मनुसम्मत नहीं है। ५। १६७–१६८ और ३। ४-५ श्लोकों के अनुसार मनु ने एक स्त्री से और वह भी सवर्णा स्त्री से विवाह का विधान किया है। मनु ने इन श्लोकों में सर्वत्र एकवचन का प्रयोग करके एक ही पत्नी की मान्यता को स्पष्ट किया है।

(ख) और १५८–१८४ और १९०–१९१ श्लोकों में वर्णित दाय-भाग जन्मना वर्णव्यवस्था का पोषक होने से मनुसम्मत नहीं है। और इन श्लोकों में कुछ निम्न पुत्रों को दायभाग का अधिकारी नहीं माना है। यह भी मनु से विरुद्ध है। मनु बीज को प्रधान मानते हैं (९। ३३–५६)। बीज की प्रधानता होने पर उच्च अथवा निम्न स्तर के पुत्रों का कथन करना अनुचित है। मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था के पोषक हैं। १। ९२–१०७ श्लोकों की समीक्षा इस विषय में द्रष्टव्य है। और कर्मानुसार वर्णव्यवस्था में सभी पुत्र समान होते हैं।

(ग) १८५ वें श्लोक का विधान २११–२१२ श्लोकों से विरुद्ध है। अर्थात् पिता के धन का अधिकारी पुत्रों के अभाव में १८५ श्लोक में भाइयों को ही माना है। परन्तु २११–२१२ में भाई-बहन बांट लेवें अथवा कुटुम्ब के भाई-बहन भी अधिकारी कहे हैं। अतः १८५ वें श्लोक का विधान विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

(घ) १८७–१८९ श्लोकों में कहा है कि कुटुम्ब में कोई भी जीवित न हो तो ब्राह्मण सम्पत्ति के अधिकारी हैं। यह कथन मनु के (८। ३०) विरुद्ध है। क्योंकि (८। ३० में) ऐसे धन का अधिकारी राजा को माना है। अतः यह

परस्परविरोधी कथन मनुप्रोक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार १८८ का कथन १८९ श्लोक से विरुद्ध है।

५. **शैली-विरोध**—(क) १५८ श्लोक के 'आह स्वायंभुवः मनुः' वाक्य से स्पष्ट है कि यह श्लोक मनु से भिन्न व्यक्ति द्वारा रचित है। प्रक्षेपक ने अपने श्लोकों को मनु-सम्मत अथवा प्रामाणिक बनाने के लिये मनु का नाम श्लोक में रखा है। मनु इस प्रकार अथवा नाम लेकर कहीं प्रवचन नहीं करते। इसी प्रकार १८२ और १८३ श्लोक में मनु का नाम लिया गया है और १५९ से १८४ तक श्लोकों का आधार-श्लोक यही है, अतः इसके प्रक्षिप्त होने से सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

(ख) १८८–१८९ श्लोकों की शैली पक्षपातपूर्ण होने से मनु की नहीं है। यदि मृतक के धन का अधिकारी ब्राह्मण है तो सभी वर्णों के लिये यह विधान होना चाहिये। किन्तु (१८९ में) केवल ब्राह्मणों को ही छूट देना पक्षपात-पूर्ण है।

६. **वेद-विरुद्ध**—मनु ने वेद को धर्मशास्त्र में परम प्रमाण माना है। अतः मनु वेद से विरुद्ध नहीं लिख सकते। परन्तु १८६ में पिता आदि को जल-दान और पिण्डदान की व्यवस्था वेद-विरुद्ध है। वेद में सभी प्रकार के कर्त्तव्यों की समाप्ति शरीर के भस्म होने तक मानी है। अतः मरणोत्तर पिण्ड-दानादि करना वेद-विरुद्ध मान्यता है।

यह (९।१९८ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

अन्तर्विरोध—इस श्लोक में बहुपत्नी प्रथा की मान्यता है। यह मान्यता मनुविरुद्ध है। ३।४–५, ५।१६७–१६८ ये श्लोक मनु की मान्यता में द्रष्टव्य हैं।

यह (९।२१९) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. **अन्तर्विरोध**—(क) मनु ९।१०४, २१८ में समस्त पैतृक सम्पत्ति का विभाजन लिखा है। परन्तु इस श्लोक में वस्त्र, वाहन, आभूषणादि को अवि-भाज्य कहकर उसका विरोध किया है। (ख) इस श्लोक में स्त्रियों को भी अविभाज्य कहकर दासियों की प्रथा को स्वीकार किया है। यह प्रथा मनु-सम्मत नहीं है। मनु ने शूद्र को भी सेवक के रूप में स्वीकार किया है और वह भी स्वेच्छा से। अतः दास-दासी वाली मान्यता मनुसम्मत नहीं है। इस विषय में १।९१, ९।३३४–३३५, १०।९९ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

ये दोनों (९।२२९–२३०) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त हैं—

१. **विषय-विरोध**—९।२२० वें श्लोक के अनुसार प्रस्तुत विषय द्यूत-

सम्बधो विधानों का है। परन्तु इन श्लोकों में सामान्य रूप से दण्ड-सम्बन्धी व्यवस्था का वर्णन है। अतः विषयबाह्य होने से प्रक्षिप्त है।

२. **शैली-विरोध**—मनु ने दण्डव्यवस्था में (९।३०७, ३११ में) समभाव एवं न्यायोचित ढंग से समस्त विधान किया है। और जो बुद्धिजीवी और समझदार व्यक्ति समाज में हैं, उनके अपराध करने पर (८।३३८) अधिक दण्ड का विधान किया है। परन्तु यहाँ इस शैली से विरुद्ध अन्यवर्णों की अपेक्षा ब्राह्मण को छूट देने से पक्षपातपूर्ण वर्णन किया है। अतः ये दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये सभी (९।२३५–२४८) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—यहाँ पूर्वापर श्लोकों में (९।२३४ और २५० आदि में) १८ प्रकार के विवादों के पश्चात् उपसंहारात्मक वर्णन है परन्तु २३५–२४३ श्लोकों में ब्रह्महत्यारा, शराबी आदि महापापियों के लिये दण्ड की व्यवस्था का वर्णन उस प्रसंग को भंग करने के कारण असंगत है।

२. **विषयविरोध**—(क) विषय-संकेतक ९।२२० वें श्लोक के अनुसार यहां द्यूत-सम्बन्धी विवादों के निर्णय का विषय है। और ८।७ तथा ९।२५० विषय संकेतक श्लोकों के अनुसार द्यूत-धर्म अठारह प्रकार के विवादों में अन्तिम विवाद है। इसके वर्णन के पश्चात् उपसंहारात्मक श्लोकों का कथन (९।२३१–२३४, २४९) तो सुसंगत होता है परन्तु इन श्लोकों में द्यूतधर्म और उपसंहार से बाह्य वर्णन होने से ये श्लोक विषय-बाह्य हैं।

(ख) सप्तम, अष्टम तथा नवमाध्यायों में राजा की दण्डव्यवस्था का विधान है, प्रायश्चित्त का नहीं। अतः २३६ वें श्लोक में प्रायश्चित्त न करने पर दण्ड का विधान किया है। यह विषय से विरुद्ध है। राजा तो अपने नियमानुसार दण्ड अवश्य देगा उसमें प्रायश्चित्त का कथन उचित नहीं। प्रायश्चित्त की बात प्रायश्चित्तविषय में ही कहनी चाहिए।

(ग) मद्यपानादि महापापों के दण्ड का विधान अपने-अपने विषयानुसार करना उचित था और मनु ने उसका विधान विषयानुसार किया भी है। यहां उनका कथन करना विषय-बाह्य और पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त है।

३. **अन्तर्विरोध**-(क) इन श्लोकों का आधारभूत श्लोक २३५वाँ है। इस श्लोक में कही बातों का मनुप्रोक्त पूर्व मान्यताओं से विरोध है। मनु ने ८।३८६ श्लोकमें विशिष्ट अपराधियोंमें चोर, परस्त्रीगामी, दुष्टवाक्, लुटेरा, हत्यारादि को गिनाया है। यह एक सार्वजनिक व्यवस्था मनु ने लिखी है। परन्तु यहां केवल ब्राह्मण को मारने वाला या गुरु की स्त्री से संभोग करने वाला, इस प्रकार के व्यक्तिविशेषों को आधार मानकर दण्ड का विधान किया है। यह उचित व

न्याययुक्त व्यवस्था नहीं है। क्योंकि जो क्षत्रियादि को मारने वाला अथवा उनकी स्त्रियों से संभोग करने वाला है, उसके दण्ड की व्यवस्था क्यों नहीं लिखी ?

(ख) और इन्हीं अपराधों पर पूर्वोक्त दण्डव्यवस्था से इन श्लोकों का दण्ड का विधान भिन्न होने से विरुद्ध है। जैसे— हत्या करने वाले को (८।२८६–२८८ में), चोरी करने वाले को (८।३०१–३३८ में), परस्त्रीगामी को (८।३५२–३७२ में), मद्यपान करने वाले को (९।२२५ में) दण्ड-विधान करने वाले श्लोकों की समता इन श्लोकों के दण्डों से करने पर यह विरोध स्पष्ट हो जाता है।

(ग) २४१–२४२, २४७ में जो पक्षपातपूर्ण दण्ड की व्यवस्था है, वह ९। ३०७, ३११, ८।३३५–३३८ श्लोकों में कही व्यवस्था से विरुद्ध है।

(घ) २४३–२४७ श्लोकों की व्यवस्था उन सभी व्यवस्थाओं से विरुद्ध है, जिनमें अपराधियों को दण्ड देने या जुर्माना करने, सर्वस्वहरण करने की राजा को आज्ञा दी है। इस विषय में ८।२८८, ३२०, ३२२, ३३५–३३८ इत्यादि श्लोक द्रष्टव्य हैं।

४. **शैलीविरोध**—(क) २३९ में 'तन्मनोरनुशासनम्' वाक्य से स्पष्ट है कि यह श्लोक मनु से भिन्न किसी व्यक्ति ने मनु के नाम से बनाकर मिलाया है। और इसके प्रक्षिप्त सिद्ध होने पर इससे सम्बद्ध सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं। (ख) इसी प्रकार केवल ब्राह्मण को पीड़ा देने वाले शूद्र को दण्ड का विधान (२४८), महापातकी के धन पर ब्राह्मण का अधिकार (२४४) और २४१–२४२ श्लोकों में ब्राह्मण को दूसरे वर्णों की अपेक्षा दण्ड में छूट पक्षपातपूर्ण होने से मनुप्रोक्त नहीं है। (ग) और २४४ में वरुणदेव की कल्पना और २४५ में वरुण को राजा के दण्ड-धन का अधिकारी मानना, २४६–२४७ में दीर्घजीवी होना, बच्चों का न मरना आदि बातें अयुक्तियुक्त एवं काल्पनिक होने से पौराणिक युग की देन हैं, अतः ये श्लोक परवर्त्ती होने से प्रक्षिप्त हैं।

यह (९।२७३वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. **प्रसङ्गविरोध**—यहाँ पूर्वापर श्लोकों में राजकर्मचारियों के चोर की भांति आचरण करने पर चोरों के सहायकों के लिये दण्ड का विधान किया है। इनके बीच में धर्म-भ्रष्ट ब्राह्मण के लिये दण्ड का विधान प्रसंगविरुद्ध है। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

यह (९।२८० वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. **प्रसङ्गविरोध**—यहाँ पूर्वापर श्लोकों में (२७९ और २८१ में) तालाब आदि के तोड़ने वालों के लिये दण्ड का विधान किया है। इनके बीच में यह श्लोक उस प्रसंग को भंग करने के कारण प्रक्षिप्त है।

ये चार (९।२९०–२९३) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसङ्ग-विरोध**—इन श्लोकों में कही हुई बातों का मनु ने पहले वर्णन कर दिया है। जैसे—२९० में हत्याविषय पर दण्ड कहा है, किन्तु यह ८।२८६–२८८ श्लोकों में कह चुके हैं। २९१ में मिलावट करने पर दण्ड कहा है, यह ८।२०३ में कह दिया है। २९२–२९३ श्लोकों में चोरी का दण्ड कहा है, यह भी ८।३०८–३३८ श्लोकों में कहा जा चुका है। यदि ये श्लोक मौलिक होते तो उस-उस विषय में ही इनकी संगति ठीक थी। पूर्वोक्त प्रसंग को पुनः कहना प्रसंग-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

२. **अन्तर्विरोध**—मनु की मान्यता में चार ही वर्ण हैं। सुनारादि उप-जातियों को मनु ने कहीं नहीं स्वीकार किया है। क्योंकि मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था को मानते हैं। और व्यवसाय के आधार पर जब ये उपजातियाँ जन्म के आधार पर बनीं, तब किसी व्यक्ति ने इस श्लोक (२९२) का प्रक्षेप किया है। इस प्रकार मनु की मान्यता से यह श्लोक विरुद्ध है।

३. **पुनरुक्तिदोष**—और ९।२९३ वें श्लोक में जो बातें कहीं हैं, वे प्रायः ८।३२४ श्लोक की पुनरुक्तिमात्र हैं। अतः पुनरुक्त बातें मनुप्रोक्त न होने से परवर्ती काल के प्रक्षेप हैं।

ये सभी (९।३१३–३२३) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **विषय-विरोध**—विषय-संकेतक ९।२५२, २५३ और ३१२ श्लोकों से स्पष्ट है कि 'लोककण्टक चोरादि के निवारण' का यहाँ प्रसंग है। किन्तु इन श्लोकों ने निरर्थक ब्राह्मणवाद की प्रशंसा करके उस प्रसंग को भंग कर दिया है, अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

२. **शैलीविरोध**—इन सभी श्लोकों की शैली पक्षपातपूर्ण एवं अतिशयो-क्तिपूर्ण होने से मनु की शैली से विरुद्ध है। मनु की शैली में न्यायोचित समता की बातें होती हैं, पक्षपात, दुराग्रह आदि की नहीं। अतः ये श्लोक शैलीविरुद्ध हैं।

३. **अन्तर्विरोध**—इन श्लोकों का यह सम्पूर्ण प्रसंग मनु की मान्यताओं से विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

(क) जैसे ३१३ वें श्लोक में ब्राह्मण को अत्यन्त क्रोधी कहा है जबकि १।१९, २७, ६।१९ में ब्राह्मण के लिये क्रोध करना सर्वथा त्याज्य माना है।

(ख) ३१४–३१६ श्लोकों में ब्राह्मण को समुद्र, चन्द्रमा, लोकपालादि का बनाने वाला माना है, जब कि २ । १६०, १७८, ४ । १६३ इत्यादि श्लोकों में परमात्मा को इनको बनाने वाला माना है । मनुष्य की शक्ति चन्द्रादि लोकों को बनाने की नहीं है । अतः यह काल्पनिक एवं उपहास्यास्पद बात ही लिखी है ।

(ग) ३१७–३१९ श्लोकों में अविद्वान् और निन्दित-आचरण करने वाले को भी ब्राह्मण माना है । यह मनु की मान्यता से विरुद्ध है । मनु तो कर्मणा ही वर्णव्यवस्था मानते हैं । इस विषय में २ । १०३, ४ । २४५, १० । ६५ श्लोक द्रष्टव्य हैं ।

(घ) ३२३ श्लोक में जुर्माने का धन ब्राह्मणों को देने के लिये कहा है, जब कि ७–९ अध्यायों में इस धन को राजा को देना चाहिये ।

(ङ) और ३१४ वें श्लोक में कहा है कि ब्राह्मणों ने अग्नि को सर्वभक्षी, समुद्र को न पीने योग्य, और चन्द्रमा को क्षीण होने वाला कर दिया है । ये सब बातें असम्भव, अयुक्तियुक्त होने से मनुप्रोक्त नहीं हैं । क्योंकि परमेश्वर ने जो गुण जिसमें बताया है, उसे कोई अन्यथा नहीं कर सकता । और चन्द्रमा को क्षीण होने वाला कहना अज्ञानतापूर्ण बात है । यह तो हमें पृथिवी आदि की छाया वश ही क्षीण होने वाला प्रतीत होता है यथार्थ में नहीं ।

(च) और ३२० में क्षत्रियों को ब्राह्मण से उत्पन्न होने वाला कहना, ३१६ में सब लोकों का आश्रय ब्राह्मणों को मानना और ३२१ में जल से अग्नि की उत्पत्ति मानना (जब कि 'वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी' इस प्रमाण से अग्नि की उत्पत्ति वायु से मानी है । इत्यादिबातें सृष्टिक्रम विरुद्ध होने से मनुसम्मत कदापि नहीं हो सकतीं । इत्यादि अन्तर्विरोधों के कारण ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां प्राकृतभाषाभाष्यसमन्वितायाम्
प्रक्षिप्तश्लोक-समीक्षाविभूषितायाञ्च मनुस्मृतौ
राजधर्मात्मको नवमोऽध्यायः ॥

दशमोऽध्यायः

(प्राकृतभाषाभाष्य-प्रक्षिप्तश्लोकसमीक्षाभ्यां सहितः)

[चातुर्वर्ण्य-धर्मान्तर्गत-वैश्य-शूद्र के धर्म एवं चातुर्वर्ण्यधर्म तथा उपसंहार]

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ।
वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥ ९।३२६ ॥ (१)

(कृतसंस्कारः) यज्ञोपवीतसंस्कार-विधि पूर्ण होने के पश्चात् [समावर्तन के अनन्तर] (वैश्यः) वैश्य (दारपरिग्रहं कृत्वा) विवाह करके (वार्त्तायां च पशूनां रक्षणे नित्ययुक्तः स्यात्) व्यापार में और पशुपालन में सदा लगा रहे ॥ ३२६ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च ।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥ ९।३२९ ॥ (२)

वश्य (मणि-मुक्ता-प्रवालानाम्) मणि, मोती, प्रवाल आदि के (लोहानाम्) लोहे आदि धातुओं के (च) और (तान्तवस्य) कपड़ों के (गन्धानां च रसानाम्) सुगन्धित कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थों के और रस-रसायनों [पारा, नमक आदि] के (अर्घ-बल-अबलं विद्यात्) मूल्यों के कम-अधिक भावों को जानें ॥ ३२९ ॥

बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च ।
मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥ ९।३३० ॥ (३)

वैश्य (बीजानाम्+उप्तिवित् स्यात्) सब प्रकार के बीजों को बोने की विधि को जानें (च) और (क्षेत्र-दोष-गुणस्य) खेतों के दोष-गुणों को जानें (च) तथा (मानयोगम्) तोलने के बाटों (च) और (तुलायोगान्) तराजुओं से सम्बद्ध (सर्वशः जानीयात्) सभी बातों की जानकारी रखें ॥ ३३० ॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् ।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ ९।३३१ ॥ (४)

(भाण्डानां सार-असारम्) वस्तुओं के अच्छे-बुरेपन को (देशानां गुण-अवगुणान्) देशों के गुणों और दोषों को (च) और (पण्यानां लाभ-अलाभम्) बेची जाने वाली वस्तुओं की लाभ-हानि को, तथा (पशूनां परिवर्धनम्) पशुओं के संवर्धन के उपायों को वैश्यलोग जानें ॥ ३३१ ॥

भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम् ।
द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥ ९।३३२ ॥ (५)

(भृत्यानां भृतिम्) नौकरों के वेतन, (नृणां विविधाः भाषाः) विविध देशों में रहने वाले लोगों की विभिन्न भाषाएं, (द्रव्याणां स्थान-योगान्) वस्तुओं के प्राप्तिस्थान तथा मिश्रण आदि की विधियाँ (च) और (क्रय-विक्रयम्+एव) ख़रीद-विक्री की विधि, इसको (विद्यात्) जानें ॥ ३३२ ॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ९। ३३३ ॥ (६)

वैश्य इस प्रकार [९।३२६–३३३] (धर्मेण) धर्मपूर्वक (द्रव्यवृद्धौ उत्तमं यत्नम्+आतिष्ठेत्) धन की वृद्धि के लिए अधिक से अधिक यत्न करे (च) और (सर्वभूतानां प्रयत्नतः अन्नम्+एव दद्यात्) सब प्राणियों को प्रयत्नपूर्वक अन्न उपजाकर देता रहे ॥ ३३३ ॥

शूद्रों के कर्त्तव्य—

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् ।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्श्रेयसः परः ॥ ९। ३३४ ॥(७)

(वेदविदुषां विप्राणाम्) वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों (यशस्विनां गृहस्थानाम्) यशस्वी गृहस्थियों की (शुश्रूषा+एव तु) सेवा करना ही (शूद्रस्य नैश्श्रेयसः परः धर्मः) शूद्र का कल्याणकारक उत्तम धर्म है ॥ ३३४ ॥

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः ।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ९। ३३५ ॥ (८)

(शुचिः) शुद्ध-पवित्र [शरीर एवं मन से], (उत्कृष्टशुश्रूषुः) अपने से उत्कृष्ट वर्ण वालों की सेवा करने वाला, (मृदुवाक्) मधुरभाषी, (अनहंकृतः) अहंकार से रहित (नित्यं ब्राह्मण+आदि-आश्रयः) सदा ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा में संलग्न शूद्र भी (उत्कृष्टां जातिम्+अश्नुते) उत्तम वर्ण को प्राप्त कर लेता है ॥ ३३५ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ १०। ४॥ (९)

[आर्यों के समाज में] (ब्राह्मणः क्षत्रियः वैश्यः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (त्रयः वर्णाः द्विजातयः) ये तीन वर्ण विद्याध्ययन रूपी दूसरा जन्म प्राप्त करने वाले [२।१४६-१४८, इस संस्करण में २।१२१—१२३] हैं, अतः द्विज कहलाते हैं (चतुर्थः एकजातिः शूद्रः) चौथा विद्याध्ययनरूपी दूसरा जन्म न होने के कारण एकजाति=जन्म वाला शूद्रवर्ण है (नास्ति तु पञ्चमः) पाचवाँ कोई वर्ण नहीं है ॥ ४ ॥

चारों वर्णों से भिन्न व्यक्तियों की संज्ञा—

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥१०।४५॥ (१०)

(लोके) लोक में (मुख-बाहु+उरु-पत्-जानाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों से (बहिः) कर्त्तव्यपालन न करने के कारण बहिष्कृत या इनमें अदीक्षित (या जातयः) जो जातियां हैं (म्लेच्छवाचः च आर्यवाचः) चाहे वे म्लेच्छभाषाएं बोलती हैं या आर्यभाषाएं (ते सर्वे) वे सब (दस्यवः स्मृताः) 'दस्यु' कहलाती हैं ॥ ४५ ॥

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति उद्धृत करके लिखा है— "जो आर्यावर्त देश से भिन्न देश हैं, वे दस्यु देश और म्लेच्छदेश कहाते हैं ॥"
(स० प्र० अष्टम समु०)

दस्युओं की पहचान—

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ १० । ५७ ॥ (११)

(वर्ण-अपेतम्) वर्णों से बहिष्कृत या वर्णदीक्षा से रहित (आर्यरूपम्+इव +अनार्यम्) श्रेष्ठ रूप में होते हुए किन्तु वास्तव में अनार्य, (कलुषयोनिजम्) दुष्ट प्रवृत्ति वाले (अविज्ञातं नरम्) अपरिचित व्यक्ति को (स्वैः कर्मभिः विभावयेत्) उसके अपने कर्मों से जानले ॥ ५७ ॥

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ १० । ५८ ॥ (१२)

(अनार्यता) अश्रेष्ठ व्यवहार (निष्ठुरता) स्वभाव की कठोरता-उजड्डता (क्रूरता) क्रूरता (निष्क्रियात्मता) धार्मिक क्रियाओं [यज्ञ आदि] के प्रति उपेक्षा-भाव=न करने की भावना, ये लक्षण (लोके) लोक में (पुरुषं कलुषयोनिजं व्यञ्जयन्ति) पुरुष के दुष्ट प्रवृत्ति या अनार्य होने को सूचित करते हैं कि यह आर्यवर्णों के अन्तर्गत नहीं है ॥ ५८ ॥

कर्मानुसार वर्णपरिवर्तन—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥१०।६५॥ (१३)

[श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार ही—]

(शूद्रः ब्राह्मणताम्+एति) शूद्र ब्राह्मण (च) और (ब्राह्मणः शूद्रताम्+एति) ब्राह्मण शूद्र हो जाता है अर्थात् गुणकर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण वाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है। वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है (क्षत्रियात् जातम्+एवं तु तथैव वैश्यात् विद्यात्) वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना ॥ ६५ ॥ (ऋ० भा० भू० पठनपा०)

"उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से जो शूद्र है वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण, और वैश्य क्षत्रिय और ब्राह्मण, तथा क्षत्रिय ब्राह्मण, वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है। वैसे ही नीच कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है वह क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, तथा वैश्य, शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है ॥" (सं० वि० विवाह सं०)

"जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण, कर्म, स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाय, वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण कर्म स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र हो जाय, वैसे क्षत्रिय, वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

ऋषि ने पूना प्रवचन में इस श्लोक को उद्धृत करके कहा है—

"शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है," इस मनु के वाक्य का भी विचार करना चाहिए।" (पृ० २०)

अनुशीलन—१० । ५७–५८ में कर्मानुसार म्लेच्छ व्यक्तियों की पहचान बतलाकर १० ।६५ में कर्मानुसार वर्ण का परिवर्तन हो जाना कहा है अर्थात् कर्मानुसार अनार्य व्यक्ति की पहचान तो होती ही है, कर्म के आधार पर उच्च-निम्न वर्ण वाले की पहचान भी होती है और वर्ण का परिवर्तन भी। इस प्रकार १० । ५७–५८ के पश्चात् सम्बद्धता की दृष्टि से १० । ६५ वाँ प्रासंगिक है।

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥ १०।१३१ ॥ (१४)

(एषः) यह [१ । १ से १० । १३० तक] (चातुर्वर्ण्यस्य) चारों वर्णों के व्यक्तियों का (कृत्स्नः) सम्पूर्ण (धर्मविधिः कीर्तितः) धर्मविधान कहा है । (अतः परम्) इसके बाद अब (शुभं प्रायश्चित्तविधिं प्रवक्ष्यामि) शुभ प्रायश्चित्त की विधि को कहूँगा—॥ १३१ ॥

दशमाध्याय के प्रक्षिप्त-श्लोकों की सहेतुक-समीक्षा

ये दोनों (९।३२७-३२८) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—यहाँ पूर्वापर श्लोकों में वैश्य के कर्मों के वर्णन का प्रसंग है । परन्तु इन श्लोकों में उस प्रसंग को भंग करके कुछ अन्य बातों का ही कथन किया गया है । प्रजापति द्वारा पशुओं की उत्पत्ति करके वैश्यों को देना, ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के लिए सारी प्रजाओं को देना, इत्यादि बातें प्रसंगविरुद्ध हैं ।

२. **शैली-विरोध**—इन श्लोकों की वर्णन-शैली से स्पष्ट हो रहा है कि ये श्लोक उस परवर्त्ती-काल की रचनायें हैं, जब वैश्यों में पशु-पालन के प्रति अरुचि होने लगी । अन्यथा पशु-पालन करना जब वैश्य का निश्चित कर्म है, तब उसे करना ही चाहिए । फिर प्रजापति द्वारा पशुओं की उत्पत्ति की बात कहना और ३२८ श्लोकोक्त बातें निरर्थ ही हैं ।

३. **अन्तर्विरोध**—३२८ वें श्लोक में यह कथन कि 'जब तक वैश्य पशु-पालन करे, तब तक अन्यवर्ण वाले पशु-पालन न करें' मनु के संविधान से विरुद्ध है । पशुपालन करना वैश्यों का ही कर्म है । इस विषय में १।९० तथा ९।३२६ श्लोकों में मनु की मान्यता द्रष्टव्य है । और यदि वैश्य अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते, तो उसका उपाय यह नहीं कि उन कर्मों को दूसरे वर्ण वाले करने लग जायें । ऐसे कर्त्तव्य-हीनों को (७।१७, ३५ के अनुसार) राजा द्वारा दण्ड दिया जाना चाहिए । अतः ये श्लोक असंगतादि दोषों के कारण प्रक्षिप्त हैं ।

यह (९।३३६ वां) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

१. **विषय-विरोध**—(क) यद्यपि इस श्लोक में वर्णित विषय का और अगले अध्याय में कथित विषय का निर्देश किया गया है; जिसके कारण दशमा-

ध्याय में आपत्कालीन-धर्मों का विषय अनेक टीकाकारों ने स्वीकार किया है। परन्तु इस अध्याय के अनुशीलन से पता चलता है कि इसमें आपत्कालीन कार्यों का वर्णन नहीं है। प्रत्युत चातुर्वर्ण्य के उन धर्मों का ही कथन है जो सामान्य-दशा में ही कर्त्तव्य हैं। और इसकी पुष्टि १०।१३१ श्लोक में 'एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्त्तितः' कहकर की है।

(ख) नवम-दशम अध्यायों की विषयवस्तु को देखकर यह स्पष्ट होता है कि चातुर्वर्ण्य-धर्मविधि के अन्तर्गत ही राजधर्म (क्षत्रियधर्म) का वर्णन नवमाध्याय में ९।३२५ श्लोक तक किया है और वैश्य व शूद्र के कर्मों का विधान आगे हैं, जिसको मनु ने ९।३२५ श्लोक में—

'इमं कर्मविधिं विद्यात् क्रमशो वैश्यशूद्रयोः'

स्पष्ट रूप से कहा है। और इसके अनुसार ही १०।४५ में चारों वर्णों से भिन्न म्लेच्छभाषा-भाषियों को दस्यु कहा है और १०।६५ में कर्मानुसार वर्ण-परिवर्तन की वात कही है। जिसे कोई भी आपद्धर्म नहीं मान सकता। और आपद्धर्म के नाम पर वर्ण-संकरों का प्रक्षेप विषय-वस्तु को ध्यान में न रखकर किया गया है। जिन वर्ण-संकरों का कथन इस शास्त्र का विषय ही नहीं है और इन के धर्मों को कोई भी आपद्धर्म नहीं कह सकता।

(ग) इन (नवम-दशम) अध्यायों के वर्ण्यविषय पर चिन्तन तथा पूर्वापर प्रसंग पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि दोनों अध्यायों के विषय-समाप्ति का सूचक श्लोक १०।१३१ है और इन अध्यायों का वर्ण्य विषय चातुर्वर्ण्य-कर्मविधि है। इससे नवमाध्याय के अन्तिम श्लोक को प्रक्षिप्त मानने से विषय-निर्देशक श्लोक का जो प्रभाव प्रतीत होता है, वह भी नहीं रहता। मनु ने ऐसा अन्यत्र भी किया है। जैसे ७—९ अध्यायों में राजधर्म का वर्णन है। इसलिए सप्तम व अष्टम अध्यायों के अन्त में विषय-निर्देशक श्लोक नहीं दिया है। परन्तु वर्णसंकर और उपजातियों के प्रारम्भ होने पर और इनको जन्ममूलक मानने पर किसी व्यक्ति ने बहुत ही चतुरता से इन श्लोकों का मिश्रण किया है। और अपना अभीष्ट सिद्ध करने के लिये नवमाध्याय के अन्त में विषय-निर्देशक श्लोक मिलाकर 'एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्त्तिताः' १०।१२९ में उसकी समाप्ति दिखायी है। यदि इन आपद्धर्मों के निर्देशक श्लोकों को सत्य माना जाये तो इस दशमाध्याय में आपद्धर्म ही होना चाहिए। परन्तु इस अध्याय में कुछ श्लोकों को छोड़कर वर्णसंकरों के धर्मों का ही वर्णन मिलता है, आपद्धर्म का नहीं। और १०।१३१ श्लोक निरर्थक हो जाता है। और १०।१३० श्लोक मनुप्रोक्त शैली का भी नहीं है। क्योंकि मनु पूर्वविषय की

समाप्ति और अगले विषय का निर्देश अवश्य करते हैं। परन्तु १०।१३० में अगले विषय का निर्देश बिल्कुल नहीं है।

२. अन्तर्विरोध—(क) १०।१३० में कहा है कि इन आपद्धर्मों के अनुष्ठान से सब वर्णों के मनुष्यों को परमगति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यदि आपद्धर्मों से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, तो अनापद्धर्मों को किसलिये किया जाये? और आपद्धर्म भी क्या है? अपने से भिन्न वर्णों के कर्म करना। फिर सामान्य दशा में वर्णों के कर्मों और आपद्धर्म के कर्मों में क्या अन्तर होगा? और आपद्धर्म की क्या परिभाषा होगी? और वह कितने समय तक व्यवस्था मानी जाये? इसका निर्देश किये बिना समस्त आपद्धर्म व्यवस्थाहीन और अपने से भिन्न वर्णों के कर्म करने की छूट की एक वैकल्पिक व्यवस्था ही माननी पड़ेगी। और यह भी विचारना होगा कि आपद्धर्म व्यावहारिक भी है अथवा नहीं? आपद्धर्म की दशा में ब्राह्मण के लिये वैश्य के कृषि आदि कर्म करने का विधान किया है। क्या आपद्ग्रस्त ब्राह्मण विना साधनों के कृषि के कार्य को कर सकता है? और कृषि का तो फल तुरन्त नहीं मिलता, कालापेक्ष होता है। क्या आपत्काल में पड़ा हुआ ब्राह्मण तब तक भूखा ही रहेगा, जब तक कृषि का फल अन्नादि न मिल जाये। और जो ब्राह्मण कृषि के साधनों को जुटा सकता है तो उसका आपत्काल ही क्या रहा? उपनिषद्[1] में एक आपत्कालीन दृष्टान्त आता है कि भूखे ऋषि ने जूठा अन्न तो खालिया किन्तु जूठा जल नहीं पिया। किन्तु ऐसी दशा में कृषि आदि कार्य कैसे सम्भव हैं? अतः यही प्रतीत हो रहा है कि यह व्यवस्था मनुप्रोक्त नहीं है और जन्ममूलक वर्णव्यवस्था के प्रचलित होने पर ऐसी व्यवस्थाओं का किसी ने परवर्त्ती काल में प्रक्षेप किया है। मनु तो कर्मानुसार ही वर्ण-व्यवस्था का विधान करते हैं। और वैश्य को ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की आजीविका का भार वहन करना होता है। दैविक अकालादि के कारण धान्यादि का अभाव सम्भव है अथवा शत्रु द्वारा आक्रान्त होने पर, अथवा रोगाक्रान्त होने के कारण परन्तु ऐसी दशा में ब्राह्मण भी कृषि कर्म को कैसे कर सकता है? अतः यह आपत्कालीन व्यवस्था अव्यावहारिक होने से मौलिक नहीं है।

(ख) और जिन श्लोकों में आपत्कालीन-धर्मों का विधान माना जाता है, उनमें किसी श्लोक में भी 'आपत्' शब्द का प्रयोग नहीं है। अतः इस

---

१. छान्दोग्योपनिषद् के अ० १ खण्ड १० में उषस्ति चाक्रायण का दृष्टान्त आता है कि उसने आपत्तिकाल में प्राणों की रक्षा के लिए उच्छिष्ट (जूठी) रोटी तो खायी, किन्तु जूठा जल नहीं पिया।

अध्याय में चारों वर्णों में से वैश्य तथा शूद्र के कर्मों का ही वर्णन है तथा चातुर्वर्ण्य-धर्म का उपसंहार किया है। और इस चातुर्वर्ण्य-धर्म से भिन्न वर्णसंकरों के कार्यों को कोई भी व्यक्ति आपद्धर्म नहीं मान सकता। अतः आपद्धर्म के नाम से वर्ण-संकरों से सम्बद्ध श्लोक किसी जन्म-मूलक वर्णव्यवस्था मानने वाले ने मिलाये हैं।

ये तीन (१०।१-३) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—मनु ने १०।४ में चारों वर्णों के पृथक्-पृथक् धर्मों का वर्णन करते हुए कहा है कि वर्ण चार ही होते हैं, पांचवा नहीं। किन्तु इन श्लोलों में शूद्र के धर्मों के बाद ब्राह्मण की श्रेष्ठता अथवा प्रशंसा करना अप्रासंगिक है।

२. **विषय-विरोध**—मनु ने छठे अध्याय के अन्त में ब्राह्मण के धर्मों का कथन करके लिखा है—'एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः॥' (मनु० ६।९७) और सप्तम; अष्टम तथा नवम अध्यायों में क्षत्रिय-धर्मों का वर्णन करके लिखा है—'एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः।' (९।३२५) इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्णों के धर्मों का कथन करके वैश्य व शूद्र के धर्मों का वर्णन करना ही अब शेष है। परन्तु यहाँ ब्राह्मण की प्रशंसा का प्रारम्भ करना पूर्वापर श्लोकों से विरुद्ध तथा विषय-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

३. **अन्तर्विरोध**—अध्ययन-अध्यापन विषय के (२।२२६-२२८) श्लोकों में यह स्पष्ट कहा है कि विद्या की प्राप्ति ब्राह्मण से भिन्न गुरु से भी करनी चाहिए। किन्तु १०।१ में उससे विरुद्ध बात कही है कि ब्राह्मण से भिन्न वर्णों को पढ़ाने का अधिकार ही नहीं है। यद्यपि मनु ने पठन-पाठन कार्य ब्राह्मण का माना है; पुनरपि आवश्यकता पड़ने पर दूसरे वर्णों से पढ़ने के लिये मनु ने निषेध नहीं किया है। अतः १०।२—३ श्लोक प्रथम १०।१ श्लोक से सम्बद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

ये (१०।५ से १०।४४ तक के) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **विषयविरोध**—(१०।१-३) श्लोकों के अनुशीलन में सोद्धहरण यह स्पष्ट किया है कि इस अध्याय में वैश्य व शूद्र वर्णों का वर्णन करके उपसंहार किया गया है। और यह बात १०।४ तथा १०।४५ तथा १०।१३१ श्लोकों से स्पष्ट है किन्तु इनमें चारों वर्णों से भिन्न वर्णसंकरों, संकीर्ण जातियों तथा चण्डालादि का वर्णन किया गया है।

२. **प्रसंगविरोध**—१०।४ श्लोक में चारों वर्णों की बात कहकर इनसे

भिन्न वर्णों का निषेध किया है और १० । ४५ में चारों वर्णों से भिन्न म्लेच्छभाषा बोलने वालों को दस्यु कहा है। इनके वीच में वर्णसंकरों व वर्णसंकर-संतानों का वर्णन प्रसंगविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

३. अन्तर्विरोध—मनु की यह मौलिक मान्यता है कि वर्णव्यवस्था का आधार कर्म है जन्म नहीं। इसी लिये १० । ४ में कहा है कि जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नहीं वन सकता है, वह विद्या का जन्म न होने से एक जाति=एक जन्म-वाला ही कहलाता है, द्विजन्मा नहीं। यदि वर्णव्यवस्था का आधार जन्म होता तो द्विजाति और एकजाति का भेद निरर्थक ही हो जाता है। और इन श्लोकों में जन्म के आधार पर समस्त वर्णन किया गया है। अतः मनु की मान्यता से विरुद्ध है। और मनु ने द्विजों के विवाहों के विषय में स्पष्ट कहा है—

उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।। (मनु० ३ । ४)

अर्थात् द्विज सवर्णा स्त्री के साथ ही विवाह करें। और

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।। (मनु० ३ । १२)

अर्थात् विवाह के अर्थ द्विजों के लिए सवर्णा स्त्रियों का होना ही श्रेष्ठ है। परन्तु यहाँ (१० । ५ में) अनुलोम्य विवाह (१० । १३ में) प्रातिलोम्य विवाहों से उत्पन्न सन्तानों का वर्णन किया गया है, जिसमें असवर्णा स्त्रियों से उत्पन्न सन्तानों का वर्णन किया गया है। यह मनु से विरुद्ध मान्यता हैं।

और इन (१० । २४ इत्यादि) श्लोकों में स्पष्ट कहा है—वर्णसंकर कौन और कैसे होते हैं? और १० । ३६ में चर्मकारादि उपजातियों का वर्णन किया गया है। एवं १० । ४३ में क्षत्रिय वर्ण का वृषलत्व प्राप्ति का कारण लिखा है। जिससे स्पष्ट है कि जिस समय जन्म के आधार पर वर्णों को माना जाने लगा और चर्मकारादि उपजातियाँ बन गईं, उस समय में किसी ने इन श्लोकों का प्रक्षेप किया है। मनु की मान्यता में आर्यों के चार ही वर्ण होते हैं और इनसे भिन्न दस्यु होते हैं। इस शास्त्र में चारों वर्णों के धर्मों का ही कथन है, दस्युओं के नहीं। अतः यह वर्णसंकरादि का वर्णन प्रसंगविरुद्ध, अन्तर्विरोधादि दोषयुक्त होने के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

और मनु ने ९ । ३५ में वीज की उत्कृष्टता से उत्तम सन्तान मानी है और ९ । २६–२७ श्लोकों में स्त्रियों को पूजनीय गृहदीप्ति आदि कहकर प्रशंसा की है। परन्तु १० । १७, २५ श्लोकों में द्विजों की स्त्रियों को भी निन्दनीय कहा गया है और सन्तान में दोष का कारण वीज को न मानकर माता को माना है। यह मनु के विधान के विरुद्ध है।

४. **शैलीगत-आधार**—मनुस्मृति में मनु की शैली विधानात्मक हैं, ऐतिहासिक नहीं। परन्तु इन श्लोकों की शैली ऐतिहासिक है। इस विषय में निम्नलिखित कुछ उद्धरण देखिए—

कैवर्त्तमिति यं प्राहुरार्यावर्त्तनिवासिनः ॥ (१० । ३४)

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः । वृषलत्वं गता लोके ॥ (१० । ४३)

पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजाः यवनाः शकाः ॥ (१० । ४४)

द्विजैरुत्पादितान् सुतान् सदृशान् एव तानाहुः ॥ (१० । ६)

अतः इस ऐतिहासिक शैली से स्पष्ट है कि वर्णव्यवस्था में दोष आने पर जन्म-मूलक जब भिन्न-भिन्न उपजातियाँ प्रसिद्ध हो गईं, उस समय इन श्लोकों का प्रक्षेप होने से मनु से बहुत परवर्त्ती काल के ये श्लोक हैं।

५. **अवान्तरविरोध**—(१) १२ वें श्लोक में वर्णसंकरों की उत्पत्ति का जो कारण लिखा है, २४ वें श्लोक में उससे भिन्न कारण ही लिखे हैं। (२) ३२ वें श्लोक में सैरिन्ध्र की आजीविका केश-प्रसाधन लिखी है। ३३ वें में मैत्रेय की आजीविका घण्टा बजाना या चाटुकारुता लिखी है और ३४ वें में मार्गव की आजीविका नाव चलाना लिखी है। किन्तु ३५ वें में इन तीनों की आजीविका मुर्दों के वस्त्र पहनने वाली और जूठन खाने वाली लिखी है। (३) ३६, ४९ श्लोकों में करावर जाति का और धिग्वण जाति का चर्मकार्य बताया है। जबकि कारावार निषाद की सन्तान है और धिग्वण ब्राह्मण की। (४) ४३ वें में क्रियालोप= कर्मों के त्याग से क्षत्रिय-जातियों के भेद लिखे हैं और २४ वें में भी स्ववर्ण के कर्मों के त्याग को ही कारण माना है परन्तु १२ वें में एक वर्ण के दूसरे वर्ण की स्त्री के साथ अथवा पुरुष के साथ सम्पर्क से वर्णसंकर उत्पत्ति लिखी है। यह परस्पर विरुद्ध कथन होने से मनुप्रोक्त कदापि नहीं हो सकता।

ये (१० । ४६–५६) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **विषयविरोध**—१० । १३१ श्लोक के अनुसार इस अध्याय का विषय 'चातुर्वर्ण्यधर्म' है। किन्तु इनमें वर्णसंकरों से उत्पन्न सूतादि के कार्यों का वर्णन किया गया है। अतः यह चातुर्वर्ण्य-धर्म-विषय न होने से विषयविरुद्ध वर्णन है। १० । ५१ में तो चण्डाल आदि के कार्यों का वर्णन किया गया है। जो चातुर्वर्ण्य विषय से सर्वदा ही बाह्य है।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) महर्षि-मनु ने कर्मानुसार वर्णव्यवस्था मानी है, जन्म से नहीं। कर्मानुसार उच्चवर्ण में उत्पन्न व्यक्ति निम्नवर्ण का और निम्न-

वर्ण का व्यक्ति उच्चवर्ण का हो सकता है। एतदर्थ १।३१, १।८६–६१, २। १६८, ४।२४५ तथा १०।६५ श्लोक द्रष्टव्य हैं। किन्तु इन (४६–५६) श्लोकों में जन्म को आधार मानकर अम्बष्ठ, वैदेह, मागधादि के कार्य दिखाये हैं।

(ख) मनु की मान्यता के अनुसार सभी प्रकार की हिंसा करना महापाप है। माँस-भक्षणादि कार्यों को मनु ने राक्षसों का भोजन माना है। परन्तु १०। ४८, ४९ श्लोकों में अन्य पशुओं की हिंसा, बिलों में रहने वाले प्राणियों को मारना और मछली मारनादि को आजीविका माना है। अतः यह मनुप्रोक्त नहीं है।

(ग) १०।४६ श्लोक में निम्नवर्णों को निन्दित कर्मों से आजीविका करने का वर्णन किया है और उन निन्दित कर्मों को द्विजों के ही कर्म माना है। जैसे व्यापार करना मागधों का कार्य (१०।४७ में) लिखा है। क्या जो द्विजों के कर्म हैं, वे निन्दित हो सकते हैं अथवा द्विजों के कर्मों को निन्दनीय कहा जा सकता है? व्यापार जैसे वैश्य के कार्य को निन्दित बताना क्या मनु की मान्यता के विरुद्ध नहीं है?

(घ) मनु की मान्यता के अनुसार मानव-समाज को चार वर्णों में विभक्त किया गया है। और जो इनसे भिन्न हैं उन्हें अनार्य (दस्यु) (१०।४५ में) कहा है। इस आधार पर वर्णसंकरादि से उत्पन्न अनेकों वर्ण मानना मनुसम्मत नहीं हो सकता।

(ङ) मनु ने शूद्र को आर्य-वर्ण माना है और (६।३५ में) उसे शुचिः= पवित्र (स्पृश्य) तथा उसे उत्तमगति पाने का अधिकारी बताया है। किन्तु यहाँ शूद्र को घृणित, निन्दनीय तथा अस्पृश्य [१०।५३] बताकर उसके साथ सम्पर्क करने का भी निषेध किया है। यह मनु की मान्यता से विरुद्ध है। क्योंकि शूद्र का कार्य द्विजों की सेवा करना है। क्या बिना सम्पर्क के ही सेवाकार्य हो सकता है?

३. प्रसंगविरोध—१०।४५ में ब्राह्मणादि चारों वर्णों से भिन्न व्यक्तियों को मनु ने 'दस्यु' कहा है। उसके बाद दस्युओं के विषय में कथन करना तो कदापि संगत हो सकता है। किन्तु यह वर्णन १०।५७–५८ श्लोकों में किया गया है। इनके बीच में वर्णसंकर सन्तानों तथा चण्डालादि के कार्यों का वर्णन प्रसंगविरुद्ध है।

ये (१०।५८ से १०।६४) श्लोक निम्नकारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसंग-विरोध—१०।४५ में चारों वर्णों से भिन्न मनुष्यों को दस्यु कहकर १०।५७–५८ श्लोकों में दस्युओं की पहचान बताना संगत है। किन्तु

मुख्य विषय चातुर्वर्ण्य-धर्म का होने से मनु ने १०। ६५ में चारों वर्णों के विषय में कहा है कि इन चारों वर्णों का आधार कर्म ही है। उच्चवर्ण का व्यक्ति कर्मानुसार निम्नवर्ण का और निम्नवर्ण का व्यक्ति उच्चवर्ण का हो सकता है। इस चातुर्वर्ण्य-धर्म विषय के मध्य में १०। ६१ आदि श्लोकों में वर्णदूषकों का वर्णन प्रसंगविरुद्ध है।

२. **अन्तर्विरोध**—मनु की मान्यता कर्मानुसार वर्णव्यवस्था है। किन्तु यहाँ (१०। ५९–६० में) जन्ममूलक सिद्ध करने के लिये जन्म की उत्कृष्टता दिखाई गई है। और मनु ने सवर्णों में विवाह को उत्कृष्ट माना है। किन्तु १०। ६४ में वर्ण-संकर ब्राह्मण का विवाह शूद्रा के साथ मानकर उससे उत्पन्न सन्तान का वर्णन किया है। यह सवर्ण-विवाह की मान्यता से विरुद्ध है।

३. **शैली-विरोध**—मनु ने समस्त धर्मशास्त्र में प्रत्येक प्रकरण का प्रारम्भ तथा उपसंहार में अवश्य निर्देश किया है, और मनु ने विषय के विरुद्ध कुछ नहीं कहा है। किन्तु यहाँ चातुर्वर्ण्य-विषय में वर्ण-संकरों का विषयविरुद्ध वर्णन किया गया है। और मनु ने अपना नाम लेकर कहीं प्रवचन नहीं किया। किन्तु यहाँ (१०। ६३ में) प्रक्षेप करने वाले ने अपनी मिथ्या बातों को मनु से प्रमाणित कराने के लिये 'अब्रवीन्मनुः' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। जिससे स्पष्ट है कि ये श्लोक मनु से भिन्न किसी दूसरे व्यक्ति ने बनाकर मिलाये हैं।

४. **परस्पर-विरोध**—१०। ६१ श्लोक में कहा है कि वर्णसंकर सन्तान राष्ट्रघातक होती हैं। किन्तु १०। १२ में कहा है कि यदि वर्णसंकर से उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण और गायों आदि की रक्षा के लिये शरीर-त्याग कर देवें, तो इन्हें सिद्धि=स्वर्गादि उत्तमगति प्राप्त हो जाती है। क्या जो राष्ट्र-घातक हैं, वे राष्ट्र के लिये अपना बलिदान कर सकते हैं? और मनु ने उत्तम कर्मों से उत्तमगति मानी है किन्तु यहाँ निन्दितकर्म करने वालों को देह-त्याग करने से ही सिद्धि लिखी है। यह परस्पर विरोधी होने से मनु की मान्यता नहीं है। और मनु ने लिखा है—

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ (मनु० २। २८)

अर्थात् ब्राह्मण का शरीर जन्म से नहीं बनता, किन्तु यज्ञादि श्रेष्ठ कार्यों के करने से बनता है। किन्तु यहाँ (१०। ६४ में) कहा है कि सात पीढी के बाद ब्राह्मण से शूद्रों में उत्पन्न सन्तान उत्तमवर्ण वाली बन जाती है। यह जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था मनुसम्मत नहीं हो सकती। और यह बात अयुक्तियुक्त भी है कि जन्म के आधार पर सात पीढ़ियों में सन्तान उत्कृष्टवर्ण में बिना कर्म के कैसे दीक्षित हो सकती है।

१०।६६ से १०।७३ तक के श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **विषय-विरोध**—इस अध्याय के अन्तिम श्लोक से स्पष्ट है कि इस अध्याय का विषय चातुर्वर्ण्य-धर्मों का वर्णन करना है। किन्तु इनमें वर्णसंकरों का, (जो कि चारों वर्णों के अन्तर्गत न होने से वाह्य हैं) वर्णन किया गया है और वीज की उत्कृष्टता बताई गई है। अतः यह विषय-विरुद्ध वर्णन है।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) महर्षि-मनु ने शूद्र को भी आर्य वर्ण माना है। मनु की मान्यता में मनुष्यों के दो ही भेद हैं—आर्य और दस्यु। और चारों वर्णों से भिन्न जो मनुष्य हैं, वे १०।४५ के अनुसार दस्यु हैं। अतः शूद्र भी आर्य वर्ण हैं। परन्तु १०।६६ और १०।७३ में शूद्र को 'अनार्य' शब्द से कथन किया गया है।

(ख) मनु ने द्विजों के सवर्ण-विवाह को माना है, परन्तु यहाँ १०।६७ में ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न सन्तान का कथन से स्पष्ट है कि यहाँ असवर्ण-विवाह को भी माना गया है, जो कि मनु की मान्यता से विरुद्ध है।

(ग) मनु की मान्यता में वर्णव्यवस्था कर्ममूलक है, जन्म-मूलक नहीं। परन्तु १०।६८ तथा १०।७३ में जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था को ही माना गया है। और वर्णों को अपरिवर्त्तनीय माना गया है। यह १०।६५ के कथन से विरुद्ध है।

३. **शैली-विरोध**—मनु की वर्णन-शैली विधानात्मक है। परन्तु 'तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्' १०।७२ यह ऐतिहासिक शैली है, अतः मनु की नहीं। और १०।७३ में कहा है कि—(अब्रवीद् धाता) अर्थात् यह निश्चय ब्रह्मा ने किया है। यह भी मनु की शैली नहीं है। क्योंकि मनुस्मृति धर्मशास्त्र मनु-प्रोक्त है ब्रह्मा द्वारा नहीं।

सृष्टिक्रम-विरुद्ध—महर्षि मनु ने 'ऋषि' शब्द को देव, पितर,आदि का भांति मनुष्यों का भेद माना है। इसलिये मनु ने (१२।४६ में) ऋषि, देव, पितर तथा साधनों को द्वितीय सात्त्विकगति वाले माना है। और मनु के पास (१।१) महर्षि जिज्ञासा लिये आये थे, जिनके उत्तर में मनु ने वर्णाश्रम धर्म का उपदेश किया। और तिर्यक् योनि पशुपक्षी आदि की है। जैसे—'तिर्यक्त्वं तामसा नित्यम्०' (१२।४०) यहां पर मनु ने मनुष्यों से भिन्न पशुपक्षी आदि योनियों को ही तिर्यक् कहा है। अतः स्पष्ट है कि ऋषि और तिर्यक् योनि पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु यहां कहा है—

तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन् ॥ (१०।७२)

अर्थात् तिर्यक्=पशुपक्षी योनि में उत्पन्न होकर बीज के प्रभाव से ऋषि हो गये। क्या यह सम्भव है कि तिर्यक् योनिवाला ऋषि बन जाये ? क्या इस प्रकार स्वयं योनि बदलने का मानव का सामर्थ्य है ? क्या दूसरी योनि हो सकती है, क्या पशुपक्षी बीज-प्रभाव से ऋषि बन सकते हैं ? अतः यह कथन सृष्टि-नियम के विरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या है। मनु सदृश आप्त-पुरुष ऐसा मिथ्या प्रवचन कभी नहीं कर सकते।

ये सभी (१० । ७४–११७) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **विषय-विरोध**—नवमाध्याय के उपसंहार में मनु ने लिखा है—

एषोऽखिलः कर्मविधिरखिलो राज्ञः सनातनः।
इमं कर्मविधिं विद्यात् क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ (६ । ३२५)

अर्थात् चातुर्वर्ण्यधर्म के अन्तर्गत यह समस्त क्षत्रिय के धर्मों का वर्णन किया है और अब क्रम से वैश्य व शूद्र के कर्मों का विधान करेंगे। और दशम-अध्याय के अन्तिम श्लोक में भी यही कहा है—

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः ॥

अर्थात् चारों वर्णों के धर्मों का विधान सम्पूर्णता से कहा गया। इन दोनों श्लोकों से इस अध्याय के विषय का निर्देश स्पष्ट है। किन्तु यहाँ ७४ से ८३ श्लोकों में ब्राह्मण की आजीविका के कर्मों का विधान, ९५ में क्षत्रिय की आजीविका के, ९८ में वैश्य की और ९९ में शूद्र की आजीविका के कर्मों का विधान विषय-निर्देशक श्लोकों से विरुद्ध है। और उस क्रम में वैश्य के ९ । ३२६ से ९ । ३३३ श्लोकों में और शूद्र के ९ । ३३४–३३५ श्लोकों में कर्मों का विधान कर चुके हैं। और मनु ने (१० । ४ में) चातुर्वर्ण्य धर्मों की समाप्ति पर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वर्ण चार ही हैं, इनसे भिन्न पांचवां वर्ण कोई नहीं है। अतः प्रतिपाद्य विषय के समाप्त होने पर पुनः उसका प्रकारान्तर से इसलिये कथन करना कि जन्म-मूलक उपजातियों से इनका सम्बन्ध जोड़ा जा सके, यह सर्वथा अनुचित है। और यह मनुप्रोक्त नहीं हो सकता। क्योंकि मनु एक विषय का प्रतिपादन एकत्र ही कर देते हैं।

२. **शैलीविरोध**—इन श्लोकों की शैली मनुसम्मत नहीं है जैसे—(क) ७८वें श्लोक में कहा है—'मनुराह प्रजापतिः।' इससे स्पष्ट है कि ये श्लोक मनु से भिन्न किसी व्यक्ति ने मनु के नाम से बनाये हैं।

(ख) ९१—९३ श्लोकों की शैली अतिशयोक्तिपूर्ण, घृणायुक्त, भय-प्रदर्शनात्मक और रूढ होने से मनुप्रोक्त नहीं है। जैसे—९१ में पितरों के साथ

कीड़ा बनकर कुत्ते की विष्ठा में पड़े रहना, ६२ में नमक व मांस वेचने से तुरन्त पतित होना, और दूध वेचने से ब्राह्मण का तीन दिन में शूद्र हो जाना, और निषिद्ध वस्तुओं के विक्रय से ब्राह्मण (६३ में) सात रातों में वैश्य बन जाता है।

(ग) और १०६वें श्लोक में कहा है कि कोई निम्न वर्ण का व्यक्ति उच्चवर्ण की आजीविका न करे, यह भी मनु की मान्यता के विरुद्ध भय-प्रदर्शन मात्र ही किया है। यदि किसी वर्ण का व्यक्ति निम्नवर्ण के कार्य कर सकता है तो उच्चवर्ण के कर्मों पर प्रतिबन्ध क्यों ? मनु ने १०। ६५ श्लोक में 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति' इत्यादि कहकर शूद्र को ब्राह्मण और ब्राह्मण को कर्म-हीन होने पर शूद्र स्पष्टरूप से माना है। अतः उच्चवर्ण के कर्मों पर प्रतिवन्ध की बात मनुप्रोक्त नहीं है। यह सब जन्माश्रित वर्णव्यवस्था की मान्यता का ही प्रभाव है।

(घ) और १०५–१०८ श्लोकों की शैली विध्यात्मक न होकर ऐतिहासिक और अयुक्तियुक्त है। यह शैली मनु की नहीं है। जैसे—अजीगर्त भूख से पीडित होकर पुत्रहत्या करने के लिये तैयार होकर भी पाप-ग्रस्त न हुआ (१०५)। वामदेव ने भूख से पीडित होकर कुत्ते के मांस को खाने की इच्छा की और पाप-ग्रस्त न हुआ (१०६)। भरद्वाज बढई से दान में गायें लेकर भी पाप-ग्रस्त न हुआ (१०७)। और विश्वामित्र भूखा होने पर चण्डाल के हाथ से कुत्ते का मांस खाने को उद्यत हुए और पापग्रस्त न हुये (१०९)। ये सभी उदाहरण ऐतिहासिक शैली के होने से मनुप्रोक्त नहीं हैं। और ये अजीगर्तादि सभी व्यक्ति मनु से परवर्ती हैं, फिर मनु उनके उदाहरण कैसे दे सकते थे ? मनु तो सृष्टि के आदि में हुए हैं।

(ङ) और १०।१०४ में कहा है कि जैसे कीचड़ से आकाश लिप्त नहीं होता वैसे ब्राह्मण पाप से लिप्त नहीं होता। यह अयुक्तियुक्त व पक्षपातपूर्ण होने से मनुप्रोक्त नहीं हो सकता।

३. अन्तर्विरोध–(१) ८२ वें श्लोक में कहा है कि ब्राह्मण क्षत्रिय की वृत्ति से जीविका न चला सके तो वैश्यवृत्ति के गोरक्षा और कृषि कर्म करके जीविका चलाये। किन्तु ८३–८४ श्लोकों में कृषि की निन्दा करके ब्राह्मण को कृषि कर्म करने का निषेध कर दिया है, और व्यापार करने का विधान कर दिया है।

(२) और ८८–८९ श्लोकों में मद्य-मांसादि के विक्रय का निषेध किया है। मनु की मान्यता में मद्यमांसादि राक्षसों का भोजन है और मांस के

विक्रेता को भी मनु ने घातक=पापी ५।५१ में कहा है। इससे स्पष्ट है कि मांसादि का क्रय करना वैश्य के कर्मों में मनु नहीं मानते। फिर यह निषेधात्मक समस्त विधान परवर्ती समय का है कि जब मद्य-मांसादि का सेवन बढ़ने से विक्रय होने लगा था।

(३) और १०१–१०७ श्लोकों में ब्राह्मणों के लिये निन्दित दानादि लेने का विधान किया गया है। जबकि अन्यत्र ४। १९१–१९४ सर्वत्र विशुद्ध दान लेने का कथन है। और १०४—१०८ श्लोकों में मांस-भक्षण को उचित बताया है, जब कि मनु ने आपत्काल में भी हिंसा करने का ५।५१, ४३ में निषेध किया है।

(४) और १०६ श्लोक में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के लिये ब्याज पर धन देने की छूट दी है, जबकि १०।८२ में ब्याज कार्य को ठीक नहीं माना है। और १२० से १२८ तक के श्लोकों में ऐसी बातें लिखी हैं कि जो १०१—१०८ तक श्लोकों में कही बातों का विरोध कर रही हैं।

(५) १०। ७४—८२ तक, १०। ९५, १०। ९८ और १०। ९९ श्लोकों में विशेष रूप से वैकल्पिक ऐसी व्यवस्थायें दी गई हैं कि यदि चारों वर्णों के व्यक्ति अपने-अपने वर्णकार्यों से आजीविका न चला सकें तो अपने-अपने से निम्न वर्णों की वृत्ति-कर्मों से आजीविका कर सकते हैं। इन व्यवस्थाओं को देखकर ही प्रायः व्याख्याकारों ने इनमें आपत्कालीन वर्णों के कर्म मानकर व्याख्यायें की हैं। किन्तु इन व्यवस्थाओं पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि ये प्रक्षेप किसी जन्ममूलक वर्णव्यवस्था के मानने वाले ने किये हैं। इस विषय में कतिपय आपत्तियाँ इस प्रकार हैं—

(क) इन श्लोकों में कहा गया है कि यदि ब्राह्मणादिवर्ण अपने यथोक्त कर्मों से आजीविका न चला सकें तो ब्राह्मण क्षत्रियधर्म=शस्त्रास्त्र धारण करके प्रजा की रक्षा करके अथवा वैश्य के धर्मों=कृषि और व्यापार करके आजीविका चलावे। इसी प्रकार दूसरे वर्ण भी करें। इन बातों को पढ़कर ही इस अध्याय को आपद्धर्म्म का माना जाने लगा। किन्तु यह मान्यता मनु की कदापि नहीं है। क्योंकि मनु ने गुण, कर्म, स्वभाव से वर्णव्यवस्था को माना है, जन्ममूलक नहीं। और जो गुण, कर्म, स्वभाव से सच्चा ब्राह्मण है, वह आजीविका न चला सके, यह बात मिथ्या है। हाँ जो ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर यथार्थ में ब्राह्मण के कर्म नहीं करता वह अवश्य ऐसी दशा को प्राप्त हो सकता है। जैसे कोई योग्य चिकित्सक है, उसके भूखे मरने का प्रश्न ही नहीं उठता। और यदि उसका पुत्र चिकित्सा करना नहीं जानता तो उसके लिये आजीविका

का प्रश्न उठ सकता है। इसी प्रकार इन श्लोकों का मिश्रण किसी जन्म-मूलक वर्णव्यवस्था के पक्षपाती ने किया है, जो यह मानते हैं कि ब्राह्मण के घर जन्म लेने वाला ही ब्राह्मण होता है, चाहे वह विद्यादि गुणों वाला हो या नहीं।

(ख) यदि कोई ऐसी बात कहे कि ये तो आपद्धर्म कहे हैं, यह बात भी सत्य नहीं है। क्योंकि आपद्धर्म की यहाँ कोई परिभाषा नहीं की है? और आपद्धर्म कितने समय तक होता है। यह निर्धारण भी कोई नहीं कर सकता। और दुर्जनतोषन्याय से मान भी लिया जाये कि आपत्ति तो हरेक मनुष्य पर आ सकती हैं तो यहाँ विचार करना चाहिए कि आपत्ति का क्या स्वरूप है? क्या ऐसी स्थिति को आपत्ति माना जाये, जिसमें ब्राह्मण ब्राह्मण के कार्य न कर सके? ऐसी स्थिति दो प्रकार से आ सकती है—(१) एक अत्यधिकरुग्णादशादि के कारण अथवा (२) ब्राह्मण के कर्मों की योग्यता न रखने के कारण। यदि रोगादि के कारण ऐसी दशा हुई है, तब तो क्षत्रिय या वैश्य के कर्म भी कैसे कर सकेगा? और यदि वह अयोग्य है, तो मनु की कर्ममूलक-वर्ण-व्यवस्था के अनुसार वह ब्राह्मण ही नहीं है। और जो ऐसी दशा में है कि भूखा मर रहा है, क्या वह क्षत्रिय या वैश्य के कर्मों को बिना साधनों के कर सकता है?

(ग) मनु ने वर्णव्यवस्था का आधार कर्म को माना है। जो व्यक्ति पढ़-लिखकर भी कर्मों से हीन है, वह भी ब्राह्मणादि द्विजों में परिगणित नहीं किया जा सकता। और मनु की मान्यता के अनुसार द्विजों की वर्णव्यवस्था का निर्धारण विद्या-समाप्ति पर आचार्य[1] करता है। और आचार्य विद्यार्जन के समय विद्यार्थी के गुणों, कर्मों तथा स्वभाओं को जानकर ही वर्णों का निर्धारण करता है। जिसका गुण, कर्म, व स्वभाव ब्राह्मण का है, क्या वह आपत्ति के समय अपने गुण, कर्म, स्वभाव को बदलकर दूसरे वर्णों के कार्य कर सकता है? ब्राह्मणवृत्ति का मनुष्य क्षत्रियवृत्ति के कार्य अथवा वैश्यवृत्ति के कार्य कैसे कर सकता है? अतः ब्राह्मणवर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्णों के कार्यों से आजीविका कर लेवे, यह वैकल्पिक व्यवस्था किसी जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था को मानने वाले मनुष्य की बुद्धि की उपज है, मनु की नहीं। इसी प्रकार १०।९५ में क्षत्रिय के लिए वैश्यवृत्ति के कार्यों की व्यवस्था, १०।९८ में वैश्यवर्ण के लिये शूद्र वृत्ति से कार्यों की व्यवस्था और १०।९९ में शूद्र के लिये शिल्पकार्यों

१. आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा॥ (मनु० २।१४८)

की वैकल्पिक व्यवस्थायें परवर्ती होने से प्रक्षिप्त हैं। और ब्राह्मण की भाँति क्षत्रियादि का आपत्-काल क्या हो सकता है? क्या प्रजापालन करने में असमर्थ क्षत्रिय वैश्य के, और कृषि, व्यापारादि करने में असमर्थ वैश्य शूद्र के कार्य कर सकता है? और यदि आजीविका का ही केवल आपत्काल होता है, तो सब वर्णों को वैश्य के कर्म करने का ही अधिकार देना चाहिये, क्योंकि आजीविका के लिये धनार्जन का यही सर्वोत्तम उपाय है।

(घ) और मनु के अनुसार जो ब्राह्मणादि तीनों वर्णों में दीक्षित न हो सके, वह शूद्र होता है, जन्म से नहीं। 'ऐसा व्यक्ति शारीरिक श्रम करके (द्विजों की सेवा करके) आजीविका कर सकता है। उसके लिए (आपत्कालीन) यह वैकल्पिक व्यवस्था बताना बिल्कुल ही असंगत है कि वह कारुकर्म=शिल्प-कर्म करके जीविका चला लेवे। शूद्र के आपत्काल से क्या अभिप्राय है? यदि यह कहो कि वह रोगादि से पीड़ित दशा में आपद्ग्रस्त होता है, तब तो वह शिल्पकर्म भी कैसे करेगा? अतः स्पष्ट है कि जन्म-मूलक वर्णव्यवस्था के प्रचलित होने पर ऐसी दशा उत्पन्न हुई कि जो व्यक्ति शूद्र कुल में उत्पन्न हुआ है, किन्तु द्विजों के सेवाकार्य करने में असमर्थ है, क्योंकि उसके गुण, कर्म, स्वभाव शूद्र जैसे नहीं हैं तब किसी ने यह वैकल्पिक व्यवस्था लिखी है कि वह शिल्पकर्म से आजीविका कर लेवे। किन्तु यह मान्यता मनुसम्मत न होने से मौलिक नहीं है।

(ङ) मनु जी ने आर्यों को चार वर्णों में विभक्त करके स्पष्ट लिखा है—

'चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः।' (मनु० १०।४)

अर्थात् मनुष्य-समाज के ब्राह्मणादि चार ही वर्ण हैं, पांचवां कोई नहीं। किन्तु यहां प्रक्षेपक ने मनु की इस मान्यता के विरुद्ध जन्ममूलक जो बढ़ई सुनारादि उपजातियां बन गई थीं, उनके आधार पर लिखा है कि शूद्र कारु-कर्म=शिल्पकर्म करके आजीविका करे। ये उपजातियाँ मनु की मान्यता के विरुद्ध तथा बहुत ही परवर्ती होने से प्रक्षिप्त हैं।

(च) मनु ने इस शास्त्र में शिल्पकर्म को वैश्यवर्ण के कार्यों में अन्तर्निहित किया है कारुक=शिल्पीनामक कोई पृथक् विभाग नहीं किया है। परन्तु इस शिल्पकर्म को चारों वर्णों से भिन्न उपजातियों का कर्म बताकर प्रक्षेपक ने स्वयं अपना भेद (परवर्ती होने से) प्रक्षिप्त सिद्ध कर दिया है क्योंकि प्रक्षेपक के समय सुनार, कुम्हार, धोबी आदि उपजातियां बन चुकी थीं।

४. **पुनरुक्त एवं क्रमविरोध**—इन श्लोकों में पुनरुक्त और क्रमविरुद्ध

बातें पर्याप्त रूप में कही हैं, जिससे ये श्लोक मनुप्रोक्त कदापि नहीं हो सकते। जैसे—

(क) ७४—८२ श्लोक में ब्राह्मण को आजीविका के लिए अनेक वैकल्पिक विधान किये हैं (जिनमें परस्पर विरोधी बातें भी हैं) और १०। १०१ में कहा है कि ब्राह्मण जीविका के अभाव में 'इमं धर्मं समाचरेत्' अर्थात् अगले श्लोकों में कहे अनुसार जीविका करे। यदि मनुप्रोक्त ये श्लोक होते तो क्रमशः एकत्र होते। शूद्र की आजीविका के बाद पुनः ब्राह्मणवृत्ति की बात उठाना असंगत है।

ये सभी (१०।११८–१२९) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसंगविरोध—(क) मनु ने ९।३२५ तक में क्षत्रिय कर्मों का विधान किया है, उसके बाद वैश्य व शूद्र के कर्मों का प्रसंग है। किन्तु यहाँ क्षत्रिय के कर्मों का पुनर्वर्णन अप्रासंगिक है। इसी प्रकार शूद्र की वृत्ति तथा कर्म का वर्णन भी प्रथम कर चुके हैं फिर नये ढंग से उसका वर्णन करना असंगत है। (ख) और यदि वर्णन करने की कोई आवश्यकता थी तो सभी वर्णों का क्रमशः करते? किन्तु यहां क्षत्रिय के बाद शूद्र का वर्णन करना पुनरुक्त, असंगत तथा क्रमविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

२. अन्तर्विरोध—(क) १२१–१२३ श्लोकों में यह वर्णन है कि शूद्र का ब्राह्मणों की सेवा करना ही परमधर्म है, किन्तु विशेष परिस्थिति में क्षत्रिय और वैश्य के यहां भी आजीविका कर सकता है। यह व्यवस्था मनु की मान्यता से विरुद्ध और पक्षपातपूर्ण होने से मान्य नहीं हो सकती। क्योंकि मनु ने (१।९१,।९।३३४-३३५ में) द्विजन्मा=ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य तीनों वर्णों की सेवा करना ही शूद्र का धर्म माना है। (ख) और १०।१२७ में शूद्र के लिए मन्त्रवर्ज्य यज्ञों का विधान मनु के विरुद्ध है। इस विषय में २।१७२ पर टिप्पणी द्रष्टव्य है। (ग) और (१०।१२५ में) शूद्र के लिये जूठा अन्न तथा फटे पुराने वस्त्रों को देने का विधान भी शूद्रों के प्रति घृणा भावना प्रकट करता है। परन्तु मनु ने शूद्र को (९।३३५ में) पवित्र तथा उत्कृष्ट वर्ण को प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार दिया है। अतः मनु के संविधान में सम्मान का आधार गुण, कर्म व स्वभाव है, और किसी भी व्यक्ति के प्रति घृणा भावना के लिये मनु के शास्त्र में कोई स्थान नहीं है।

३. शैलीगत आधार—इन श्लोकों में शूद्र के विषय में जो वर्णन किया गया है, उसकी शैली पक्षपातपूर्ण, घृणास्पद, दुराग्रहवृत्ति को प्रकट करने के कारण अयुक्तियुक्त है।

४. पुनरुक्त एवं परस्परविरुद्ध—मनु ने राजा के लिये ७। १३०–१३२ श्लोकों में कर का विधान किया है कि कर किससे किस प्रकार लेवे। पुनः यहां १०। ११८–१२० श्लोकों में कर का विधान करना पुनरुक्त होने से निरर्थक है और इन्हें आपत्कालीन विधान भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वहां कहे विभिन्न कर-विधानों से यहां कुछ भी विशेष नहीं कहा[1] गया है। और मनु ने वर्णानुसार न करके केवल व्यापारादि कुछ आय के साधनों पर किया है किन्तु यहाँ (१०। १२० में) शूद्रों से कर के रूप में काम करने का विधान उससे विपरीत है। और क्षत्रिय का धर्म है कि वह सब प्रजा की रक्षा करे। उसमें ब्राह्मणादि सभी वर्ण आ जाते हैं। परन्तु (१०। ११९ में) कहा है कि वैश्यों की रक्षा करके बलि= ग्रहण करे। क्या आपत्काल में ही दूसरे वर्णों की रक्षा करनी चाहिए? और १०। ११८ में कहा है कि क्षत्रिय प्रजा की रक्षा करता हुआ पाप से छूट जाता है यह भी मनु की मान्यता से विरुद्ध है। प्रजा की रक्षा करना क्षत्रिय का धर्म है यदि क्षत्रिय भी दुष्कर्म करता है, तो उसका फल उसे अवश्य मिलता है।

यह (१०। १३० वां) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

१. शैलीविरोध—मनु की यह शैली है कि वे किसी विषय का निर्देश अवश्य करते हैं। इस श्लोक में इस शैली का अभाव है। और (१०। १३१) में पूर्वविषय का उपसंहार तथा अगले विषय का निर्देश भी होने से यही श्लोक मौलिक है, १०। १३०वाँ श्लोक नहीं।

२. अन्तर्विरोध—और किसी परवर्ती प्रक्षेपक ने आपत्कालीन धर्मों के नाम से परवर्ती जन्म-मूलक वर्णव्यवस्था के आधार पर इन श्लोकों का मिश्रण किया है। क्योंकि 'आपत्काल' का अभिप्राय यह कदापि नहीं होता कि दूसरे वर्णों के कर्मों को ही करने लग जाये? और ब्राह्मणकर्म करने वाला व्यक्ति क्षत्रिय या वैश्य के कर्म कैसे कर सकता है? जिसके जैसे गुण, कर्म, स्वभाव होते हैं क्या वे आपत्काल में बदल सकते हैं? अतः इन श्लोकों से जन्म-मूलक वर्णव्यवस्था की ही पुष्टि होती है, और वह मनु की मान्यता से विरुद्ध है। 'आपद्धर्म' का क्या अभिप्राय है? वह कितने समय के लिये होता है? यह इन श्लोकों में कहीं नहीं लिखा है जिससे स्पष्ट है कि ये आपद्धर्म नाम के श्लोक मौलिक नहीं हैं।

---

१. ७। १३० श्लोक में कहा है—अन्न का आठवां, छठा, या बारहवां भाग कर (टैक्स) रूप में लेवे। और यहां (१०। १२० में) कहा है कि आपत्काल में धान्य=अन्न पर आठवां भाग लेवे। यह कैसे आपत्काल हुआ कि अनापत्काल में छठा भाग भी ले सकता है और आपत्काल में उससे भी आठवां भाग लेने का विधान निरर्थक है।

३. विषय-विरोध—१०।१३१वें श्लोक में स्पष्ट कहा है कि 'चातुर्वर्ण्य-धर्म विषय का ही इस अध्याय में कथन किया गया है। आपद्धर्मों का नहीं। अतः आपद्धर्म का वर्णन विषयविरुद्ध है।

४. अयुक्ति-युक्त—यथार्थ में अध्यायों का विभाग भी परवर्ती तथा दोष-पूर्ण है। क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि ६ से १० अध्यायों का विभाग करने वाला श्लोक किसी प्रक्षेपक ने या तो हटा दिया अथवा आपद्धर्म के श्लोक मिलाने के लिये दो अध्यायों में बांट दिया है। क्योंकि चातुर्वर्ण्य-धर्म का विषय लम्बा होने से अनेक अध्यायों में है। या तो अध्यायों का विभाग वर्णों के अनुसार बन जाना चाहिए, अथवा राजधर्म के पृथक् अध्याय (७, ८, ९) बनाकर शेष श्लोकों को दशमाध्याय में रखा जाना चाहिये।

और दशमाध्याय में कुछ श्लोकों को छोड़कर आपद्धर्म है भी नहीं। इसमें तो अधिकतर वर्णसंकरों की उत्पति तथा उनके कार्यों का वर्णन है। जिन्हें कोई भी आपद्धर्म नहीं मान सकता। अतः १०। १३० तथा ९। ३३६ दोनों ही श्लोक परवर्ती प्रक्षिप्त हैं।

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥ १०।१३१ ॥ (१४)

(एषः) यह [१। १ से १०। १३० तक] (चातुर्वर्ण्यस्य) चारों वर्णों के व्यक्तियों का (कृत्स्नः) सम्पूर्ण (धर्मविधिः कीर्तितः) धर्मविधान कहा है। (अतः परम्) इसके बाद अब (शुभं प्रायश्चित्तविधिं प्रवक्ष्यामि) शुभ प्रायश्चित्त की विधि को कहूँगा—॥ १३१ ॥

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां प्राकृतभाषाभाष्यसमन्वितायाम् 'प्रक्षेपश्लोक' समीक्षाविभूषितायाञ्च मनुस्मृतौ चातुर्वर्ण्य-धर्मान्तर्गत-वैश्य-शूद्रधर्मात्मको दशमोऽध्यायः ॥

एकादशोऽध्यायः

(प्राकृतभाषाभाष्य-प्रक्षेपश्लोकसमीक्षाभ्यां सहितः)

[प्रायश्चित्त-विषय]

(११।४४ से २६५ तक)

प्रायश्चित्त-सम्बन्धी विधान—

अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥ (१)

(विहितं कर्म अकुर्वन्) शास्त्र में विहित कर्मों [यज्ञोपवीत संस्कार वेदाभ्यास (११।१९१–१९२), संध्योपासन, यज्ञ आदि] को न करने पर, (निन्दितं समाचरन्) शास्त्र में निन्दित माने गये कार्यों [बुरे कर्मों से धनसंग्रह (११।१९३) मद्यपान, हिंसा आदि] को करने पर (च) और (इन्द्रिय-अर्थेषु प्रसक्तः) इन्द्रिय-विषयों में अत्यन्त आसक्त होने [काम, क्रोध, मोह में आसक्त होने] पर (नरः प्रायश्चित्तीयते) मनुष्य प्रायश्चित्त के योग्य होता है ॥ ४४ ॥

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥ (२)

(बुधाः) कुछ विद्वान् (अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुः) अज्ञानवश किये गये पाप में प्रायश्चित्त करने को कहते हैं (एके) और कुछ विद्वान् (श्रुति-निदर्शनात्) वेदों में उल्लेख होने के कारण (कामकारकृते+अपि आहुः) जान-कर किये गये पाप में भी प्रायश्चित्त करने को कहते हैं ॥ ४५ ॥

अनुशीलन—यजु० ३९।१२ में प्रायश्चित्त का उल्लेख हुआ है—

"निष्कृत्यै स्वाहा प्रायश्चित्त्यै स्वाहा भेषजाय स्वाहा ।"

अर्थात्—"(निष्कृत्यै) निवारण के लिये (स्वाहा) सत्यक्रिया, (प्राय-श्चित्त्यै) पापनिवारण के लिए (स्वाहा) सत्यक्रिया और (भेषजाय) सुख के लिये (स्वाहा) सत्य क्रिया का सदा प्रयोग करें ।" (म० दया० भाष्य)

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति ।
कामतस्तु मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ४६ ॥ (३)

(अकामतः कृतं पापम्) अनिच्छापूर्वक किया गया पाप (वेदाभ्यासेन शुध्यति) वेदाभ्यास से शुद्ध होता है—पाप के संस्कार नष्ट होकर आत्मा पवित्र होती है (मोहात् कामतः तु कृतम्) आसक्ति में इच्छापूर्वक किया गया पाप (पृथक्विधैः प्रायश्चित्तैः) अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों के करने से शुद्ध होता है ॥ ४६ ॥

प्रायश्चित्त का अर्थ—

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥ ४७ ॥ (४)

('प्रायः' नाम तपः प्रोक्तम्) 'प्रायः' तप को कहते हैं और ('चित्तं' निश्चयः उच्यते) 'चित्त' निश्चय को कहते हैं (तपः-निश्चयसंयुक्तं 'प्रायश्चित्तम्' इति स्मृतम्) तप और निश्चय का संयुक्त होना ही 'प्रायश्चित्त' कहलाता है ॥ ४७ ॥

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।
निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥ ५३ ॥ (५)

(अतः) इसलिए (विशुद्धये) संस्कारों की शुद्धि के लिए (नित्यं प्रायश्चित्तं चरितव्यम्) सदा [बुरा काम होने पर] प्रायश्चित्त करना चाहिए, (हि) क्योंकि (अनिष्कृत-एनसः) पापशुद्धि किये विना मनुष्य (निन्द्यैः लक्षणैः युक्ताः जायन्ते) निन्दनीय लक्षणों से युक्त हो जाते हैं या मरकर पुनर्जन्म में होते हैं ॥ ५३ ॥

व्रात्यों का प्रायश्चित्त—

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ।
तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥ १९१ ॥ (६)

(येषां द्विजानां सावित्री) जिन द्विजों का यज्ञोपवीत संस्कार (यथाविधि) उचित समय [इस संस्करण में २ । ११–१३] पर (न+अनूच्येत) नहीं हुआ हो, (तान्) उनको (त्रीन् कृच्छ्रान् चारयित्वा) तीन कृच्छ्र व्रत कराके (यथा-विधि+उपनाययेत्) विधिपूर्वक उनका उपनयन संस्कार कर देना चाहिए ॥ १९१ ॥

निन्दित कर्म करने वालों का प्रायश्चित्त—

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः ।
ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥ १९२ ॥ (७)

(विकर्मस्थाः तु ये द्विजाः) निन्दित कर्म करने पर जो उपनयनयुक्त द्विज (च) (प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति) प्रायश्चित्त करके अपने को शुद्ध करना चाहते हैं और (ब्रह्मणा परित्यक्ताः) वेदादि के त्यागने पर जो प्रायश्चित्त करके शुद्ध होना चाहते हैं (तेषाम्+अपि+एतत्+आदिशेत्) उन्हें भी पूर्वोक्त व्रत [११ । १६१] करने को कहें ॥ १९२ ॥

वेदोक्त कर्मों के त्याग का प्रायश्चित्त—

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ २०३ ॥ (८)

(वेदोक्तानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे) वेदोक्त नैत्यिक [अग्निहोत्र, सन्ध्योपासन आदि] कर्मों के न करने पर (च) और (स्नातकव्रतलोपे) ब्रह्मचर्यावस्था में व्रतों [भिक्षाचरण आदि] के न करने पर (अभोजनं प्रायश्चित्तम्) एक दिन उपवास रखना ही प्रायश्चित्त है ॥ २०३ ॥

प्राजापत्य व्रत की विधि—

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः ॥ २११ ॥ (९)

(प्राजापत्यं चरन् द्विजः) 'प्राजापत्य' नामक व्रत का पालन करने वाला द्विज (त्रि+अहं प्रातः) पहले तीन दिन प्रातःकाल हो, (त्रि+अहं सायम्) फिर तीन दिन केवल सायंकाल, (त्रि+अहम् अयाचितम् अद्यात्) उसके पश्चात् तीन दिन बिना मांगे जो मिले उसका ही भोजन करे (च) और (परं त्रि+अहं न अश्नीयात्) उसके बाद फिर तीन दिन उपवास रखे। [यह प्राजापत्य व्रत है] ॥ २११ ॥

कृच्छ्र सान्तपन व्रत की विधि—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतम् ॥ २१२ ॥ (१०)

क्रमशः एक-एक दिन (गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधिः सर्पिः कुश+उदकम्) गोमूत्र, गोबर का रस, गौदूध, गौ के दूध का दही, गोघृत और कुशा=दर्भ से उबला जल, इनका भोजन करे (च) और (एकरात्र उपवासः) फिर एक दिन-रात का उपवास रखे, यह (कृच्छ्रं-सांतपनं स्मृतम्) 'कृच्छ्र सांतपन' नामक व्रत है ॥ २१२ ॥

अतिकृच्छ्र व्रत की विधि—

एकैकं ग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः ॥ २१३ ॥ (११)

(अतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः) 'अतिकृच्छ्र' नामक व्रत को करने वाला द्विज (पूर्ववत्) पूर्व विधि [११ । २११] के अनुसार (त्रि+अहाणि त्रीणि) तीन दिन केवल प्रातःकाल, तीन दिन केवल सायंकाल, तीन दिन बिना मांगे प्राप्तहुआ (एक-एकं ग्रासम्+अश्नीयात्) एक-एक ग्रास भोजन करे (अन्त्यं त्रि+अहं च+उपवसेत्) और अन्तिम तीन दिन उपवास रखे। [यह 'अतिकृच्छ्र' व्रत है]॥२१३॥

तप्तकृच्छ्र व्रत की विधि—

तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् ।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥ २१४ ॥ (१२)

(तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रः) 'तप्तकृच्छ्र' व्रत को करने वाला द्विज (उष्णान् जल-क्षीर-घृत-अनिलान् प्रतित्र्यहं पिबेत्) गर्म पानी, गर्मदूध, गर्म घी और वायु प्रत्येक को तीन-तीन दिन पीकर रहे, और (सकृत्स्नायी) एक बार स्नान करें, तथा (समाहितः) एकाग्रचित्त रहे ॥ २१४ ॥

चान्द्रायण व्रत की विधि—

एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥ (१३)

[पूर्णिमा के दिन पूरे दिन में १५ ग्रास भोजन करके फिर] (कृष्णे एक-एकं पिण्डं ह्रासयेत्) कृष्णपक्ष में एक-एक ग्रास भोजन प्रतिदिन कम करता जाये, [इस प्रकार करते हुए अमावस्या को पूर्ण उपवास रहेगा, फिर शुक्लपक्ष-प्रतिपदा को पूरे दिन में एक ग्रास भोजन करके] (शुक्ले वर्धयेत्) शुक्लपक्ष में एक-एक ग्रास भोजन पूरे दिन में बढ़ाता जाये, इस प्रकार करते हुए (त्रिषवणम्+उपस्पृशन्) तीन समय स्नान करे, (एतत् चान्द्रायणं स्मृतम्) यह 'चान्द्रायण' व्रत कहाता है ॥ २१६ ॥

यवमध्यम चान्द्रायणव्रत की विधि—

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे ।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१७ ॥ (१४)

(यवमध्यमे चान्द्रायणं चरन्) 'यवमध्यमचान्द्रायण व्रत' को करने वाला व्यक्ति (एतत्+एव कृत्स्नं विधिम्) इसी [११।२१६] चान्द्रायण की सम्पूर्ण विधि को (शुक्लपक्षादि नियतः आचरेत्) शुक्लपक्ष के आदि दिन से प्रारम्भ करके

निश्चित क्रम से करे अर्थात् शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन से एक-एक ग्रास भोजन का कम करता जाये फिर कृष्णपक्ष में एक-एक ग्रास बढ़ाये ॥ २१ ॥

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्त्तव्यः स्वयमन्वहम् ।
अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥ (१५)

प्रायश्चित्तकाल में (अन्वहम्) प्रतिदिन (स्वयम्) प्रायश्चित्तकर्त्ता को स्वयं (महाव्याहृतिभिः होमः कर्त्तव्यः) महाव्याहृतियों [भूः, भुवः, स्वः आदि मन्त्रों] से हवन करना चाहिए (च) और (अहिंसा-सत्यम्-अक्रोध-आर्जवं समाचरेत्) अहिंसा, सत्य, क्रोधरहित रहना, कुटिलता न करना, इन बातों का पालन करे ॥ २२२ ॥

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ २२५ ॥ (१६)

प्रायश्चित्तकर्त्ता प्रायश्चित्तकाल में (नित्यम्) प्रतिदिन (शक्तितः) शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक (सावित्रीं च पवित्राणि जपेत्) सावित्री= गायत्री मन्त्रों और 'पवित्र करने की प्रार्थना' वाले मन्त्रों का जप करे, (एवम्) ऐसा करना (सर्वेषु एव व्रतेषु) सभी व्रतों में (प्रायश्चित्तार्थम्+आदृतः) प्रायश्चित्त के लिए उत्तम माना गया है ॥ २२५ ॥

मानस-पापों के प्रायश्चित्त की विधि—

एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः ।
अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥ २२६ (१७)

(आविष्कृत-एनसः द्विजातयः) जिनका पाप क्रियारूप में प्रकट हो गया है, ऐसे द्विजातियों को (एतैः व्रतैः शोध्याः) इन पूर्वोक्त [११।२११–२२५] व्रतों से शुद्ध करें, और (अनाविष्कृतपापान् तु) जिनका पाप क्रिया रूप में प्रकट नहीं हुआ है अर्थात् अन्तःकरण में ही पाप भावना उत्पन्न हुई है, ऐसों को (मन्त्रैः च होमैः शोधयेत्) मन्त्र-जपों [११।२२५] और यज्ञों से शुद्ध करें अर्थात् मानसिक पापों की शुद्धि जपों एवं यज्ञों= संध्योपासन- अग्निहोत्र आदि से होती है ॥ २२६ ॥

प्रायश्चित्त विषय का उपसंहार—

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च ।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥ २२७ ॥ (१८)

(ख्यापनेन) अपनी त्रुटि और उसके लिये दुःख अनुभव करते हुए सर्वसाधारण के सामने किये हुए अपने दोष को कहने से [११।२२८] (अनुतापेन) पश्चात्ताप करने से [११।२२९-२३२] (तपसा) व्रतों [११।२२०—२२२, २३३]

की साधना से, (अध्ययनेन) वेदाभ्यास से [११।२४५—२४६] (पापकृत् पापात् मुच्यते) पाप करने वाला पाप-भावना से रहित हो जाता है (तथा) और (आपदि दानेन) आपद्ग्रस्त व्याधि, जरा आदि से पीड़ित अवस्था में अपराध होने पर (दानेन) परोपकारार्थ दान देने से भी पापभावना समाप्त होकर निष्पापता आती है ॥ २२७ ॥

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते ।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥ (१९)

(अधर्मं कृत्वा) अधर्मयुक्त आचरण करके (नरः) मनुष्य (यथा-यथा स्वयम् अनुभाषते) जैसे-जैसे अपने पाप को लोगों से कहता है (तथा तथा अहिः त्वचा+इव) वैसे-वैसे सांप-केंचुली के समान (तेन+अधर्मेण मुच्यते) उस अधर्म से—अपराध से मुक्त होता जाता है अर्थात् लोगों में उसके प्रति अपराधी होने की भावना समाप्त होती जाती है ॥ २२८ ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२९ ॥ (२०)

और, (तस्य मनः यथा-यथा) उसका मन=आत्मा जैसे-जैसे (दुष्कृतं कर्म गर्हति) किये हुए पाप-अपराध को धिक्कारता है [कि मैंने यह बुरा कार्य किया है............आदि] (तथा तथा तत् शरीरम्) वैसे-वैसे उसका शरीर (तेन. अधर्मेण मुच्यते) उस अधर्म-अपराध से मुक्त=निवृत्त होता जाता है अर्थात् बुरे कर्म को बुरा मानकर उसके प्रति ग्लानि होने से शरीर और मन बुरे कार्य करने से निवृत्त होते जाते हैं ॥ २२९ ॥

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।
नैवं कुर्यात्पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ २३० ॥ (२१)

मनुष्य (पापं हि कृत्वा) पाप=अपराध करके (संतप्य) और उसके लिए पश्चात्ताप करके (तस्मात् पापात् प्रमुच्यते) उस पाप से छूट जाता है अर्थात् उस पाप को करने में पुनः प्रवृत्ति नहीं करता, और (पुनः एवं न कुर्यात्) 'फिर कभी इस प्रकार का कोई पाप नहीं करूंगा' (इति निवृत्त्या) इस प्रकार निश्चय करने के बाद पापों की ओर निवृत्ति होने से (सः तु पूयते) वह व्यक्ति पवित्रा-चरण वाला बन जाता है ॥ २३० ॥

अनुशीलन—इस श्लोक को पूना प्रवचन में (पृ० ६३—६४) ऋषि-दयानन्द ने उद्धृत किया है—"अब कोई ऐसी शंका निकाले कि पूर्वकृत पापों का दण्ड जीव को बिना भोगे छुटकारा नहीं मिल सकता यह हमारा मत है, तो फिर पश्चात्ताप का कुछ भी उपयोग नहीं है क्या ? इसका उत्तर यह है कि पश्चात्ताप से पापक्षय नहीं होता, परन्तु आगे पाप करना बन्द हो जाता है ।"

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् ।
मनोवाङ्मूर्त्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥ २३१ ॥ (२२)

(प्रेत्य कर्मफल-उदयम्) 'मरकर कर्मों का फल अवश्य मिलेगा' (मनसा एवं संचिन्त्य) मन में इस विचार को रखते हुए मनुष्य (मनः-वाक्-मूर्तिभिः) मन, वाणी और शरीर से (नित्यं शुभकर्म समाचरेत्) सदा शुभ कार्य करे । ॥ २३१ ॥

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्द्वितीयं न समाचरेत् ॥ २३२ ॥ (२३)

(अज्ञानात् यदि वा ज्ञानात्) अज्ञान से अथवा जानबूजकर (विगर्हितं कर्म कृत्वा) निन्दित कर्म करके (तस्मात् विमुक्तिम्+अन्विच्छन्) मनुष्य उस पाप-प्रवृत्ति से छुटकारा पाने के लिए (द्वितीयं न समाचरेत्) दुबारा पाप न करे [तभी पाप-प्रवृत्ति से छुटकारा मिल सकता है, अन्यथा नहीं ।] ॥ २३२ ॥

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ।
तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ २३३ ॥ (२४)

(यस्मिन् कर्मणि कृते) जिस कर्म के करने पर (अस्य मनसः अलाघवं स्यात्) मनुष्य के मन में जितना भारीपन अर्थात् असन्तोष एवं अप्रसन्नता होवे (तस्मिन्) उस कर्म में (यावत् तुष्टिकरं भवेत्) जितना तप करने से मन में सुप्रसन्नता एवं संतुष्टि हो जावे (तावत् तपः कुर्यात्) उतना ही तप करे, अर्थात् किसी पाप के करने पर मनुष्य के मन में जब तक ग्लानिरहित पर्ण संतुष्टि एवं प्रसन्नता न हो जाए तब तक स्वेच्छा से तप करता रहे ॥ २३३ ॥

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥ २४५ ॥ (२५)

(अन्वहं शक्त्या वेदाभ्यासः) प्रतिदिन वेद का अधिक-से-अधिक अध्ययन, (महायज्ञक्रियाः) पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान, (क्षमा) तप-सहिष्णुता, ये क्रियाएं (महापातकजानि+अपि पापानि) बड़े पापों से उत्पन्न पापभावनाओं या दुःसंस्कारों को भी (नाशयन्ति) नष्ट कर देती हैं ॥ २४५ ॥

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ २४६ ॥ (२६)

(यथा वह्निः तेजसा) जैसे अग्नि अपने तेज से (प्राप्तं एधः क्षणात् निर्दहति) समीप आये काष्ठ आदि इंधन को तत्काल जला देती है (तथा) वैसे ही (वेदवित्) वेद का ज्ञाता (ज्ञान-अग्निना सर्वं पापं दहति) ज्ञान रूपी अग्नि से सब

आने वाली पापभावना को जला देता है—पापसंस्कारों को भस्म कर देता है ॥ २४६ ॥

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥ २६३ ॥ (२७)

(यथा) जैसे (क्षिप्तं लोष्टम्) फेंका हुआ ढेला (महाह्रदं प्राप्य विनश्यति) बड़े तालाब में गिरकर पिघलकर नष्ट हो जाता है (तथा) उसी प्रकार (त्रिवृति वेदे) तीन विद्याओं वाले वेदों के जानने पर (सर्वं दुश्चरितं मज्जति) सब बुरे आचरण मनुष्य को प्रभावित नहीं करते ॥ २६३ ॥

वेदवित् का लक्षण—

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥ २६४ ॥ (२८)

(ऋचः) ऋग्वेद, (यजूंषि) यजुर्वेद, (च) और (अन्यानि विविधानि सामानि) इनसे भिन्न सामवेद के अनेक मन्त्र (एषः त्रिवृत् वेदः ज्ञेयः) यह तीनों 'त्रिवृत्वेद' जानना चाहिए, (यः एनं वेदः सः वेदवित्) जो इस त्रिवृत्वेद अर्थात् सभी वेदों को जानता है वही वस्तुतः 'वेदवेत्ता' है ॥ २६४ ॥

आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता ।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥ (२९)

और, (यत् त्रि+अक्षरम् आद्यं ब्रह्म) जो तीन अक्षरों वाले प्रमुख नाम 'ओ३म्' से उच्चरित होने वाला सबका आदिमूल परमेश्वर है, (यस्मिन् त्रयी प्रतिष्ठिता) जिसमें तीनों वेदविद्याएं प्रतिष्ठित हैं, (सः अन्यः गुह्यः त्रिवृत्वेदः) वह भी एक गुप्त अर्थात् अदृश्य-सूक्ष्म 'त्रिवृत्वेद' है; (यः तं वेद सः वेदवित्) जो उसको जानता है, वह 'वेदवेत्ता' कहलाता है ॥ २६५ ॥

एष वोऽभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य निर्णयः ।
निःश्रेयसं धर्मविधिं विप्रस्येमं निबोधत ॥ २६६ ॥ (३०)

(एषः) यह [११ । ४४–२६५ तक] (वः) तुम्हें (प्रायश्चित्तस्य कृत्स्नः निर्णयः अभिहितः) प्रायश्चित्त का सम्पूर्ण [अपराध, उनका प्रायश्चित्त एवं प्रायश्चित्तविधि] निर्णय कहा ।

अब (विप्रस्य इमं निश्रेयसं धर्मविधिम्) ब्राह्मण के इस [१२ । १–१२५] मोक्ष के धर्मविधान और कर्मविधान को (निबोधत) सुनो— ॥ २६६ ॥

एकादश-अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की सहेतुक-समीक्षा

ये सभी (११।१ से ४३तक) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसंग-विरोध—(क) पूर्वापर-प्रसंग के विरुद्ध होने के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। १०।१३१ में इस अध्याय का विषय 'प्राश्चित्त-विधि' बताया है और उसकी संगति ११।४४ से संबद्ध है। तथा इसी श्लोक से प्रायश्चित्त विधि का प्रारम्भ होता है। इस बीच में आने वाले १–४३ श्लोकों ने उस प्रसंग को भंग कर दिया है। अतः ये सभी श्लोक अप्रासंगिक हैं। (ख) और १०। १३१ की ११। १ से तथा ११।४४ की ११। ४३ से किसी प्रकार भी संगति नहीं लगती। यह असंगति भी इन श्लोकों को प्रसंग-विरुद्ध सिद्ध करती है।

२. विषय-विरोध—१०।१३१ इस अग्रिम-विषय-संकेतक श्लोक से स्पष्ट है कि इस अध्याय का विषय 'प्रायश्चित्त विधि' है। और यह विषय ११।४४ से प्रारम्भ होकर ११।२६४ तक चलता है। इन के मध्य १—४३ श्लोकों में प्राय-श्चित्त-विधि से भिन्न दान के अधिकारी, यज्ञ के विधान, सोम-पान के अधिकारी, इत्यादि बातों का वर्णन विषय-विरुद्ध है।

३. अन्तर्विरोध—(क) मनु ने दान लेना १।८८, ७।८, ६२, ८३, १०।७५-७६ इत्यादिश्लोकों में सभी ब्राह्मणों का समान रूप से कर्म माना है। फिर यहां १-२ में नौ प्रकार के स्नातकों का परिगणन करके दान के अधिकारी बताना निरर्थक है। और ११।३ में द्विज=ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों को दान देने की बात मनु सम्मत नहीं है। और कुछ को वेदी पर बुलाकर दान देना तथा कुछ को वेदी से बाहर दान देने की बातें भी पक्षपातपूर्ण हैं।

(ख) ११।५ में द्वितीय-विवाह का विधान मनु के विधान से विरुद्ध है। मनु ने ५।१६७–१६८ में तथा ३।४-५ में एक विवाह करने का ही विधान किया है। और इस दूसरे विवाह से उत्पन्न सन्तान धनादि दान देने वाले की होती है, उत्पादक की नहीं, यह कथन तो उपहास्यास्पद ही है।

(ग) १०।७६ और ११।१७५ श्लोकों में श्रेष्ठ-पुरुषों से ब्राह्मणों को दान लेने का निर्देश किया है और चण्डालादि से लेने पर दान लेने वाला ब्राह्मण पतित हो जाता है। परन्तु ११।१३—१६ और १९ में अश्रेष्ठ-पुरुषों से भी धन लेने का विधान है जो पूर्वोक्त कथन से विरुद्ध है।

(घ) ११।३७ में नरक और ११।६ में स्वर्ग के स्थान विशेष की मान्यता मनुसम्मत नहीं है। इस विषय में १२।७५-८० श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

(ङ) और यहाँ ११।७–८ और ४० वें में थोड़े धन वाले को यज्ञ न करने

का विधान किया है, यह भी दक्षिणा लोभी ब्राह्मणों का प्रक्षेप है, मनुसम्मत नहीं है। मनु ने तो पञ्चयज्ञों को अपरिहार्य धर्म कहा है, और इसमें अनध्याय (छुट्टी) का भी निषेध किया है और प्रत्येक द्विज का यह आवश्यक कर्त्तव्य है। और मनु ने ६।५ और ११ वें श्लोक में यज्ञीय-द्रव्यों के अभाव में नीवार (मुन्यन्न) आदि से भी यज्ञ करने का निर्देश दिया है और ११।८, और ३९-४० में अल्पधन वाले अथवा अल्प दक्षिणा वाले यज्ञों से हानि की बात भी मनु-विरुद्ध है। क्योंकि मनु ने २। १०५-१०६ में यज्ञ करने को सर्वदा अनिवार्य बताया है।

(च) और ११।३६-३७ श्लोकों में कन्या, युवति-स्त्री आदि के लिए यज्ञ करने का निषेध पौराणिक-युग की देन है, जिस समय स्त्रियों को पढ़ने आदि के अधिकार से वञ्चित रखा गया था। मनु ने ९।२८, ९६, तथा ११ इन श्लोकों में सभी प्रकार के धर्मकार्यों में पुरुषों के समान स्त्रियों का अधिकार माना है। और ९।२८ में तो समस्त यज्ञादि धर्मकर्यों को स्त्रियों के आधीन माना है। अतः स्त्रियों को भी यज्ञ करने का अधिकार मनुसम्मत है।

(छ) ११।२७ में पशुयज्ञों को न करने पर प्रायश्चित्त का विधान किया है। यह भी वाममार्ग के प्रभाव को बताता है। मनु यज्ञादि कार्यों में पशुहिंसा के सर्वथा विरोधी हैं। मनु ने अहिंसा को परमधर्म माना है। इस विषय में ४।२६-२८ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

(ज) इन श्लोकों में ११।१७,१९-२१ ब्राह्मणों को चोरी से और बलपूर्वक धन लेने का विधान किया है। यह मनु के २०।१६१, ८। ३०२, ३३२, ३३५-३३८, ३४४-३५१ श्लोकों के विरुद्ध है। क्योंकि मनु ने इन श्लोकों में ब्राह्मण को किसी को पीड़ा न देने तथा चोरी एवं साहसकर्म करने पर अधिक दण्ड का विधान किया है।

(झ) ११। ३१-३२ श्लोकों में कहा है कि ब्राह्मण किसी के अपराध के विषय में राजा से कुछ भी न कहे और अपने सामर्थ्य से दण्ड देवे। यह विधान सप्तम, अष्टम और नवमाध्यायों के विधानों से विरुद्ध है। क्योंकि इनमें राजा को ही दण्ड देने का अधिकार दिया गया है, राजा से भिन्न ब्राह्मणादि को नहीं।

(ञ) मनु ने यज्ञों के विधानों में २।६९, १०५, १०८, ३।६७–११८, २८५–२८६ ४।२१–२५, ६।४–१२ इत्यादि में कहीं भी सोमयज्ञ, वैश्वानरयज्ञादि का विधान नहीं किया। किन्तु ११।७–८, और २७ श्लोकों में सोमयज्ञादि का कथन प्रसंगविरुद्ध तथा मनु के विधान से विरुद्ध है।

४. अवान्तर-विरोध—इन प्रक्षिप्त श्लोकों में परस्पर विरोध भी है। जिससे स्पष्ट है कि इन श्लोकों को बनाने वाले भिन्न-भिन्न थे। जैसे—११।१३, १६, श्लोकों में शूद्रों से तथा निकृष्टकर्म करने वालों से यज्ञ के लिये धन लेने को उचित माना है। परन्तु ११।२४, ४२–४३ श्लोकों में इनका धन अशुभ होने से अस्वीकार्य माना है। और इनसे धन लेकर यजमान को अगले जन्म में चण्डाल बनने का भय दिखाया गया है। यह परस्पर विरोधी कथन मनु-सम्मत कदापि नहीं हो सकता।

५. शैली-विरोध—(क) समस्त मनुस्मृति में मनु के प्रवचन की यह शैली है कि ये किसी विषय के प्रारम्भ तथा समाप्ति पर विषय का निर्देश अवश्य करते हैं। परन्तु इन ४३ श्लोकों में तथा समाप्ति पर किसी भी प्रकार का विषय-सूचक संकेत नहीं है अतः ये श्लोक मनु की शैली के नहीं हैं।

(ख) और मनु की शैली समता के भावों से पूर्ण, न्यायोचित, युक्ति-युक्त तथा पक्षपात रहित होती है। परन्तु ३, ७, ८, १६, २०, २३–२६, २८, ३०, ३७, ४०, ४३ श्लोकों की शैली निराधार है १२–१६, २१–२३, ३१–३२, ३५, ४२–४३ श्लोकों की शैली पक्षपातपूर्ण है १३, १६, २४, ३७, ४२–४३ श्लोकों की शैली द्वेष-पूर्ण और २४–२६, ३७ श्लोकों की भय-प्रदर्शनात्मक शैली है। मनु की शैली में इस प्रकार की त्रुटियाँ नहीं हैं। इन दोषों तथा विरोधों के कारण ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये सभी (११।४८-५२) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. अन्तर्विरोध—(क) इन श्लोकों में कही बातों का मनु की अन्य मान्यताओं से विरोध होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। मनु ने १२।२४–५२, ७३–८४ श्लोकों में सत्त्वादि गुणों के आधार पर विभिन्नयोनियों में जाना माना है और वह भी अनेक कर्मों के आधार पर। परन्तु इन श्लोकों में एक-एक कर्म के आधार पर उसके फलों का कथन उससे विरुद्ध है। (ख) इन श्लोकों में विभिन्न दुष्कर्मों से शरीरांगों का विकृत होना माना है, यह अयुक्तियुक्त होने से मनु-प्रोक्त नहीं है। जैसे ४९ में ब्रह्महत्यारे को क्षयरोग होना, सुवर्ण-चोर के नाखून खराब होना, इत्यादि बातों में किसी प्रकार का कार्य-कारण भाव सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि ये बीमारियां इन दोषों के बिना भी हो जाती हैं।

२. प्रसंग-विरोध—इस अध्याय का विष दशमाध्याय के अन्तिम श्लोक के अनुसार प्रायश्चित्त-विधि है। परन्तु इन श्लोकों में प्रायश्चित्त की कोई संगति नहीं है। ४७ वें श्लोक में 'प्रायश्चित्त' शब्द की व्याख्या कही है, जिसके अनुसार पाप के कर्म करने पर तप=व्रतों को साधना करने को प्रायश्चित्त

कहते हैं। परन्तु इन श्लोकों में प्रायश्चित्त की एक भी बात न होने से ये सभी श्लोक प्रसंग-विरुद्ध हैं।

३. शैली-विरोध—और इन श्लोकों की शैली निराधार एवं अयुक्ति-युक्त है, अतः ये मनुप्रोक्त नहीं है।

ये सभी (११। ५४ से १९०) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं।

१. अन्तर्विरोध—महापातक एवं उपपातकों के वर्गीकरण और प्राय-श्चित्त-निश्चय का यह प्रसंग मौलिक सिद्ध नहीं होता। इस प्रसंग का पूर्वोक्त मनुस्मृति की व्यवस्थाओं से तालमेल न होकर अनेक प्रकार से विरोध है—

(१) यहां चार प्रकार के अपराधियों को विशिष्ट अपराधी मानकर 'महापातकी' की संज्ञा दी है किन्तु हत्या प्रसंग [८। २७८—३००] में ब्रह्म-हत्या का, चोरी प्रसंग में [८। ३०१—३४३] स्वर्ण की चोरी का, परस्त्री-गमन प्रसंग में [८ ३५२—३८७] गुरुपत्नीगामी का पृथक् से विशिष्ट अपराधी के रूप में कोई उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि यह विभाजन मनु का मौलिक नहीं है। यदि यह विभाजन मौलिक होता तो उक्त प्रसंगों में इनके लिए विशेष उल्लेख या विशिष्ट दण्ड की व्यवस्था होती।

(२) ८। ३८६ में विशिष्ट अपराधियों की गणना करते हुए चोर, परस्त्रीगामी, दुष्टवाक्, लुटेरा और हत्यारा, इन व्यक्तियों को विशिष्ट अपराधी माना है और राजा को इन पर विशेष नियन्त्रण रखने का आदेश है। यहां चार महापातकियों का परिगणन उक्त श्लोक से भिन्न है और अपराध के आधार पर विभाजन न करके व्यक्तिपरक आधार लिया है, जैसे—परस्त्रीगमन में अपराध का आधार न लेकर केवल गुरुपत्नीगामी को ही विशिष्ट अपराधी माना है। हत्यारामात्र होना आधार न मानकर केवल ब्रह्म-हत्यारे को और प्रत्येक चोर को ही नहीं अपितु केवल स्वर्ण की चोरी करने वालों को ही महापातकी माना है। यह विभाजन पिछले विभाजन से पृथक् है और इसकी आधार-पद्धति भी भिन्न है।

(३) यहां स्वर्णचोर को महापातकी और रजत आदि चुराने वाले को उपपातकी मानकर दोनों के लिए भिन्न-भिन्न दण्डों की व्यवस्था दी है जबकि ८। ३२१—३२२में इनकी चोरी को समान मानकर समान दण्ड की व्यवस्था है। और यहां दोनों के दण्ड में कोई सन्तुलन न होकर दिन-रात का अन्तर है। स्वर्णचोर के लिए बारह वर्ष तक ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करने का आदेश है [११। १०१] और रजत, मोती आदि चुराने वाले के लिए केवल बारह दिन

चावल खाने का विधान है! [११।१६७]। एक स्थान पर दोनों को समान स्तर का चोर माना है और दूसरे स्थान पर रजत चोर को अत्यन्त सामान्य चोर मानकर उसके लिए दण्ड भी नाममात्र है!

(४) २१० से २२६ श्लोकों में मनु ने प्रायश्चित्त के व्रत बतलाते हुए कहा है कि इन उपायों से पापियों की शुद्धि करें किन्तु ७२ से १०४, १०८ से ११६, ११८ से १२३, १२६ से १३८, १४० से १५३, १५६, १६०, १६५, १६७, १६८, १७०, १७२, १७४, १७५, १७८, १८२ से १८८ श्लोकों में प्रायश्चित्त के लिए जिन व्रत या विधियों का कथन है वे उक्त व्रतों से भिन्न हैं। मनु के अनुसार तो उन्हीं व्रतों में से प्रायश्चित्त के लिए व्रत निश्चित किये जाने चाहिये थे। यह भिन्नता मनु के विधान से विरुद्ध है और किसी अन्य व्यक्ति द्वारा विहित है।

(५) २२६ से २३३ श्लोकों से स्पष्ट है कि प्रायश्चित मृत्युकारक नहीं होना चाहिए। वह ऐसा होना चाहिए जिससे शेष जीवन में मनुष्य पुनः उस पाप को न करे। आगे आने वाले समय में अपराधों की ओर से सावधान रहने के लिए और किये हुए अपराध पर पश्चात्ताप करने के लिए ही प्रायश्चित्त होता है यह उक्त श्लोकों से सिद्ध है। ६ २३५ से २४० श्लोकों के प्रसंग में २३६–२३७ श्लोकों के इस कथन से कि 'यदि ये महापातकी प्रायश्चित्त न करें तो राजा इनके मस्तक पर चिह्न अंकित करादे और ये दीन-हीनों की तरह पृथिवी पर विचरण करें' यही सिद्ध होता है कि कोई भी प्रायश्चित्त मृत्युकारक नहीं होता। यदि प्रायश्चित्त मृत्युकारक होते तो नवम अध्याय के उक्त प्रसंग में राजा को महापातकियों को चिह्न अङ्कित करने का आदेश न होकर मृत्युदण्ड देने का आदेश होता। इस प्रसंग में महापातकियों को मृत्यु के रूप में [७३, ७६, ८६, ९०, ९१, १००, १०३, १०४, १४६] प्रायश्चित्त विहित है जो मनु की व्यवस्था से विरुद्ध है।

(६) ५६ वें श्लोक में झूठी साक्षी को सुरापान के समान महापातक मानकर ८८ वें श्लोक में उसका प्रायश्चित्त कहा है जबकि ८।११९ से १२२ श्लोकों में झूठी साक्षी के अपराध में कुछ आर्थिक दण्ड ही विहित है। उसमें और इस दण्ड में दिन-रात की असमानता है ८। ११९–१२२ श्लोकों में झूठी साक्षी का महापातक के रूप में कोई विशिष्ट रूप से उल्लेख न होना भी यह सिद्ध करता है कि यहां यह विभाजन मनुकृत नहीं है।

(७) इसी प्रकार धरोहर हड़पने के अपराध के प्रायश्चित्त में और अष्टम अध्याय में विहित दण्ड में भी पर्याप्त असमानता है और न ही वहां इस

अपराध का महापातक के रूप में उल्लेख है [११।५७, ८८ ।। ८ । १७९-१९९] ।

(८) ६२ वें श्लोक में द्रव्य लेकर पढ़ाना उपपातक माना है जब कि २। १४१ में इस प्रकार के अध्यापक की 'उपाध्याय' संज्ञा देकर द्रव्य लेकर पढ़ाने के विधान का संकेत है। २।१०९ में तो स्पष्ट शब्दों में द्रव्यदाता को पढ़ाने का कथन है।

(९) हत्या-अभियोग के प्रसंग [८ । २७८-३००) में मनु ने सभी व्यक्तियों के लिए एक जैसा विधान किया है और उनकी दण्ड-व्यवस्था भी समान है। यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-हत्या के लिए कम-अधिक प्रायश्चित्त का विधान उस व्यवस्था-पद्धति से भिन्न है तथा भेदभावपूर्ण है।

(१०) इस प्रसंग में अनेक स्थानों पर प्रायश्चित्त में दान देने का विधान है। ७६ वें श्लोक में तो स्पष्ट आदेश है कि अपना सर्वस्व ब्राह्मण को दान देने से ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। यह मनु-मत के विपरीत है। मनु ने ब्राह्मणों को केवल सत्प्रतिग्रह लेने का ही विधान किया है [१० । ७६, ११५] असत्प्रतिग्रह निषिद्ध ही नहीं अपितु निन्दित माना है और इसी अध्याय में असत्प्रतिग्रह लेने वालों के लिये प्रायश्चित्त का विधान किया है [१९३-१९६] । इससे स्पष्ट है कि अपराधी लोगों से ब्राह्मणों को दान लेने का अधिकार नहीं है, अतः इस प्रसंग में वर्णित सम्पूर्ण दानविधि अमौलिक है।

(११) ९ । २२५ में शराबी के लिए केवल 'देशनिकाला' दण्ड का विधान है और यहाँ मृत्युकारक प्रायश्चित्त [९०, ९१, १४६] विहित है। दोनों व्यवस्थाओं में पर्याप्त अन्तर और विरोध है। इस प्रकार ये अन्तर्विरोध इस सम्पूर्ण प्रसंग को अमौलिक और प्रक्षिप्त सिद्ध करते हैं।

२. **अवान्तरविरोध**—इस प्रसंग में पातकों के विभाजन तथा उनकी दण्ड-व्यवस्था में पुनरुक्तियाँ, असन्तुलन, परस्पर विरुद्धता और अत्यधिक विशृंखलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह प्रसंग न तो मौलिक है और न किसी एक व्यक्ति द्वारा रचित है तथा न किसी विद्वान् व्यक्ति द्वारा रचित है। इस प्रसंग में निम्न त्रुटियाँ हैं—

(१) ५४ वें श्लोक में मद्यपान को महापातक माना है और ६६ वें श्लोक में मद्यप की गणना उपपातकियों में है।

(२) दण्डों के विकल्पों में अत्यधिक असमानता है जो बुद्धिसंगत प्रतीत नहीं होती; जैसे—(क) ९०, ९१, १४६ श्लोकों में मदिरा पीने पर मृत्यु द्वारा

ही शुद्धि मानी है और ९२ वें श्लोक में उसके विकल्प में एक वर्ष तक चावल पर रहना ही विहित है। (ख) ७३ वें श्लोक में ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त मृत्यु विहित है और ८२-८३ में अश्वमेध यज्ञ में ब्राह्मणों और राजा के समक्ष अपना पाप कहकर स्नान कर लेना मात्र ब्रह्महत्या को दूर करने वाला प्रायश्चित्त कहा है। (ग) गुरुस्त्रीगामी के लिये १०३, १०४ श्लोकों में मृत्यु का प्रायश्चित्त बताया है और १०६ में केवल तीन मास तक हविष्य और नीवार से चान्द्रायणव्रत करने से उक्त महापातक की शुद्धि मान ली। इस प्रकार इन में कोई सन्तुलन और तालमेल नहीं है।

(३) ५५ वें श्लोक में असत्यभाषण को महापातक मानकर ब्रह्महत्या के समान माना है और ६९ वें श्लोक में असत्यभाषण को साधारण सा अपराध 'अपात्रीकरण' माना है।

(४) ५६ वें श्लोक में 'वेदनिन्दा' को महापातक माना है जबकि ६६ वें श्लोक में 'नास्तिकता' को उपपातक माना है। मनु के मत में वेदनिन्दा ही नास्तिकता है ["नास्तिको वेदनिन्दकः" (२। ११)]।

(५) ५५-५७ श्लोकों में अनेक अपराधों को महापातकों के समान गिना है किन्तु महापातकों के प्रायश्चित्त विधान प्रसंग में [८६ से १०६] उनका प्रायश्चित्त वर्णित नहीं है, वे हैं—अपनी उन्नति के लिए झूठ बोलना, राजा के सामने चुगली करना, वेदत्याग, वेदनिन्दा, निन्दित तथा अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण, मनुष्य, घोड़ा, चांदी, भूमि, वज्र और मणियों की चोरी।

(६) इसी प्रकार कुछ अपराधों को महापातकों के प्रसंग में (५४-५८) नहीं गिना किन्तु उनके प्रसंग में उनका प्रायश्चित्त विहित है, वे हैं—गर्भपात, यज्ञ करते हुए क्षत्रिय और वैश्य की हत्या, रजस्वला स्त्री की हत्या एवं स्त्री की हत्या [८७-८८]।

(७) ६६ वें श्लोक में स्त्री हत्या को उपपातक माना है किन्तु ८८ वें श्लोक में उसे महापातक मानकर स्त्री हत्यारे के लिए ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त विहित है।

(८) ५६ वें श्लोक में निन्दित और अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण को महापातक के समान माना है और ६४ वें श्लोक में उपपातक माना है।

(९) ५७ वें श्लोक में मनुष्य, घोड़ा, चांदी आदि की चोरी को महापातक के समान माना है और उनका प्रायश्चित्त अत्यन्त साधारण कहा है (१६३, १६७)। आश्चर्य की बात तो यह है कि स्वर्ण की चोरी करने पर तो

ब्रह्महत्या का बारह वर्ष तक प्रायश्चित्त है और मनुष्यों तथा स्त्रियों की चोरी करने पर केवल चान्द्रायणव्रत ही प्रायश्चित्त माना है [१६३]। इसी श्लोक में मनुष्यों और स्त्रियों की चोरी तथा कूयें और बावड़ी के जल की चोरी को भी समान माना है !

(१०) एक ही प्रसंग में तीन स्थानों पर [५७, ६५, ६६] चोरी का परिगणन किया गया है जो अनावश्यक है।

(११) वेदत्याग, वेदपाठ-त्याग, निन्दा और नास्तिकता जो कि मनु के विचार में एक नास्तिकता के अन्तर्गत ही आते हैं [२।१६] उनका इस प्रसंग में चार वार उल्लेख है [५६, ५९, ६६]।

(१२) इसी प्रकार उपपातकों के एक ही प्रसंग में अग्निहोत्र-त्याग के अपराध का दो बार परिगणन है [५९, ६५]।

(१३) इसी प्रकार परस्त्रीगमन, कन्यादूषण व्रतलोप, स्त्रीसेवन आदि एक ही प्रकार की बातों का केवल उपपातक प्रसंग में ही चार बार उल्लेख है [५९, ६१, ६६]।

(१४) कन्यादूषण को ५८ में महापातकों के अन्तर्गत गिना है और ६१ में उपपातकों के अन्तर्गत।

(१५) पातकों के परिगणन क्रम में और उनके प्रायश्चित्त वर्णन-कर्म में तालमेल नहीं है। गणना के अनुसार महापातकी, उनके संसर्गियों के प्रायश्चित्त, उपपातकी जातिभ्रंशकर, संकरीकरण, अपात्रीकरण, मलावह, इस क्रम से प्रायश्चित्त विधान होना चाहिए किन्तु इसमें अत्यधिक विश्रृंखलता है और संसर्गियों लिये सबसे अन्त में फल-विधान किया है। १२६ से १७९ श्लोकों का वर्णन परिगणन क्रम के आधार पर १२४ से पूर्व होना चाहिए था। फलकथन का प्रसंग इतना विश्रृंखलित है कि परिगणनक्रम के अनुसार उसमें बहुत कम प्रायश्चित्त क्रमवद्धरूप से मिलते हैं। ५४ वें श्लोक से तो या संकेत मिलता है कि केवल महापातकियों का संसर्ग हो महापातक है किन्तु संसर्गों का प्रायश्चित्त सभी अपराधों के बाद देकर सभी अपराधियों के संसर्ग को पातक का रूप दे दिया है।

(१६) स्त्रीवध को उपपातकों के अन्तर्गत माना है और उसका प्रायश्चित्त महापातकों के समान महापातकों के प्रसंग में दिया है [६६, ८८]।

(१७) असंतुलन का अत्यधिक आश्चर्यपूर्ण उदाहरण १३१ वाँ श्लोक है जिसमें शूद्र के जीवन को बिलाव, नेवला, मेंडक, कुत्ता, उल्लू आदि के

समानस्तर का मानकर इन सबकी हत्या पर एक ही प्रायश्चित्त विहित है।

(१८) एक अपराध का एक स्थान पर ही प्रायश्चित्त होना चाहिए किन्तु इस प्रसंग में एक ही अपराध का कई-कई स्थानों पर प्रायश्चित विहित है और वह भी भिन्न-भिन्न। जैसे—(क) सर्पहत्या को 'संकरीकरण' पाप मानकर १२५ वें में चान्द्रायणव्रत उसका प्रायश्चित्त विहित है। पुनः १३३, १३९ में उससे भिन्न प्रायश्चित्तों का विधान है। (ख) घोड़ा, हाथी, भेड़, गधा आदि की हत्या का ६८, १२५ में भी प्रायश्चित्त है और.१३६ में भी। (ग) मद्य के साथ के पदार्थों के भक्षण का प्रायश्चित्त है ७०, १२५ में भी है और उससे भिन्न १४७–१४९ में भी। (घ) फल आदि की चोरी का प्रायश्चित्त ७०, १२५ में भी है और उससे भिन्न १६५ में भी। इन सभी की गणना दो-दो बार पृथक्-पृथक् अपराधों के नाम से की गई है जो किसी एक रचयिता द्वारा असम्भव है।

(१९) १९० वें श्लोक में कहा है कि—कृतघ्न, शरणागत के हत्यारे आदि प्रायश्चित्त भी कर चुके हों तो भी इनके साथ व्यवहार न करे, जबकि इन दोनों अपराधों का पिछले पातकों में उल्लेख नहीं है।

(२०) प्रायश्चित्तविधान प्रसंग में मनु की शैली में चार प्रसंग प्रारम्भ किये हैं, वे हैं—१२६–१४५ में हिंसाजन्य पापों का प्रायश्चित्त, १४६–१६० में अभक्ष्यभक्षण का, १६१–१६८ में चोरी का, १६९–१७८ में अगम्यागमन का प्रायश्चित्त कहा है और इन चारों प्रसंगों की समाप्ति का संकेत १७९ में है किन्तु अपराध-गणना प्रसंग में इस क्रम या नाम से इन प्रसंगों का परिगणन कहीं नहीं है।

३. प्रसंगविरोध—प्रायश्चित्त-विषयक प्रसंग का संकेत देने वाला श्लोक ४४ वां है। इसमें स्पष्ट शब्दों में तीन बातों का संकेत दिया है—

(क) विहित कर्मों को करने पर,

(ख) निन्दित कर्म करने पर, और—

(ग) इन्द्रियविषयों में आसक्त होने पर अर्थात् आलस्य, कामवासना आदि में पड़ने से मनुष्य प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

उक्त श्लोक में जो संकेत दिये हैं, अग्रिम प्रसंग में इसके आधार पर वर्णन नहीं है; जबकि मनु की शैली के अनुसार संकेत-श्लोक के अनुसार ही अग्रिम वर्णन होना चाहिए। अग्रिम प्रसंग को ध्यान से देखने से वह दो प्रसंगों में विभाजित प्रतीत होता। पहला प्रसंग ५४ से १९० श्लोक तक है और दूसरा १९१ से २०९ श्लोक तक। पहले प्रसंग की समाप्ति का संकेत १७९ में

दिया है और फिर अपराधियों के संसर्ग करने वालों के लिए विधान है और १८९–१९० में इस प्रथम प्रसंग का उपसंहार है।

अब यहां विचारणीय बात यह है कि जब अपराधों के प्रायश्चित्त का एक प्रसंग समाप्त हो गया तो पुनः १९१ से प्रायश्चित्त-वर्णन प्रारम्भ करने का क्या तुक था? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यह द्वितीय प्रसंग ही मौलिक है और प्रथम प्रसंग प्रक्षिप्त है। इसमें निम्न युक्तियां हैं—

(१) प्रथम प्रसंग [५४–१९० तक] अनेक आधारों पर अमौलिक और प्रक्षिप्त सिद्ध हो रहा है और शैली की दृष्टि से भी मनु-प्रोक्त नहीं लगता।

(२) यह प्रथम प्रसंग संकेत-श्लोक ४४ के अनुसार नहीं है। उसका प्रारम्भ भी मनु की शैली में नहीं है। मनु की शैली के अनुसार पातकों की गणना से पूर्व उसको कहने का संकेत होना चाहिए था।

(३) द्वितीय प्रसंग मनु के संकेत-श्लोक ४४ वें के अनुसार है। इस प्रसंग में १९१ वाँ श्लोक "अकुर्वन् विहितं कर्म" का दिग्दर्शन है। १९२–१९६ श्लोक "निन्दितं च समाचरन्" के और २०३ श्लोक "प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु" का दिग्दर्शन है। शेष सभी अपराधों का प्रायश्चित्त शक्ति और काल के आधार पर करने के लिए संकेत करके [२०९] इस प्रसंग को संक्षेप में समाप्त कर दिया है।

(४) १९२ वें श्लोक के शब्द इस बात को सिद्ध करते हैं कि मनु ने इस प्रसंग को संक्षेप में वर्णित करके समाप्त किया है और ५४ से १९० श्लोकों के विस्तृत वर्णन का मौलिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस श्लोक में मनु ने सभी विकर्मस्थ (निन्दित या व्यवस्था विरुद्ध कर्म करने वाले) लोगों के लिए एक ही पद द्वारा—"प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः" कहकर सामान्य विधान कर दिया है। यदि मनु को एक-एक अपराध की गणना का और उसके विस्तृत प्रायश्चित्त वर्णन का प्रसंग अभीष्ट होता तो वे एक ही पद में सभी व्यक्तियों को और सभी निन्दित कर्मों को एकत्र समाहृत नहीं करते। इस श्लोक से यही सिद्ध है कि प्रथम प्रसंग अमौलिक है और द्वितीय प्रसंग मौलिक है।

इस प्रकार प्रसंगविरोध के आधार पर यह प्रसंग असंगत सिद्ध होता है। प्रसंगानुसार ५३ वें श्लोक के पश्चात् १९१ वां श्लोक होना चाहिए। बीच के ये सभी श्लोक अप्रासंगिक हैं।

४. **शैलीगत आधार**—सम्पूर्ण प्रसंग में महापातक एवं उपपातक तथा

अन्य पातकों के विभाजन और उनकी दण्ड-व्यवस्था में अत्यधिक विशृंखलता तथा असंतुलन युक्त शैली है। इनका विभाजन भी निराधार है। इसी प्रकार इस प्रसंग की वर्णनशैली अतिशयोक्तिपूर्ण, निराधार और अयुक्तियुक्त है। मनु की शैली में त्रुटियाँ नहीं हैं। अतः यह प्रसंग प्रक्षिप्त है।

ये चार (११।१९३–१९६) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंगविरोध**—११।१९१ वें श्लोक में यज्ञोपवीत-संस्कार से हीन द्विजों के लिए तीन कृच्छ्र व्रतों का विधान प्रायश्चित्त रूप में किया है। और १९२ वें श्लोक में भी 'एतदादिशेत्' कहकर उन्हीं का संकेत किया है। अतः प्रसंगानुसार इसके बाद व्रतों का ही विधान होना चाहिए। किन्तु यहाँ व्रतों का कथन न करके ब्राह्मण की शुद्धि के उपायों का कथन प्रसंगविरुद्ध है।

२. **अन्तर्विरोध**—और जब 'द्विज' शब्द से मनु का अभिप्राय ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों वर्णों का ग्रहण होता है, और द्विजों के प्रायश्चित्त से ब्राह्मण का भी प्रायश्चित्त हो जाता है, तो पृथक् से ब्राह्मण के लिए नवीन विधान करना मौलिक नहीं कहा जा सकता। और ब्राह्मण के लिए यदि पृथक् व्यवस्था होनी चाहिए थी और पृथक् वर्णों के लिये मनु को प्रायश्चित्त विधान अभीष्ट होता तो द्विजों की सामान्य व्यवस्था किसके लिए होगी? यदि ब्राह्मण (१९३) जपतप से शुद्ध हो जाता है तो कृच्छव्रतों की ब्राह्मण के लिये आवश्यकता नहीं है? अतः ये दोनों विधान परस्पर सम्बन्ध के विना विरोधी ही हो जायेंगे।

३. **पुनरुक्त**–मनु ने ११।२२५–२२६ श्लोकों में गायत्री आदि मन्त्रों के जप से द्विजों की शुद्धि मानी है। और २२७ में तप आदि साधन भी लिखे हैं। फिर यहां ब्राह्मण के लिये १९३–१९४ जप तप से शुद्धि का विधान पुनरुक्त होने से मान्य नहीं हो सकता। और जप-तप से भिन्न=यज्ञ करना, अहिंसादि का पालन करना (२२२) अपने दोष को कहने और वेदाभ्यासादि करनादि (२२७) क्या ब्राह्मण के लिए इनकी आवश्यकता नहीं है? अतः द्विजों के प्राश्चित्त से ब्राह्मण का पृथक् प्रायश्चित्त-विधान पुनरुक्त एवं पक्षपातपूर्ण है।

४. **शैलीविरोध**—१९४ में कहा है कि ब्राह्मण प्रायश्चित्त के लिए गोशाला में जाकर एक मास तक दूध पिये, और १९६ में कहा है गायों के आने जाने का स्थान तीर्थ होता है, वहां जाकर ब्राह्मण की शुद्धि होती है। इस प्रकार की अयुक्तियुक्त एवं पक्षपात पूर्ण बातें मनु प्रोक्त कदापि नहीं हो सकतीं। गाय के दूध में बहुत गुण हैं, और गायों की सेवा करना उत्तम कार्य है, परन्तु गायें जिस स्थान पर बैठती हैं, अथवा जिस स्थान से आती जाती हैं, उस स्थान को तीर्थ=शुद्धि का स्थान मानना पौराणिक कल्पना होने से मिथ्या है।

ये सभी (११ । १६७–२०२) श्लोक प्रसंग-विरोध, विषय-विरोध, अन्त-विरोध, और शैली-विरोध के कारण प्रक्षिप्त हैं। इनकी समीक्षा ११।२०४-२०८ श्लोकों की समीक्षा में द्रष्टव्य है।

ये सभी (११ । २०४–२०८) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसङ्ग-विरोध**—(११ । ४४) श्लोक के अनुसार यहां प्रसंग प्रायश्चित्त-विधि के कथन का है। अतः प्रसंगानुसार १६१–१६६ और २०३ श्लोक ही मौलिक तथा प्रासंगिक हैं अन्य नहीं। इस विषय में ५४–१६० श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

२. **विषयविरोध**—विषय-संकेतक (१० । १३१ वें) श्लोक के अनुसार यहां प्रायश्चित्तविधि का विधान होना चाहिये और ११ । ४४ के अनुसार शास्त्रविहित कर्मों के न करने पर शास्त्रविरुद्ध कर्मों के करने पर और इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। इस प्रकार मनु ने सामान्य रूप से सबके लिये प्रायश्चित्त का विधान किया है। परन्तु १६७–२०२ और २०४–२०८ श्लोकों में कही बातें प्रस्तुतविषय के अनुरूप नहीं हैं। जैसे १६७ में व्रात्यों को यज्ञ कराने पर पश्चात्ताप का विधान निरर्थक है। क्योंकि यज्ञ कराना शास्त्रविरुद्ध नहीं है। (१६८ में) वेद पढ़ने के अनधिकारी को वेद पढ़ने पर पश्चात्ताप का विधान निराधार है। क्योंकि वेद पढ़ने का सब का अधिकार है और यह शास्त्रविरुद्ध कार्य नहीं है। (१६६ में) मनुष्यादि की हत्या करने पर प्राणायाम से शुद्धि कहना क्या प्रायश्चित्त हुआ ? यदि २०७ के अनुसार ब्राह्मण के शरीर से रक्तस्राव होने पर हजारों वर्ष नरक में रहना होता है, तो दूसरे मनुष्यों को मारने पर प्राणायाम से शुद्धि कहना पक्षपातपूर्ण और प्रायश्चित्त के उद्देश्य को पूरा नहीं करता। (२०१ में) ऊंटगाड़ी पर बैठने पर भी पश्चात्ताप निरर्थक है। क्योंकि यह शास्त्र-विरुद्ध कार्य नहीं है। और २०२ में गाय के स्पर्श से ही शुद्धि मानना प्रायश्चित्त का उपहास ही करना है। और २०४–२०८ श्लोकों में ब्राह्मण के प्रति क्रोधपूर्ण शब्द कहने, तिनके से मारने, मारने की इच्छा करने पर अथवा ब्राह्मण का खून निकालने पर प्रायश्चित्त लिखा है किन्तु यह मौलिक न होने से विषयबाह्य है। क्योंकि मनु के विधान में किसी एक वर्ण के लिए ही व्यवस्था नहीं है, प्रत्युत सब वर्णों के लिये है।

३. **अन्तर्विरोध**—(क) इन श्लोकों में विहित प्रायश्चित्त के विधान (२११–२२६) श्लोकों के विधानों से विरुद्ध हैं। क्योंकि इन श्लोकों के विधानों

में जो पापकर्म नहीं हैं; उनका पश्चात्ताप भी लिखा है, और जो पाप हैं उनका नगण्य प्रायश्चित्त लिखा है। किन्तु २११-२१६ श्लोकों में वेदोक्त कर्म न करने पर, विरुद्ध कर्म करने पर अथवा व्रतभंग करने पर सामान्यरूप से प्रायश्चित्तों का विधान किया है।

(ख) २०५-२०८ श्लोकों में नरक में जाने का कथन मनु से विरुद्ध है। क्योंकि मनु की मान्यता में नरक कोई स्थानविशेष नहीं है। इस विषय में ४। ८७-९१ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

४. **शैली-विरोध**—मनु की प्रवचन-शैली में समता, न्यायोचित व्यवहार और पक्षपात का अभाव होता है। परन्तु इन श्लोकों में विशेषकर २०४-२०८ में पक्षपातपूर्ण, युक्तिविरुद्ध एवं अतिशयोक्तिपूर्ण कथन किया गया है। मनु की शैली में ये दोष नहीं हैं। अतः प्रसंगविरोधादि दोषों के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये दोनों (११। २०९-२१०) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—(क) मनु ने (११। १९१ में) प्रायश्चित्त के लिये कृच्छ्रव्रतों को करने का विधान किया है। इसके अनुसार कृच्छ्रव्रतों का कथन होना चाहिये। परन्तु इन व्रतों का विधान २१२ वें श्लोक से है। इनके मध्य में ये श्लोक उस क्रम को भंग कर रहे हैं। (ख) और प्रायश्चित्त के व्रतों के विधान से पूर्व ही यह कहना कि जिनका प्रायश्चित्त नहीं कहा है (२०९में) उनके लिये देवादि से सेवित उपायों को कहूँगा, यह निरर्थक ही लगता है। क्योंकि अभी तक किसी प्रायश्चित्त व्रत का विधान किया ही नहीं है।

२. **अन्तर्विरोध**—प्रायश्चित्त का उद्देश्य (११। २२६ में) पापों को दूर करना नहीं है, प्रत्युत संस्कारों की शुद्धि से भविष्य में पापों से दूर रहना है, परन्तु २१० में कहा है कि प्रायश्चित्त करने से मनुष्य पापों को दूर कर देता है, यह मान्यता मनुसम्मत नहीं है। क्योंकि मनु तो शुभाशुभकर्मों का फल अवश्य मिलना मानते हैं।

३. **शैलीविरोध**—(क) २१० श्लोक से स्पष्ट है कि इस श्लोक की शैली ऐतिहासिक है। क्योंकि इसमें देव,ऋषि, पितरों से सेवित उपायों का कथन किया है। मनु की शैली यह नहीं है। मनु तो सृष्टि के प्रारम्भ में हुए हैं, वे परवर्त्ती काल की बातें कैसे लिख सकते थे? (ख) और इन श्लोकों में कहा है कि शक्ति व पापों के अनुसार प्रायश्चित्त का अनुष्ठान करे। यह परस्पर विरोधी बात है। शक्ति व पापों के अनुसार प्रायश्चित्त का विधान

कभी एक समान नहीं हो सकता। और मनु के प्रायश्चित्त के सभी विधान निरर्थक हो जायेंगे। और देव, ऋषि तथा पितरों ने जिन प्रायश्चित्तों का सेवन किया हो, ऐसा पृथक्-पृथक् विधान अग्रिम श्लोकों में कहीं नहीं है। अतः ये श्लोक परवर्ती समय के प्रक्षेप सिद्ध होते हैं। और यहाँ प्रक्षेपक ने पूर्वापर श्लोकों पर कुछ भी विचार नहीं किया अतः ये श्लोक असंगत भी हैं।

यह (११।२१५ वां) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

१. **प्रसंगविरोध**— ११।१९१ श्लोक में तीन कृच्छ्र व्रतों का निर्देश किया है। और उनका विधान २१२ से २१४ श्लोकों में किया गया है। और ३१५ श्लोक में उनसे भिन्न पराककृच्छ्र व्रत का विधान किया है यह पूर्वोक्त निर्देश से संगत नहीं है। और पूर्वोक्त कृच्छ्र व्रतों से इस पराककृच्छ्र में समानता भी नहीं है। क्योंकि उन व्रतों में बिल्कुल भोजन का परित्याग नहीं किया है, किन्तु इस में निरन्तर १२ दिन के भोजन का निषेध करना अव्यावहारिक है। प्रायश्चित्त का अभिप्राय या उद्देश्य विशुद्धि है, जीवन समाप्त करना नहीं। अतः तीन कृच्छ्रों से भिन्न, असंगत, उनसे भिन्न प्रकार का तथा प्रायश्चित्त के उद्देश्य से हीन होने से पराककृच्छ्र' मनुप्रोक्त नहीं है।

२. **अन्तर्विरोध**—प्रायश्चित्त का उद्देश्य संस्कारों को शुद्ध करना और भविष्य में फिर उस त्रुटि को न करना है पापों को समाप्त करना नहीं है। क्योंकि मनु की मान्यता यह है कि कृत पापों का फल अवश्य मिलता है। किन्तु इस श्लोक में कहा है कि 'पराककृच्छ्र' व्रत से सब पापों का नाश होता है। यह कथन मनुप्रोक्त नहीं हो सकता। और यह बात प्रायश्चित्त के उद्देश्य से भिन्न होने से मान्य नहीं हो सकती।

ये दो (११।२१८–२१९) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंगविरोध**—यहां प्रसंग प्रायश्चित्त में किये जाने वाले कृच्छ्र व्रतों का है, उसी प्रसंग में चान्द्रायण-व्रतों का विधान २१६–२१७ में किया गया है। परन्तु इन दोनों श्लोकों में चान्द्रायण व्रत से भिन्न ही बात कही है। चान्द्रायण व्रत में चन्द्र के न्यून व पूर्ण होने की भांति भोजन की न्यूनाधिक मात्रा होती है। जैसे-जैसे चन्द्रमा घटता-बढ़ता है, वैसे-वैसे भोजन भी न्यूनाधिक करना होता है। किन्तु यहां उससे असंबद्ध बात कही गई है कि मध्याह्न में आठ-आठ ग्रास खावे अथवा प्रातः सायं चार-चार ग्रास खावे। और दिन में प्रातः सायं आदि समयों से चन्द्र का कोई सम्पर्क नहीं होता। अतः इन्हें चान्द्रायण कहना भी उचित नहीं। परवर्ती किसी प्रक्षेपक ने इन्हें नामसाम्य

से ही मिलाया है। और चान्द्रायणव्रत से इनमें विपरीत बात कही है इस व्रत में क्रम से ग्रास को घटाया बढ़ाया जाता है। परन्तु यहाँ चार-चार या आठ-आठ ग्रास खाने की बात कही है। अतः ये दोनों श्लोक असंगत ही हैं।

ये दोनों (११।२२०–२२१) श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं—

१. **अन्तर्विरोध**—(१) श्लोक २२६ से यह स्पष्ट है कि ये प्रायश्चित्त की विधियां अपराधों की शुद्धि के लिये हैं न कि परलोकीय स्थितियों की प्राप्ति के लिए। इन श्लोकों में 'चन्द्रलोक की प्राप्ति' के उद्देश्य का कथन मनु से भिन्न-उद्देश्य है और २२६ वें श्लोक के उद्देश्य के विरुद्ध है। (२) और फिर पुनर्जन्म या मुक्ति के अतिरिक्त मनु के मत में अन्य कोई लोक या स्थितिविशेष नहीं है, जहां मरकर जीव जाये। मनु ने सारी मनुस्मृति में यही दो स्थितियाँ मानी हैं। चन्द्रलोक की कल्पना मनुविरुद्ध है। २२१ वाँ इससे सम्बद्ध है, अतः वह भी प्रक्षिप्त है।

ये दोनों (११।२२३–२२४) श्लोक निम्न आधारों के अनुसार प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंगविरोध**—ये श्लोक पूर्वापर प्रसंग से विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। २२२ वें श्लोक में 'सावित्री पूर्वक यज्ञ करने का कथन है और २२५ वें में उसी बात को पूरा करते हुए कहा है कि 'सावित्री का जप भी करें'। बीच में उस प्रसंग को तोड़कर विभिन्न बातों का विधान अप्रासंगिक है।

२. **शलीगत आधार**-(१) २२५ वें श्लोक में 'च' शब्द का प्रयोग भी यह सिद्ध करता है कि इस श्लोक का सम्बन्ध २२२ वें से है। क्योंकि, वहां सावित्री के द्वारा होम का विधान है और यहाँ 'सावित्रीं च जपेत्' उस अर्थ की अनुवृत्तिपूर्वक उसके जाप का विधान है। (२) २२ वें श्लोक की शैली पक्षपातपूर्ण है, इसमें ऊंच-नीच भावना के आधार पर स्त्री, शूद्र आदि से बात न करने का वर्णन है। मनु की शैली में यह त्रुटि नहीं है।

३. **अन्तर्विरोध**—स्त्री, शूद्र आदि को अपवित्र मानकर उनके साथ प्रायश्चित्त काल में बात न करने का विधान स्पष्टतः परवर्ती प्रक्षेप है। यह उस समय का प्रक्षेप है जब इन्हें हीन और अपवित्र माना जाने। लगा मनु ने तो स्त्री और शूद्र को सेवा का कार्य सौंपा है और उस रूप में प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति के साथ सम्बन्ध रहता है। अतः मनु की व्यवस्था के अनुसार ये हीन नहीं हैं। और, स्त्री को तो मनु ने पवित्र तथा प्रत्येक धर्मकार्य में सहभागिनी कहा है। [६।११, २६, २८, ९६] फिर उसके साथ तो पृथक्ता या हीनता का प्रश्न ही नहीं आता है।

ये (११।२३४-२४४) श्लोक निम्नलिखत कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंगविरोध**—(क) मनु ने ११।२२७ वें श्लोक में वर्ण्य-विषय का जो संकेत किया है तदनुसार अग्रिम श्लोकों में एक-एक बात का वर्णन किया है। उस क्रम से २३३ वें श्लोक में 'तप' के विधान के पश्चात् वेदाध्ययन' का वर्णन प्रासंगिक होता है और वेदाध्ययन का २४५ वें श्लोक में है। अतः २३३ श्लोक की २४५ श्लोक के साथ संगति ठीक है। इन के बीच के श्लोक उस क्रम को भंग करने के कारण प्रक्षिप्त हैं।

(ख) इन श्लोकों में प्रायश्चित्त से सम्बद्ध तप का वर्णन न होकर सामान्य रूप से 'तप' की महिमा का वर्णन किया गया है। यह असम्वद्ध कथन ठीक नहीं है। क्योंकि 'तप' शब्द से मनु का अभिप्राय यहाँ प्रायश्चित्त से सम्बद्ध व्रतों के अनुष्ठान से है।

(ग) यहां इन श्लोकों में प्रायश्चित्त से असम्वद्ध और मनु को भी अनभिमत 'तप' का वर्णन किया गया है। क्योंकि मनु ने प्राणायाम, वेदाभ्यास, अहिंसा, सत्यादि व्रतों के अनुष्ठान को ही परम-तप माना है। और इस तप को मनुष्य ही कर सकते हैं इस मानव-शास्त्र में मानवोचित तप का ही कथन संगत होता है। परन्तु २४० वें में कहा है कि तप की शक्ति से कीट-पतंग, सांप, पतंगे, पशु, पक्षी और बृक्ष-लतादि भी स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। यह तप क्या है ? यह इस मनुस्मृति में प्रतिपादित तप तो कदापि नहीं हो सकता, यह तो अवर्णनीय व अलौकिक शक्ति विशेष ही है, जिसे प्रक्षेपक ही समझ सकता है। जिसने इस अद्भुत तप का वर्णन किया है।

(घ) प्रक्षेपक ने २३५ वें श्लोक में ब्राह्मण का तप ज्ञान प्राप्त करना, क्षत्रिय का रक्षा करना, वैश्य का व्यापार करना और शूद्र का सेवा करना लिखा है। परन्तु इस तप को कैसे कर सकेंगे ? क्या पशु-पक्षियों में भी चारों वर्ण होते हैं ? और इन तप के लक्षणों में वर्णों के अपने-अपने कार्य ही गिनाये हैं। मनु का आशय यह कदापि नहीं है। मनु ने तो प्राणायाम, अहिंसादि व्रतों के अनुष्ठान को तप माना है जो किसी एक वर्ण की धरोहर नहीं हो सकतीं। और वैश्य के व्यापार को भी तप कहा जाये, तो आजकल सभी तपस्वी कहलायें क्योंकि आजकल सभी व्यापार की बृत्ति अपनाये हुए हैं। और यदि वर्णों के ये कतिपय कर्म तप हैं तो यज्ञ करना, वेदाध्ययनादि दूसरे कर्मों को तप क्यों नहीं माना जाये ? अतः तप की परिभाषा तथा माहात्म्य बहुत ही संकीर्ण एवं असंगत है।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) २३९ वें श्लोक में कहा है कि महापापी मनुष्य भी तप के द्वारा पापों से छूट जाता है। यह पाप-मोचन की मान्यता मनु-सम्मत कदापि नहीं है और प्रायश्चित्त के उद्देश्य से भी विरुद्ध है। क्योंकि प्रायश्चित्त का उद्देश्य २२६, २३०, २३२–२३३ श्लोकों के अनुसार पाप कर्म को दुबारा न करना और पाप-जनित संस्कारों की शुद्धि करना ही है। और २४१ वें श्लोक में पापों को भस्म करने की बात मनु से विरुद्ध है।

(ख) २४० वें श्लोक में स्वर्ग में जाने की मान्यता भी मनुसम्मत नहीं है। क्योंकि मनु की मान्यता में स्वर्ग कोई लोकविशेष नहीं है, प्रत्युत सुख विशेष को बताया है और वह इस पृथिवी पर भी प्राणियों को कर्मानुसार मिलता है।

(ग) २४२ वें श्लोक में स्वर्ग में रहने वाले देव ब्राह्मणों के यज्ञों को ग्रहण करते हैं और मनोरथों को बढ़ाते हैं, यह कथन भी पौराणिक कल्पनामात्र ही है। मनु ऐसा नहीं मानते। मनु के मत में विद्वानों का नाम देव है और वे यज्ञादि श्रेष्ठ कार्यों को करते हैं, इसीलिये यज्ञ को 'देवयज्ञ' भी कहते हैं। और स्वर्ग-वासी देव ब्राह्मणों के यज्ञों को ग्रहण करते हैं, दूसरे मनुष्यों के यज्ञों को नहीं, यह कथन भी पक्षपातपूर्ण होने से मनुप्रोक्त नहीं हो सकता।

३. **शैली-विरोध**—(क) इन श्लोकों की शैली निराधार, अयुक्तियुक्त, अतिशयोक्तिपूर्ण तथा पक्षपातग्रस्त होने से मनुप्रोक्त नहीं है।

(ख) २४३ वें श्लोक में इस शास्त्र को प्रजापति द्वारा प्रोक्त बताया है, यह १।१–३ श्लोकों से विरुद्ध है। क्योंकि ऋषियों ने मनु से धर्म-जिज्ञासा की थी, तो उसका समाधान मनु ने ही किया। प्रजापति का नाम लेकर प्रक्षेपक ने इन श्लोकों को प्रामाणिक बनाने का दुष्प्रयास-मात्र ही किया है। मनु ने कहीं भी अपना नाम अथवा इस प्रकार दूसरे किसी व्यक्ति का नाम लेकर कहीं कुछ भी नहीं कहा।

(ग) और २४४ वें श्लोक में तप के माहात्म्य का उपसंहार किया है। यह महिमा-वर्णन की शैली मनु की नहीं है। मनुस्मृति एक विधान-शास्त्र है, इसमें विध्यात्मक वाक्यों की ही संगति हो सकती है, महिमा-परक वाक्यों की नहीं। मनु किसी बात की हानि व लाभ सामान्यरूप से कह जाते हैं, किन्तु उसका विस्तृत-वर्णन नहीं करते। अतः अप्रासंगिक, अन्तर्विरोध तथा शैली-विरोध के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये सभी (११। २४७–२६२) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंगविरोध**—(क) ये सभी श्लोक पूर्वापर-प्रसंग के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। २४६ वें श्लोक में 'वेदवित्' शब्द का उल्लेख किया गया है और २६३–२६५ श्लोकों में 'वेदवित्' शब्द की परिभाषा करके स्पष्ट व्याख्या की गई है। अतः २४६ श्लोक की २६३ श्लोक के साथ पूर्णतः संगति ठीक है। किन्तु इनके मध्य में ये श्लोक उस प्रसंग को भंग करने के कारण असंगत हैं।

(ख) ११।२२७ श्लोक में पाप-भावना को नष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त स्वरूप जो उपाय बतायें हैं, उन के क्रम से 'वेदाध्ययन' का कथन करना प्रसंगानुकूल है। तदनुसार २४५–२४६ और २६३—२६५ श्लोकों का क्रम ही संगत होता है।

(ग) इन मध्यवर्ती श्लोकों की पूर्वापर के श्लोकों से किसी प्रकार की भी संगति नहीं है। अर्थात् इन से पूर्ववर्ती २४६ वें श्लोक की २४७ श्लोक से कोई संगति नहीं है। क्योंकि २४६ में वेदवित् द्वारा ज्ञानाग्नि से पाप-भावना को भस्म करने की बात कही है, परन्तु २४७ में रहस्य=गुप्तपापों के लिये प्रायश्चित्त करने का एक नया ही प्रसंग प्रारम्भ किया गया है। और २६२ की २६३ के साथ कोई संगति नहीं है। क्योंकि २६२ में रहस्य=उपनिषदों सहित वेदों के अभ्यास से पाप-मुक्ति मानी है, परन्तु २६३ में केवल वेद-ज्ञान को प्रायश्चित्त में उपयोगी माना है।

२. **विषय-विरोध**—मनु ने ११।४४ श्लोक में प्रायश्चित्त विधि के विषय का संकेत दिया है। तदनुसार २२७–२३३ श्लोकों में कहा है कि पाप-कर्म को दूसरों से कहकर अथवा प्रकट करके पाप के संस्कारों को नष्ट कर सकता है। और २२७ में पाप का ख्यापन=प्रकट करना प्रायश्चित्त का सर्वप्रथम उपाय बताया है। परन्तु २४७ श्लोक में प्रायश्चित्त विधि को समाप्त करके गुप्त-पापों के प्रायश्चित्त का एक भिन्न ही विषय प्रारम्भ किया है। इस नवीन प्रसंग को गुप्त पापों के लिये प्रायश्चित्त का एक भाग भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि २२६ श्लोक में 'व्रतैराविष्कृतैनसः=व्रतों द्वारा पापों को प्रकट करके' और 'अनाविष्कृतपापान्=विना प्रकट हुए पापों को' मन्त्र जापादि उपायों से शुद्ध करने का विधान किया है। अतः मनु द्वारा सब प्रकार के पापों का प्रायश्चित्त का विधान कहने पर भी इन श्लोकों में रहस्य=गुप्त पापों के प्रायश्चित्त का पृथक् विधान करना निरर्थक तथा विषय-विरुद्ध है।

३. **अन्तर्विरोध**—(क) इन श्लोकों में गुप्त-पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए विभिन्न मन्त्रों का जप माना है। परन्तु यह मान्यता मनु-सम्मत नहीं है।

क्योंकि २२७ में ख्यापन=पाप को कहकर स्वीकार करना, अनुताप=पाप करके स्वयं दुःखी होना तप=व्रतों का अनुष्ठान करना और वेदज्ञान के द्वारा पापों के फल का चिन्तन करनादि उपाय मनु पाप-शोधन के बताये हैं। परन्तु इन श्लोकों में केवल मन्त्रपाठ से ही पापों से मुक्ति मानी है। यह वर्णन मनु की मान्यता से विरुद्ध है।

(ख) मनु ने २३०–२३१ श्लोकों में प्रायश्चित्त से पाप-शोधन के भाव को बहुत ही स्पष्ट किया है कि जब तक पाप करने वाले के मन में यह निश्चय न हो जाये कि मैं अब पाप नहीं करूंगा, तब तक वह शुद्ध नहीं होता। इसलिए वह पापीमनुष्य पाप कर्मों के फल का निरन्तर चिन्तन करे। और २२९ में कहा है कि जब पाप-कर्त्ता मनुष्य मन से दुष्कर्म की बार बार निन्दा करता है, तब वह पापों से शुद्ध होता है। परन्तु इन श्लोकों में केवल मन्त्रों के जप से काल का निर्धारण करके पापों से मुक्ति मानी है। यह मनु की पूर्वोक्त सभी व्यवस्थाओं से विरुद्ध है।

(ग) मनु ने प्रायश्चित्त विधि का उद्देश्य २३० में 'नैवं कुर्यां पुनः=मैं फिर उस पाप को नहीं करूंगा' यह कहकर स्पष्ट किया है। अतः कृत-पापों से मुक्ति मनु नहीं मानते। क्योंकि पापों का फल तो अवश्य ही भोगना पड़ता है। परन्तु २५८–२६२ श्लोकें में पापों से मुक्ति कही है। यह मान्यता मनु से विरुद्ध है।

(घ) मनु ने २३३ श्लोकों तक गुप्त अथवा प्रकट सब प्रकार के पापों के करने पर प्रायश्चित्त का विधान किया है। और इस प्रसंग को समाप्त कर दिया। किन्तु इन श्लोकों में रहस्य के नाम से पुनः प्रायश्चित्त का विधान करना और प्रायश्चित्त की अन्य विधियों का कथन करना मनु की विधियों से विरुद्ध है और प्रायश्चित्त के मनु-सम्मत उद्देश्य से भी भिन्न होने से प्रक्षिप्त है।

(ङ) प्रायश्चित्त करने से कैसे पाप-शोधन होता है, इसकी विधि मनु ने २२७–२३३ श्लोकों में कही है। जिससे स्पष्ट है कि मनु केवल मन्त्र-पाठ से पाप की शुद्धि नहीं मानते। वेद-ज्ञान के द्वारा शुभाशुभ कर्मों के फलों पर चिन्तन तथा दुष्कृतकर्म से अनुतप्त होना मनु की प्रायश्चित्त विधि में प्रमुख है। परन्तु इन श्लोकों में मन्त्र-पाठ मात्र से पापों की शुद्धि कहकर मनु से विरुद्ध बात कही है। और किसी मन्त्र के जप से तीन दिनों में, किसी के जप से एक वर्ष में, और किसी मन्त्र के जप से एक मास में पाप शोधन होता है, यह काल का निर्धारण भी मनुसम्मत नहीं है। क्या मन्त्रों में ऐस

कोई भिन्न भिन्न शक्ति अथवा मन्त्रों का ऐसा माहात्म्य है कि जिसके कारण यह काल का भेद हो जाता है? यह भी निराधार कल्पना एवं अयुक्तियुक्त ही है। क्योंकि मन्त्र नाम रहस्यात्मक विचार का है। उस पर जो जितना चिन्तन करेगा, वह उतना फल प्राप्त कर सकेगा। केवल मन्त्रों का पाठ, चाहे वह कोई भी मन्त्र हो, पापों से शुद्धि कदापि नहीं करा सकता, चाहे कोई जीवनभर क्यों नहीं करता रहे। मनु ने भी (२६४-२६५) श्लोकों में जो वेदवित्=वेदमन्त्रों के अर्थों को जानता है, उसे ही मन्त्रार्थचिन्तन करने से पापों से शुद्धि कहा है, अन्यथा नहीं।

(च) २६१ श्लोक में कहा है कि तीनों लोकों का वध करने पर भी वेदज्ञ को पाप नहीं लगता। यह कथन मनु की मान्यता से विरुद्ध है। मनु के अनुसार वेद का अध्ययन सभी के लिये आवश्यक है, फिर प्रायश्चित्त विधि का विधान किस लिये किया है? अतः यह धारणा मिथ्या है कि वेदज्ञ को वध करने भी पाप नहीं लगता। मनु के अनुसार वेदज्ञ यदि वधादि पाप करता है, उसे दूसरों की अपेक्षा अधिक दण्ड मिलना चाहिये।

(छ) इन श्लोकों में कहीं मन्त्रों के जप से और कहीं कृच्छ्रव्रतों से पाप शुद्धि मानी है। कहीं एक मन्त्र के जाप से और कहीं एक सूक्त के जाप से और कहीं पूरे वेद के जाप से पापशुद्धि मानी है। इससे स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न विधानों का कोई निश्चित आधार नहीं है। मनु ऐसी निराधार बातों का कहीं प्रवचन नहीं करते।

४. शैली-विरोध—इन सभी श्लोकों की शैली निराधार, अतिशयोक्तिपूर्ण, तथा पक्षपातपूर्ण, होने से मनु की नहीं है। जैसे—'क्षणाद् भवति निर्मलः' (२५०) अर्थात् सोना चुराने वाला क्षण भर में ही मन्त्र के जाप से शुद्ध हो जाता है। इत्यादि बातें युक्तियुक्त नहीं हैं। और सोना चुराना, शराब पीना, गुरुपत्नी से संभोग करना, इत्यादि पाप यदि गुप्त-पाप हैं, तो अगुप्त पाप कौन से होंगे? इस प्रकार यह समस्त प्रसंग ही असंगत और मनु से विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां प्राकृतभाषाभाष्यसमन्वितायां प्रक्षेपश्लोक-समीक्षाविभूषितायाञ्च मनुस्मृतौ प्रायश्चित्तविषयात्मकः
एकादशोऽध्यायः

द्वादशोऽध्यायः

(प्राकृतभाषाभाष्य-प्रक्षेपश्लोक-समीक्षाभ्यां सहितः)

[कर्मफल-विधान एवं निःश्रेयस कर्मों का वर्णन]

(१२ । ३ से ११६ तक)

त्रिविध कर्मों का वर्णन—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥ (१)

(मनः-वाक्-देहसंभवं कर्म) मन, वचन और शरीर से किये जाने वाले कर्म (शुभ-अशुभ-फलम्) शुभ-अशुभ फल को देने वाले होते हैं, (कर्मजा नृणाम्) और उन कर्मों के अनुसार मनुष्यों की (उत्तम-अधम-मध्यमाः गतयः) उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन गतियाँ=जन्मावस्थाएं होती हैं ॥ ३ ॥

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥ (२)

(इह) इस विषय में (देहिनः मनः) मनुष्य के मन को (तस्य त्रिविधस्य+अपि त्रि+अधिष्ठानस्य दशलक्षणयुक्तस्य) उस उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन प्रकार के; मन, वचन, क्रिया भेद से तीन आश्रय वाले और दशलक्षणों [१२ । ५-७] से युक्त कर्म का (प्रवर्तकं विद्यात्) प्रवृत्त करनेवाला जानो ॥४॥

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥ (३)

(त्रिविधं मानसं कर्म) मानसिक कर्मों में से तीन मुख्य अधर्म हैं (परद्रव्येषु+अभिध्यानम्) परद्रव्यहरण अथवा चोरी [का विचार] (मनसा+अनिष्टचिन्तनम्) लोगों का बुरा चिन्तन करना, मन में द्वेष करना, ईर्ष्या करना, वितथ+अभिनिवेशः) वितथाभिनिवेश अर्थात् मिथ्या निश्चय करना ॥ ५ ॥

(उपदेशमञ्जरी ३४)

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥ (४)

(वाङ्मयं चतुर्विधं स्यात्) वाचिक अधर्म चार हैं—(पारुष्यम्) पारुष्य अर्थात् कठोरभाषण। सब समय, सब ठौर मृदु भाषण करना यह मनुष्यों को उचित है। किसी अन्धे मनुष्य को 'ओ अंधे' ऐसा कहकर पुकारना निस्सन्देह सत्य है, परन्तु कठोर भाषण होने के कारण अधर्म है। (अनृतं च+एव) अनृत-भाषण अर्थात् झूठ बोलना, (पैशुन्यं च+अपि) पैशुन्य अर्थात् चुगली करना, (असम्बद्ध प्रलापः) असम्बद्धप्रलाप अर्थात् जान बूझकर [लांछन या बुराई बनाकर] बात को उड़ाना ॥ ६ ॥ (उपदेशमञ्जरी ३४)

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥ (५)

(शारीरं त्रिविधं स्मृतम्) शारीरिक अधर्म तीन हैं—(अदत्तानाम्+उपादानम्) चोरी (हिंसा च+एव) हिंसा अर्थात् सब प्रकार के क्रूर कर्म, ❁ (परदारोपसेवा) रंडीबाजी वा व्यभिचारादि कर्म करना ॥ ७ ॥

(उपदेशमञ्जरी ३४)

❁ (अविधानतः) शास्त्रविरुद्ध रूप में करना [शास्त्र में कुछ हिंसाएँ विहित हैं, जैसे—आपत्काल में आततायी की हिंसा (८। ३४८–३५१), हिंस्रपशु की हिंसा, [युद्ध में शत्रुओं की हिंसा आदि]। ....

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ।
वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥ (६)

(अयम्) यह जीव (मानसं शुभ+अशुभं कर्म मनसा+एव) मन से जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता है उसको मन, (वाचाकृतं वाचा) वाणी से किये को वाणी, (च कायिकं कायेन+एव) और शरीर से किये को शरीर से (उपभुङ्क्ते) सुख-दुःख को भोगता है ॥ ८ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥ (७)

(नरः) जो नर (शरीरजैः कर्मदोषैः स्थावरतां याति) शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है, उसको वृक्ष आदि स्थावर का जन्म, (वाचिकैः पक्षिमृगताम्) वाणी से किये पापकर्मों से पक्षी और मृग आदि, तथा (मानसैः अन्त्यजातिताम्) मन से किये दुष्टकर्मों से चंडाल आदि का शरीर मिलता है ॥ ९ ॥ (स० प्र० नवम समुल्लास)

सत्त्व, रज, तम-गुणों का परिचय—

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥ (८)

(सत्त्वं रजः च तमः एव त्रीन् आत्मनः गुणान् विद्यात्) सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों को आत्मा को प्रभावित करनेवाले, प्रकृति के गुण समझे, (महान्) महत्तत्त्व=अव्यक्त प्रकृति [१ । १५] (यैः) इन तीन गुणों से (अशेषतः) बिना किसी पदार्थ को छोड़े (इमान् सर्वान् भावान् व्याप्य स्थितः) इन समस्त पदार्थों को व्याप्त करके स्थित है ॥ २४ ॥

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥ (९)

(यः गुणः एषां देहे) जो गुण इन जीवों के देह में (साकल्येन+अतिरिच्यते) अधिकता से वर्तता है (सः तदा तं शरीरिणम्) वह गुण उस जीव को (तद्गुणप्रायं करोति) अपने सदृश कर लेता है ॥ २५ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥ (१०)

(सत्त्वं ज्ञानम्) जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, (अज्ञानं तमः) जब अज्ञान रहे तब तम, (रागद्वेषौ रजः स्मृतम्) और जब राग-द्वेष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिए (एतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः एतत् व्याप्तिमत्) ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं ॥ २६ ॥
(स० प्र० नवम समु०)

सतोगुण की पहचान—

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २७ ॥ (११)

उसका विवेक इस प्रकार करना चाहिए कि (तत्र आत्मनि यत् किंचित् प्रीतिसंयुक्तम्) जब आत्मा में प्रसन्नता (प्रशान्तम्+इव शुद्धाभं लक्षयेत्) मन प्रसन्न प्रशान्त के सदृश शुद्धभानयुक्त वर्ते (तत्+उपधारयेत् सत्त्वम्) तब समझना की सत्त्वगुण प्रधान और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं ॥ २७ ॥
(स० प्र० नवम समु०)

रजोगुण की पहचान—

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥ (१२)

❀(यत् तु आत्मनः) जब आत्मा और मन (दुःखसमायुक्तम्+अप्रीतिकरम्) दुःखसंयुक्त प्रसन्नतारहित विषय में (सततं हारि) इधर-उधर गमन-आगमन में लगे (तत् विद्यात् रजः) तब समझना कि ❀ रजोगुण प्रधान, सत्त्वगुण और तमोगुण अप्रधान है ।। २८ ।। (स० प्र० नवम समु०)

❀ (देहिनाम्) प्राणियों के·········

❀ (प्रतिपम्) सतोगुण का विरोधी···········

तमोगुण की पहचान—

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ।। २९ ।। (१३)

(यत् तु मोहसंयुक्तं स्यात्) जब मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फंसा हुआ आत्मा और मन हो, (अव्यक्तम्) जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहे, (विषयात्मकम्) विषयों में आसक्त, (अप्रतर्क्यम्) तर्क-वितर्क रहित, (अविज्ञेयम्) जानने के योग्य न हो, (तत्+उपधारयेत् तमः) तब निश्चय समझना चाहिए कि इस समय मुझ में तमोगुण प्रधान, और सत्त्वगुण तथा रजोगुण अप्रधान है ।। २९ ।। (स० प्र० नवम समु०)

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ।। ३० ।। (१४)

अब (यः) जो (एतेषां त्रयाणाम्+अपि अग्र्यः मध्यः च जघन्यः फलोदयः) इन तीनों गुणों का उत्तम, मध्यम और निकृष्ट फलोदय होता है (तम् अशेषतः प्रवक्ष्यामि) उसको पूर्ण भाव से कहते हैं ।। ३० ।। (स० प्र० नवम समु०)

सतोगुण के लक्षण—

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ।। ३१ ।। (१५)

जो (वेदाभ्यासः तपः ज्ञानम्) वेदों का अभ्यास, धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि (शौचम्+इन्द्रियनिग्रहः) पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह (धर्मक्रिया च आत्मचिन्ता) धर्मक्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है (सात्त्विकं गुणलक्षणम्) यही सत्त्वगुण का लक्षण है ।। ३१ ।। (स० प्र० नवम समु०)

रजोगुण के लक्षण—

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ।। ३२ ।। (१६)

जब रजोगुण का उदय, सत्त्वगुण और तमोगुण का अन्तर्भाव होता

है तब (आरम्भ-रुचिता) आरम्भ में रुचिता, (अधैर्यम्) धैर्यत्याग, (असत्कार्य-परिग्रहः) असत् कर्मों का ग्रहण, (अजस्रं विषय-उपसेवा) निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है (राजसं गुणलक्षणम्) तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझ में वत रहा है ॥ ३२ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

तमोगुण के लक्षण—

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३३ ॥(१७)

जब तमोगुण का उदय और दोनों का अन्तर्भाव होता है तब (लोभः) अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल वढ़ता, (स्वप्नः) अत्यन्त आलस्य और निद्रा, (अधृतिः) धैर्य का नाश, (क्रौर्यम्) क्रूरता का होना, (नास्तिक्यम्) नास्तिक्य अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, (भिन्नवृत्तिता) भिन्न-भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति (च) और (प्रमादः) एकाग्रता का अभाव, (याचिष्णुता) और किन्हीं व्यसनों में फंसना होवे, तब (तामसं गुणलक्षणम्) तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है ॥ ३३ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम्।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥ (१८)

(त्रिषु तिष्ठताम्) तीनों कालों [भूत, भविष्यत् और वर्तमान] में विद्यमान रहने वाले (एतेषां त्रयाणाम्+अपि गुणानाम्) इन तीनों गुणों के (गुणलक्षणं क्रमशः) 'गुणलक्षण' को क्रमशः (सामासिकम् इदं ज्ञेयम्) संक्षेप में इस प्रकार [१२। ३५-३८] समझें—॥ ३४ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥ (१९)

(यत् कर्म कृत्वा) जब अपना आत्मा जिस कर्म को करके, (कुर्वन्) करता हुआ (च) और (करिष्यन्+एव लज्जति) करने की इच्छा से लज्जा, शंका और भय को प्राप्त होवे (तत् ज्ञेयं सर्वं तामसं गुणलक्षणम्) तब जानो कि मुझ में प्रवृद्ध तमोगुण है ॥ ३५ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्।
न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥ (२०)

(येन कर्मणा) जिस कर्म से (अस्मिन् लोके) इस लोक में जीवात्मा (पुष्कलां ख्यातिम्+इच्छति) पुष्कल प्रसिद्धि चाहता, (असंपत्तौ न शोचति) दरिद्रता होने में भी चारण, भाट आदि को [अपनी प्रसिद्धि के लिए] दान

देना नहीं छोड़ता, (तत् विज्ञेयं तु राजसम्) तब समझना कि मुझ में रजोगुण प्रबल है ॥ ३६ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥ (२१)

और जब मनुष्य का आत्मा (सर्वेण ज्ञातुम्+इच्छति) सब से जानने को चाहे, गुण ग्रहण करता जाये, (यत् च आचरन् न लज्जति) अच्छे कामों में लज्जा न करे (च) और (येन अस्य आत्मा तुष्यति) जिस कर्म से आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्माचरण ही में रुचि रहे (तत् सत्त्वगुणलक्षणम्) तब समझना कि मुझ में सत्त्वगुण प्रबल है ॥ ३७ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥ (२२)

(तमसः लक्षणं कामः) तमोगुण का लक्षण काम, (रजसः तु+अर्थः) रजोगुण का अर्थसंग्रह की इच्छा, (सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः) सत्त्वगुण का लक्षण धर्म-सेवा करना है, (एषां यथोत्तरं श्रैष्ठ्यम्) परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है ॥ ३८ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते ।
तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥ (२३)

"अब जिस-जिस गुण से, जिस-जिस गति को जीव प्राप्त होता है, उस-उस का आगे लिखते हैं—।" (स० प्र० नवम समु०)

(एषाम्) इन तीनों गुणों में (येन गुणेन) जिस गुण से (यः तु) जो मनुष्य (संसारान् प्रतिपद्यते) जिस सांसारिक गति को प्राप्त करता है (तान्) उन सबको (अस्य सर्वस्य यथाक्रमं समासेन वक्ष्यामि) समस्त संसार के क्रम से, संक्षेप से कहूँगा—॥ ३९ ॥

तीन गुणों के आधार पर तीन गतियाँ—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥ (२४)

(सात्त्विकाः देवत्वम्) जो मनुष्य सात्त्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान्, (राजसाः मनुष्यत्वम्) जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य, (च) और (तामसाः तिर्यक्त्वम्) जो तमोगुणयुक्त होते हैं वे नीचगति को (यान्ति) प्राप्त करते हैं, (इति+एषा त्रिविधा गतिः) इस प्रकार यह त्रिविध गति है ॥ ४० ॥ (स० प्र० नवम समु०)

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ।
अधमा मध्यमाऽग्रचा च कर्मविद्या विशेषतः ॥ ४१ ॥ (२५)

(एषा त्रिविधा) ये तीन प्रकार की [सत्त्व, रज, तम] गतियाँ (कर्म-विद्या विशेषतः) कर्म और विद्या की विशेषताओं के आधार पर प्रत्येक की पुनः (अधमा, मध्यमा च अग्रचा) अधम, मध्यम और उत्तम भेद से (त्रिविधा गौणिकी गतिः विज्ञेया) तीन-तीन प्रकार की गौण गतियाँ होती हैं [१२।४२–५०] ॥ ४१ ॥

तीन गतियों के भेद—

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः ।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥ ४२ ॥ (२६)

(जघन्या तामसी) जो अत्यन्त तमोगुणी हैं वे (स्थावराः) स्थावर वृक्षादि (कृमिकीटाः मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः पशवः च मृगाः) कृमि, कीट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

हस्तिनश्च तुरंगाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः ।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥ ४३ ॥ (२७)

(मध्यमा तामसी गतिः) जो मध्यम तमोगुणी हैं वे (हस्तिनः तुरंगाः) हाथी, घोड़ा, (शूद्राः म्लेच्छाः निन्दिताः) शूद्र, म्लेच्छ, निन्दित कर्म करने हारे, (सिंहाः व्याघ्राः वराहाः) सिंह, व्याघ्र, वराह अर्थात् सूकर के जन्म को प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

चरणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दम्भिकाः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥ (२८)

(तामसीषु उत्तमा गतिः) जो उत्तम तमोगुणी हैं वे (चारणाः सुपर्णाः दाम्भिकाः पुरुषाः) चारण=जो कि कवित्त, दोहा आदि बनाकर मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं, सुन्दर पक्षी, दाम्भिक पुरुष अर्थात् अपने सुख के लिए अपनी प्रशंसा करने हारे, (रक्षांसि पिशाचाः) राक्षस जो हिंसक, पिशाच=अनाचारी अर्थात् मद्य आदि के आहारकर्त्ता और मलिन रहते हैं वह उत्तम तमोगुण के कर्म का फल है ॥ ४४ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥ ४५ ॥ (२९)

(जघन्या राजसी गतिः) जो अधम रजोगुणी हैं वे (झल्लाः) झल्ला अर्थात् तलवार आदि से मारने वा कुदार आदि से खोदने हारे, (मल्लाः) मल्ला अर्थात्

नौका आदि के चलाने वाले, (नटाः) नट, जो बांस आदि पर कला, कूदना, चढ़ना-उतरना आदि करते हैं, (शस्त्रवृत्तयः पुरुषाः) शस्त्रधारी भृत्य, (च) और (मद्यपानप्रसक्ताः) मद्य पीने में आसक्त हों, ऐसे जन्म नीच रजोगुण का फल है। ॥ ४५ ॥ (स० प्र० नवमसमु०)

राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥ (३०)

(मध्यमा राजसी गतिः) जो मध्यम रजोगुणी होते हैं वे (राजानः क्षत्रियाः) राजा, क्षत्रियवर्णस्थ, (राज्ञां पुरोहिताः) राजाओं के पुरोहित, (वाद-युद्धप्रधानाः) वाद-विवाद करने वाले—दूत, प्राड्विवाक=वकील, बैरिस्टर, युद्ध-विभाग के अध्यक्ष के जन्म पाते हैं ॥ ४६ ॥ (स० प्र० नवमसमु०)

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये ।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ ४७ ॥ (३१)

(राजसीषु उत्तमा गतिः) जो उत्तम रजोगुणी हैं वे (गंधर्वाः) गंधर्व=गाने वाले, (गुह्यकाः) गुह्यक=वादित्र बजाने वाले, (यक्षाः) यक्ष=धनाढच, (विबुधा-अनुचराः) विद्वानों के सेवक, (तथा+एव सर्वाः अप्सरसः) और अप्सरा अर्थात् जो उत्तम रूप वाली स्त्री का जन्म पाते हैं ॥ ४७ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥ ४८ ॥ (३२)

(तापसाः) जो तपस्वी, (यतयः) यति, संन्यासी, (विप्राः) वेदपाठी, (वैमा-निका गणाः) विमान के चलाने वाले, (नक्षत्राणि) ज्योतिषी, (च) और (दैत्याः) दैत्य अर्थात् देहपोषक मनुष्य होते हैं उनको (प्रथमा सात्त्विकी गतिः) प्रथम सत्त्वगुण के कर्म का फल जानो ॥ ४८ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥ ४९ ॥ (३३)

(द्वितीया सात्त्विकी गतिः) जो मध्यम सत्त्वगुणयुक्त होकर कर्म करते हैं वे जीव (यज्वानः) यज्ञकर्त्ता, (ऋषयः देवाः) वेदार्थवित् विद्वान्, (वेदाः ज्योतींषि वत्सराः) वेद, विद्युत् आदि, और कालविद्या के ज्ञाता, (पितरः) रक्षक, ज्ञानी (च) और (साध्याः) साध्य=कार्यसिद्धि के लिए सेवन करने योग्य अध्यापक का जन्म पाते हैं ॥ ४९ ॥ (स० प्र० नवमसमु०)

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेनां गतिमाहुर्मनीषिणः ।। ५० ।। (३४)

(उत्तमां सात्त्विकीं गतिम्) जो उत्तम सत्त्वगुणयुक्त हो के उत्तम कर्म करते हैं वे (ब्रह्मा) ब्रह्मा=सब वेदों का वेत्ता, (विश्वसृजः) विश्वसृज=सब सृष्टिक्रम विद्या को जानकर विविध विमानादि यानों को बनाने हारे, (धर्मः) धार्मिक, (महान् च अव्यक्तम्+एव) सर्वोत्तम बुद्धियुक्त और अव्यक्त के जन्म और प्रकृतिवशित्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं ।। ५० ।। (स० प्र० नवमसमु०)

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः ।
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ।। ५१ ।। (३५)

(त्रिप्रकारस्य कर्मणः) मन, वचन, शरीर के भेद से तीन प्रकार के कर्मों का (त्रिविधः) सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण नामक तीन प्रकार का फल, तथा (त्रिविधः) फिर उनकी उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन-तीन गतियों वाले (सार्वभौतिकः कृत्स्नः संसारः) सर्वभूतयुक्त सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति का (एषः सवः समुद्दिष्टः) यह पूर्ण वर्णन किया ।। ५१ ।। (स० प्र० नवम समु०)

विषयों में आसक्ति से दुःख—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्यासेवनेन च ।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ।। ५२ ।। (३६)

(इन्द्रियाणां प्रसंगेन) जो इन्द्रियों के वश होकर विषयी (धर्मस्य+असेवनेन) धर्म को छोड़कर अधर्म करने हारे (अविद्वांसः) अविद्वान् हैं (नराधमाः पापान् संसारान् संयान्ति) वे मनुष्यों में नीच जन्म, बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं ।। ५२ ।। (स० प्र० नवमसमु०)

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः ।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ।। ७३ ।। (३७)

(विषयात्मकाः) विषयी स्वभाव के मनुष्य (यथा-यथा विषयान् निषेवन्ते) जैसे-जैसे विषयों का सेवन करते जाते हैं (तथा तथा) वैसे-वैसे (तेषु तेषां कुशलता+उपजायते) उन विषयों में उनकी आसक्ति अधिक बढ़ती जाती है ।। ७३ ।।

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ।
संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ।। ७४ ।। (३८)

फिर (ते अल्पबुद्धयः) वे मन्दबुद्धि मनुष्य (तेषां पापानां कर्मणाम्+अभ्यासात्) उन विषयों से उत्पन्न पापकर्मों को बारम्बार करते हैं, और उसके

कारण पुनः (तासु-तासु योनिषु) पापकर्मों से प्राप्त होने वाली उन-उन योनियों में अर्थात् जिस पाप से जो योनि प्राप्त होती है [१२ । ३९–५१] उसको प्राप्त करके (इह) इसी संसार में (दुःखानि प्राप्नुवन्ति) दुःखों को भोगते हैं ॥ ७४ ॥

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ८१ ॥ (३९)

मनुष्य (यादृशेन तु भावेन) जैसी अच्छी या बुरी भावना से (यत्-यत् कर्म निषेवते) जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है, (तादृशेन शरीरेण) वैसे-वैसे ही शरीर पाकर (तत्-तत् फलम्+उपाश्नुते) उन कर्मों के फलों को भोगता है ॥ ८१ ॥

निःश्रेयस कर्मों का वर्णन--

एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ।
निःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥ (४०)

(एषः) यह [१२ । ३–८१] (कर्मणां फलोदयः) कर्मों के फल का उद्भव (सर्वः) सम्पूर्ण रूप में (वः समुद्दिष्टः) तुमसे कहा ।

अब (विप्रस्य) विद्वानों या ब्राह्मण आदि द्विजों के (निःश्रेयसकरं कर्म निबोधत—) मोक्षदायक कर्मों को सुनो ॥ ८२ ॥

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
धर्मक्रियाऽत्मचिन्ता च निःश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥ (४१)

(वेदाभ्यासः, तपः, ज्ञानम्, इन्द्रियाणां संयमः, धर्मक्रिया, च आत्मचिन्ता) वेदों का अभ्यास [१२ । ९४–१०३], तप=व्रतसाधना [१२ । १०४], ज्ञान=सत्यविद्याओं की प्राप्ति [१२ । १०४], इन्द्रियसंयम [१२ । ९२], धर्मक्रिया=धर्मपालन एवं यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाओं का अनुष्ठान और आत्मचिन्ता=परमात्मा का ज्ञान एवं ध्यान, ये छः (निःश्रेयसकरं परम्) मोक्ष-प्रदान करने वाले सर्वोत्तम कर्म हैं ॥ ८३ ॥

अनुशीलन—उपलब्ध संस्करणों में इस श्लोक के तृतीय पाद में "अहिंसा गुरुसेवा च" पाठ मिलता है । यह पाठभेद किया गया है जो मनुस्मृति के अनुरूप नहीं है । यहां "धर्मक्रियाऽत्मचिन्ता च" पाठ ही उपयुक्त है । इसकी पुष्टि में निम्न प्रमाण हैं—

(१) ८३ वें श्लोक में निःश्रेयस कर्मों की परिगणना है, परिगणना के बाद

छह कर्मों से सम्बन्धित व्याख्यान ८५–११५ श्लोकों में है। इस व्याख्यान में 'अहिंसा' और 'गुरुसेवा' का कहीं उल्लेख नहीं है अपितु 'आत्मज्ञान' और 'धर्म-क्रिया' का है। श्लोकार्थ में तत्तत् वर्णन वाले श्लोकों की संख्या दे दी है।

(२) मनु ने सात्त्विक कर्मों को ही निःश्रेयसकर्म माना है। इस श्लोक में अन्य सभी कर्म तो वही हैं, केवल दो में पाठभेद कर दिया है। सात्त्विक कर्मों का वर्णन १२। ३१ में है। वही पाठ यहां ग्रहण करना मनुसम्मत है क्योंकि वही कर्म मनु-मत से सर्वश्रेष्ठ हैं और वही मुक्तिदायक हो सकते हैं। अतः प्रस्तुत पाठ सही है।

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥ (४२)

(एषां सर्वेषाम्+अपि) इन सब [१२। ८३] कर्मों में (आत्मज्ञानं पर स्मृतम्) 'परमात्मज्ञान' सर्वश्रेष्ठ कर्म माना है, (तत्+हि सर्वविद्यानाम् अग्र्यम्) यह सब विद्याओं में सर्वप्रमुख कर्म है (ततः अमृतं प्राप्यते) जिससे मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ८५ ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥ (४३)

(सर्वभूतेषु आत्मानम्) सब चराचर पदार्थों एवं प्राणियों में परमात्मा की व्यापकता को (च) और (आत्मनि) परमात्मा में (सर्वभूतानि) सब पदार्थों एवं प्राणियों के आश्रय को (समं पश्यन्) समानभाव से देखता हुआ अर्थात् सर्वत्र परमात्मा की स्थिति का अनुभव कर सर्वदा उसी का ध्यान करता हुआ (आत्म-याजी) परमात्मा का उपासक मनुष्य (स्वाराज्यम्+अधिगच्छति) परमात्मसुख अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥ ९१ ॥

आत्मज्ञान, इन्द्रियसंयम का कथन—

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥ ९२ ॥ (४४)

(द्विजोत्तमः) श्रेष्ठ द्विज (यथोक्तानि+अपि कर्माणि परिहाय) उसके लिए विहित यज्ञ आदि कर्मों को [संन्यासी अवस्था में] छोड़कर [६। ३४, ४३] भी (आत्मज्ञाने शमे च वेदाभ्यासे यत्नवान् स्यात्) परमात्म-ज्ञान, इन्द्रियसंयम [२। ६८–७५] और वेदाभ्यास में प्रयत्नशील अवश्य रहे अर्थात् इनको किसी भी अवस्था में न छोड़े ॥ ९२ ॥

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ९३ ॥ (४५)

(एतत् हि) ये [१२ । ९२] तीनों कर्म द्विजों के, (विशेषतः ब्राह्मणस्य जन्मसाफल्यम्) विशेष रूप से ब्राह्मण के जन्म को सफल बनाने वाले हैं । (द्विजः) द्विज व्यक्ति (एतत् प्राप्य हि कृतकृत्यः भवति) इनका पालन करके ही कर्त्तव्यों की पूर्णता प्राप्त करता है, (अन्यथा न) इनके बिना नहीं ॥ ९३ ॥

वेदाभ्यास का वर्णन—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ९४ ॥ (४६)

(पितृ-देव-मनुष्याणाम्) पितर=पालक राजा आदि [द्रष्टव्य १२ । १००] विद्वान् और अन्य मनुष्यों का (वेदः सनातनं चक्षुः) वेद सनातन नेत्र=मार्ग-प्रदर्शक है, (च) और वह (अशक्यम्) अशक्य अर्थात् जिसे कोई पुरुष नहीं बना सकता इस प्रकार अपौरुषेय है, (च) तथा (अप्रमेयम्) अनन्त सत्यविद्याओं से युक्त है, (इति स्थितिः) ऐसी निश्चित मान्यता है ॥ ९४ ॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥९५॥ (४७)

(याः स्मृतयः वेदबाह्याः) जो ग्रन्थ वेदबाह्य, (याः च काः च कुदृष्टयः) कुत्सित पुरुषों के बनाये, संसार को दुःखसागर में डुबोने वाले हैं, (ताः सर्वाः निष्फलाः) वे सब निष्फल (प्रेत्य तमोनिष्ठाः हि स्मृताः) असत्य अन्धकाररूप इस लोक और परलोक में दुःखदायक हैं ॥ ९५ ॥ (स० प्र० एकादशसमु०)

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ९६ ॥ (४८)

(यानि+अतः अन्यानि कानिचित् उत्पद्यन्ते) जो इन वेदों से विरुद्ध ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं (तानि अर्वाक् कालिकतया च्यवन्ते) वे आधुनिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, (निष्फलानि च अनृतानि) उनका मानना निष्फल और झूठा है ॥ ९६ ॥(स० प्र० एकादशसमु०)

अनुशीलन—यहां वेदविरुद्ध ग्रन्थों के आधुनिक होने से अभिप्राय यह है कि वेदों की मान्यताएं प्राचीनतम एवं सनातन हैं, किन्तु वेदविरुद्ध ग्रन्थों की मान्यताएं परवर्ती हैं । और वे सत्य न होने से बनती हैं फिर नष्ट हो जाती हैं, वेदों की मान्यताओं की तरह सनातन नहीं ।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥ (४९)

(चातुर्वर्ण्यम्) चार वर्ण, ❀(चत्वारः आश्रमाः पृथक्) चार आश्रम, (भूतं भव्यं च भविष्यं सर्वम्) भूत, भविष्यत् और वर्तमान आदि की सब विद्या (वेदात् प्रसिद्धयति) वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं ॥९७॥ (ऋ० भा० भू० वेदविषयविचार)

❀ (त्रयः लोकाः) पृथ्वी, आकाश एवं द्युलोक......

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ९८ ॥ (५०)

(शब्दः स्पर्शः रूपं रसः पञ्चमः गन्धः) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पञ्चम गन्ध, ये (प्रसूति-गुण-कर्मतः) उत्पत्ति, गुण और कार्य ज्ञान रूप से (वेदात्+एव प्रसूयन्ते) वेदों से ही प्रसिद्ध=विज्ञात होते हैं अर्थात् इन तत्त्वशक्तियों का उत्पत्तिज्ञान, इनके गुणों का ज्ञान, इनकी उपयोगिता का ज्ञान वेदों से प्राप्त होता है ॥ ९८ ॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ९९ ॥ (५१)

(सनातनं वेदशास्त्रम्) यह जो सनातन वेदशास्त्र है सो (सर्वभूतानि बिभर्ति) सब विद्याओं के दान से सम्पूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त कराता है, (तस्मात् एतत् परं मन्ये) इस कारण से [मनु आदि] हम लोग उसको सर्वथा उत्तम मानते हैं, और इसी प्रकार मानना भी चाहिए, (यत्) क्योंकि (जन्तोः अस्य साधनम्) सब जीवों के लिए सब सुखों का साधन यही है ॥ ९९ ॥ (ऋ० भा० भू० वेदविषयविचार)

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १०० ॥ (५२)

(सैनापत्यम्) सब सेना (च) और (राज्यम्) सेनापतियों के ऊपर राज्याधिकार, (दण्डनेतृत्वम्+एव) दंड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का आधिपत्य, (च) और (सर्वलोक-आधिपत्यम्) सब के ऊपर वर्तमान सर्वाधीश राज्याधिकार, इन चारों अधिकारों में (वेदशास्त्रवित्+अर्हति) सम्पूर्ण वेदशास्त्रों में प्रवीण, पूर्णविद्या वाले, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशील जनों को स्थापित करना चाहिए अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, और प्रधान राजा, ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहिएँ।

॥ १०० ॥ (स० प्र० षष्ठसमु०)

"जो वेदशास्त्रवित्, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, न्यायकारी और आत्मा के बल से युक्त पुरुष होवे उसी को सेना, राज्य, दण्डनीति और प्रधान पद का अधिकार देना, अन्य क्षुद्राशयों को नहीं।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

अनुशीलन—यहां 'वेदशास्त्रवित् अर्हति' का अर्थ 'वेदशास्त्र का ज्ञाता ही उसके योग्य हो सकता है' यह है। ऋषि दयानन्द ने इसे प्रेरणार्थक रूप में निरूपित किया है।

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥ १०१ ॥ (५३)

(यथा) जैसे (जातबलः वह्निः) धधकती हुई आग (आर्द्रान् द्रुमान् अपि दहति) गीले वृक्षों को भी जला देती है (तथा) उसी प्रकार (वेदज्ञः) वेदों का ज्ञाता विद्वान् (आत्मनः कर्मजं दोषं दहति) अपने कर्मों से उत्पन्न होने वाले संस्कार-दोषों को जला देता है अर्थात् वेदज्ञान रूपी अग्नि से दुष्ट संस्कारों को मिटाकर आत्मा को पवित्र रखता है ॥ १०१ ॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०२ ॥ (५४)

(वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः) वेदशास्त्र के अर्थतत्त्व का ज्ञाता विद्वान् (यत्र-तत्र आश्रमे वसन्) किसी भी आश्रम में रहता हुआ, (इह+इव लोके तिष्ठन्) इसी वर्तमान जन्म से ही (ब्रह्मभूयाय कल्पते) ब्रह्मप्राप्ति के लिए अधिकाधिक समर्थ हो जाता है ॥ १०२ ॥

तप और विद्या का वर्णन—

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ १०४ ॥ (५५)

(विप्रस्य) विप्र के लिए (तपः च विद्या) तप=श्रेष्ठव्रतों की साधना, और विद्या=सत्यविद्याओं का ज्ञान, ये दोनों (परं निश्रेयसकरम्) उत्तम मोक्ष-साधन हैं, वह विप्र (तपसा किल्विषं हन्ति) तप से पापभावना को नष्ट करता है, और (विद्यया+अमृतम्+अश्नुते) सत्यविद्याओं के ज्ञान से अमरता को प्राप्त करता है ॥ १०४ ॥

धर्म का वर्णन—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५ ॥ (५६)

(धर्मशुद्धिम्+अभीप्सता) धर्म के तत्त्व को जानने के अभिलाषी मनुष्य को (प्रत्यक्षम् अनुमानं च विविधागमं शास्त्रम्) प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध वेदमूलक शास्त्र, (त्रयं सुविदितं कार्यम्) इन तीनों का अच्छी प्रकार ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ १०५ ॥

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥ (५७)

(यः) जो मनुष्य (आर्षं धर्मोपदेशम्) ऋषिविहित धर्मोपदेश अर्थात् धर्मशास्त्र का (वेदशास्त्र-अविरोधिना तर्केण अनुसंधत्ते) वेदशास्त्र के अनुकूल तर्क के द्वारा अनुसंधान करता है (सः धर्मं वेद न+इतरः) वही धर्म के तत्त्व को समझ पाता है, अन्य नहीं ॥ १०६ ॥

अविहित धर्मों के ज्ञान की विधि—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १०८ ॥ (५८)

(अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यात् ? इति चेत् भवेत्) जो धर्मयुक्त व्यवहार, मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष न कहे हों, यदि उनमें शंका होवे तो तुम (यं शिष्टाः ब्राह्मणाः ब्रूयुः) जिसको शिष्ट, आप्त विद्वान् कहें (सः अशंकितः धर्मः स्यात्) उसी को शंकारहित कर्त्तव्य-धर्म मानो ॥ १०८ ॥

(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ १०९ ॥ (५९)

शिष्ट सब मनुष्य मात्र नहीं होते किन्तु (यैः तु धर्मेण सपरिबृंहणः वेदः अधिगतः) जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हों, और जो (श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः) श्रुतिप्रमाण और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों ही से विधि वा निषेध करने में समर्थ, धार्मिक, परोपकारी हों (ते शिष्टाः ब्राह्मणाः ज्ञेयाः) वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं ॥ १०९ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्रकरण)

दश विद्वानों की धर्मनिर्णायक परिषद्—

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ११० ॥ (६०)

(दशावरा वृत्तस्था वा त्रि+अवरा परिषद्) न्यून से न्यून दश विद्वानों अथवा बहुत न्यून हों तो तीन विद्वानों की सभा (यं धर्मं परिकल्पयेत्) जैसी

व्यवस्था करे, (तं धर्मं न विचालयेत्) उस धर्म अर्थात् व्यवस्था का उल्लंघन कोई भी न करे ॥ ११० ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"गृहस्थ लोग छोटों, बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम से कम दश अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (नैयायिक), तर्ककर्ता, नैरुक्त=निरुक्तशास्त्रज्ञ, धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों, अथवा अतिन्यूनता करे तो तीन वेदवित् (ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो, वैसा ही आचरण किया करें।" (सं० वि० गृहाश्रम प्रकरण)

"वैसे शिष्ट न्यून से न्यून दश पुरुषों की सभा होवे अथवा बड़े विद्वान् तीनों की ही सभा हो सकती है। जो सभा से धर्म-कर्म निश्चित हों, उन का भी आचरण सब लोग करें।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥ (६१)

(दशावरा परिषत् स्यात्) उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें—(त्रैविद्यः) तीन वेदों के विद्वान् (हेतुकः) चौथा हेतुक अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, (तर्की) पांचवां-तर्की=न्यायशास्त्रवित्, (नैरुक्तः) छठा—निरुक्त का जानने हारा, (धर्मशास्त्रवित्) सातवां—धर्मशास्त्रवित् (त्रयः च पूर्वे आश्रमिणः) आठवां–ब्रह्मचारी, नववां-गृहस्थ, और दशवां वानप्रस्थ, इन महात्माओं की सभा होवे ॥ १११ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"इस सभा में चारों वेद, न्यायशास्त्र, निरुक्त धर्मशास्त्र आदि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों, परन्तु वे ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ हों, तब वह सभा कि जिसमें दश विद्वानों से न्यून न होने चाहिएँ।"

(स० प्र० षष्ठ समु०)

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥ ११२ ॥ (६२)

(च) तथा (ऋग्वेदवित् यजुर्वेदवित् च सामवेदवित् एव) ऋग्वेदवित्, यजुर्वेदवित् और सामवेदवित् (त्रि+अवरा धर्मसंशयनिर्णये परिषत् ज्ञेया) इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिए होनी चाहिए ॥ ११२ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"और जिस सभा में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के जानने वाले

तीन सभासद होके व्यवस्था करें, उस सभा की की हुई व्यवस्था का भी कोई उल्लंघन न करे॥" (स० प्र० षष्ठ समु०)

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥(६३)

(एकः अपि वेदवित्) यदि एक अकेला सब वेदों का जानने हारा द्विजों में उत्तम संन्यासी (यं धर्मं व्यवस्येत्) जिस धर्म की व्यवस्था करे (सः परः धर्मः विज्ञेयः) वही श्रेष्ठ धर्म है, (अज्ञानाम् अयुतैः उदितः न) अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों, करोड़ों मिलके जो कुछ व्यवस्था करें, उसको कभी न मानना चाहिए ॥ ११३ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"द्विजों में उत्तम अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी, अकेला भी जिस धर्म-व्यवहार के करने का निश्चय करे, वही कर्त्तव्य परम धर्म समझना, किन्तु अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों और करोड़ों पुरुषों का कहा हुआ धर्म-व्यवहार कभी न मानना चाहिए।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ११४ ॥ (६४)

(अव्रतानाम्) जो ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण आदि व्रत (अमन्त्राणाम्) वेद-विद्या वा विचार से रहित, (जातिमात्र-उपजीविनाम्) जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्तमान हैं, (सहस्रशः समेतानाम्) उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी (परिषत्त्वं न विद्यते) सभा नहीं कहाती ॥ ११४ ॥ स० प्र० षष्ठ समु०)

यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥ ११५ ॥ (६५)

(तमोभूताः मूर्खाः अतद्विदः) जो अविद्यायुक्त, मूर्ख, वेदों के न जानने वाले मनुष्य (यं धर्मं वदन्ति) जिस धर्म को कहें, उसको कभी न मानना चाहिए, क्योंकि (तत् वक्तॄन्+अनुगच्छति) जो मूर्खों के कहे हुए धर्म के अनुसार चलते हैं (तत् शतधा भूत्वा पापम्) उनके पीछे सैंकड़ों प्रकार के पाप लग जाते हैं। ॥ ११५ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम्।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ११६ ॥ (६६)

(एतत्) यह [१२। ८३–११५] (निःश्रेयसकरं परं सर्वं वः अभिहितम्) मोक्ष देने वाले सर्वोत्तम कर्मों का विधान तुम से कहा, (विप्रः) विद्वान् द्विज

(अस्मात्+अप्रच्युतः) इसको बिना छोड़े पालन करता हुआ (परमां गतिं प्राप्नोति) उत्तम गति अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ॥ ११६ ॥

निःश्रेयस कर्मों के अन्त में उपसंहार—

सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ ११८ ॥ (६७)

(समाहितः) जो सावधान पुरुष (असत् च सत् च सर्वम्) असत्कारण और सत्कार्यरूप जगत् को (आत्मनि संपश्येत्) आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर में देखे, (अधर्मे मनः न कुरुते) वह कभी अपने मन को अधर्मयुक्त नहीं कर सकता, (हि) क्योंकि (सर्वम् आत्मनि संपश्यन्) वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है ॥ ११८ ॥ (द० ल० भ्रा० नि० १९६)

आत्मैव देवताः सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ ११९ ॥ (६८)

(आत्मा+एव सर्वाः देवताः) आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं को रचनेवाला, (सर्वम्+आत्मनि+अवस्थितम्) और जिसमें सब जगत् स्थित है, वही सब मनुष्यों का उपास्यदेव तथा (एषां शरीरिणां कर्मयोगं जनयति) सब जीवों को पाप-पुण्य के फलों का देने हारा है ॥ ११९ ॥ (द० ल० भ्रा० नि० १९६)

महर्षि द्वारा आंशिक या केवल प्रमाण रूप में यह श्लोक निम्न अन्य स्थानों पर उद्धृत है—

(१) द० ल० भ्रा० नि० १७२, (२) द० ल० वे० ख० २४, (३) द० शा० ५३, (४) ऋ० प० वि० १३, (५) ल० वे० अंक १२५ ।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥ (६९)

(सर्वेषां प्रशासितारम्) जो सबको शिक्षा देने हारा, (अणोः+अपि अणीयांसम्) सूक्ष्म से सूक्ष्म, (रुक्माभम्) स्वप्रकाश स्वरूप, (स्वप्नधीगम्यम्) समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है, (तं परं पुरुषं विद्यात्) उसको परम पुरुष जानना चाहिए ॥ १२२ ॥ (स० प्र० प्रथम समु०)

महर्षि द्वारा अपने ग्रन्थों में यह श्लोक निम्न स्थानों पर प्रमाण या पदांश के रूप में उद्धृत किया गया है—

(१) द० शा० ५३, (२) उपदेश-मञ्जरी ५२, (३) द० ल० वेदांक १२६, (४) ऋ० प० वि० १३, (५) द० ल० भ्रा० नि० १९६, (६) ऋ० भा० भू० १११ ।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥ (७०)

(एतम् एके) इस परमात्मा [१२।१२२] को (एके) कोई (अग्निम्) 'अग्नि', (अन्ये प्रजापतिं मनुम्) कोई प्रजापति परमात्मा को 'मनु', (एके इन्द्रम्) कोई 'इन्द्र', (परे प्राणम्) कोई 'प्राण', (अपरे शाश्वतं ब्रह्म) दूसरे कोई शाश्वत 'ब्रह्म', (वदन्ति) कहते हैं ॥ १२३ ॥

"स्वप्रकाश होने से 'अग्नि', विज्ञानस्वरूप होने से 'मनु', सबका पालन करने और परमैश्वर्यवान् होने से 'इन्द्र', सबका जीवनमूल होने से 'प्राण', और निरन्तर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम 'ब्रह्म', है" ।

(स० प्र० प्रथम समु०)

महर्षि द्वारा प्रमाण रूप में अन्यत्र उद्धृत— (१) प० वि० १३, (२) द० ल० भ्रा० नि० १९६, (३) उपदेशमञ्जरी ५२, (४) द० शा० ५३, (५) द० ल० वेदांक १२६ ।

एषः सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ १२४ ॥ (७१)

(एषः) यह परमात्मा (पञ्चभिः मूर्तिभिः सर्वाणि भूतानि व्याप्य) पञ्च-महाभूतों से सब प्राणियों को युक्त करके अर्थात् उनकी उत्पत्ति करके (जन्म-वृद्धि-क्षयैः नित्यं चक्रवत् संसारयति) उत्पत्ति, वृद्धि और विनाश करते हुए सदा चक्र की तरह संसार को चलाता रहता है ॥ १२४ ॥

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥ (७२)

(एवम्) इसी प्रकार समाधियोग से (यः) जो मनुष्य (सर्वभूतेषु आत्मना आत्मानं पश्यति) सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है (सः सर्वसमताम्+एत्य) वह सबको अपने आत्मा के समान प्रेमभाव से देखता है (परं पदं ब्रह्म-अभ्येति) वही परमपद जो ब्रह्म-परमात्मा है उसको यथावत् प्राप्त होके सदा आनन्द को प्राप्त होता है ॥ १२५ ॥

द्वादश-अध्याय के प्रक्षिप्त-श्लोकों की सहेतुक समीक्षा

ये दोनों (१२।१-२) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. शैली-विरोध—(क) इन श्लोकों में महर्षियों द्वारा भृगु से प्रश्न

करना और भृगु द्वारा उनका उत्तर देने से स्पष्ट है कि ये श्लोक मनु-प्रोक्त नहीं हैं। किन्तु भृगु से भी भिन्न किसी व्यक्ति ने बनाकर मिलाये हैं। (ख) इन श्लोकों की शैली भी मनु से भिन्न है। मनु से प्रारम्भ में ऋषियों ने प्रश्न कर अपनी जिज्ञासा प्रकट की है, किन्तु मध्य में प्रश्नोत्तर रूप में कहीं नहीं। अतः ये श्लोक मनु की शैली से विरुद्ध हैं। मनु तो एक प्रचलित विषय को समाप्त करके अग्रिम-विषय का निर्देश अवश्य करते हैं, प्रश्नोत्तर रूप में नहीं। इस विषय में अध्यायों की समाप्ति अथवा विषय की समाप्ति पर मनु की शैली द्रष्टव्य है। एतदर्थ १।१४४, ३।२८६, ४।२५६, ६।१, ९७, ७।१ इत्यादि श्लोक देखे जा सकते हैं।

२. **अन्तर्विरोध**—मनुस्मृति के १।२-४ श्लोकों में महर्षियों द्वारा मनु से प्रश्न पूछना और मनु द्वारा उनका उत्तर देना, इस बात को सिद्ध करता है कि मनुस्मृति मनुप्रोक्त है। परन्तु इन श्लोकों में भृगु से प्रश्नोत्तर कराकर इस शास्त्र को भृगु-प्रोक्त सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। १।२-४ श्लोकों से विरुद्ध होने से ये श्लोक परवर्ती प्रक्षिप्त हैं।

और ऐसा प्रतीत होता है कि विषय-संकेतक मौलिक श्लोक ११।२६६ है, जिसे किसी भृगु-भक्त ने निकालकर इन श्लोकों का मिश्रण कर दिया है। कुछ प्राचीन मनुस्मृतियों में ११।२६६ श्लोक उपलब्ध भी होता है। मनुस्मृति के अनुरूप तथा १२।८२, ११६ श्लोकों से सुसंगत होने से यह श्लोक मौलिक है।

ये सभी (१२।१०-२३) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—मनु ने १२।३-४ श्लोकों के वर्णन से स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत विषय कर्म-फल विधान का है। तदनुसार ही पहले त्रिविध कर्मों का वर्णन किया है और उनके अनुसार त्रिविध गतियों का वर्णन होना चाहिये। इसलिये ५-९ श्लोकों की २४-५१ श्लोकों से पूर्णतः संगति है। १०-२३ श्लोकों में इस प्रसंग से भिन्न बातों का कथन होने से अप्रासंगिक वर्णन है।

२. **विषय-विरोध**—११।२३६, १२।३-४, ५१, ८२ श्लोकों से स्पष्ट है कि प्रस्तुत विषय 'कर्मफलविधान' का है। परन्तु १०-१४ श्लोकों में त्रिदण्डों का वर्णन, त्रिदण्डों, क्षेत्रज्ञ और भूतात्मा की परिभाषाओं का कथन, जीवात्मा और क्षेत्रज्ञ में भेद, इत्यादि वर्णन विषयबाह्य होने के कारण ये प्रक्षिप्त हैं।

३. **अन्तर्विरोध**—(क) १२-१३ श्लोकों में भूतात्मा, क्षेत्रज्ञ और जीवात्मा में भेद दिखाया है। अर्थात् जो कर्म करता है वह भूतात्मा, जो आत्मा

को कर्मों में प्रवृत्त करता है, वह क्षेत्रज्ञ और सुख-दुख का अनुभव करने वाला जीवात्मा है। यह परस्पर विरोधी कथन है। क्योंकि कर्म करने वाला ही कर्म-फलों को भोगता है। कर्म अन्यत्र कोई करे और फल दूसरा भोगे, यह मनु की मान्यता नहीं है।

(ख) और १४-१५ श्लोकों में कहा है कि क्षेत्रज्ञ और महान् सभी प्राणियों में स्थित परमात्मा को व्याप्त करके स्थित हैं और उस परमात्मा के शरीर से असंख्य जीव निकलते हैं। यह सभी कथन १।६–१६, १९ इत्यादि श्लोकों से विरुद्ध है। परमात्मा का शरीर और जीवात्माओं की उत्पत्ति दोनों बातें अवैदिक होने से मनुप्रोक्त कदापि नहीं हैं।

(ग) १७,२०–२२ श्लोकों में स्वर्ग व नरक को लोक विशेष मानकर कथन किया है। यह मनु-सम्मत नहीं है। मनु तो सुख-विशेष को स्वर्ग और दुःख विशेष को नरक मानते हैं। एतदर्थ ३।७९, ६।२८ श्लोक द्रष्टव्य हैं। और २०–२१ श्लोकों का यह कथन भी मिथ्या है कि आत्मा स्वर्ग में पञ्चमहाभूतों से युक्त रहता है और नरक में पञ्चभूतों से रहित रहकर दुःख भोगता है। क्योंकि भोगायतन शरीर के विना सुख व दुःख का भोग सम्भव नहीं है।

ये सभी (१२।५३–७२) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंग-विरोध**—ये समी श्लोक पूर्वापर-प्रसंग से विरुद्ध हैं। ५२ वें श्लोक में कहा है कि इन्द्रियों को विषयासक्त करने से अविद्वान् मनुष्य दुःखरूप जन्मों को प्राप्त करते हैं। और ७३–७४ श्लोकों में उसी बात को पूरी करते हुए कहा है कि विषयासक्त पुरुष जैसे-जैसे विषयों का सेवन करता है, वैसे-वसे उसकी उनमें रुचि बढ़ने लगती है। इन पूर्वापर के श्लोकों के मध्य में इन श्लोकों ने उस प्रसंग को भंग किया है। अतः अप्रासंगिक होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। और ५२ वें श्लोक की ५३ वें श्लोक के साथ तथा ७२ वें श्लोक की ७३ वें श्लोक के साथ किसी प्रकार भो संगति न होने से ये श्लोक प्रसंग-विरुद्ध हैं।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) मनु की मान्यता में ३९–५१ श्लोकों में सत्त्वादि गुणों के न्यून व अधिकता के कारण विभिन्न योनियों में जीवों का जाना माना है। परन्तु इन श्लोकों में इस मान्यता का विरोध है और ५३ वें श्लोक में एक-एक कर्म के आधार पर योनियों में जाने का कथन किया गया है और अग्रिम श्लोकों का यही आधार-श्लोक है। मनु ने १२।७४ श्लोक में भी कर्मों के अभ्यास से योनियों की प्राप्ति मानी है।

(ख) ५४ वें श्लोक में जीवों का घोर नरक-लोक में जाने का कथन मनु से विरुद्ध है। मनु ने किसी स्थान-विशेष को नरक नहीं माना है। इस विषय में ४।८७–९१ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

(ग) और जैसे ५४–७२ श्लोकों में दुष्कर्म करने से विविध-योनियों का परिगणन किया है, वैसे सुकर्म करने से योनियों का वर्णन क्यों नहीं? क्या सभी सुकर्म करने वालों के कर्म समान हो सकते हैं? और इसलिये वे सभी मनुष्य-योनि में चले जाते हैं यह कदापि सम्भव नहीं है। और जब एक-एक दुष्कर्म से कुत्ते आदि की योनि में जाना पड़ता है, तो उसके अच्छे कर्मों का फलकथन मनु ने क्यों नहीं किया? इससे स्पष्ट है कि यह कर्मानुसार योनि-प्राप्ति की मान्यता मनु की नहीं है। क्योंकि मनु तो यह मानते हैं कि अच्छे या बुरे कर्मों के करने से जैसे सत्त्वादि गुणों की प्रवृत्ति जीवों की होती है, वैसे-वैसे ही वे योनियाँ प्राप्त करते हैं।

((घ) ५९, ७१–७२ श्लोकों में मैत्राक्ष ज्योतिक आदि प्रेत-योनियों का वर्णन भी मनुसम्मत नहीं है। क्योंकि मनु ने प्रेत नामक कोई योनि-विशेष नहीं मानी है। प्रेत-योनि की कल्पना पौराणिक-युग की देन है।

(ङ) ६९ वें श्लोक में कहा है कि स्त्रियाँ भी दुष्कर्मों के कारण दुष्कर्म करने वालों की पत्नियाँ बनती हैं। यह मान्यता भी मनु-सम्मत नहीं है। क्योंकि स्त्रियाँ अगले जन्मों में स्त्रियां ही बनें, यह अवैदिक सिद्धान्त है। मनु यदि ऐसा मानते होते तो सत्त्वादि गुणों के आधार पर जो ४०–५१ श्लोकों में विभिन्न योनियों में जाना माना है, वहाँ स्त्रियों का पृथक् निर्देश अवश्य करते। अतः यह मान्यता मनुसम्मत नहीं है। क्योंकि जीवात्मा स्त्रीलिंगादि से रहित है।

(च) ५६-५७ श्लोकों में शराबी, चोरी आदि कर्म करने वाले ब्राह्मण को किन योनियों में जाना पड़ता है? यह कथन जन्मना वर्णव्यवस्था का प्रतिपादक होने से मनु से विरुद्ध है। मनु के अनुसार जो शराब पीता है और चोरी करता है, वह ब्राह्मण ही नहीं है फिर ऐसे दुष्कर्म-रत को ब्राह्मण मानना जन्मना वर्ण व्यवस्था को सिद्ध करना है और यह कथन मनु से विरुद्ध है।

३. अवान्तरविरोध—(क) ५५ वें श्लोक में ब्रह्महत्यारे को कुत्ता, सूकर, गधा, ऊँट, गाय, बकरी, भेड़ आदि विभिन्न योनियों में जाने का वर्णन है। क्या इन सभी योनियों में जाना पड़ता है, अथवा इनमें से किसी एक में? यह स्पष्ट न होने से यह विधान संशयास्पद ही है। ऐसे ही ५६ इत्यादि श्लोकों

में वर्णन किया है। और यहाँ ब्रह्महत्यारे को कुत्ते की योनि लिखी है और ६२ वें में रस चुराने वाले को कुत्ते की योनि लिखी है। इसी प्रकार ५५ वें में ब्रह्महत्यारे को पक्षी की योनि लिखी है और ६३ वें में तेल चुराने वाले को पक्षी की योनि लिखी है। इससे स्पष्ट है कि प्रक्षेपक की (५३ श्लोकोक्त) एक-एक कर्म के आधार पर योनिविशेष की गणना उसके अपने कथन से ही विरुद्ध है। क्योंकि उसने स्वयं ब्रह्महत्या करने वाले और रस चुराने वाले की एक से अधिक कर्मों के आधार पर कुत्ते की योनि मानी है।

(ख) और ६१ वें श्लोक में विविध रत्नों की चोरी करने वाले मनुष्य को सुनार की योनि में जाना माना है। और ५७ वें श्लोक में चोर-ब्राह्मण के लिये विभिन्न योनियों का परिगणन किया है। जब एक सामान्य नियम मानव-मात्र के लिये कह दिया है तब वर्णविशेष के लिए पृथक् कथन करना उचित नहीं है। और यदि कोई उचित मानता ही है, तो क्षत्रियादि के चोरी करने पर क्या व्यवस्था होगी? ऐसा कथन न करने से स्पष्ट है कि ये श्लोक विभिन्न प्रक्षेपकों ने बनाकर मिलाये हैं। और जिस समय व्यवसाय के आधार पर सुनारादि उपजातियों का प्रचलन प्रारम्भ हो गया, उस समय किसी ने इन श्लोकों को बनाया है, अतः ये सभी श्लोक परवर्ती हैं। क्योंकि मनु के अनुसार ब्रह्मणादि चार ही वर्ण होते हैं।

४. **शैली-विरोध**—(क) इन श्लोकों की शैली निराधार, निन्दायुक्त, अतिशयोक्तिपूर्ण और परोक्ष-भयप्रदर्शनमात्र है। मनु की शैली में ऐसी बातों का सर्वथा अभाव होता है। (ख) और इन श्लोकों में अयुक्तियुक्त बातों का वर्णन और एक योनि में जाने के विभिन्न कर्मों को कहकर एक कर्म को योनि प्राप्ति का कारण कहना, इत्यादि परस्पर विरुद्ध बातों का कथन मनु की शैली से विरुद्ध है। (ग) मनु ने सर्वत्र समता तथा न्यायोचित शैली से प्रवचन किया है, किन्तु यहाँ पक्षपातपूर्ण वर्णन किया गया है। जैसे—५५ वें श्लोक में ब्रह्महत्यारे का विभिन्नयोनियों में जाना लिखा है, क्षत्रियादि के हत्यारे का क्यों नहीं? ५८ वें में गुरु-पत्नी से संभोग करने वाले को दण्डरूप योनियों में जाने का कथन है, दूसरे पुरुषों की स्त्रियों से संभोग करने वाले को दण्ड क्यों नहीं? इस प्रकार का वर्णन मनु कहीं नहीं करते, क्योंकि मनु की शैली में समता का भाव रहता है। (घ) मनु की शैली में चारवर्णों के धर्मों का वर्णन है। परन्तु इनमें (६१ वें में) सुनारादि उपजातियों का कथन परवर्ती है। मनु के शास्त्र में इन उप-जातियों के लिये कोई स्थान नहीं है। अतः शैली-विरोध के कारण ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये छः (१२।७५–८०) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसंग-विरोध—(क) यहाँ पूर्वापर श्लोकों में शुभाशुभ कर्मों के फल का सामान्य रूप से कथन किया गया है। इसी प्रसंग से पूर्वापर श्लोकों की सम्बद्धता है। परन्तु (७५–८०) श्लोकों में तामिस्रादि नरकों को स्थान-विशेष मानकर उनमें दुःखों के भोगने की बातें, और दुःखमय योनियों की प्राप्ति का कथन उस प्रसंग को भंग करने के कारण ये श्लोक अप्रासंगिक हैं। (ख) (३९–५१) श्लोकों में शुभाशुभ कर्मों के फल और शुभाशुभ गतियों का वर्णन किया जा चुका है। उस प्रसंग के समाप्त होने पर पुनः दुःखप्राप्ति रूप प्रसंग का प्रारम्भ करना असंगत है।

२. अन्तर्विरोध—(क) मनु ने १२।७४ में 'तास्विह योनिषु' कहकर स्पष्ट किया है कि इसी संसार में विभिन्न योनियों में शुभाशुभ कर्मानुसार जीवों को जाना पड़ता है। और ३९ वें श्लोक में भी इस संसार में ही विभिन्न गतियाँ मानी हैं। और इन श्लोकों में जो विभिन्न योनियाँ मानी हैं, वे सब इस संसार में ही हैं। पुनरपि तामिस्रादि नरकों को लोकविशेष मानने की बातें कहना पूर्वोक्त से विरुद्ध है। और नरकादि के विषय में मनु की मान्यता का स्पष्टीकरण ४।८७–९१ श्लोकों की समीक्षा में द्रष्टव्य है। (ख) और ७८–८० श्लोकों में ऐसी-ऐसी बातों का उल्लेख है जिनको पापकर्मों का फल कहना मनुसम्मत नहीं हो सकता। जैसे—८० वें में बुढ़ापे को प्राप्त करना, मृत्यु को प्राप्त करना, (७९ में) बन्धुओं का वियोग होना, मित्र-प्राप्त करना इत्यादि, जिनको कर्म-फलरूप दुःख मानना उचित नहीं है। क्योंकि बुढ़ापा, मृत्यु आदि तो अपरिहार्य हैं, इनसे शुभकर्म करने वाला भी नहीं बच सकता। अतः इन्हें दुष्कर्मों का फल कहना ठीक नहीं। मनु ऐसी अयुक्तियुक्त बातें कदापि नहीं कह सकते।

यह (१२।८४ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. प्रसंग-विरोध—यह श्लोक पूर्वापर श्लोकों को भंग कर रहा है। क्योंकि ८३ वें श्लोक में मोक्ष देने वाले छः कर्मों का उल्लेख किया है और ८५ वें में उन सभी कर्मों में आत्म-ज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति में सर्व-प्रमुख बताया है। परन्तु ८४ वें श्लोक में न तो कोई विशेष बात ही कही है और वह पूर्वापर-प्रसंग को मिलाने में साधक ही है। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

ये सभी (१२।८६–९०) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसंग-विरोध—यहाँ पूर्वापर श्लोकों का प्रसंग आत्म-ज्ञान का है। ८५ वें श्लोक में मोक्षप्राप्ति के लिये आत्म-ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट माना है। और

९१ वें श्लोक में भी आत्म-ज्ञान का ही प्रसंग है। इस प्रकार पूर्वापर के श्लोकों में परस्पर संबन्ध है। इन श्लोकों ने उस प्रसंग को भंग कर दिया है। इसलिये ये प्रसंग-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त श्लोक हैं।

२. **विषय-विरोध**—मोक्ष-प्राप्ति के लिये जिन छः कर्मों का परिगणन किया है, उनमें आत्म-ज्ञान को मुख्य माना है। अतः प्रस्तुत विषय है मोक्ष-प्राप्ति। उस विषय में वैदिक कर्मों के भेद (प्रवृत्त एवं निवृत्त कर्मों के कारण) बताना, और उन कर्मों का पृथक्-पृथक् फल बताना विषय-विरुद्ध है। (८८–९०) श्लोकों में पूर्वापर विषय से भिन्न ही प्रवृत्ति-निवृत्ति कर्मों का विषय प्रारम्भ किया गया है।

३. **अवान्तर-विरोध**—८६ श्लोक में मोक्ष के छः कर्मों से वैदिक कर्मों को अधिक कल्याण कारक बताया है। इसीलिये 'श्रेयस्करतरम्' शब्द में तुलना बताने वाला आतिशयिक प्रत्यय लगाया है। जिससे सपष्ट है कि इन छः कर्मों से वैदिक कर्म भिन्न हैं। परन्तु ८७ वें श्लोक में कहा है कि ये सभी छः कर्म वैदिककर्मों के अन्तर्गत ही हैं। यदि ये सभी कर्म वैदिक हैं, तो पूर्व श्लोक में वैदिक कर्मों की पृथक् उत्कृष्टता का कथन क्यों किया है? और यदि ये कर्म मोक्ष देने वाले हैं, परन्तु ८८ वें में वैदिक कर्मों में प्रवृत्त कर्म भी हैं, जो मोक्ष देने वाले नहीं हैं। फिर सभी वैदिक कर्मों की उत्कृष्टता कैसे हो सकती है? इस प्रकार प्रक्षेप करने वाले के श्लोकों में परस्पर विरोध है। और यह विरोध मनु-प्रोक्त न होने से मौलिक नहीं है।

४. **अन्तर्विरोध**—८३ वें श्लोक में मोक्ष देने वाले जो छः प्रकार के कर्म लिखे हैं, उन सभी को वेदोक्त माना है। इन कर्मों से (८६ वें में) वैदिक कर्मों को पृथक् और श्रेष्ठ बताया है और इन छः कर्मों को (जिनमें वेदाभ्यास भी है) वैदिक न मानना परस्पर-विरोधी कथन है। अतः यह प्रतीत होता है कि इन श्लोकों का रचयिता कोई मनु से भिन्न है, जिसने पूर्वोक्त कर्मों के विषय में ऐसी खण्डनात्मक बातें लिखी हैं।

यह (१२। १०३ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. **प्रसंगविरोध**—यह श्लोक पूर्वापर प्रसंग के विरुद्ध होने से अनावश्यक है। क्योंकि यहाँ मोक्ष देने वाले कर्मों में से वेदज्ञान के महत्त्व का प्रसंग है। इस श्लोक ने उस प्रसंग को भंग कर दिया है। इस श्लोक में ग्रन्थों के अध्ययन करने वालों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता बतायी है। जिसकी पूर्वापर-प्रसंग से कोई संगति नहीं है। और १०२ श्लोक में वेद-ज्ञान के ज्ञाता की प्रशंसा की है, और १०४ वें श्लोक में वेद-ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति का प्रकार बताया है और विद्या के साथ

तप=साधना को भी आवश्यक बताया है। इस प्रकार इस श्लोक के पृथक् करने से पूर्वापर की संगति ठीक बनी रहती है।

यह (१२ । १०७ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

१. प्रसंग-विरोध—(क) प्रस्तुत-प्रसंग का संकेतक-श्लोक ८३ वाँ है। उसमें नैश्श्रेयस-कर्मों का वर्णन किया है। उसी श्लोक में कहे 'धर्म क्रिया' शब्द का स्पष्टीकरण और विशेष-वर्णन (१०५–११५) श्लोकों में किया गया है। इनके मध्य में यह श्लोक उस प्रसंग को भंग करने के कारण अनावश्यक है।

(ख) मनु ने मोक्ष-कर्मों के प्रारम्भ का संकेत ८२ वें श्लोक में दिया है और उन कर्मों की समाप्ति का संकेत ११६ वें श्लोक में दिया है। परन्तु इस १०७ वें श्लोक ने इस प्रसंग को बीच में ही समाप्त कर दिया है। जिससे स्पष्ट है कि यह श्लोक मनु-प्रोक्त नहीं है। मनु तो एक प्रसंग को एकत्र ही पूर्ण रूप से कहते हैं।

(ग) यदि इस श्लोक में मोक्ष कर्मों की समाप्ति मानी जाये तो अपूर्ण रहती है अगले श्लोकों की विषयवस्तु भी इस श्लोक के अनुसार नहीं है। क्योंकि इस श्लोक में कहा है कि अब आगे इस मानवशास्त्र का रहस्य बताया जायेगा। परन्तु अगले श्लोकों में इस प्रसंग का अभाव ही है प्रत्युत मोक्ष के कर्मों में निर्दिष्ट 'धर्मचिन्ता' को स्पष्ट किया गया है। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

२. शैली-विरोध—(क) मनु के पास (१ । २–४ श्लोकों में) ऋषियों ने आकर धर्मजिज्ञासा की थी और मनु ने प्रवचन द्वारा 'श्रूयताम्' 'निबोधत' इत्यादि क्रियाओं के प्रयोग से उसका समाधान किया। परन्तु इस श्लोक में 'उपदिश्यते' क्रिया का प्रयोग उस शैली से विपरीत है। (ख) और इस श्लोक में कहा है—'मानवस्य शास्त्रस्य=मनुप्रोक्तशास्त्र का' यह मनु की शैली नहीं है। प्रथम तो मनु अपना नाम लेकर कहीं उपदेश नहीं करते और अपने प्रवचन को वे स्वयं 'शास्त्र' शब्द से भी नहीं कहते। अतः स्पष्ट है कि इस श्लोक की रचना किसी परवर्ती व्यक्ति ने मनु के नाम से की है अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

यह (१२ । ११७ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

१. प्रसंगविरोध—प्रस्तुत-प्रसंग निःश्रेयस कर्मों के वर्णन का है। ११६वें श्लोक में निःश्रेयस कर्मों के वर्णन की समाप्ति का संकेत है। तदनन्तर उससे सम्बद्ध उसी विषय का उपसंहारात्मक वर्णन किया गया है। अभी वह वर्णन

पूरा भी नहीं हुआ है कि इस श्लोक ने धर्मोपदेश के पूर्ण होने का बीच में ही कथन कर दिया है। इसलिये यह श्लोक प्रसंग-विरुद्ध होने से असंगत है।

२. **शैली-विरोध**—इस ग्रन्थ के १। २–४ श्लोकों से स्पष्ट है कि ऋषियों ने मनु से प्रश्न किये और मनु ने ही उनका उत्तर दिया है। अतः यह समस्त शास्त्र मनुप्रोक्त है। परन्तु इस श्लोक में उससे विपरीत बात कही है अर्थात् भगवान् मनु ने इस शास्त्र का उपदेश मुझे (भृगु को) किया है। अतः स्पष्ट है कि किसी भृगु के भक्त ने इस श्लोक को बनाकर मिलाया है। इस विषय में इस ग्रन्थ में लिखी भूमिका का 'शैलीगत आधार' विशेषरूप से द्रष्टव्य है।

ये दोनों (१२। १२०–१२१) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. **प्रसंगविरोध**—प्रस्तुत प्रसंग में पूर्वापर श्लोकों में (११९ और १२२ में) सर्वव्यापक परमात्मा का वर्णन है और उसी को जानने का उपदेश है। परन्तु इन श्लोकों में आकाश, अग्नि आदि जड़-देवों का तथा विष्णु, प्रजापति आदि कल्पित देवों का ध्यान करने का कथन प्रसंगविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है। क्योंकि मनु ने १२३ श्लोक में परमात्मा के अग्नि, प्रजापति नाम तो गौणिक माने हैं, और एक परमात्मा को ही उपास्यदेव माना है। और इन श्लोकों में एकेश्वरवाद से विरुद्ध अनेकदेवतावाद और जड़-पूजा का कथन होने से ये श्लोक मनु-सम्मत नहीं हैं।

२. **अन्तर्विरोध**—(क) मनु ने एक परमात्मा को ही उपास्यदेव और उसका ध्यान अपनी आत्मा में करने का उपदेश किया है। परन्तु इन श्लोकों में परमात्मा से भिन्न आकाश, वायु आदि जड़-देवों तथा विष्णु आदि कल्पित देवों के ध्यान का कथन मनु से विरुद्ध है। (ख) मनु ने एक परमात्मा के ही (१२३ श्लोक में) इन्द्र, अग्नि, प्रजापति आदि गौणिक नाम माने हैं, इनको पृथक् पृथक् उपास्यदेव नहीं माना है। परन्तु इन श्लोकों में शरीरांगों में विभिन्न स्थानों पर पृथक् पृथक् देवों का ध्यान बताना मनु से विरुद्ध है। और गुदा तथा शिश्नेन्द्रिय में भी ध्यान करने की बात अज्ञानपूर्ण एवं उपहास्यास्पद ही है। इस विषय में मनु की मान्यता को समझने के लिये २। १००–१०४, ६। ६५, ७२–७४, १२। ८५, ९१, ११८, ११९, १२२, १२५ इत्यादि श्लोक विशेष रूप से देखने चाहियें। अतः अन्तर्विरोधों एवं प्रसंग-विरुद्ध होने से ये दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

यह (१२। १२६ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारण से प्रक्षिप्त है—

१. **शैली-विरोध**—(क) मनु के (१। २–४) श्लोकों की वर्णन-शैली से

स्पष्ट है कि यह शास्त्र मनु-प्रोक्त है परन्तु इस श्लोक में उससे विरुद्ध अर्थात् भृगु द्वारा प्रोक्त माना है। इस सम्बन्ध में इस शास्त्र की भूमिका में 'शैलीगत आधार' में विस्तृत-विवेचन द्रष्टव्य है। (ख) इस सम्पूर्ण शास्त्र में मनु के प्रवचन की यही शैली रही है कि वे केवल पठनमात्र से अच्छे फल की प्राप्ति नहीं मानते, प्रत्युत धर्म की शिक्षा और तदनुसार आचरण करने से फल-प्राप्ति मानते हैं। परन्तु इस श्लोक में पढ़ने मात्र से ही सदाचारी होना और अभीष्ट गति को प्राप्त करना माना है। अतः यह श्लोक मनुप्रोक्त नहीं है। मनु के अनुसार तो १२५वें श्लोक में ही मोक्षविषयक उपसंहार की समाप्ति और इस शास्त्र की समाप्ति हो गयी है। इस शास्त्र को किसी भृगुभक्त ने भृगु द्वारा प्रोक्त सिद्ध करने के लिये जैसे बीच-बीच में श्लोकों का प्रक्षेप किया है, वैसे ही इस श्लोक में भी किया है। इस प्रकार मनु की शैली तथा प्रवचन से विरोध होने के कारण यह श्लोक परवर्ती प्रक्षेप है।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां प्राकृतभाषा-भाष्यसमन्वितायां प्रक्षिप्तश्लोक-
समीक्षाविभूषितायाञ्च मनुस्मृतौ कर्मफलविधाननिःश्रेयसकर्म-
विधानात्मको द्वादशोऽध्यायः परिसमाप्तः समाप्तञ्चेदं
मानवधर्मशास्त्रनामकं शास्त्रम् ॥

इति हरयाणाप्रान्तीयगुरुकुलझज्जरेऽधीतविद्येन, तत्र भवतां पूज्यपादानां
ओ३मानन्दस्वामिनामन्तेवासिना उत्तरप्रदेशान्तर्गत-मेरठ-मण्डले
'फजलगढ़' नाम्नि ग्रामे लब्धजन्मना, श्री तात शिवचरण
माता मनसादेवी-तनयेन आचार्योपाधिधारिणा
'दयानन्द-सन्देश'-सम्पादकेन राजवीरशास्त्रिणा
कृता प्रक्षिप्त-श्लोकानां समीक्षापूर्विका
'विशुद्ध-मनुस्मृतेः' व्याख्या समाप्तिमगात्।
समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

वसुः-राम-खनेत्राब्दे पौषमासेऽसिते दले।
द्वादश्यां बुधवारे वै स्मृतेर्व्याख्या कृता मया॥

विशुद्ध मनुस्मृति-श्लोकानुक्रमणिका

विशेष—(१) इस संस्करण में द्वितीय अध्याय के २५ श्लोक प्रथम अध्याय में सम्मिलित किये हैं। इस प्रकार प्रथम अध्याय में २५ श्लोक बढ़े हैं और द्वितीय में घटे हैं। उनके सामने बृहत् कोष्ठक में प्रचलित संख्या भी दी गई है, अतः श्लोकानुक्रमणिका से श्लोक देखते समय उसी संख्या को देखें। (२) इसी प्रकार नवम अध्याय के अन्तिम ११ श्लोक दशम अध्याय में सम्मिलित किये हैं लेकिन उन पर संख्या परम्परागत ही रखी है। उन्हें दशम में देखें।

इति विशुद्ध-मनुस्मृतेः श्लोकानुक्रमणिका ॥